जातक-कालीन भारतीय संस्कृति

लेखक

पंडित मोहनलाल महतो 'वियोगी'

भूमिका-लेखक

पटना-प्रमण्डल के आयुक्त

श्रीयुत श्रीधर वासुदेव सोहोनी आइ० सी० एस्०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-३



प्रथमसंस्करण, शकाब्द १८८०; विक्रमाब्द २०१५; खृष्टाब्द १९५८
मूल्य सजिल्द ६'५० न. पै.

मुद्रक
ओम्प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी. ५२५८-१४



श्री रासबिहारी लाल, आइ. ए. एस्.

स्नेह-भेंट

श्रीरासबिहारी लाल आइ० ए० एस्०

को

जिनका अपनापा पाकर मैं अपने को उस सम्पदा
से सम्पन्न मानता हूँ, जिसका
कभी ह्रास नहीं होता।

वियोगी

वक्तव्य

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
सदयहृदयदर्शितपशुघातम् ।
केशवधृत बुद्धशरीर जय जगदीश हरे ॥
—गीतगोविन्द

हिन्दुओं के दशावतारों में एक भगवान् बुद्ध भी हैं। जातकों में उन्हीं के श्रीमुख से कही गई और उन्हीं के अनेक जन्मों की कहानियाँ हैं। बौद्ध साहित्य में जातकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जातकों की रचना बौद्ध युग में हुई थी। मनीषियों ने साहित्य को युग का दर्पण कहा है। इसीलिए बौद्ध युग में रचे गये जातकों से उस युग की स्थिति का आभास मिलता है। जातकों की रचना के युग में भारतीय समाज की गति-विधि कैसी थी, संक्षिप्त शब्दों में यही इस पुस्तक का विषय है।

जातक-कथाओं में ब्राह्मणों और स्त्रियों पर जो आक्रोश-वर्षा हुई है, उससे इस पुस्तक का विस्तृत भाग परिप्लावित है। किन्तु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भारत में अनादि काल से ब्राह्मण ही वैदिक सनातन-धर्म या हिन्दू-धर्म के समर्थ संरक्षक रहे हैं। उनसे लोहा लिये बिना किसी दूसरे धर्म का प्रचार कर सकना सम्भव नहीं था। अन्त में विप्रवृन्द ने ही बौद्ध धर्म को निस्तेज करके हिन्दू-धर्म को सजीव किया। ऐसे प्रभावशाली ब्राह्मणों पर प्रतिस्पर्द्धा की बौछार हुई, तो मानव-प्रकृति के विपरीत नहीं हुई। फिर, स्त्रियों को तो त्याग और तपस्या में विघ्नबाधास्वरूप माननेवाले सदा से कोसते आये हैं। बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों का प्रवेश होने से बौद्ध धर्म की क्या दशा हुई, यह इतिहास बतलाता है और भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में भी इसका अनुभव प्राप्त कर लिया था। अतः ब्राह्मणों और स्त्रियों पर, धर्मप्रचार के मार्ग को निष्कण्टक बनाने के अभिप्राय से, लाञ्छन लगाये गये हैं या उनका दोष-दर्शन कराया गया है। अन्यथा, हमारा अनुमान है कि बौद्ध-कालीन भारत में ब्राह्मणों और स्त्रियों की वैसी दशा नहीं रही होगी, जैसी जातकों में प्रदर्शित है।

पटना-डिवीजन के कमिश्नर श्रीमान् श्रीधर वासुदेव सोहोनी आइ० सी० एस्० ने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है। वे एक लोकप्रिय प्रशासक तो हैं ही, महाराष्ट्रीय विद्वान् होने से संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति के अनुरागी भी हैं। उनके समान सहृदय और स्मितपूर्वाभिभाषी शासनाधिकारी बहुत कम देखने में आते हैं। शासकीय कार्यों में अविव्यस्त रहते हुए भी उन्होंने भूमिका लिखकर हमें अनुगृहीत किया, इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। उनकी भूमिका की भाषा में उनकी निजी शैली की मौलिकता और स्वाभाविकता दर्शनीय है। अहिन्दीभाषी होने पर भी वे हिन्दी में अपने भावों को सफलतापूर्वक व्यक्त करने में समर्थ हुए हैं, यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है। यह चिन्त्य विषय है कि हिन्दी-प्रधान बिहार-राज्य में

ऐसे वरेण्य विद्वान् के रहते हुए हिन्दी को उनके पाण्डित्य का प्रसाद नहीं प्राप्त हुआ। हमारे विचार से तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यसेवियों में महाराष्ट्रीय विद्वानों की जो जगमगाती पाँती है, उसमें वे आदरणीय स्थान पाने योग्य हैं।

इस पुस्तक के स्वाध्यायी लेखक पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी' हिन्दी-संसार के प्रतिष्ठित साहित्यसेवी, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के और बिहार-विधान-परिषद् के सदस्य तथा बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वर्त्तमान सभापति हैं। आपका 'आर्यावर्त्त' नामक ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी-जगत् में यथोचित आदर पा चुका है। आप कवि, कथाशिल्पी और संस्मरण-लेखक के रूप में जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही अपनी हास्यरसात्मक रचनाओं तथा व्यंग्य-चित्रों के लिए भी विख्यात हो चुके हैं। आपकी प्रतिभा-पिकी ने साहित्य-सहकार की अनेक शाखाओं पर आरूढ़ होकर उन्हें अपने कल-कूजन से पुलकित किया है। आपकी अनवरत अध्ययनशीलता का परिणाम इस पुस्तक के रूप में प्रकट हुआ है। इसमें आपने बौद्ध-जातकों की अनेक कथाओं से मिलनेवाली नैतिक शिक्षा को वैदिक सिद्धान्तों से प्रभावित सिद्ध किया है। बौद्ध जातकों के युग में भारतीय संस्कृति के रूप और भारतीय समाज की विचारधारा में कहाँ तक परिवर्त्तन परिलक्षित होते थे, इस विषय का विवेचन भी आपने इसमें बड़े विशद ढंग से दरसाया है।

वास्तव में सभी धर्मों का आध्यात्मिक तत्त्व एक ही है। उनके सामाजिक और आर्थिक अथवा राजनीतिक रूपों में समय एवं परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्त्तन भले ही हों, पर उनकी मूल परम्परा में भेद-भाव नहीं होता। सुविज्ञ लेखक ने इसमें जहाँ-तहाँ दिखलाया है कि वैदिक संस्कृति ही युगधर्म के प्रभाव से परिवर्त्तित होकर बौद्ध संस्कृति के रूप में परिणत हो गई है।

यह भी आनुषंगिक संयोग है कि इस पुस्तक के लेखक उसी गयाधाम के निवासी हैं, जहाँ राजकुमार गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। बोधगया में आज भी इतिहासकारों के लिए बौद्ध युग-सम्बन्धी अन्वेषण के निमित्त बहुत-से प्राचीन स्थूल साधन हैं, पर इस पुस्तक में बौद्धयुगीन साहित्य का ही आधार ग्रहण करके तात्कालिक भारतीय समाज का अध्ययन उपस्थित किया गया है। आवश्यकतानुसार लेखक ने भी यत्र-तत्र अपना स्वतन्त्र अभिमत व्यक्त किया है, जो सम्भवतः पाठकों के लिए विचारोत्तेजक सिद्ध होगा।

पुस्तकगत विषय पर लेखक महोदय का भाषण बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की भाषणमाला के अन्तर्गत गत वर्ष (१९५७ ई० में) ९ जनवरी से आरम्भ हुआ था, वही लिखित भाषण इस पुस्तक में प्रकाशित है।

आशा है कि सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से यह पुस्तक विभिन्न रुचि के पाठकों के लिए उपयोगी प्रमाणित होगी।

शरत्-पूर्णिमा
शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

प्रस्तावना

कृपावृष्टिस्फीतात्तव हृदयपीयूषसरसः
प्रवाहो निर्गत्य क्रमतनिमरम्यः करुणया ।
तृषार्त्तानामीषद्वितर्ततिमधुरान्तः प्रतिगति—
प्रणालीभिः पञ्चाभवदिति किमन्यद्भुजकरात् ॥
—सुभाषितरत्नकोषे त्रिलोचनस्य

'साधारण जनता को और विद्वानों को भी प्राणिमात्र के मोक्ष-तत्त्वों का परिचय सुन्दर तथा बालबोध-रीति से कराना ही जातक-कथाओं की निर्मिति का उद्देश्य है[1] ।'

'उम्मदन्ती' जातक में एक कहानी दी गई है । उम्मदन्ती नाम की एक अति सुन्दर लड़की थी । किसी राजा ने अपने पुरोहितों को उम्मदन्ती की वधू-परीक्षा के लिए भेजा था । उम्मदन्ती के घर में ब्राह्मणों का स्वागत हुआ और उनको भोजन के लिए पंक्ति में बैठाया गया । जैसे ही उन्होंने हाथ से सुग्रास उठाये, वैसे ही सालंकृत प्रसाधनों से सुशोभित उम्मदन्ती उन ब्राह्मणों के सामने आई । उसे देखने पर उन ब्राह्मणों का संयम टूट गया । वे भूल गये कि भोजन अभी समाप्त नहीं हुआ था । किसी ने अपने हाथ से स्वादिष्ठ पक्वान्न सिर पर चढ़ाया, किसी ने शरीर पर गिराया और किसी दूसरे ने पीछे दीवार पर फेंका । सभी मुँह में डालना भूल गये । यह देखकर उम्मदन्ती बोली कि मेरी परीक्षा करने के लिए ये ब्राह्मण सुयोग्य नहीं हैं । ऐसे लोगों को यहाँ से भगाना चाहिए ।

मेरे मित्र श्रीमोहनलाल महतो वियोगीजी की जातक-कथाविषयक इस वाङ्मय-कृति के प्रथम अवलोकन करने का अवसर प्राप्त होने पर मेरी स्थिति उम्मदन्ती के घर में भोजन करने और उसकी सामुद्रिक रीति से परीक्षा करने के लिए गये हुए ब्राह्मणों की-सी हुई । वियोगीजी प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं, राष्ट्रभाषा की आधुनिक कक्षा में विपुल वाङ्मय के निर्माणकर्त्ता हैं । उनकी ग्रन्थ-संख्या सवा सौ से अधिक है, जिनमें से कई एक महाविद्यालयों में पाठ्यक्रम के लिए निर्धारित किये गये हैं । वे शब्द-सृष्टि के ईश्वर हैं । विविध कलाओं के अनेक क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा ललित गति से चलती है । उनकी मति स्वयम्प्रकाशित है ।

उनका जन्म गया के पुण्यधाम में विक्रम-संवत् १९६९ में हुआ । बौद्ध धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में पूरे अधिकार से गम्भीर विचार प्रकट करने की क्षमता, बुद्धदेव को सम्बोधि प्राप्त होने के पश्चात् गया-अंचल की पुण्यभूमि में जिनका जन्म हुआ है, ऐसे कई एक व्यक्तियों को परम्परागत रूप से प्राप्त हुई है । इसी का एक उदाहरण, वियोगीजी द्वारा प्रस्तुत 'जातक-कालीन भारतीय संस्कृति' ग्रन्थ है ।

१. इत्सिंग (ई० सप्तम शताब्दी) ताकाकुसु : इत्सिंग के प्रवास, पृ० १६३

वियोगीजी को जीवन की प्रथमावस्था में विद्यार्जन के लिए शान्ति-निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के निकट रहने का सौभाग्य मिला। तदनन्तर स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवालजी से भी उनका दृढ परिचय हुआ। ऐसे संस्कारों का पाना दुर्लभ है। वियोगीजी इसी पर सन्तुष्ट नहीं हुए, बौद्धधर्मविषयक साहित्य का उन्होंने पूरा मन्थन किया और तथागत के विचार-रत्नों को राष्ट्रभाषा में सर्वसुगम शब्दों के स्तवक में रखा।

इस ग्रन्थ का विषय जातक-कालीन भारतीय संस्कृति है। कहा जाता है कि अपने तत्त्वों का प्रचार करते समय भगवान् बुद्ध ने पूर्वजन्मों के बारे में ये सब कथाएँ कही थीं। तथागत के तत्त्वज्ञान के दो महास्तम्भ हैं: महाप्रज्ञा और महाकरुणा। प्राणिमात्र को समष्टि-स्वरूप देखने की क्षमता प्रज्ञा के द्वारा मिलती है। करुणा, प्राणिमात्र के प्रति हर एक व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है, यह सिखाती है।

मर्त्य-मानव संसार की क्षणभंगुरता देखने पर भी अपने को व्यर्थ चिरञ्जीव समझता है। आधि-व्याधियों से व्याप्त जीवन में अपनी आशाओं के पीछे दौड़ता है और बारम्बार दुःख तथा क्लेश से परास्त होता है। राजकुमार सिद्धार्थ के मन पर इन बातों का परिणाम हुआ और दुःख से मुक्ति किस प्रकार मिलेगी, इसकी खोज में वे ऐहिक सुखों का त्यागकर बाहर निकले। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है, 'तरति शोकं आत्मवित्' (७, १, ३)—जो आत्मा को जानता है, वही शोकातीत रहता है। बुद्धदेव ने पश्चात् यह कहा कि अपने असंख्य जन्मों में किसी जन्तु का जो अश्रुपात हुआ, वह इकट्ठा होने पर महासागर से भी बड़ा जलाशय होगा[१]।

इस प्रकार पुनर्जन्म का सिद्धान्त बौद्ध-तत्त्वों में अन्तर्गत हुआ। पुनर्जन्म का यह सर्वसाधारण नियम बोधिसत्त्व के लिए भी लागू होता है।

संसार दुःखमय क्यों होता है? भगवान् बुद्ध ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु अनित्य है—'अनिच्चा बत संखारा उप्पादवयधम्मिनो'। बौद्धों का दूसरा मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु की क्षण-क्षण में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की अव्याहत परिणति होती है, जिस घटना को वे 'खणिकत्ता' कहते हैं। उनका तीसरा सिद्धान्त 'प्रतीत्य-समुत्पाद' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की श्रृंखला आगे-आगे हेतु और प्रत्यय से बढ़ती जाती है। समुत्पाद का अर्थ 'गतपरिस्थिति' है और 'प्रतीत्य' का अर्थ कारणाश्रित है। बुद्धदेव ने बारम्बार कहा है कि संसार में जो कुछ होता है, उसके विषय में जो प्रधान दो तत्त्व उनके काल तक प्रचलित थे, उन दो तत्त्वों के बीच का रास्ता ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त है। एक तत्त्व तो यह था कि सब संसार झूठा है, जिसको 'असद्दृष्टि-तत्त्व' भी कहते हैं। दूसरे तत्त्व के अनुसार यह कहा जाता था कि, सचमुच, केवल संसार का ही पूरा अस्तित्व है, जिसको 'सत्-दृष्टि' या 'आस्तिक्य-दृष्टि' भी कहते थे। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के आधार पर तथागत ने यह बतलाया कि संसार की प्रत्येक वस्तु की क्षण-क्षण में उत्पत्ति

१. संजुत्तनिकाय; २. १७८

स्थिति और विनाश की प्रगति होती है। अस्तित्व होना या अस्तित्व नहीं होना, इन बातों का सत्यस्वरूप यही है। इसी को 'मध्यममार्ग' कहा गया है[१]।

पश्चात् नागार्जुन ने इसी विचार को आगे बढ़ाया और माध्यमिक—शून्यता-दर्शन की स्थापना की, जिसका विस्तार आगे नालन्दा-विश्वविद्यालय में पर्याप्त परिमाण में हुआ। मध्यमकारिका में नागार्जुन ने लिखा है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुता।
उत्पन्ना या तु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन[२]॥

मौलिक बौद्ध सम्प्रदाय के प्रमुख विचार थे : प्रज्ञा और करुणा की महत्ता; संसार की अनित्यता; और वस्तुमात्र का क्षण-क्षण में, प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होना। इन बातों का परिशीलन करते हुए, स्मृति और भूतकाल क्या है, आज जो मानव-शरीर धारण किये हुए प्राणी देखने में आते हैं, उनका पूर्वजन्म था कि नहीं, यदि पूर्वजन्म था, तो उस समय उनका शरीर, मन इत्यादि आज जो हैं, उसी जाति और स्वभाव के थे या नहीं, इन विषयों पर विचार करना आवश्यक होता है। आज जो मनुष्य है, वह पहले किसी जन्म में बन्दर या हरिण था, यह बात सम्भवनीय-सी होती है। आज जो पशु और पक्षी देखने में आते हैं। वे किसी पूर्वजन्म में मनुष्य का शरीर धारण करते होंगे, यह बात भी शक्यता की मर्यादा के बाहर नहीं जाती है। इस तरह प्रज्ञा और करुणा और संसार की घटनाओं के प्रमुख सिद्धान्तों का आधार जातक-कथाएँ बन जाती हैं। इसी हेतु से उनकी निर्मिति हुई है।

प्रचार-कार्य के लिए युगप्रवर्त्तक महापुरुषों ने कथाओं के साधन का उपयोग प्रचुर मात्रा में किया है। सद्धर्मपुण्डरीक (२.४४) में कहा गया है कि तथागत ने सूत्र-गाथाओं और जातक-कथाओं के द्वारा अपना उपदेश बालबोध किया है। उनके काल में अनेक प्राचीन आख्यान और अनुश्रुतियाँ अवश्य रही होंगी, जिनका उपयोग इस काम के लिए उन्होंने किया होगा।

उपलब्ध जातक-कथाओं का संग्रह सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय में दिया हुआ है। आचार्य फाउसबोल-सम्पादित संग्रह में ५४७ जातक-कथाएँ हैं। खिस्तपूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में रचित चुल्लनिद्देश ग्रन्थ में जातक-कथाओं की संख्या ५०० बतलाई गई है[३]। चीन देश का प्रवासी फाहियान ने खिस्त-पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में लङ्का में ५०० जातकों की चित्राकृतियाँ देखी थीं। उन्हीं के समकालीन गुप्तयुग के आर्यशूर ने 'जातक-माला' का गुम्फन किया है।

प्रश्न यह उठता है कि इस संग्रह की कथाओं का काल-निर्णय कैसे हो सकता है?

---

१. मज्झिमा पटिपदा
२. मध्यमकारिका; १.७
३. चुल्लनिद्देश; २.८०

उपलब्ध संग्रह की प्रत्येक जातक-कथा के पाँच विभाग हैं : (क) प्रास्ताविक कथानक, या 'पच्चुप्पण्णवत्थु', अर्थात् किस प्रसंग पर बुद्धदेव ने कथा कही; (ख) 'अतीतवत्थु', अर्थात् बुद्धदेव के पुनर्जन्म की कथा—जब वे किसी रूप में बोधिसत्त्व थे; (ग) गाथाएँ और अभिसम्बुद्ध गाथाएँ, अर्थात् कुछ श्लोक, जो पूर्वजन्म के प्रसंग समझे जाते हैं और कुछ दूसरे श्लोक, जो ज्ञान प्राप्त होने पर भगवान् बुद्ध के कहे हुए माने जाते हैं; (घ) एक छोटी-सी टीका, जिसका नाम 'वेय्याकरण' है, और जिसमें गाथाओं का शब्दशः अर्थ दिया हुआ रहता है; (ङ) और 'समोधान', जिसमें कथा के विभागों का वर्त्तमान काल से सम्बन्ध बुद्धदेव ने बतलाया था और श्रोताओं के मन पर कथा सुनने का क्या परिणाम हुआ, उसका भी संकेत किया था।

काल-निर्णय के लिए इन पाँच विभागों में से केवल दो विभागों का उपयोग हो सकता है अतीतवत्थु और गाथाएँ—अभिसम्बुद्ध गाथाएँ। यह तो स्पष्ट है कि वेय्याकरण और समोधान विभाग बुद्धदेव के समकालीन हो ही नहीं सकते; और पच्चुपण्णवत्थुओं में अतीतवत्थुओं की अधिकांश पुनरावृत्ति ही हुई है।

इस सम्बन्ध में विशेष अन्वेषण की आवश्यकता इसलिए होती है कि अतीतवत्थुओं में, जो तथागत के पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं, उनमें बुद्धदेव अपने बोधिसत्त्व के रूप में किसी अवस्था के बारे में किसी घटना पर प्रकाश डालते हैं, जिसमें बोधिसत्त्व ने प्रमुख या साधारण भाग लिया होगा या वह घटना उन्होंने केवल देखी होगी। प्रत्येक घटना से कुछ तात्पर्य भी निकाल लिया गया है। ऐसी परिस्थिति में विविध प्रकार की जनश्रुतियाँ, आख्यायिकाएँ, लोक-कथाएँ इत्यादि साहित्य के प्रकार जातक-कथाओं के निर्माण में काम आये, यह बात निस्सन्देह है।

श्रीयुत गोकुलदास दे महाशय ने यह सिद्ध किया है कि[१] जातक-कथाओं का सबसे प्राचीन भाग गाथाओं का ही है, जो अत्यन्त पुरातन भारतीय जानपद वाङ्मय का एक अंश है। श्रीलङ्का में सबसे पुरानी जो 'जातकट्ठकथा' मिलती है, वह भी परम्परा के अनुसार पहले पद्यमय थी और भाषान्तर करते समय उस पर कुछ गद्य का आवरण चढ़ाया गया। यह बात तो सर्वश्रुत है कि पद्यमय वाङ्मय का पठन गद्य से अधिक सहज हो सकता है और पुश्त-दर-पुश्त श्लोक कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। काल-निर्णय करने में इन बातों का स्मरण रखना चाहिए। भाट जब श्लोक गाते थे, तब अपने गद्य में कुछ पुष्टि भी जोड़ते थे। जातक-कथाओं पर इसी प्रकार संस्कार हुए। श्रीयुत गोकुलदास दे महाशय का कहना है कि जो गाथाएँ हैं, वे बुद्ध के समकालीन ही नहीं, बुद्धपूर्व भी होंगी। पाश्चात्य विद्वान् ओटो फ्रैंक महोदय का यह कहना है कि जातक-कथाएँ अधिकांश बुद्धपूर्व हैं। किसी वाङ्मय में लोक-कथाओं के कर्त्ता अपना नाम नहीं बतलाते हैं, ऐसी कथाओं का, उपदेश देने के लिए, प्रचार-कार्य में जब उपयोग हुआ, तब उनके बारे में टीकाएँ और तात्पर्य-संशोधन का सम्पादन हुआ।

इस प्रकार, जातक-वाङ्मय बुद्धपूर्व काल में आख्यानकों के रूप में, विशेषतः

१. कलकत्ता-रिव्यू; जुलाई, १९३० ई०, पृ० ६८

लोक-कथाओं में, निबद्ध था। तथागत की शरीरावस्था में और राजगृह में भिक्षुओं की प्रथम संगीति तक जातक-कथा-संग्रह बौद्ध कर्म-सिद्धान्त का उदाहरण बन गया, जैसा आगमपिटक में मिलता है। द्वितीय संगीति के समय तक इस जातक-वाङ्मय का रूपान्तर नीति-धर्मप्रद कथाओं में हुआ, जैसा सुत्तन्त जातक और इतर जातक-कथाएँ—धम्मविनय में मिलता है। तृतीय संगीति के काल तक जातक-कथाओं का संग्रह खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत किया गया। आगे चलकर संग्रह में और भी वृद्धि हुई। जैसे, ख्रिस्त-पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों के बारे में जातकट्ठ-कथा का अलग संग्रह हुआ। विदेशों में भी कथाओं की संख्या बढ़ती गई : उदाहरणार्थ 'लेओस' देश में जो संग्रह प्रचलित है, उसमें सत्ताईस कथाएँ हैं, जो किसी दूसरे संग्रह में मिलती नहीं[1]। गाथाओं का पद्य में और गद्य में विस्तार कैसे हुआ, यह जानना ऐतिहासिक अन्वेषण के लिए महत्त्वपूर्ण है।

प्राच्य वस्तु-संशोधन से भी इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त हुई है। भरहुत और साँची के स्तूपों की शिलाओं पर तीस[2] से अधिक जातक-कथाएँ उत्कीर्ण की गई हैं। भरहुत-साँची के स्तूप ख्रिस्त-पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के हैं। जहाँ-तहाँ जातक-कथाओं के विशिष्ट नाम भी दिये हुए हैं, जो कभी प्रचलित नामों से मिलते-जुलते हैं और कभी नहीं। अमरावती के शिल्प में भी कुछ जातक-कथाएँ दिखलाई गई हैं। अजन्ता, एलोरा, बाघ में तो जातक-कथाओं के अनेक चित्र पाये गये हैं।

यह स्पष्ट है कि जातक-कथाओं से उनकी समकालीन परिस्थिति की कल्पना करना कठिन है; क्योंकि बुद्धदेव के समकालीन समाज का स्वरूप इन जातक-कथाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है, ऐसा अनुमान करना ऐतिहासिक दृष्टि से धृष्टता होगी। परन्तु, जातक-कथाओं के प्राचीन खण्ड इकट्ठा करके ऐसे संचय के आधार पर मोटा-मोटी कुछ रूपरेखा दृष्टिगोचर हो सकती है, जिससे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक मौर्यकालपूर्व बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय के इतिहास की गणना शताब्दियों में भी हम लोग कर सकेंगे, तो यह प्रयत्न सन्तोषजनक होगा।

अथर्ववेद की रचना, आर्य-संस्कृति जब मगध देश तक पहुँची थी, तब हुई थी। अथर्ववेद में मगध के व्रात्य-साम्राज्य के सम्बन्ध में और तत्कालीन समाज की व्यवस्था के विषय में विस्तृत वर्णन मिलता है। पुराणों से प्राप्त अनेक राजवंशों और राजाओं की नामावली भी पुराविदों के लिए अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री गिन जाती है। उत्तरापथ के गंगा और सिन्धु नदियों के थल के देशों में क्या-क्या घटन वेदकाल के पश्चात् और तथागत के पूर्व दो-तीन शताब्दियों में हुईं, विशेषतः महान् कालखण्ड में मानव-समाज ने आर्यावर्त्त में किस प्रकार की प्रगति की, इन का दिग्दर्शन इस बौद्ध साहित्य से कुछ अंश में मिलता है।

भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ देखने में आती हैं, जो अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवाहित हुई हैं। साथ-साथ कल्पनाओं के मूर्त्तस्वरूप सामाजिक संस्थाओं और संसार की वस्तुओं का अस्तित्व भी सनातन रहा है: गाँवों-गाँवों में

---

१. बापट, २५०० ईयर्स ऑव बुद्धिज्म; पृ० ४३६

२. बरुआ एण्ड सिन्हा, भरहुत इनक्रिप्शन्स; पृ० ७८—९९.

विभिन्न प्रजा और एक बड़े गाँव या नगर में रहनेवाला राजा और उसकी मन्त्रिपरिषद्; सेठियों के हाथ में व्यापार और हाट; और नदियों पर चलनेवाली नौकाएँ तथा सर्वोपयोगी बैलगाड़ियाँ और किसानों के हल संस्कृति के शाश्वत अंश ठहरे हैं। कौन कह सकता है कि बुद्धपूर्व भारत में इन सबका व्यवहार नहीं था। संसार, कृषिप्रधान देश में, यन्त्रयुग के पहले कई एक शताब्दियों में ही नहीं, अनेक सहस्राब्दियों में भी अपने बाह्य स्वरूप में विशेष परिवर्त्तित नहीं होता था।

परन्तु यह मानना भ्रम होगा कि जातक-कथाओं में उस कालखण्ड के इतिहास के लिए कुछ पोषक नई बात नहीं मिलती है। जिस इतिहास-खण्ड के बारे में अन्य साधन बहुत कम हैं, वहाँ ऐसे संग्रहों के प्रति जिज्ञासु सतृष्ण दृष्टि से ही देखेंगे। एक बात का तय करना होगा—जातक-कथाओं में जो कल्पनाएँ मिलती हैं (धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक इत्यादि), उनका सम्बन्ध उपनिषद् इत्यादि कालों से जोड़ना उचित होगा या तथागत के पश्चात् के कालखण्ड से। वियोगीजी इस पक्ष के हैं कि जातक-कथाओं में जो परिस्थिति निर्दिष्ट की गई है, वह भारतीय संस्कृति की पूर्व दशा से परिणत हुई है।

राजनैतिक दृष्टि से जातक-कथाओं से निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है—

काल	ऐतिहासिक खण्ड
(१) खिस्तपूर्व २००० से १००० वर्ष तक	वैदिक काल के कुछ राजाओं के बारे में केवल उल्लेख ऐतिहासिक खण्ड में मिलता है और कतिपय प्राचीन राजाओं के विषय में कुछ और प्रकाश।
(२) खिस्तपूर्व १२०० से १००० वर्ष तक	कुरु-पांचाल राजाओं के बारे में।
(३) खिस्तपूर्व १२०० से ८०० वर्ष तक	विदेह और दूसरे छोटे-छोटे राज्यों के बारे में।
(४) खिस्तपूर्व ८०० से ६०० वर्ष तक	महाजनपदों का इतिहास काशी, कोसल-राज्यों के बारे में।

इन खण्डों में सबसे अधिक प्रकाश काशी-कोसल-राज्यों और महाजनपदों के इतिहास के बारे में मिलता है। ऐतिहासिक काल में, इन राज्यों को परास्त करने पर ही मगध-साम्राज्य की नींव पक्की बनी, जो घटना बुद्धदेव के समकालीन थी। बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य उत्तरापथ में होने के कारण तत्कालीन राजनैतिक कल्पनाओं और व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में जातक-कथाओं से विपुल सामग्री मिलती है। इस सामग्री का विश्लेषण वियोगीजी ने बड़ी कुशलता से किया है।

इस युग में तक्षशिला नगरी में एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था और राजकुमारों को शिक्षा पाने के लिए वहीं भेजने की इच्छा राजकुलों में प्रबल रहती थी। ब्राह्मण और सधन सेठी-कुलों से भी पढ़ाई के लिए छात्र वहाँ जाते थे। तिलमुट्ठि-जातक में एक शिक्षाविषयक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ आया है। काशी का राजकुमार जब सोलह वर्ष का

हुआ, तब काशी-नरेश ने उसको बुलाकर साधारण पादत्राण, पत्तियों का बना हुआ छत्र और एक हजार मुद्राएँ दीं तथा तक्षशिला जाने के लिए आज्ञा भी की। तक्षशिला पहुँचने पर राजकुमार ने अपने आचार्य का घर खोजा। उस समय आचार्य ने शिक्षा समाप्त की थी, छात्रों को विदा किया था और स्वयं आँगन में चहलकदमी कर रहे थे। आचार्य को देखकर राजकुमार ने पादत्राण उतार दिया और प्रणाम किया। आचार्य ने उसको घर में बुलाया। जलपान और कुछ विश्राम करने पर राजकुमार पुनः आचार्य के पास पहुँचा। आचार्य ने उससे पूछा, 'तुम कहाँ से आये हो ?' राजकुमार ने उत्तर दिया, 'वाराणसी से'। दूसरा प्रश्न हुआ, 'तुम किसके पुत्र हो ?' और उत्तर मिला, 'वाराणसी के राजा के।' तीसरा प्रश्न हुआ, 'तुम इधर किस हेतु से आये हो।' जिसका उत्तर मिला कि शिक्षा पाने के लिए। तब आचार्य ने पूछा, 'क्या तुम अपने साथ मेरे लिए दक्षिणा लाये हो या मेरे घर में तुम मेरी परिचर्या करोगे ?' राजकुमार ने कहा कि दक्षिणा के रूप में एक हजार मुद्राएँ मैं लाया हूँ।

तक्षशिला में तीन वेद और अट्ठारह शिल्पकलाएँ पढ़ाई जाती थीं (तयो वेद अट्ठारस सिप्पाणि)। राजकुमार कब काशी लौटा, यह जातक-कथा में नहीं दिया गया है। परन्तु लौटने पर ऐसे राजकुमार उपराजाओं का काम करते थे।

जातक-ग्रन्थों से आर्थिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। उस युग में श्रमिक दो प्रकार के थे। उच्च श्रेणी के अथवा उत्कृष्ट और निम्न श्रेणी के अथवा हीन। यह भेद आधुनिक काल में भी देखा जाता है। चार प्रकार के दास या गुलाम थे—(१) जिनकी माता दासी थी (आमाय दास), (२) जिन्होंने भय से दास्यत्व स्वीकार किया था (भयप्पपुण्णा); (३) जो अपनी इच्छा से दास बन गये थे (सयं उपयांति); (४) और जिनको बिक्री में खरीदा था (धनेन क्रीता)। किसानों की जमीन थी। लगान भावली था। फसल काटने के समय राजा अपने कर्मचारी भेजता था, जिनके नाम बलिसाधक, निग्गाहक आदि थे और राजा फसल का हिस्सा उनके द्वारा ले लेता था।

मनोरंजक जातक-कथाओं में महाजनक जातक, बवेरु जातक और सुप्पारक जातक विशेष उल्लेखनीय हैं। महाजनक जातक-कथा में चम्पा (वर्त्तमान अंग या भागलपुर) से सुवर्णभूमि के लिए जानेवाले सार्थवाहों की कथा है। बवेरु जातक में सीरिया-वेबिलोन देश से व्यापार का सम्बन्ध बतलाया गया है। सुप्पारक जातक में भारुकच्छ (वर्त्तमान भड़ौंच) से हुई समुद्र-यात्रा का वर्णन है। और, यह भी कहा गया है कि यात्रा सुचारु रूप से चलाने के लिए जो नौकाशास्त्रज्ञ जहाज पर था, वह अन्धा होने पर भी बहुत कुशल था। भारुकच्छ से ईरान की खाड़ी तक सात बन्दरगाहों का नाम इस जातक में दिया गया है। आर्यावर्त्त में बड़ी और छोटी सड़कें (महामग्ग) थीं। जंगल और मरुभूमि में भी सार्थवाह व्यापार के लिए जाते थे। अपण्णक और वण्णुपथ जातकों में, जंगल और मरुभूमि में जाते समय किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, इसका सुन्दर वर्णन आया है। मरुभूमि में मार्ग-निर्देशन के लिए कुशल 'थलनियामक' थे।

जातक-युग में मुद्राओं का भी व्यवहार था : कहापण, निक्ख, अद्ध कहापण, पाद कहापण, मासक, अद्ध मासक और काकणिका इत्यादि मुद्राओं के प्रकार थे। काशी-नगरी का कपड़ा उस युग में भी प्रसिद्ध था, जिसका दाम एक लाख मुद्राएँ था।

जातक-कथाओं में भौगोलिक बातें भी आई हैं। गन्धार और कम्बोज से कलिंग, आन्ध्र प्रदेश और कश्मीर तथा हिमालय प्रदेश से अवन्ती एवं अश्मक (वर्त्तमान खान देश) आदि तक के देशों का जातक-कथाओं में उल्लेख मिलता है। लङ्का और जावा देशों के सम्बन्ध में भी उस समय पर्याप्त ज्ञान था। आर्यावर्त्त के कई एक नगरों के बारे में जातक-कथाओं में महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ दिये गये हैं। हिमालय तथा गंगा नदी के विषय में बारम्बार कहा गया है। कोशी नदी का नाम भी एक जातक में मिलता है। मगध देश की कई एक नदियों और गाँवों के नाम जातक-कथाओं में मिलते हैं।

संस्कृत-वाङ्मय के इतिहास की दृष्टि से भी जातक-कथाओं का बहुत महत्त्व है। गुप्तकाल में बौद्ध और अन्य पन्थों में महान् संघर्ष हुआ। प्रत्येक पन्थ अपने प्रचार के लिए सभी प्रकार के साधनों का उपयोग करना चाहता था। आर्यशूर ने इसी हेतु से जातक-माला रची। महाकवि कालिदास ने व्याघ्री जातक की कथा को ध्यान में रखकर अपने रघुवंश में दिलीप राजा और सिंह की कथा दी। कट्ठहारि जातक में यह कथा आई है कि एक राजा ने अपने उद्यान में एक स्त्री को देखा, जो गाना गाती हुई लकड़ी चुन रही थी। राजा उस पर आसक्त हुए। राजधानी लौटते समय राजा ने उसको अपनी अभिज्ञान-मुद्रा दी और यह कहा कि उसके यदि कन्या हो, तो मुद्रा बेचकर उसका पालन-पोषण करना और पुत्र हो, तो मेरे पास ले आना। इस कथा का अभिज्ञान-शाकुन्तल से स्पष्ट सम्बन्ध है।

इन उदाहरणों से भी अधिक मार्मिक उदाहरण पंचतन्त्र ग्रन्थ का है, जहाँ ब्रह्मा, रुद्र और वेदों का स्मरण करके कथामुख का प्रारम्भ हुआ है और विष्णुशर्मा की यह प्रतिज्ञा हुई है, 'पुनरेतान् तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि ततः स्वनामत्यागं करोमि।' पंचतन्त्रों में भी अनेक पशु-पक्षियों का संवाद आया है और उनके मुँह से व्यावहारिक नीतिशास्त्र का प्रचार कराया गया है।

चीन देश के प्रसिद्ध प्रवासी इत्सिंग ने खिस्त-पश्चात् सातवीं शताब्दी में जातक-कथा के बारे में जो कहा है, उसका अवतरण मैंने पहले ही उद्धृत किया है। एशिया-खण्ड में बौद्ध धर्म का प्रचार कराने में इन जातक-कथाओं की सहायता प्रचुर मात्रा में ली गई है। जातक-कथाओं के संग्रह वर्त्तमान काल में भी अनेक पौर्वात्य देशों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। चीन, मंगोलिया, जापान में जो झेन ('ध्यान') नामक प्रभावशाली बौद्ध पन्थ है, वह जातक-कथाओं की सबसे अन्तिम तात्त्विक परिणति है। झेन-पन्थ की क्रिया इस प्रकार की है : पहले प्रश्नोत्तर होता है। उसके पश्चात् उपासक की मति आचार्य के उत्तर से कुण्ठित हो जाती है और उसके मन पर प्रचण्ड आघात होता है, जिससे उसको सम्बोधि प्राप्त होने लगती है। साक्षात् बुद्धदेव ने अपने सम्भाषण से अनेक शिष्यों को इसी प्रकार प्रबुद्ध किया था। जातक-कथाओं के प्रसंग भी श्रोताओं के मन पर अपनी विचित्रता से आघात करते हैं। जिस आघात के पश्चात् सम्बोधि की

प्राप्ति बतलाई गई है। झेन-सम्प्रदाय ने जापानी लोगों के जीवन और संस्कृति पर कितना प्रभाव डाला है, यह सर्वविश्रुत है।

आँग्ल-भाषा में जातक-कथाविषयक वाङ्मय थोड़ा-बहुत है। आचार्य ह्रिस डेविड्स के दो ग्रन्थ हैं : 'बुद्धिष्ट इण्डिया' तथा 'बुद्धिष्ट बर्थ-स्टोरीज़', जो इस विषय के अन्वेषण के लिए मौलिक गिने जाते हैं। रिचर्ड फिक महोदय ने सन् १९२० ई० में 'द सोशल आर्गेनिजेशन इन नार्थ-ईष्ट इण्डिया' नाम का ग्रन्थ लिखा है, जिसमें सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अच्छा संशोधन किया गया है। आचार्य वेणीप्रसादजी ने अपने 'द इष्टेट इन एन्सियेण्ट इण्डिया' ग्रन्थ में राजनैतिक प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। श्रीयुत बी० सी० सेन का 'स्टडीज़ इन जातक' ग्रन्थ कलकत्ता-महाविद्यालय ने प्रसिद्ध किया है। श्रीयुत गोकुलदास दे महाशय ने सन् १९३१ ई० में 'द सिग्नि-फिकेन्स ऑव द जातकाज़' नाम की लेखमाला प्रसिद्ध की। श्रीरतिलाल मेहता ने 'प्रिबुद्धिष्ट इण्डिया' नाम का अपना ग्रन्थ सन् १९३९ ई० में प्रकाशित किया, जो अत्यन्त उपयुक्त है। भरहुत, साँची, अमरावती, अजन्ता, एलोरा और बाघ की कला-कृतियों के बारे में गत दस-बीस वर्षों में अनेक ग्रन्थ छपे हैं, जिनमें जातक-कथाओं के चित्रों और शिल्पों के सम्बन्ध में प्रभूत चर्चा की गई है।

राष्ट्रभाषा में इस विषय पर एक भी ग्रन्थ नहीं था। श्रीवियोगीजी ने अविरत परिश्रमपूर्वक अपना ग्रन्थ लिखकर यह त्रुटि दूर कर दी है। हिन्दी-वाचक इसलिए उनके सदा आभारी रहेंगे। मेरी स्वार्थी अपेक्षा यह है कि प्राचीन जातक-ग्रन्थ और इतर प्राचीन बौद्ध और जैन वाङ्मय का मन्थन वियोगीजी और भी करेंगे तथा हिन्दी-वाचकों को एक से अधिक लोकोपयोगी ग्रन्थों का उपायन देंगे—विशेषतः प्राचीन कलाओं के बारे में।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-वाङ्मय का महान् कार्य किया है। यह प्रस्तावना लिखने में अपनी कार्यव्यग्रतावश हुए विलम्ब के लिए मैं श्रीवियोगीजी तथा परिषद्-संचालक शिवपूजन सहायजी से क्षमाप्रार्थी हूँ।

पटना, विजयादशमी
वि० सं० २०१५ : शकाब्द १८८०

—श्रीधर वासुदेव सोहोनी

अथ

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने एक पुस्तक लिखी है 'बौद्ध संस्कृति', जिसका निम्नांकित अंश इस ग्रन्थ में प्रतिपादित मेरे मत का स्पष्ट समर्थक है—

"ताम्रयुग की, सिन्धु-उपत्यका की संस्कृति, उसके बाद टुटपुँजिया संस्कृतिवाले घुमन्तू[1] आर्यों का समागम और वैदिक कार्मकाण्ड से होते उसका परिव्राजकों के समय तक पहुँचना इन ढाई हजार सालों में भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क से भारत-भूमि में एक संस्कृति तैयार हो गई थी। यही वह संस्कृति थी, जिसमें सिद्धार्थ गौतम पैदा हुए और जिसके भीतर रहते वह बुद्ध बने।"

'टुटपुँजिया संस्कृतिवाले घुमन्तू आर्यों' के ही सांस्कृतिक उत्तराधिकारी बुद्धदेव थे—यह स्वीकार करके राहुलजी ने हमारे भार को बहुत हल्का कर दिया—हम उनके कृतज्ञ हैं।

राहुलजी एक अधिकारी विद्वान् हैं। वे स्वयं बौद्धधर्मावलम्बी हैं। बुद्धदेव या बौद्धसंस्कृति के सम्बन्ध में अधिकारपूर्वक सब कुछ कह सकते हैं।

जातक-कथाएँ

जातकों का काल-निर्णय करना आवश्यक है; क्योंकि यह पुस्तक विशेषतः जातकों पर ही अवलम्बित है।

स्व० डॉ० जायसवाल की विश्वविख्यात पुस्तक 'Hindu Polity' हमारे सामने है। इसी पुस्तक के प्रथम खण्ड के आरम्भ में ही डॉ० जायसवाल ने जातकों का रचना-काल बुद्ध से पूर्व, यानी ईसापूर्व ६०० वर्ष से भी पहले माना है। वह समय आज से २५५८ वर्ष पहले होता है। और भी कुछ प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे जातकों की प्राचीनता का पता चलता है[2]।

जातक-कथाओं की संख्या में काफी मतभेद रहा है। 'जातक-माला' में (जो संस्कृत का एक बौद्ध ग्रन्थ है) ३४ जातक हैं। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् तारानाथ ने इस जातक-माला के रचयिता का नाम 'आर्यसूर' लिखा है।

ईशानचन्द्र घोष के मतानुसार 'महावस्तु' नामक ग्रन्थ में ८० जातक-कथाओं का होना प्रमाणित होता है।

थेरवादियों (सिंहल, स्याम, बर्मा, हिन्दचीन आदि देशों के बौद्धों) की परम्परा है कि जातकों की संख्या ५५० है। 'जातकट्ठकथा' में जातकों की संख्या

---

१. 'आर्य' शब्द 'ऋ' धातु से बना है। अलग-अलग गणों में जो ऋ धातु पाई जाती है, वह प्रायः 'गत्यर्थ' है, अतः 'घुमन्तू आर्य' कहना बेकार है, 'आर्य' शब्द का अर्थ भी घुमन्तू है। —ले०

२. देखिए फस्बोल-कृत जातक; भाग २, ३०, और ७४।

५४७ है। 'चूलनिद्देस' में भी 'पञ्चजातकसतानि' ऐसा उल्लेख मिलता है, यानी ५०० जातक। ४७ जातक और बढ़ गये, तो इसमें अचरज ही क्या है।

यह अन्तिम संख्या है और बौद्ध विद्वानों ने मान लिया है कि जातकों की संख्या ५४७ ही है। यह तो जातकों की गिनती हुई। किन्तु यदि साधारण कथाओं को गिन डालें, जो 'जातकट्ठकथा' के अन्तर्गत हैं, तो उनकी संख्या हजारों तक पहुँच जायगी। ईशानचन्द्र घोष का अनुमान है कि ऐसी कथाएँ लगभग तीन हजार होंगी।

जातक में केवल भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाओं का ही संग्रह है। 'जातकट्ठकथा' में सिद्धार्थ गौतम की जीवन-गाथा तो है ही, साथ ही उनके पूर्ववर्त्ती बहुत-से बुद्धों की भी जीवन-गाथा है—बुद्धपूर्व बुद्धों की संख्या २७ बतलाई गई है।[1]

जातकट्ठकथा तीन भागों में विभाजित है—दूरे निदान, अविदूरे निदान और सन्तिके निदान।

बोधिसत्त्व होने के पूर्व बुद्धदेव ने बहुत बार जन्म ग्रहण किया। कितनी बार? इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है।

'खुद्दकनिकाय' में ३५ चर्य्याओं (चरित्रों) का उल्लेख है। जातकट्ठकथा में 'अकित्ति जातक' से आरम्भ करके 'लोमहंस जातक' तक ३५ चर्य्याओं (चरियाओं) का पता मिलता है। इस प्रकार जातकों की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध है।

हम यहाँ यह बतलाने को उत्सुक नहीं हैं कि जातकों में ज्ञान-विज्ञान या धर्म की बातें किस गहराई से कही गई हैं। हम इस बात को भी स्पष्ट नहीं करना चाहते कि उनमें कितनी बारीकियाँ हैं। हम तो यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि बुद्धदेव ने जातक-कथाओं में एक युग को छिपाकर रख दिया है। गहराई से जातकों का यदि अध्ययन किया जाय तो आज से हजारों साल पहले कही हुई छोटी-छोटी सैकड़ों कहानियों में तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त स्पष्ट चित्र आ जाता है। खान-पान, शादी-विवाह, वाणिज्य-व्यवसाय, शासन-व्यवस्था और अनाचार-अतिचार तक का भी साफ-साफ पता चल जाता है। जातक-कथाओं की भाषा अलंकारों से लदी हुई नहीं है, सभी बातें सीधी-सादी भाषा में कही गई हैं। वे कथाएँ साफ-साफ शब्दों में अपने युग की तस्वीर दिखाती हैं। चोर-उचक्के, बेईमान-शैतान, हरजाई आदि शाक्यों को छोड़कर अन्य सभी वर्गों में हैं।

जातकों में जो कथाएँ हैं, वे मानव की कथाएँ हैं। तत्कालीन मानव-समाज और मानव-स्वभाव का जैसा चित्रण जातकों में हम पाते हैं, वैसा अन्यत्र कम मिलता है।

मानव को जातक-कथाओं में दयनीय प्राणी माना गया है। वह यदि पापी है, तो अपने पूर्वजन्म के अविद्याजनित संस्कारों के कारण। ये अविद्याजनित संस्कार जन्म-जन्मान्तर से मानव के पीछे लगे हुए हैं और आगे भी जन्म-जन्मान्तर तक लगे ही

---

१. देखिए 'बुद्धवंस'। इस प्रसिद्ध पुस्तक में भी २७ बुद्धों का उल्लेख है। भरहुत के शिला-लेख में भी 'बुद्धवंस' के अन्तिम ६ या ७ बुद्धों का नामोल्लेख है।

रहेंगे। इनसे छुटकारा पाना तबतक कठिन है, जबतक हम सजग नहीं हो जाते। हम कैसे सजग हों, यह बुद्धदेव ने बतलाया है[1]।

जातकों की विशेषताएँ अनन्त हैं और यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि विश्व-साहित्य में उनका अपना स्थान है।

जातक-कथाओं के पात्र देवता, यक्ष, नाग, प्रेत आदि के अतिरिक्त प्रायः इसी धरती पर के साधारण जीव हैं। वे चाहे केंकड़े हों, या बन्दर, गीदड़, शेर, सूअर, बगले, बिल्ली या कौवे हों। इन सभी जीव-जन्तुओं का जीवन-प्रवाह सर्वाधिक सचेतन प्राणी मानव के जीवन-प्रवाह के साथ ही प्रवाहित होता है। ऐसा लगता है कि मानव का परिवार बहुत ही विशाल है, जिसमें सभी तरह के जीव-जन्तु, कीट-पतंग, प्रेत-पिशाच, यक्ष-किन्नर हैं। मानव अकेला नहीं है—वह स्थलचर, जलचर, नभचर, सबको साथ लेकर जीवन-यात्रा के पथ पर चलता है।

साधारणतः जातकों की कथाएँ जीव-मात्र को एक ही सूत्र में पिरोती हैं। इस तरह सबके लिए सबको सोचने और कर्म करने की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं। 'मैत्री-धर्म' का तात्पर्य केवल मानव से मानव की मैत्री नहीं है। मानव अपने स्वाभाविक वैरी—शेर, साँप, घड़ियाल आदि—के प्रति भी मैत्री-भावना को सजग रखे, जातकों में यह बात अच्छी तरह बतलाई गई है। इस तरह जातकों में मानव के कर्त्तव्य-क्षेत्र को बहुत ही विस्तृत कर दिया गया है। घर की बगल में बसनेवाले पड़ोसी और निकट के वृक्ष पर घोंसला बनाकर रहनेवाले पंछी या दीवारों पर रेंगनेवाली छिपकलियों तक के प्रति हृदय में मैत्री-भाव रखकर सुखी रहने की बात जातकों में बार-बार दुहराई गई है। यही तो आर्य-विचारकों की विशेषता है।

रामायण, महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों में भी अकेला मानव ही अपने कर्मों का फल भोग करता नजर नहीं आता—जीव-मात्र उसके हिताहित के साथी हैं। जातक-कथाओं की बुनाई-रँगाई भी इसी पृष्ठभूमि में की गई है। हाँ, एक बात अवश्य है कि अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए जातकों में ब्राह्मण-वर्ग पर घृणित-से-घृणित चित्रण किया गया है। इस पुस्तक में हम इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डाल चुके हैं।

बुद्धदेव को हम अपने प्रमुख दस अवतारों में ही नवाँ अवतार मानते हैं। उनके द्वारा ऐसी बातें[2] कही जायँ, जो किसी जाति या वर्ग-विशेष के प्रतिकूल हों, तो किसी भी उदार व्यक्ति को क्लेश होगा।

हम चार सुत्तों की ओर आपका ध्यान दिलावेंगे, जिनका निर्माण ही ब्राह्मणों के प्रभाव को जड़-मूल से साफ करने के लिए हुआ था। पहला सुत्त है—**वासिष्ठ-सुत्त**। इस सुत्त में बुद्धदेव ने यह स्पष्ट किया है कि 'जातिभेद प्राकृतिक नहीं है'। दूसरा सुत्त है—**अस्सलायनसुत्त**। इस सुत्त में ब्रह्मदेव के मुँह से ही यह कहलवाया गया है कि 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से प्रकट होने का जो दावा करते हैं, वह

---

१. 'सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥'—धम्मपद, १४।५

२. 'मज्झिमनिकाय' का अस्सलायनसुत्त द्रष्टव्य।

गलत है' । तीसरा सुत्त है—**एसुकारिसुत्त ।** इस सुत्त में यह सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मणों को कोई अधिकार नहीं है कि वे दूसरे वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित किया करें । चौथा सुत्त है—**मधुरसुत्त ।** इस सुत्त में महाकात्यायन ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि नैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद की कल्पना विडम्बना-मात्र है ।

जातकों में जितनी भी कथाएँ आई हैं, उनसे इन चारों सूत्रों का समर्थन होता है । बुद्धदेव ने स्वयं कहा है कि "···तथागत के संघ में प्रवेश करने पर, अपने पहले के नाम-गोत्र छोड़ने पर, केवल **शाक्यपुत्रीय श्रमण** के नाम से पहचाने जाते हैं"[१] ।

जातक-कथाओं में इसीलिए संघ-प्रवेश पर बार-बार जोर दिया गया है और अनेक प्रकार से यह प्रमाणित किया गया है कि 'संघ-प्रवेश से बढ़कर कल्याण का कोई भी दूसरा रास्ता नहीं है ।

अब यह देखना है कि उस संघ का संघटन किस प्रकार का था ।

क्या संघ-संघटन राजनीति-प्रधान था ?

बौद्धग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धदेव के द्वारा प्रचारित धर्म राजनीति-प्रधान था, संघ-संघटन तो सोलहो आने राजनीति-प्रधान था ही ।

यह एक चौंका देनेवाली बात है । स्व० डॉ० जायसवाल एक उद्भट विद्वान् और इतिहास के पारंगत ज्ञाता माने जाते थे । उन्होंने 'हिन्दू पॉलिटी' (Hindu Polity) नामक एक सर्वमान्य पुस्तक लिखी है । अपनी पुस्तक में हम इस महान् ग्रन्थ का नामोल्लेख कर चुके हैं । इसी पुस्तक के प्रथम खंड के ११६वें परिच्छेद की ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिसमें उन्होंने लिखा है—

"स्वयं उनका (बुद्धदेव का) जन्म एक प्रजातन्त्री राज्य में हुआ था[२] और वहीं के रहनेवाले थे । इसके अतिरिक्त उनका जीवन भी प्रजातन्त्री समाजों में ही व्यतीत हुआ था । वे उन प्रजातन्त्रों की कार्य-प्रणालियों से भली भाँति परिचित थे और उन्हें उन्होंने अपने संघ के हित के विचार से ग्रहण किया था ।

"वे (बुद्धदेव) धार्मिक ढंग से एक बड़ा राज्य बल्कि साम्राज्य (धर्मचक्र) स्थापित करना चाहते थे; परन्तु अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने जो संघटन स्थापित किया था, वह वर्गीय ही था । परन्तु वह संघटन धर्मचक्र स्थापित करने के लिए उपयुक्त नहीं था, बल्कि धर्म का एक नगर-राज्य स्थापित करने के ही उपयुक्त था । उनके कार्य की सीमा जो इस प्रकार संकुचित हो गई थी, उसका कारण आरम्भिक जीवन का संस्कार था । उनका जन्म एक ऐसे प्रजातन्त्र में हुआ था, जिसमें अपने समकालीन अन्य राज्यों की अपेक्षा राजनीतिक तथा सार्वजनिक भावों की

---

१. उदान, ५।५; अंगुत्तरनिकाय, अट्ठकनिपात—द्रष्टव्य ।

२. देखिए 'सुत्तनिपात'—'उजुं जनपदो राजा हिमवन्तस्स पस्सतो ।'

विशेष प्रबलता थी; और इसीलिए उनमें एक शान्त त्यागी के योग्य उत्साह और आकांक्षाएँ नहीं थीं, बल्कि एक प्रजातन्त्री राजा[१] तथा विजेता के उपयुक्त गुण और आकांक्षाएँ आदि थीं।

"साधारण हिन्दू संन्यासियों के विपरीत वे अपने संघ के लिए सम्पत्ति पर अधिकार रखते थे, अधिवेशन करते थे, प्रस्ताव स्वीकृत करते थे और अपराधियों को दण्ड देते थे। वे अपने सभी आध्यात्मिक कृत्यों में प्रजातन्त्री शाक्य थे[२]; और उनकी सारी व्यवस्था में संघटित आध्यात्मिक प्रचार या विजय-प्राप्ति का भाव भरा हुआ था। अपने आध्यात्मिक उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने धर्म-संघ को स्थायी करना था, अपने धर्म के प्रजातन्त्र को स्थायी बनाना था; और इसीलिए उन्हें राजनीतिक प्रजातन्त्रों की शासन-सम्बन्धी कार्य-प्रणालियों तथा संगठन को ग्रहण करना पड़ा।"

यह स्पष्ट है कि बुद्धदेव की प्रगाढ़ भक्ति प्रजातन्त्र के प्रति थी[३]; क्योंकि वे राजनीति का आदर करते थे। साथ ही उनकी भक्ति अपने वर्ग के प्रति थी—'शाक्य-वर्ग' के प्रति[४]। इस वर्ग को वे सभी वर्गों से श्रेष्ठ मानते थे[५]।

एक प्रमाण और हमारे सामने है और वह यह कि 'बौद्धसंघ' वस्तुतः राजनीतिक संघ के अनुकरण पर ही बना था। 'बौद्धसंघ' की कार्य-प्रणाली अपने जन्मदाता जनतन्त्री संघ की कार्य-प्रणाली से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी[६]। धार्मिक आवश्यकताओं को देखते हुए उसमें जो परिवर्त्तन या सुधार हुए थे, यदि उन सुधारों को हम निकाल डालें, तो बौद्धसंघ का स्वरूप एकदम जनतन्त्री संघ-जैसा हो जायगा। बुद्धदेव ने 'समानान्तर सरकार' की तरह एक अपनी सरकार भी बना ली थी, जिसे बौद्ध-संघ कहा जाता था। एक सरकार तो राजनीतिक थी, जो उस समय की थी और दूसरी बलवान् सरकार की स्थापना संघ के रूप में बुद्धदेव ने कर दी थी।

जातकों का यदि गहराई से विवेचन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध भगवान् ने कथाओं में अधिकतर कूटनीति और समाजनीति की ही बातें बतलाई हैं। इन सारी बातों से यह प्रमाणित होता है कि संघ-संघटन प्रत्यक्षतः धार्मिक, किन्तु परोक्षतः राजनीति-प्रधान था। इतना ही नहीं, उन्होंने 'धर्म-सेनापति'[७] आदि पदों की भी कल्पना की थी। इसी तरह के और भी राजनीतिक पद थे, जिनके आगे धर्म शब्द लगाकर बुद्धदेव ने अपने संघ में पदाधिकारियों का निर्वाचन किया था[८]। इतना होने पर भी बुद्धदेव कभी राज-सत्ता से उलझना नहीं पसन्द करते थे;

१. अम्बट्ठसुत्त, २०; र्‌हीस डेविड्‌स कृत Dialogues 9. महापरिनिब्बानसुत्त, ११४-११६

२. महापरिनिब्बानसुत्त।

३. महापरिनिब्बानसुत्त, ६६

४. महापरिनिब्बानसुत्त, १९२

५. अम्बट्ठसुत्त।

६. चुल्लवग्ग, १२. २. ७; (विनयपिटक) S. B. E. २०, ४०८

७. आनन्द 'धर्म-सेनापति' के पद पर प्रतिष्ठित थे।

८. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त (१।२) का फुटनोट पढ़िए।

क्योंकि ऐसा करने से उनके सामने उलझनें पैदा हो जातीं और लक्ष्य-प्राप्ति में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता ।

भारत के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ का 'वैध प्रभुत्व' (De Jura Sovereignty) ब्राह्मण-वर्ग के हाथ में था । यह वर्ग अपनी तपस्या, ज्ञान और श्रेष्ठता के द्वारा देश-पूज्य था । इसके वैध प्रभुत्व को कभी चुनौती नहीं दी गई । राजा या राष्ट्रपति शासन करते थे, किन्तु धर्म और न्याय की रक्षा का भार इसी वर्ग पर था । इसी वर्ग के बनाये नियमों या कानूनों का आदर था । जनता और शासक दोनों इन नियमों और कानूनों को मानते थे । जनता पर राजनीतिक शासक शासन करते थे; किन्तु उसके हृदय पर ब्राह्मण-वर्ग शासन करता था, जो वस्तुतः वैध प्रभु था । इस वैध प्रभु का बल क्या था ? महाभारत में शुक्राचार्य का एक उद्गार इस प्रकार है—

'अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ।'
(आदिपर्वान्तर्गत सम्भवपर्व, श्लो० ३८)

बुद्धदेव ने एक सफल और सिद्ध राजनीतिज्ञ होने के कारण इस तथ्य को अच्छी तरह समझा और उन्होंने वैध प्रभुत्व ब्राह्मण-वर्ग के हाथों से छीनने का भयानक प्रयास किया । जातिगत श्रेष्ठता पर उन्होंने आक्रमण किया, यज्ञ-यजनादि की प्रथा को तोड़ा, ब्राह्मण-वर्ग की इस तरह निन्दा की कि यह वर्ग घृणा का पात्र बना डाला गया । जातक-कथाओं से यह बात तो प्रमाणित होती ही है, अन्य बौद्धग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है ।

बुद्धदेव ने वैध प्रभुत्व को, जो ब्राह्मण-वर्ग के अधिकार में था, दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया । जन-श्रद्धा का जहाँ तक प्रश्न था और जिसका अधिकारी ब्राह्मण-वर्ग था, उसका अधिकारी भिक्षुओं को बना दिया । भिक्षु-वर्ग ही प्रणम्य है, ऐसा उन्होंने बार-बार कहा है[1] । जातियों में भी उन्होंने क्षत्रिय को ही सर्वश्रेष्ठ माना । प्रकारान्तर से वैध प्रभुत्व और राजनीतिक प्रभुत्व एक ही वर्ग के अधिकार में चला गया और वह वर्ग था क्षत्रिय-वर्ग । किन्तु ब्राह्मण-वर्ग का जो स्थान जन-मन में था, उस स्थान पर न तो क्षत्रिय प्रतिष्ठित हो सके और न भिक्षु । ब्राह्मण पदच्युत भी कर दिये गये और उनके रिक्त स्थान की पूर्त्ति भी नहीं हो सकी—यह भारी दुर्भाग्य था । जब न्याय और शासन दोनों का संचालन एक ही कलम से होता है, तब उस देश का दुर्भाग्य चरम सीमा पर पहुँच जाता है । बुद्धदेव ने जो प्रयास किया था, उसका परिणाम यही हुआ । न्याय की पवित्रता भी नष्ट हुई और शासन का रूप भी डरावना बन गया । देश का आन्तरिक गठन बिलकुल ही ढीला पड़ गया ।

जब बौद्ध प्रभाव का भारत में अन्त हुआ और हिन्दू-प्रभाव फैला, तब फिर से वैध प्रभुत्व और राजनीतिक प्रभुत्व में भेद किया गया; किन्तु तबतक भारत भीतर-ही-

१. देखिए दीघनिकाय, २२।२३ और 'Hindu Civilization'.

भीतर चूर हो चुका था। एक बात यह भी है कि बुद्धदेव के प्रभाव से वह युग भी समय के पहले ही समाप्त हो चुका था, जिस युग की गोद में ब्राह्मण-वर्ग सुरक्षित और प्रभावशाली था। बौद्ध प्रभाव की समाप्ति तो हो गई, किन्तु जिस युग को समाप्त कर दिया गया, वह फिर लौट न सका। परिणाम स्पष्ट था और वह यह कि फिर से वैध प्रभुत्व का, देश-हित के लिए पूर्व की तरह, उपभोग ब्राह्मण-वर्ग नहीं कर सका। यह बात भी सत्य है कि सैकड़ों वर्षों तक लांछित, विताडित और पदच्युत रहने के कारण ब्राह्मण-वर्ग भी अपने उन सद्गुणों से दूर हट गया था, जिन सद्गुणों के कारण वह युगों तक भारत के वैध प्रभुत्व का निर्वहन त्याग और ज्ञान के बल पर, करता रहा। जातक-कथाओं से उपर्युक्त बातें भली भाँति प्रमाणित होती हैं।

जातकों में हिन्दू-कथाएँ

जातक-कथाओं में हिन्दू-कथा-साहित्य (महाभारत, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि) को स्थान दिया गया है। महाभारत की बहुत-सी कथाओं का उलटा-पलटा रूप हम जातक-कथाओं में पाते हैं। कथाओं का रूप बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है—खास तौर से श्रीराम और श्रीकृष्ण के चरित्र का तो ऐसा विकृत रूप उपस्थित किया गया है कि पढ़ने से इन अवतारों के प्रति मन में घृणा का संचार हो आता है। ऐसा क्यों किया गया, समझ में नहीं आता।

जातक-कथाएँ पालि-भाषा में हैं। पालि-भाषा उस समय सर्वसाधारण जनता में प्रचलित थी। किन्तु संस्कृत-भाषा पर ब्राह्मण-वर्ग का पूर्ण आधिपत्य था। बुद्धदेव ने समझ लिया कि संस्कृत-जैसी महाशक्तिशाली भाषा ब्राह्मण-वर्ग के अधिकार में है, जिसे 'वैध प्रभुत्व' से गिराना आवश्यक है। अतः उन्होंने पालि का सहारा लिया। संस्कृत पर यह एक भयानक प्रहार था।

भगवान् बुद्ध के प्रभाव से पालि संस्कृत को ढकेलती हुई आगे बढ़ी; किन्तु संस्कृत में जो शक्ति थी, वह उसमें नहीं थी। उसने संस्कृत को दबाया, किन्तु उससे पुष्ट हुई राष्ट्रीय एकता को भी कमजोर कर दिया। उसने अपनी ओर से कुछ भी दिया नहीं।

पालि और संस्कृत के बीच में खाई पैदा करा देने के बाद बुद्धदेव ने पालि में हिन्दू-कथाओं को अत्यन्त विकृत रूप में रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि पालि के माध्यम से रामायण, महाभारतादि की प्रभावपूर्ण कथाओं के पढ़नेवालों के हृदय में उन कथाओं के प्रति घृणा ही पैदा होती गई, आस्था नहीं। इस तरह हिन्दू-प्रभाव से वे मन से भी, अलग होते गये। 'वैध प्रभुत्व' छीन लिये जाने से ब्राह्मण-वर्ग और संस्कृत-भाषा का प्रभाव कम हो गया। स्वयं 'इक्ष्वाकु-वंश' के वंशधर होने का दावा बुद्धदेव तो करते थे, किन्तु उसी इक्ष्वाकुवंशीय दशरथ और राम के चरित्र को जातकों में जैसा अंकित किया गया है, वैसा ही इक्ष्वाकुवंशीय बुद्धदेव के मुख से कहलवाना अशोभन प्रतीत होता है।

पाश्चात्य विद्वान्, कम-से-कम भारत के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते समय

उलझनें पैदा करने का ही काम करते रहे हैं। किन्तु खुले दिमाग से विचार करनेवाले भी कुछ विदेशी विद्वान् हैं। वे संस्कृत और भारत को भली भाँति समझने का प्रयास करते रहे हैं। जैसे, ए० श्लेगेल के मतानुसार रामायण का रचना-काल ईसा से ११ सौ वर्ष पूर्व है[1] और जी० गोरेसियो के मतानुसार १२ सौ साल ई०-पूर्व।

डॉ० वेबर[2] और दिनेशचन्द्र सेन[3] के मतानुसार बौद्ध 'दसरथ जातक' का ही विकसित रूप रामायण है—राम-कथा का आदिस्रोत 'दसरथ जातक' है। माना कि सबसे पहली बार 'राम-कथा' दसरथ जातक के रूप में ही प्रकट हुई। जातकों में बहुतेरी कथाएँ आई हैं, किन्तु इसी कथा (दसरथ जातक) को ही हिन्दुओं ने इतना महत्त्व क्यों दिया ? इस दसरथ जातक में ऐसा कौन-सा जादू भरा था, जिसने हिन्दुओं को इतना मोह लिया कि उसके आधार पर कितने ही काव्य, नाटक आदि तैयार हो गये।

निश्चय ही राम-कथा यहाँ बुद्धदेव के पहले भी थी और हिन्दू-समाज में उसका आदर भी था।

दसरथ जातक (४६१), जिसमें राम-कथा है, इस प्रकार है—

दशरथ[4] वाराणसी के राजा थे। उनके महल में १६ हजार स्त्रियाँ थीं। इनमें जो पटरानी थी, उसने दो पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया—राम, लक्ष्मण और सीता। यही सीता आगे चलकर राम की पत्नी (पटरानी) बना दी गई !!

दशरथ की पटरानी मर गई, फिर उन्होंने दूसरी पटरानी बनाई। वह उनकी अत्यन्त प्रिया थी। उसीके गर्भ से भरत का जन्म हुआ। एक बार दशरथ ने अपनी पटरानी के पराक्रम पर रीझकर वर देने की इच्छा प्रकट की। रानी ने इस अयाचित वर को राजा के यहाँ ही थाती रख दिया। जब भरतकुमार आठ साल का हो गया, तब पटरानी ने अपनी थाती को लौटाना चाहा। वह बोली—'मेरे पुत्र को राज्य दे दो।' राजा बहुत व्यग्र हुए। भरत की माँ भयभीत होकर शयनागार में घुस गई।

राजा ने उसे विना वर दिये ही सोचा कि 'स्त्री अकृतज्ञ और मित्रद्रोही होती है। कहीं यह जाली पत्र (आज्ञापत्र) या जाली मुहर बनवाकर मेरे मातृहीन दोनों पुत्रों (राम और लक्ष्मण) का खून न करा दे।' दशरथ ने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर कहा—'यहाँ तुम्हारे लिए खतरा है। किसी सामन्त-राज्य में या वन में जाकर रहो। मेरे मरने पर आकर सिंहासन दखल कर लेना।' इसके बाद राजा ने ज्योतिषियों से पूछकर यह पता लगा लिया कि उन्हें १२ साल और जीवित रहना है। राम और लक्ष्मण[5] पिता के कहने पर जब वन जाने लगे, यानी प्राण

१. 'जर्मन ओरियण्टल जर्नल'; भाग ३, पृष्ठ ३७९
२. 'ऑन दि रामायण'।
३. 'दि बंगाली रामायन्स'।
४. ऋग्वेद में राजा दशरथ का उल्लेख मिलता है—१. १२६. ४
५. 'दसरथ जातक' में राम और लक्ष्मण को पण्डित कहा गया है।

बचाकर भागने लगे तब उनकी बहन सीता भी रोती-पीटती पीछे लग गई। उसे भी तो प्राण-भय था। सीता ने अपने अग्रज से कहा—'तुम हमारे लिए पिता-तुल्य हो।' राम भाई लक्ष्मण और बहन सीता के साथ प्राण बचाने के लिए हिमालय की ओर भागे। दशरथ किसी तरह ९ साल तक जीवित रहे और ज्योतिषी के कथन को मिथ्या प्रमाणित करते हुए चल बसे। जब दशरथ राम-वियोग में घुल रहे थे, उसी समय भरत-माता ने भरत से कहा—'छत्र धारण कर लो।' अमात्यों ने बाधा डाली। भरत इस विरोध के कारण छत्र धारण करने में असमर्थ रहा।

इसके बाद भरत चतुरंगिनी सेना के साथ वहाँ गये, जहाँ सीता के साथ राम-लक्ष्मण निवास कर रहे थे। पैरों पर गिरकर भरत ने पिता के मरने का संवाद राम से कहा। राम ने कुछ उपदेश दिया। भरत ने यह आग्रह किया कि आप चलकर वाराणसी का राज्य सँभालिए, किन्तु राम राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा—'तीन वर्ष बाद आऊँगा। यदि मैं ९वें वर्ष में वाराणसी लौट जाऊँ, तो पिता की आज्ञा का उल्लंघन हो जायगा।'

भरत के बार-बार आग्रह करने पर राम ने कहा—'सीता और लक्ष्मण को ले जाओ और मेरी पादुका को भी ले जाओ। पादुका राज्य चलायगी।' सीता और लक्ष्मण के साथ भरत राम की पादुका लेकर लौटे। तीन वर्ष बाद राम वन से लौटकर वाराणसी पहुँचे। वहाँ अमात्यों-सहित कुमारों ने उनका स्वागत किया तथा सीता को 'पटरानी' बनाकर राम और सीता दोनों का राज्याभिषेक किया।

यही है 'दसरथ जातक', जिसे कुछ लोगों ने रामकथा का मूलस्रोत माना है। मर्यादापुरुषोत्तम राम अपनी सोदरा बहन को पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं, यह बात कल्पना में भी नहीं आती। पवित्र राम-चरित्र का कैसा घिनौना रूप दसरथ जातक में चित्रित है, यह आपके सामने है।

इस कथा के अन्त में बुद्धदेव ने यह घोषणा कर दी है कि दशरथ = महाराज शुद्धोदन (बुद्धदेव के पिता) थे। राम की माता=बुद्धदेव की माता महामाया थीं। सीता = राहुलजननी थीं और भरत = आनन्द थे। लक्ष्मण = सारिपुत्त थे, दशरथ की परिषद् = बुद्ध-परिषद् थी और राम-पण्डित = स्वयं मैं ही था। राम तथा बुद्धदेव दोनों इक्ष्वाकुवंशीय थे। 'अम्बट्ठसुत्त' में बुद्धदेव ने अम्बट्ठ माणवक से कहा था कि—इक्ष्वाकु के कुछ पुत्र अपनी बहन के साथ जङ्गल में जाकर बस गये और अपनी सोदरा बहन से ही संतान पैदा कराने लगे। राम से भी यही कर्म कराया गया।

अब श्रीकृष्ण का पावन चरित्र सुनिए। 'घत जातक' (४४५) में कृष्ण और कंस की कथा है। 'घत जातक' में कृष्ण-कथा अत्यन्त भ्रष्ट रूप में है।

स्वयं बुद्धदेव ने कृष्ण शब्द की व्याख्या विचित्र प्रकार से की है। बुद्धदेव के पास अम्बट्ठ माणवक नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण आया। बुद्ध ने उससे उसका गोत्र पूछा, तो अम्बट्ठ ने कहा—'काण्र्यायन'[1]।

---

१. अम्बट्ठसुत्त।

बुद्धदेव बोले—"राजा इक्ष्वाकु[1] की एक दासी थी 'दिशा'। उससे कृष्ण (कण्ह=कान्हा, कन्हैया) पैदा हुआ। हे अम्बट्ठ, आजकल जैसे पिशाचों को देखकर 'पिशाच' कहते हैं, वैसे ही उस समय पिशाचों को 'कृष्ण' कहते थे।"

बुद्धदेव इक्ष्वाकु को शाक्यों का पूर्वज मानते थे और कृष्ण को उनका दासी-पुत्र और सूरत-शक्ल में पिशाच। आगे चलकर उन्होंने कहा कि इसी कृष्ण के खानदानवाले 'काण्यीयन' कहलाये। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि माणवक दुर्भाग्यवश ब्राह्मण था। बुद्धदेव ने यहाँ भी उस ब्राह्मण को एक प्रकार से गाली ही दी है।

घत जातक की कृष्ण-कथा इस प्रकार है—

उत्तरापथ के किसी 'असिञ्जन' नगर का राजा था 'मकाकंस'। इसके दो पुत्र हुए—कंस और उपकंस। देवगर्भा नाम की एक कन्या भी थी। ज्योतिषी ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की—'इसके गर्भ से जन्म लेनेवाला पुत्र कंस-गोत्र तथा कंस-वंश का नाश कर देगा।'

दोनों कंसों (कंस और उपकंस) ने एक खम्भेवाला प्रासाद बनवाया और अपनी बहन (देवगर्भा) को उसीमें रख दिया। उसका ब्याह नहीं कराया गया। 'नन्दगोपा' नाम की एक दासी थी और 'अन्धकवेणु' नाम का दास।

मथुरा का राजा था महासागर। इसके दो पुत्र थे—सागर और उपसागर। उपसागर उपकंस का मित्र था। उपसागर ने अपने भाई (सागर) के अन्तःपुर में कुछ 'अनाचार' किया। भय से वह भागकर अपने मित्र उपकंस की शरण में गया। वहाँ जाकर वह एक खम्भेवाले प्रासाद में कैद रहनेवाली क्वाँरी देवगर्भा पर आसक्त हो गया। किसी-किसी उपाय से उपसागर देवगर्भा के निकट पहुँचने लगा। देवगर्भा द्विहृदया हो गई। कंस और उपकंस को अपने शरणार्थी उपसागर की इस करतूत का पता चला, तो उन्होंने बहुत ही धैर्यपूर्वक यह फैसला किया कि देवगर्भा उपसागर के हवाले कर दी जाय और उसके गर्भ से यदि पुत्र पैदा हो, तो उसे मार डाला जाय। पातकी उपसागर के पापकर्म से कृष्ण का जन्म हुआ।

देवगर्भा के प्रथम गर्भ से कन्या का जन्म हुआ। वह फिर द्विहृदया हुई और उसकी दासी नन्दगोपा भी गर्भवती हुई। एक ही दिन दोनों ने प्रसव किया—देवगर्भा पुत्र की माँ बनी और नन्दगोपा पुत्री की। पुत्र के मारे जाने के भय से देवगर्भा ने नन्दगोपा की पुत्री लेकर अपना पुत्र उसे दे दिया। जातक में यही कृष्ण-जन्म वृत्तान्त है। इसके आगे भी जातक में कृष्ण-कथा का विस्तार है, जिसमें वे डाकू तक कहे गये हैं। ऐसी जघन्य कथा के आधार पर श्रीमद्भागवत और महाभारत-जैसे पवित्र ग्रन्थों का निर्माण होना असम्भव है। जिन विद्वानों ने जातक की ऐसी निन्दनीय कथा को हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों का आधार माना है, वे सर्वथा भ्रम में हैं।

कठहारि जातक (७) में एक ऐसी कथा आई है, जो महाभारत के शकुन्तलो-

---

१. इक्ष्वाकु का नाम वेदों में आया है। ऋग्वेद, १०।६०।४; अथर्व०, १९।३९।९

पाख्यान और कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' से मिलती-जुलती है। वह कथा इस प्रकार है—

वाराणसी का राजा ब्रह्मदत्त बड़े समारोह के साथ अपने उद्यान में गया। वह लकड़ी चुननेवाली एक स्त्री पर मुग्ध हो गया। राजा ने उस स्त्री को अपनी पर्यङ्कशायिनी बना लिया। वह स्त्री गर्भवती हो गई। जब उस स्त्री ने यह बात राजा से कही, तब राजा ने उसे अपनी अँगूठी देकर कहा—"यदि लड़की पैदा हो, तो इस अँगूठी को फेंक देना और कन्या का पालन-पोषण करना; पर यदि पुत्र हो, तो इस अँगूठी के साथ अपने पुत्र को लिये दरबार में हाजिर होना।" उस स्त्री ने पुत्र पैदा किया। जब लड़का बड़ा हुआ, तब उसे लेकर राजा के दरबार में पहुँची। अँगूठी भी उसके पास थी। राजा ने लज्जा के मारे इनकार कर दिया कि यह मेरा पुत्र नहीं है।

कहाँ कण्व के आश्रम की 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं' शकुन्तला और कहाँ यह बुद्धदेव की कल्पना की शकुन्तला !!!

शायद कहनेवाले यह भी कहें कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान, जिसके आधार पर कालिदास ने कलात्मक स्वर्ग (अभिज्ञानशाकुन्तल) का निर्माण किया है, इसी 'कट्ठहारि जातक' की जूठन-मात्र है। तो, उनके कहने मात्र से यह जातक-कथा व्यास और कालिदास की रची रमणीय कथा की आधार-शिला नहीं हो सकती।

हम देखते हैं कि जातक-कथाओं में बहुत-सी ऐसी कथाएँ तोड़-मरोड़कर रख दी गई हैं, जिन्हें रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि हिन्दुओं के सर्वमान्य ग्रन्थों में हम पाते हैं[१]। उन्हें तोड़ने-मरोड़ने के बहुत-से कारण हो सकते हैं।

जातक-कथाएँ और कूटनीति

जातक-कथाओं को कई भागों में बाँटा जा सकता है, जैसे—

(१) कुछ कथाएँ स्त्री-निन्दा से सम्बन्ध रखती हैं।
(२) कुछ घर-गृहस्थी त्यागकर भागने के लिए उत्साहित करती हैं, त्याग-तपस्या के महत्त्व बतलाती हैं।
(३) कुछ कथाएँ ब्राह्मण-वर्ग को बदनाम करने के उद्देश्य से लिखी गई हैं।
(४) कुछ कथाएँ शुद्ध रूप में गहरी कूटनीति की शिक्षा देती हैं। ऐसी कथाओं की ही अधिकता है।

जातक-कथाओं का वर्गीकरण अबतक नहीं हुआ है। यदि पालि के विद्वान् ऐसा प्रयास करें, तो शोध करने की इच्छा रखनेवालों को पर्याप्त प्रकाश मिले। 'पञ्चतन्त्र' की कहानियाँ किसी हद तक जातक-कथाओं की देन मानी जा सकती हैं।

बुद्धदेव स्वयं राजनीति को पसन्द करते थे; क्योंकि वे राजपुत्र थे। उनका सारा संघटन राजनीति के ही आधार पर था। फिर कोई कारण नहीं कि जातक-कथाओं में राजनीति या कूटनीति की बातें न कही जायँ। सबसे बड़ी विशेषता तो

१. महाभारत का प्रसिद्ध 'यक्ष-युधिष्ठिर'-उपाख्यान भी विकृत रूप में जातक में है। देखिए देवधम्मजातक—६।

यह देखने में आती है कि राजनीति की बातें जहाँ भी उन कथाओं में आई हैं, बहुत ही नपी-तुली और धार्मिक भावुकता से बिलकुल ही पाक-साफ हैं। राजनीति में खून, हत्या, बदला लेना, षड्यन्त्र, धोखा या गला घोंट डालना, अपहरण आदि महाजघन्य पातक क्षम्य ही नहीं, उसके आवश्यक अंग हैं। विना इनके राजनीति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु धर्म में ऐसे कर्मों का स्वागत नहीं किया जा सकता। धर्म वाणिज्य नहीं है; राजनीति नहीं है[1]।

बुद्धदेव एक धर्म या मत के संस्थापक थे। वे सन्त या महात्मा के अतिरिक्त राजनीतिज्ञ भी थे। महाभारत में एक श्लोक ऐसा भी मिला है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि भीष्म पितामह ने भी किसी मत या एक प्रकार के धर्म की स्थापना की थी। वे अपने संस्थापित धर्म के प्रधान, गुरु या शास्ता थे; किन्तु राजनीति का उन्होंने परित्याग नहीं किया था। शान्ति-पर्व में उन्होंने शर-शय्या पर पड़े-पड़े युधिष्ठिर को राजनीति का भी उपदेश दिया था। भीष्म गृहत्यागी नहीं थे, बुद्ध गृहत्यागी थे—इतना ही दोनों में अन्तर है। दोनों ही राजपुत्र थे और दोनों ने ही अपना-अपना मत या धर्म चलाया था। भीष्म का कौन-सा मत था, इसका पता नहीं चलता; किन्तु वह था अवश्य और निश्चय ही उस समय के प्रचलित मतों या धर्मों से भिन्न प्रकार का रहा होगा, किन्तु उन्होंने ब्राह्मण-वर्ग के वैध प्रभुत्व को चुनौती नहीं दी थी—यह मार्के की बात है। धर्माचार्य और राजनीतिज्ञ दोनों पदों पर भीष्म आरूढ रहे और उनके बाद बुद्धदेव। भीष्म ने भी 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' किया था और उनके चलाये हुए धर्म का शासन राष्ट्र-संघ में चल रहा था—

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्द्धितः।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्त्तत॥[2]

जिस प्रकार भीष्म ने धर्माचार्य का पदग्रहण करके भी राजनीति का त्याग नहीं किया था, उसी तरह बुद्धदेव ने भी धर्म-संस्थापक और उससे भी अधिक 'ज्येष्ठ' का पद ग्रहण करके भी राजनीति का त्याग नहीं किया। क्या यह बात सही नहीं है कि बुद्धदेव ने 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' की प्रेरणा महाभारत के उक्त प्रसंग से ली थी? 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' शब्द केवल एक ही बार महाभारत में आया है और भीष्म के अतिरिक्त किसी दूसरे राजपुत्र का धर्मप्रवर्त्तक के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। भीष्म तो केवल राजनीति के उपदेशक भर ही रहे, किन्तु बुद्धदेव ने उसका सफल प्रयोग भी किया।

जातक की बहुत-सी कहानियाँ यह बतलाती हैं कि बुद्धदेव धर्म में कूटनीति के सफल प्रयोगकर्त्ता थे। जातक की कहानियों से यही सिद्ध होता है। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि बुद्धदेव ने जिस धर्म का प्रचार किया था, वह वस्तुतः प्राचीन हिन्दू-धर्म

---

१. 'धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्।' —महाभारत, वनपर्व, अ० ३१, श्लो० ५
२. महाभारत, आदिपर्वान्तर्गत सम्भवपर्व, अध्याय १०८, श्लोक० १४

की एक शाखा-मात्र है। यद्यपि जातक-कथाओं में ऐसे चरित्रों की ही बहुलता है, जो कई दृष्टियों से वांछनीय नहीं कहे जा सकते। महाभारतादि ग्रन्थों से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि गुणों और दोषों से परे मानव नहीं होता, वह अच्छाइयों और बुराइयों का एक जंजाल है।

'व्यक्ति' का जो संस्कार होता है, वही समष्टिगत रूप में समाज की 'संस्कृति' है। जातक-कथाओं में व्यक्ति और समष्टि दोनों को हम पाते हैं, संस्कार और संस्कृति दोनों को देखते हैं।

भगवान् बुद्ध की शासन-सम्बन्धी कठोरता ने संघ में अचलता पैदा कर दी थी और उनके दिवंगत होने के तुरन्त बाद सुभद्र भिक्षु ने अपने को 'मुक्त' मानकर तोष प्रकट किया था[1]।

जातक-कथाओं से यह बात प्रमाणित होती है कि बुद्धदेव दुर्बलताओं का जड़-मूल से विनाश चाहते थे और इसके लिए बद्धपरिकर थे।

हम बौद्धधर्म (दुःखवाद आदि) और हिन्दू-धर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते थे। हिन्दू विचारकों का दुःखवाद और बुद्धदेव के दुखःवाद में अद्भुत समता नजर आती है[2]। हिन्दू विचारकों का मैत्री-धर्म[3] और बुद्धदेव का मैत्री-धर्म, हिन्दू-विचारकों का गृहस्थ-धर्म[4] और बुद्धदेव का गृहस्थ-धर्म आदि ऐसे बहुत-से व्यापक विषय हैं, जिनपर विचार करने का अवसर हमें नहीं मिला। जहाँ तक विचारों का प्रश्न है, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्धदेव ने अपनी भाषा में उन्हीं बातों को अपने ढंग से कह दिया है, जिन बातों को उनके पूर्ववर्ती आर्य-विचारकों ने स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया था। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक वाङ्मय, विचारों का दुर्लंघ्य वन है। इस वन में से कुछ लकड़ियाँ बटोरकर ले आने पर उन्हें पहचानना कठिन है कि ये लकड़ियाँ किस जगह की हैं। यही काम बहुत-से भारतीय धर्म-प्रवर्त्तकों ने किया है और बुद्धदेव भी किसीसे पीछे नहीं रहे।

× × ×

अन्त में यह स्वीकार करना मैं आवश्यक समझता हूँ कि आदरणीय श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का यदि अनुग्रह नहीं होता, तो न यह पुस्तक लिखी जाती और न हम आज कृतज्ञता-ज्ञापन करने का गौरव ही प्राप्त करते। मेरे अनुजवत् प्रिय श्रीउमानाथजी ने भी ठोस सहारा दिया। सच बात तो यह है कि इस नाटक के सूत्रधार उमानाथजी हैं।

इसके बाद हम बहुत ही श्रद्धापूर्वक सरस्वती के वरपुत्र श्रीयुत श्रीधर वासुदेव सोहनी, आई० सी० एस्० के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने इस पुस्तक पर

१. महापरिनिब्बानसुत्त।
२. महाभारत, आदिपर्वान्तर्गत वकवध-पर्व, अ० १५६ आदि द्रष्टव्य।
३. ,, ,, ,, ,, सम्भव पर्व, अ० ८७ ,, ,,
४. ,, ,, ,, ,, ,, ,, अ० ९१ ,, ,,

'चार चाँद' लगाने की उदारता की है। श्री सोहनी ख्यातनामा शासक हैं। अत्यधिक कार्यव्यस्त रहते हैं, फिर भी हमारे आग्रह ने वह असर पैदा किया कि इन्होंने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया।

बिहार-सरकार के भूतपूर्व मुख्यसचिव श्रीलल्लनप्रसाद सिंह, आई० सी० एस्० का भी मैं बहुत आभार मानता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने की मूल प्रेरणा दी थी। सन् १९५३ ई० में अपने सजीले बँगले पर उन्होंने कहा था कि जातकों के आधार पर एक ऐसी पुस्तक लिख डालिए, जिससे तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश पड़े। मैंने उनका आदेश स्वीकार कर लिया, उसके परिणाम-स्वरूप यह पुस्तक आपके सामने है।

इति

पटना
बुद्ध-जयन्ती, २०१५ वि०

—वियोगी

विषय-सूची

जातक-कालीन भारतीय संस्कृति

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥
—ऋग्वेद, मं० १ । सू० ३ । ऋ० १०

यो विद्यात् सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्, स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥
वेदाऽहं सूत्रं विततं, यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यत् ब्राह्मणं महत् ॥

—अथर्ववेद

जो जानता है कि यहाँ सूत्र का ताना फैलाया गया है और इस सूत्र के ताने में सब प्रजाजन बाने के समान हैं तथा इस ताने के सूत्र के मूल धागे को जो जानता है, वही ब्रह्म को जान सकता है। मैं इस सूत्र के ताने को जानता हूँ, जिसमें सारी प्रजा बाने के रूप में है, यह भी मुझे मालूम है। इस ताने के मूल सूत्र को भी जानता हूँ, अतः मैं ब्रह्म को जानता हूँ।

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ॥*

धर्म या भाव कारण से उत्पन्न होते हैं; उन कारणों को और उन कारणों के रोकने के उपाय को महाश्रमण बुद्ध बतलाते हैं।

●

---

*इस श्लोक को 'अश्वजित्' ने 'सारिपुत्त' को राजगृह में सुनाया था।
—डॉ० हीरानन्द शास्त्री, 'नालन्दा', पृष्ठ २७।

पहला परिच्छेद

विषय-प्रवेश

जातक-कथाएँ तत्कालीन भारत की एक सम्पूर्ण तस्वीर उपस्थित कर देती हैं और उन तस्वीरों को यदि क्रम-बद्ध रूप में सामने रखकर हम देखें, तो एक विराट् और सम्पन्न देश का रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। निश्चय, बुद्धदेव ने अपने दिमाग में कोई क्रम रखकर कथाएँ नहीं कहीं। ऐसा सम्भव भी नहीं है; क्योंकि भिन्न-भिन्न अवसरों पर, जैसा प्रसंग आया, उन्होंने कुछ कहा—कथा-कहानियों के रूप में। कभी मेढ़क और बगले की कोई कहानी उन्होंने कह दी, तो कभी किसी लोभी या सूम का वर्णन कर दिया। प्रत्येक कहानी के भीतर कुछ-न-कुछ उपदेश है, जैसे अवयवों को मिलाकर विचार करने से अवयवी का बोध होता है। एक-एक कथा अपने में पूर्ण है और सभी पूर्णों को एक क्रम से सामने रखने से एक विराट् पूर्ण स्पष्ट हो जाता है। हम इसी विराट् पूर्ण की समीक्षा करने का प्रयास कर रहे हैं।

कोई भी संत जब कथा-कहानियों के बहाने कुछ कहना चाहता है, तो उसके अतीत के अनुभव, जो संस्कार के रूप में बदल जाते हैं, उसकी कथाओं की आत्मा बन कर उन्हें सजीव बना देते हैं। भगवान् बुद्ध ने जातक-कथाओं में जो कुछ कहा है, उसके भीतर हम इसी सत्य को पाते हैं और यही हमारा सोचने का आधार भी है। हम ज्यों-ज्यों जातक-कथाओं को सामने रख कर विचार करते हैं, हमारे सामने बुद्धदेव के पहले का और उनके समय का भारत स्पष्ट होता जाता है। भगवान् बुद्ध आप्त पुरुष थे और उन्हें यदि हम एक सर्वसत्य द्रष्टा, ज्ञानी मान लें, तो कोई अनुचित नहीं होगा। तथागत अ-यथार्थ (वितथ) नहीं बोल सकते, **'न हि तथागत वितथं भणन्ति, ति'**—ऐसी 'महापरिनिब्बान-सुत्त' में घोषणा की गई है। जहाँ 'शब्द' की बात आती है, वहाँ उस पुरुष के आप्तत्व पर विचार कर लेना होता है। यदि कहनेवाला आप्त है, तो उसने जो कुछ कहा है, वह भी आप्त ही होगा—जैसे भगवान् कृष्ण के मुख से निकली हुई 'गीता'। गीता इसीलिए आप्त मानी जाती है कि उसका प्रकट करनेवाला और कोई नहीं, योगेश्वर भगवान् कृष्ण हैं। आप्तोपदेश को ही 'शब्द' कहा गया है[1]। इसी सूत्र के अनुसार जातक-कथाओं में तत्कालीन भारत के उपस्थित चित्र के चित्रकार महायोगी तथागत को हम आप्त मानते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि भगवान् बुद्ध जातक-कथाओं के द्वारा तत्कालीन भारत का कोई रूप उपस्थित नहीं कर रहे थे और

१. आप्तोपदेशः शब्दः (न्याय-सूत्र १।१।६)

न इस ओर उनका ध्यान ही था। किसी प्रसंग के उपस्थित होने पर वे कोई कथा कहते थे और अपनी कही हुई कथा से जो निष्कर्ष निकालना चाहते थे, उसी की ओर उनका ध्यान होता था। कथानक में उन्होंने तत्कालीन भारत के समाज का या रीति-नीति का जैसा वर्णन कर दिया है, हम उसी से जातक-कालीन भारत की एक तस्वीर आँक रहे हैं। उनके मुख से तत्कालीन भारतीय समाज के सम्बन्ध में अनायास ही जो तथ्य प्रकट होता गया है, उसमें हम अतीत के अनुभव या संस्कार की स्पष्ट झलक पाते हैं। उन्होंने तत्कालीन भारत का जैसा रूप जातक-कथाओं में स्पष्ट किया है, वह सत्य तो है ही, साथ ही भ्रान्तिरहित भी है; क्योंकि बुद्धदेव ने अपने भ्रान्ति-रहित ज्ञान की प्रेरणा का ही उपयोग जातक-कथाओं में किया है[१]। इन कथाओं में उन सारी बातों का वर्णन है, जो समाज या देश में होती हैं। जैसे—राजा, मन्त्री, चोर, व्यभिचारी, ठग, संत, अध्यापक, शिक्षार्थी, मूर्ख, सेना, युद्ध,दया, कसाईपना, विवाह, पत्नी, पतिव्रता, चरित्रहीनता आदि।—यानी कुछ भी नहीं छूटा है।

जातक-कालीन शासन

वेदों में भी राजाओं का वर्णन है[२]। दिवोदास, त्रिसदस्यु, सुदास आदि राजाओं की कथाएँ आई हैं। वैदिक साम्य-संघ के विनाश के बाद ही राज-सत्ता का उदय हुआ। हम देखते हैं कि वैदिक युग के राजाओं में तानाशाही का अभाव था।

जातक-युग के राजा और शासन-प्रणाली

जन-चेतना जितनी उग्र होती है, उतना ही शासक या शासन-यन्त्र जनतान्त्रिक होता है। ज्यों-ज्यों जन-चेतना मूर्च्छित होती जाती है, शासक या शासन-यन्त्र स्वेच्छाचारिता की ओर खिसकता जाता है। वैदिक युग में जन-चेतना उग्र थी और उस युग के राजा केवल वैधानिक प्रमुख मात्र थे। भगवान् बुद्ध स्वयम् राजवंश के थे और जातक कथाओं में उन्होंने जिन राजाओं का उल्लेख किया है, वे जनता के इशारे को समझने और उसी के अनुसार चलनेवाले थे। जो उग्र थे, तानाशाह थे, सुख-भोग में लिप्त थे,उनका भयानक पतन इन कथाओं में दिखलाया गया है। निश्चय ही राजाओं की चर्चा करते समय भगवान् बुद्ध के दिमाग में वे विचार भी रहे होंगे, जिनका सम्बन्ध उनके राज्य-शासन-सम्बन्धी ज्ञान, अनुभव या तत्कालीन शासन-सम्बन्धी मान्यताओं से होगा। बौद्ध-ग्रन्थों में राजा के पद के सूत्रपात की जो कल्पनाएँ हैं, उनका मेल कौटिल्य की कल्पनाओं से बैठता है। डॉ० यू० एन्० घोषाल ने 'ए हिस्ट्री ऑफ् हिन्दू पोलिटिकल

१. 'बेरंजक-सुत्त' में उन्होंने अपने विषय में स्वयम् कहा है—'विसरणःरहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अ-चल और शान्त मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था।' बेरंजक ब्राह्मण के प्रश्न करने पर बुद्धदेव ने अपनी सिद्धि के समय का वर्णन किया है।

२. ऋग्वेद, ७।९९।५; ७।३३।२; ५।८३।८
ऋग्वेद, १०।१७३।५—'ध्रवं ते राजा वरुणो' आदि मन्त्र।
यजुर्वेद, २२।२२
अथर्व०, ५।१।७—'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'।

थ्योरीज्' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने कहा है—'हिन्दुओं के राजनीतिक सिद्धान्तों में एक प्रकार की नई तथा बहुमूल्य कल्पनाओं का समावेश होता है।'

वैदिक साहित्य—वैदिक वाङ्मय—में इस विषय की जो चर्चा आई है, उसकी छाया भी बौद्ध-ग्रन्थों के राजपद के सूत्रपात की कल्पना में स्पष्टतः झलकती है। बौद्ध-ग्रन्थ भी स्वीकार करते हैं कि राजपद के निर्माण में सभी व्यक्तियों ने सहमति दी। यह कल्पना पाली-धर्मशास्त्र में विकसित रूप में वर्त्तमान है। एक ब्राह्मण 'वसेष्ठ' भगवान् बुद्ध से यह प्रश्न करता है कि सभी वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है या नहीं। भगवान् सृष्टि के आदि का वर्णन करते हैं और कहते हैं—'पहले मानव सब प्रकार से पूर्ण था—वह संतोषी, प्रकाशमान,...दीर्घजीवी था।'

मनोमया पितिभक्खाः समयपत्राः अन्तलिक्खचरा शुभत्थायिनो।

इसके बाद मानव अपनी मूल पवित्र स्थिति से अलग हो गया। उसमें कुटुम्ब, सम्पत्ति, शासन, व्यवस्था और समाज की भावनाएँ पैदा हुई। समाज में चोरी (मात्स्य-न्याय) का प्रवेश हुआ। तब समाज के लोगों ने एकत्र होकर 'राजा' चुना। राजा का काम हुआ—दंडनीय व्यक्तियों को दंड देना। बदले में लोग उसे अपने अन्न में से भाग देने लगे। उन्होंने अपने में से योग्य, शीलवान्, शक्तिवान् और रूपवान् व्यक्ति को राजा चुन लिया। बड़े-बड़े लोगों की सम्मति प्राप्त होने के कारण वह 'महासम्मत' कहलाया—**'सम्मतोति महासम्मत।'** वह क्षत्रिय इसलिए कहलाया कि वह 'क्षेत्रों' (खेतों) का स्वामी था—**'खेत्तानम् पतीति खत्तियो।'** धर्मपूर्वक प्रजा का रञ्जन करने के कारण राजा कहलाने लगा—**'धम्मनो पदे रञ्जेतीति राजा** (दीघनिकाय)। इसके बाद (बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार) दो 'प्रसंविदाएँ' (एकरार) हुईं। पहली प्रसंविदा का सम्बन्ध व्यवस्थित समाज के सूत्रपात से है और दूसरी प्रसंविदा (एकरार) दो दलों के बीच हुई—राजा और प्रजा। उस प्रसंविदा के अनुसार जनता ने राजा को बहुत-से अधिकार दिये—राजा यदि न्यायपूर्वक उन अधिकारों का उपयोग करता रहे, तो जनता ने आश्वासन दिया कि वे उससे (राजा से) छीने नहीं जायँगे। राजा ने न्याय से विचलित नहीं होने का वचन दिया। मन्त्री जनता के हकों की रक्षा करने के लिए जन-शक्ति से बलवान् होकर राजा को न्याय करने में सहायता देने लगे।

राजाओं का जो वर्णन जातक-कथाओं में आता है, उससे दो बातें प्रकट होती हैं—पहली यह, कि उस युग में शासन के बन्धन किन्हीं परिस्थितियों के कारण कुछ ढीले पड़ गये थे और राजा नाममात्र को राजा रह गया था। इस सन्देह की पुष्टि तत्कालीन समाज में फैले हुए कुछ अनाचारों से भी हो जाती है, जिस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। हम इतिहास की गुत्थियों से अलग रहना चाहेंगे, किन्तु इतना तो अवश्य कहेंगे कि जातक-युग के राजा औसत दर्जे के मानव से कुछ ही ऊपर थे, 'अत्यन्त ऊपर' नहीं[1]।

१. अथर्व० ३।४ से ज्ञात होता है कि वैदिक युग का राजा जनता की इच्छा के प्रतिकूल राज्य नहीं कर सकता था। ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १७३, अथर्व० ३।५।६ और ६।८७।१ से स्पष्ट होता है कि राजा या राष्ट्रपति का चुनाव होता था। ऐतरेय ब्राह्मण १।३।४ (१४) के अनुसार असुरों से हार जाने पर देवताओं ने 'सोम' को अपना राजा चुना।

जनता उनका आदर उनके चरित्र, उनकी न्याय-प्रियता, वीरता आदि के कारण करती थी, न कि भय से सिर झुकाती थी। वे कम-से-कम शासन करते थे और अधिक-से-अधिक न्याय। न्याय और शासन दोनों शक्तियाँ राजा में ही केन्द्रित थीं। या तो राज्य ही इतना छोटा होता था कि अलग से न्यायाधीश रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी या लोग (जनता) आपस में ही मामले निबटा लेते थे। जब कोई भारी उलझन पैदा होती थी, तभी लोग राजा के दरबार की शरण लेते थे। स्व-शासित जनता शासन का भार नहीं बनती और न शासन को ही जनता के प्रत्येक काम में टाँग अड़ाने का मौका मिलता था। सुगठित सामाजिक व्यवस्था के कारण यह गुण पैदा होता है। जिस तरह शासन एक पूर्ण गठित यन्त्र होता है, उसी तरह समाज भी एक पूर्ण गठित यन्त्र माना गया है। दोनों यन्त्र एक दूसरे के सहायक होते हैं और दोनों के कार्य भी बँटे होते हैं—एक का काम दूसरा नहीं करता और न एक यन्त्र दूसरे से टकराता है। जातक-युग में किसी हद तक ऐसी बात थी और पता चलता है कि समाज और शासन दोनों अलग-अलग अपना-अपना कर्त्तव्य सजगतापूर्वक पूरा करते रहते थे। जातक (तेलपत्त जातक—९६) में ऐसी कथाएँ भी आई हैं, जब किसी चरित्रवान् व्यक्ति को अमात्यों तथा नगरनिवासियों ने एकमत हो राजा चुन लिया है। अमात्यों और नगरनिवासियों की सम्मति का पूर्णतः आदर होता था। इसी 'तेलपत्त जातक' से यह भी पता चलता है कि राजा राष्ट्र का रक्षक मात्र होता था। कभी-कभी राजा के प्रजा से टकरा जाने की घटना का वर्णन भी मिलता है। जहाँ शासन समाज से टकराया है, वहाँ समाज ने शासन को चूर कर दिया। राजा ने अन्याय किया और जनता ने तुरन्त ऐसे राजा के विरोध में अपनी शक्ति का उपयोग करके उसका अन्त कर दिया[१]। जातक-कथाओं से यह स्पष्ट झलक मिलती है कि तत्कालीन समाज ने (जनता) राजा (शासन) की बुराइयों को चुप रहकर कभी सहन नहीं किया। केवल अजातशत्रु के जघन्य पाप को जनता सहती रही, जिसने अपने पिता बिम्बिसार को कैद में डालकर विना अन्न-जल के मार डाला। सम्भव है, बिम्बिसार पर होनेवाले अत्याचार को जनता ने इसलिए सहा कि उन दिनों अजातशत्रु ने 'युद्ध' का भय राज्य में फैला दिया था—'वैशालीगणतंत्र' से मगध के विरोध की चर्चा इतिहास में है—या राजा बिम्बिसार, जो अम्बपाली नर्त्तकी के यहाँ पड़ा रहता था, इस कारण जनता का वह अप्रिय बन चुका था या मगध की जनता बुद्ध भगवान् के प्रभाव को पसन्द नहीं करती थी और राजा बिम्बिसार बुद्धदेव की शरण में चला गया था? इसी घटना के कारण वह जनता की सहानुभूति गँवा बैठा हो या इसी तरह की कोई और भी गम्भीर बात रही हो कि बिम्बिसार को कैद में डालकर मार डालने की भयानक घटना ने अजातशत्रु के विरोध में जनमत को उभड़ने से रोक रखा।

जातक-कालीन राजाओं का राज्य का सीमा-विस्तार करना और सीमा-रक्षा करना प्रधान कर्त्तव्य था। एक राजा की दूसरे राजा से लड़ाई का भी वर्णन मिलता है। काशिराज ब्रह्मदत्त ने श्रावस्ती (सावित्थी) के राज्य पर धावा किया (विनय ग्रन्थ,

१. महासुत्त सोमजातक।

भाग २,२९३—३०५)। कोसलराज ने काशी-राज्य पर आक्रमण किया (जातक—१।२६२; २।४०३; ३।१३; १६८, २११; ५।११२)। बुद्धदेव के समय में कोसल के तीन मुख्य नगर थे—अयोध्या, साकेत और श्रावस्ती (सावित्थी)। और भी, कई छोटे-छोटे पुर थे। राजा प्रसेनजित् के अधीन और भी पाँच राजा थे। उसमें और मगधराज अजातशत्रु में युद्ध हुआ करता था (संयुत्त-निकाय १।६८ आदि, जातक २।४०३)। विडूडभ ने शाक्य-जनपद में अनेक निर्दोष व्यक्तियों की जानें लीं। कारण यह था कि उसके पिता ने शाक्यों से एक असली क्षत्रिय-कन्या विवाह करने के लिए, माँगी थी। शाक्यों ने 'खत्तिया' नाम की एक दासी-पुत्री से उसका विवाह करा दिया। इसी दासी-पुत्री के गर्भ से विडूडभ का जन्म हुआ। जब यह बड़ा हुआ, तब सारी लज्जाजनक कहानी का इसे पता चला। इस अपमान का बदला लेने के लिए विडूडभ ने शाक्यों का सफाया किया (धम्मपद अट्ठकथा १।३५९)।

लड़ाई बहुत ही संयत ढंग से होती थी—जनता को बर्बाद होना नहीं पड़ता था। युद्धों के बहुत-से कारणों का वर्णन है, जिनमें राज्य-विस्तार के अतिरिक्त द्वेष या दूसरों के कान भरने से या दूसरे राजा की श्रीवृद्धि देखकर उसे नष्ट कर देना भी है।[1] राजा के अन्तःपुर में एक से अधिक रानियों का भी उल्लेख जातक में है[2]। मद्यप और क्रूर विचार के राजा भी उस समय थे। एक राजा तो ऐसा भी था, जिसने शराब के नशे में केवल इसीलिए अपने एकमात्र शिशु पुत्र के हाथ, पैर और सिर कटवाकर मार डाला कि रानियाँ उसी बच्चे के प्यार-दुलार में लगी रहती थीं[3]। एक ऐसे राजा की चर्चा भी जातक की एक कथा में है, जिसने अपने प्राण-रक्षक एक सन्त को साधारण-सी बात के लिए कोड़ों से चमड़ी उधेड़कर मरवा डाला। उस सन्त ने राजा (उस समय राजकुमार था) को विपत्ति से बचाया था और अपने आश्रममें आश्रय दिया था। उसका अपराध यही था वह सन्त, पहले आश्रम के पशुओं को, जिनमें एक कुत्ता भी था, पहले आहार देकर तब उस राजा को भोजन-ग्रहण करने का आदेश देता था[4]। यों तो आचार्य राजकुमारों को पीट भी देते थे।[5] जातक-कथाओं में सभी आचार-विचार के राजाओं का वर्णन है। हाँ, एक बात विचारणीय है कि जनता के विद्रोह की कहीं चर्चा नहीं है। कहीं भी जनता ने विद्रोह करके या षड्यन्त्र करके शासन को नहीं उलटा[6]। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जनता इतनी शक्तिशालिनी थी कि उसने जब चाहा, राजा को दण्ड देकर ठिकाने लगा दिया, तो फिर उसे षड्यन्त्र या संगठित क्रान्ति करने की आवश्यकता ही क्या थी।

राजा विद्वानों और सन्तों का आदर करते थे। आचार्य का विशेष सम्मान होता था। राजा का पुरोहित बड़ा शक्तिशाली होता था। राजा को सही-सही रास्ते पर

१. महासीलव जातक—५१।
२. तेलपत्त जातक—९६। कुश जातक।
३. चुल्लधम्मपाद जातक—३५८।
४. सच्चंकिर जातक—७३।
५. तिलमुट्ठि जातक—२५२।
६. संकप्प जातक—२५१ में प्रजा के विद्रोह की चर्चा आई है।

ले जाने का उत्तरदायित्व उसी पर होता था। पुरोहित की सम्मति राजा के लिए कानून थी, उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। जातक में ऐसी कथा भी आई है कि किसी दुर्मति पुरोहित ने राजा को उलटी-पलटी सम्मति देकर दुराचरण की ओर ढकेल दिया। राजा के साथ पुरोहित का जुआ खेलने का भी वर्णन है (देखिए—अंडभूत जातक)। पुरोहित ब्राह्मण होते थे और मन्त्रिमण्डल में उनका प्रमुख स्थान होता था। पता चलता है कि जातक-युग के राजे शास्त्रों और लौकिक परम्पराओं के अनुसार शासन करते थे। एक राजा तो ऐसा भी था, जो अपने सन्त-स्वभाव से क्रूरवृत्ति राजा को अपना लिया, हरा दिया। यह कथा 'राज जातक' में आई है। यह जरूरी नहीं था कि राजा अखिल शास्त्रों का पारदर्शी विद्वान् रहे। जनता के समर्थन से वह राजा बन गया और उसके भीतर जन-शक्ति केन्द्रित हो गई। इस तरह बलवान् बन कर एक व्यक्ति राजा बन बैठा। विद्वान् बनना एक विशेष बात है, जो राजा बनने से मेल नहीं खाती। यह तो संयोग हो सकता है कि वह राजा भी है और विद्वान् भी। शुंग-युग में एक राजा था—'मिलिन्द', जो स्वयम् विद्वान् भी था और शासक भी। रामायण में राजा 'जनक' का नाम आया है, जो विद्वान् और योगी भी थे। हाँ, तो जातक-युग के राजाओं के यहाँ पुरोहितों का बड़ा आदर था; क्योंकि वे परम विद्वान् ब्राह्मण होते थे और राजा को सही-सही रास्ता बतलाते रहते थे। राजा उसी रास्ते पर चलता था।

राजा आचार्य के द्वारा एकान्त में बैठकर, पढ़ा भी करता था; क्योंकि उसे बहुज्ञ होना आवश्यक था, जिसकी आवश्यकता वह अनुभव करता था[१]। आचार्य का पद भी ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था। ऐसे राजाओं का वर्णन भी बुद्धदेव ने किया है, जिन्होंने राज्य का त्याग करके तपस्या करना हितकर माना[२]।

तपस्या करने के निमित्त जानेवाले राजा को पूर्णतः त्यागी बनना पड़ता था। तपस्या करते समय भी उसे पूर्णरूप से अभिमान-रहित और त्यागी बन कर रहना पड़ता था[३]। नमक तक संग्रह करना दोष माना जाता था। बौद्धधर्म की द्वितीय संगीति में विवाद का एक यह भी प्रधान विषय था। वैदिक युग के राजाओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, ऐसा उल्लेख वेदों में है[४]। हम 'अथर्व' का हवाला दे रहे हैं, जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। राजा के सुख भोगों की सीमा नहीं होती, किन्तु उनसे बचकर रहना, जिससे उसके भीतर की मानवता सुख-भोगों की आग से झुलस न जाय, आवश्यक माना जाता था। जो रीति-नीति, आचार-विचार जन-साधारण के लिए निर्णीत थे, उसीका पालन राजा भी करता था। साधारण लोगों के लिए जो पाप था, वही राजा के लिए भी पाप था। एक शासक के नाते वह अतिमानव था, किन्तु दूसरी बातों में वह जनता में से ही एक व्यक्ति था। जातक-

१. छवक जातक—३०९।
२. मखादेव जातक—९।—सुखविहारी जातक—१०।
३. गान्धार जातक
४. अथर्व० ५।१।७

कथाओं से यह पता चलता है कि जनता का शासन राजा करता था और जनता राजा पर शासन करती थी। पुरोहित बीच की कड़ी थे, जो राजा को प्रकाश देते रहते थे। राजा प्रायः जनसाधारण के बीच से ऊपर उठकर सिंहासनासीन हो जाता था; किन्तु पुरोहित तो जनसाधारण में ही रहता था, अतः उस पर उत्तरदायित्व का भार बहुत अधिक होता था। राजाओं को तपस्या आदि सत्कर्मों की प्रेरणा प्रायः पुरोहितों से ही मिलती थी।

सन्तों और भिक्खुओं का भी राजमहलों में असाधारण सम्मान था। एक ऐसे भिक्खु का भी वर्णन जातक में है जो बहुत बड़ा सिद्ध था; किन्तु एक राजा के महल में रहकर रानी के स्नेहपाश में बँध गया[1]। ऐसी घटना संख्या में कम ही है, पर है बहुत ही महत्त्वपूर्ण। महलों की पूर्ण विलासिता की तस्वीर[2] सामने आ जाती है। राजा कठोर नियमों का पालन करता था। इसे 'कुरुधर्म' कहा गया है[3]। पंचशील को भी कुरुधर्म कहते हैं।

अहिंसा[4], चोरी न करना[5], काम-भोग में मिथ्याचार[6] (=परदारा से अनैतिक सम्बन्ध न रखना), झूठ न[7] बोलना और मद्यपान[8] न करना—पंचशील यही हैं[9]। कहीं-कहीं दशशीलों का भी वर्णन है। जातक में राजा के लिए धर्म का जहाँ भी उल्लेख आया है, बहुत ही सौम्य है। बुद्ध भगवान् ने राजा के लिए ऐसा धर्म बतलाया है कि उस पर चलता हुआ राजा भयावह नहीं रह जाता। वह जनता का सच्चा मित्र और 'सबसे विश्वासपात्र व्यक्ति' बन जाता है। तक्षशिला से वेद-वेदांगों का पांडित्य प्राप्त करनेवाले राजा का भी उल्लेख है[10]। वैदिक युग का राजा 'राष्ट्रों का सौन्दर्य' और 'राष्ट्र की शोभा' का गौरव प्राप्त करता था। 'श्वेतकेतु' के कथनानुसार राजा ही प्राणियों का रक्षक होता है और वही विनाशक भी। जो राजा धर्मात्मा होता है, वह रक्षक है और जो अधर्मी होता है, वह विनाशक है।

राजाओं का धर्म और दूसरी बातें

राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः॥

—(महाभारत, शान्ति०, अ० ९१, श्लो० ९)

'आत्मवान् राजा'—बार्हस्पत्य सूत्रम् (१-१) में ऐसा सूत्र आया है। आर्य-

---

१. मृदुलक्खण जातक—६६।
२. पब्बतूपत्थर जातक—१९५।
३. कुरुधम्म जातक—२७६।
४. ५. ६. ७. ८. दुम्मेध जातक।
९. ऋग्वेद (१०।५।६) में सप्तमर्यादा का उल्लेख है—हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य-भाषण और इन पापों के करनेवाले पापियों का साथ। इन सभी पापों से बचने का नाम सप्त-मर्यादा का पालन है।

'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥'

१०. 'राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।'—तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद—१।५।११)।

ग्रन्थों के अनुसार राजा के लिए छह गुणों की आवश्यकता है। इन गुणों से हीन राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।

राजा के लिए विलासादि दोष माने गये हैं। जातक-युग में भी राजा के लिए पाँचों प्रकार के शीलों का धारण करना आवश्यक था। वेदों और महाभारतादि आप्त-ग्रन्थों में राजा के लिए जो धर्म बतलाया गया है, वह 'शील' है। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ भी इस सम्बन्ध में कहा है, उसका मेल वेदादि आर्ष-ग्रन्थों से बैठता है। चिन्तन की भी परम्परा होती है और उसकी क्रमबद्धता का उल्लंघन बुद्धदेव कैसे कर सकते थे? हम यही कह रहे थे कि राजाओं के लिए जिस धर्म या नियम का वर्णन जातक में मिलता है, वह आर्य-ग्रन्थों में पाये जानेवाले राजधर्म से भिन्न नहीं है। दोनों में समानता है और ऐसी समानता होनी भी चाहिए। हमने कहा भी है कि जातक-युग का राजा, सामाजिक संगठन का मुख्य अंग होने पर भी, शासक होने के नाते जन-साधारण से ऊपर था, किन्तु और बातों में वह जन-साधारण से अलग न था[१]। हाँ, उसे कुछ विशेष सुविधाएँ दी गई थीं। जैसे—ऐश-आराम का जीवन बिताना, एक से अधिक रानियों को महल में रखना और राजपद के महत्त्व को अक्षुण्ण रखना। यह कोई बड़ी बात नहीं है। वह न तो मनमाने ढंग से राजकोष का दुरुपयोग कर सकता था और न अपनी शक्ति का ही अनियन्त्रित प्रयोग करने का उसमें साहस था। जातक-युग के राजा का दरबार सबके लिए खुला रहता था। किसी राजदूत के लिए तो कहीं रुकावट ही नहीं थी। जातक में एक कथा है कि वाराणसी के एक राजा का ऐसा नियम था कि वह राज-द्वार पर एक मण्डप में भोजन करता था। जनता उसे भोजन करते देख सकती थी। एक भूखे को, जो राजा के सुगन्धित व्यंजनों को देखकर भूख से व्यग्र हो उठा था, एक उपाय सूझा। वह दोनों हाथ ऊपर उठाये—'मैं दूत हूँ, मैं दूत हूँ' चिल्लाता हुआ राजा के निकट चला आया और उनकी परोसी हुई थाली में बैठकर खाने लगा। जब वह भूखा भोजन करके तृप्त हो गया, तब राजा ने उसे पान-सुपारी देकर पूछा—'तुम किसके दूत हो?'

भूखे ने जवाब दिया—'पेट का दूत हूँ, तृष्णा का दूत हूँ महाराज!'

राजा ने सोच कर कहा—'मैं भी तो पेट का दूत हूँ, अतः हे ब्राह्मण, तुझे बैलों के साथ एक हजार लाल गायें देता हूँ[२]।'

इस कथा से एक बात और स्पष्ट होती है। जातक-युग में दूत का काम ब्राह्मण को ही सौंपा जाता था। चरित्रबल और ज्ञानबल तथा स्वभाव से त्यागी होने के कारण ब्राह्मण विशेष विश्वासपात्र माना जाता था। दूत का उत्तरदायित्व बहुत ही गम्भीर और साथ ही नाजुक भी होता है। किसी राज्य का कल्याण और अकल्याण का भार आज भी राजदूतों पर है। कहानी के राजा ने एक गरीब व्यक्ति से अपनी समानता

---

१. बुद्धचर्या—निमन्त्रण पाने पर राजा प्रजा के यहाँ भोजन करने जाता था।

२. ददामि ते ब्राह्मण रोहिणीनं गवं सहस्सं सह पुंगवेन।
दूतोहि दूतस्स कथनं दज्जं मयंपि तस्सेव भवाम दूता॥
—दूत जातक।

बैठाते हुए उसे जो कुछ दिया, वह 'एक राजा के द्वारा दिया हुआ दान' न होकर 'एक अपने ही जैसे व्यक्ति (मित्र) को उपहार' हुआ। राजा के चरित्र की विशेषता इस कथा से प्रस्फुटित होती है।

जातक-कथा में हम केवल उत्तम चरित्रवाले राजाओं का ही वर्णन नहीं पाते। ऐसे राजा भी उस युग में थे, जो नैतिक दृष्टि से महापतित कहे जा सकते हैं। एक राजा ऐसा भी था जो अपनी रानियों के साथ वन-विहार करने गया। निकट ही एक सिद्ध तपस्वी रहते थे। राजा दोपहर को जब सो गया, तब रानियाँ तपस्वी के दर्शनार्थ खिसक गईं। राजा की आँखें खुलीं, तो उसने रानियों को नहीं पाया। उसने उनकी खोज की, तो पता चला कि वे निकटस्थ तपस्वी के आश्रम की ओर गई हैं। राजा का क्रोध सीमा पार कर गया। वह तपस्वी के आश्रम पर पहुँचा और जल्लाद बुलवाकर उस तपस्वी के हाथ-पैर उसने कटवा लिये। तपस्वी अन्त तक हँसता रहा—वह त्यागी था।[1]

एक राजा ऐसा भी था, जो एक साधुनी को ले भागा। कथा इस प्रकार है—एक बोधिकुमार ब्राह्मण वाराणसी में रहता था। उसकी पत्नी बड़ी रूपवती थी। दोनों जवान थे, किन्तु मन में संन्यास लेने की कामना थी। दोनों ने गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया। राजा के उद्यान में रह कर दोनों ध्यान और तपस्या करने लगे। एक दिन राजा उद्यान में गया और उसने तपस्विनी को देखा। वह मुग्ध हो गया और तपस्वी के सामने ही अपने आदमियों को आदेश दिया कि—इसे महल में पहुँचा दो। आज्ञा का पालन किया गया, किन्तु तपस्वी शान्त बैठा रहा।[2]

एक राजा की कथा ऐसी है कि उसने मालिन को पटरानी का पद दे दिया। वाराणसी का राजा खिड़की खोलकर बाहर झाँक रहा था कि एक नवयुवती मालिन बेर बेचती हुई नजर आई। राजा उसके रूप को देखकर हतज्ञान हो गया। उसने उसे पटरानी का पद दे दिया।[3]

कथा तो सीधी-सादी है; किन्तु इसी कथा में एक रहस्य छिपा हुआ है। वह बेर बेचनेवाली मालिन राजा की पटरानी बन कर उन बेरों को भूल गई, जिन्हें वह चुन-चुन कर जंगल से लाती थी। एक दिन की कहानी ऐसी है कि राजा थाली में रख कर बेर खा रहा था। मालिन पटरानी ने सहज भाव से पूछा—'आप क्या खा रहे हैं? यह क्या है?' राजा चिढ़कर बोला—

यानि पुरेतुवं देवि, भण्डुनन्तकवासिनी।
उच्छङ्गहत्था पचिनासि तस्सा ते कोलियं फलं॥

हे देवि, जिन्हें तुम पहले सिर मुड़ाये, चीथड़े पहने, अपनी गोद में इकट्ठा किया करती थी, ये वही तुम्हारे बेर के फल हैं।

हीन कुल का व्यक्ति ऊपर उठ कर कितना बदल जाता है और अपने इतिहास

१. खन्तीवादी जातक।
२. चुल्लबोधि जातक।
३. सुजाता जातक।

तक को बिसार बैठता है, यह तो जाहिर है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कुलीनता का महत्त्व जातक-युग में था। अ-कुलीनों को उस स्थान पर भरसक नहीं बैठाया जाता था, जो स्थान महत्त्व का हो। हम इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार करने का प्रयास करेंगे।

चरित्र-सम्बन्धी दुर्बलताओं से आक्रान्त बहुत-से राजाओं की चर्चा जातक में की गई है। 'बाहिय जातक' में एक ऐसी कथा आई है कि एक मजदूरिन चलते-चलते एकाएक बैठ गई और फुर्ती से मल विसर्जन कर फिर आगे बढ़ गई। राजा ने देख लिया और उसके इसी गुण पर वह इतना रीझा कि पटरानी का पद दे दिया। उस मजदूरिन रानी का पुत्र आगे चलकर राजा हो गया। त्यागी, वीर, तपस्वी राजा भी थे—सब तरह के थे। पिता की हत्या करनेवाले राजकुमार की कथा भी जातक में है।

एक अवसर पर धर्म-सभा में भिक्षुओं ने मगध-सम्राट् अजातशत्रु की चर्चा चलाई, जो अपने पिता (बिम्बिसार) का वध करके दुःखी था। भगवान् बुद्ध ने दूसरी कथा बतलाई, जो पुरानी थी। वाराणसी के ब्रह्मदत्त-कुमार ने अपने पिता का वध कर दिया था; क्योंकि राजा पूर्ण स्वस्थ था। राजकुमार ने सोचा कि इसके मरने की प्रतीक्षा कब तक करूँ। वह राजकुमार तक्षशिला का स्नातक था। उसका मित्र, जो पुरोहित का पुत्र था, राज्य छोड़कर तपस्या करने चला गया। उसने राजकुमार को इस कुकर्म से रोकना चाहा था। वह ब्राह्मण विना अपने माता-पिता की आज्ञा लिये ही ऋषि-प्रव्रज्या ले, तपस्या में लग गया। उसके जाने के बाद कुमार ने पिता का वध कर डाला।[1]

जातक में ऐसी कथाएँ भी आई हैं, जिनसे एक राजा का नर-भक्षी होना प्रमाणित होता है।[2] वाराणसी का राजा विना मांस के कौर नहीं उठाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि राजभवन के कुत्तों ने राजा के लिए खरीदकर लाया हुआ मांस खा डाला। रसोइया घबरा उठा। उसने सोने के सिक्के लेकर तमाम तलाश की, मगर कहीं मांस नहीं मिला। उसे प्राणों का भय सताने लगा। यदि मांस नहीं होगा, तो राजा रसोइये की जान का ग्राहक हो जायगा—यह सम्भावना थी। रसोइया उस ओर गया, जहाँ मुर्दे गाड़े जाते थे। उसने एक मुर्दे की जाँघ का मांस तराश लिया। राजा नर-मांस खा कर चटखारें मारने लगा। इसके बाद रसोइये ने सारी सचाई को राजा के सामने स्पष्ट कर दिया। राजा कैदखाने से रोज किसी-न-किसी कैदी को रसोई-घर में भेज देता। रसोइया उसे मारकर मांस पकाता और राजा को खिलाया करता। जब जेल खाली हो गया, तब इक्के-दुक्के राहगीरों को राजा पकड़ कर मँगवा लेता और खा डालता।

एक ऐसे राजा का भी वर्णन है, जिसने अपने पुत्र को स्वयम् मार कर उसका मांस खाया था। विना मांस के वह राजा खाता न था और उस दिन मांस की दुकानें बन्द थीं। राजा की गोद में उसका नन्हा-सा कुमार खेल रहा था। उसने अपने बच्चे

१. संकिच्च जातक।

की गर्दन मरोड़ कर रसोइये के आगे फेंक दिया। वह मांस पकाकर लाया और राजा ने रुचि से भोजन किया (धम्मद्ध जातक)। यह नर-मांस खाने की आदत तो विशेष दुर्गुण है। हम यही कहना चाहते हैं कि जातक-युग में सभी तरह के राजे थे —तपस्वी, विद्वान्, दुराचारी, जुआरी और मनुष्यभक्षी भी।

किसी-किसी राजा में शासन करने की अद्भुत क्षमता का भी पता चलता है। एक राजकुमार की कथा जातक में इस प्रकार है, जो तक्षशिला में विद्याध्ययन करने गया था। उसका वृद्ध पिता शासन करने की क्षमता गँवा चुका था। सारा राज्य अनाचारियों से भर गया था। शासन-यन्त्र का एक-एक पुर्जा टूटकर बिखर चुका था, जब वह राजकुमार शिक्षा समाप्त करके लौटा। उसने शासन-दण्ड उठाया। राज्य की दशा देखकर वह चिन्ता में पड़ गया। सोचकर उस राजकुमार ने, जो राजा बन चुका था, घोषणा की कि वह अमुक दिन, अमुक वृक्ष के देवता की पूजा करेगा और दुराचारियों की बलि चढ़ावेगा। यह पूजा बहुत दिनों तक चलेगी। परिणाम यह हुआ कि इस घोषणा के बाद वातावरण एकाएक बदल गया। दुराचार का अन्त हो गया।[1]

ऋग्वेद[2] में विप्रराज्य का वर्णन आया है। विप्रराज्य को चन्द्रमा का राज्य भी कह सकते हैं। चन्द्रमा को द्विजराज भी कहा जाता है। उस समय धरती पर कहीं विप्रों का राज्य भी रहा होगा। चन्द्रमा को वे अपना 'प्रधान' या राज्य का प्रतीक मानते होंगे। चन्द्रमा गुण में शीतल होता है। वह राज्य ठण्डे दिमागवाले विप्रों के द्वारा शासित था, अतः उद्वेगरहित रहा होगा, जब कि सूर्यवंशी राजाओं के द्वारा शासित राज्य पर्याप्त 'गरम' रहता होगा। लड़ाई-झगड़े, षड्यन्त्र, भोग-विलास, धर-पकड़ और शासन की कड़ाई भी सूर्यवंशियों के शासन में हो सकती है, किन्तु 'चन्द्र-राज्य' में इन सारी डरावनी बातों का अभाव होगा, जैसा कि 'चन्द्र' नाम से ही लक्षित होता है। चन्द्र शब्द शीतलता, शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता आदि का द्योतक है। जातक-युग में चन्द्र-राज्य का, यानी विप्रराज्य का, कहीं पता नहीं चलता। सभी राजे क्षत्रिय हैं, कोई भी ब्राह्मण नहीं है। महाभारत के भीष्मपर्व[3] में एक ऐसे राज्य का वर्णन है, जहाँ केवल ब्राह्मण बसे हुए थे। उस भू-प्रदेश का नाम था 'मंगग'। वह

---

१. दुम्मेध जातक।

२. ऋग्वेद ८।३।४—अयं सहस्रं ऋषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥

३. तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः।
मंगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा॥
मंगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप।
मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः॥
शूद्रास्तु मन्दगा + + + + + +
त तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव • धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम्॥
—महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ११, श्लोक ३५ से ३९

पूर्णतः जनतन्त्रात्मक राज्य था। शायद यही ऋग्वेदवाला विप्रराज्य रहा हो। मशक में क्षत्रिय, मानस में वैश्य और मंदग में शूद्र रहते थे। वर्ण-व्यवस्था के आधार पर संगठित वह गणतन्त्रात्मक विचित्र राज्य रहा होगा, किन्तु जातक-युग में उसका पता न था। हम गणतन्त्रात्मक-प्रणाली का, जो अपने यहाँ थी, वर्णन नहीं कर रहे हैं। हम केवल यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि जातक-युग में चन्द्र-राज्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, उस समय तक क्षत्रिय-राजाओं की प्रधानता स्थापित हो गई थी। पांडवों ने करीब-करीब सभी गणतन्त्रात्मक राज्यों का अन्त कर डाला था। सम्भव है, उसी सिलसिले में चन्द्र-राज्य का भी अन्त हो गया हो। विप्रराज्य (चन्द्रराज्य) जातक-युग में अस्त हो चुका था।

जातक-कथाओं में राजाओं के घोर अनाचार का भी उल्लेख है। एक पतित ब्राह्मण पुरोहित राजा के साथ जुआ खेलता था। पुरोहित बार-बार जीतता था। राजा को पता चला कि पुरोहित के द्वारा पाली-पोसी गई एक सती कन्या है। उसने एक लफंगा को भेज कर उस लड़की का सतीत्व नष्ट करा दिया।[1] पुराणों में, सती वृन्दा का सतीत्व विष्णु ने उसके पति का छद्म रूप धारण करके नष्ट किया था, ऐसी कथा आई है। वृन्दा का पति जलन्धर महाबलवान् था। उसकी पत्नी परम सती-साध्वी थी, यही उसके अजेय होने का रहस्य है। इस कथा का मेल जातक की इस कथा से मिलता है। सतीत्व का महत्त्व 'जलन्धर' और 'अंडभूत जातक' दोनों से स्पष्ट होता है।

जातक में एक कथा और है, जिससे यह पता चलता है कि तत्कालीन राजाओं में नियोग के द्वारा सन्तान प्राप्त करने की प्रथा थी।[2] मल्लराष्ट्र की कुशावती राजधानी थी। अक्कोक राजा राज्य करता था। वह अपुत्र था और रानियाँ थीं १६ हजार! प्रजा ने शोर मचाया कि 'आपके अपुत्र रहने से राज्य का नाश हो जायगा। उसने एक-एक स्त्री को 'धर्मनटी' बनाकर महल से बाहर भेजा। किसी को भी गर्भ नहीं रहा। अन्त में बड़ी महारानी को अलंकृत करके बाहर भेज दिया। नियम यह था कि राजा 'धर्मनटी' बनाकर महल के बाहर इसलिए भेज देता था कि वह जिससे चाहे, गर्भ-धारण कराकर लौट आवे। पहले मुनादी करके दरवाजे पर भीड़ जमा कर ली जाती थी। वह रानी, जिसे धर्मनटी बनाया जाता था, शृंगार करके बाहर निकलती थी। कोई भी उसे अपने साथ ले जा सकता था। पाण्डवों का जन्म भी नियोग के द्वारा हुआ था; किन्तु जातक-युग में यह नियोग-प्रथा बहुत ही जघन्य हो गई थी। नियोग का जैसा वर्णन 'कुस जातक' में आया है, बहुत भयानक है। जातक-युग में नियोगवाली वह पुरानी प्रथा अवश्य थी, जिसका उल्लेख पुराणों में स्थान-स्थान पर है।

रानी भी एक पति का त्याग करके दूसरा पति कर सकती थी। इसी कुस-गाथा में प्रभावती रानी ने कहा था—'मुझे ऐसे कुरूप दुर्मुख पति से क्या? मैं जीती रहूँगी, तो दूसरा पति प्राप्त करूँगी।'

१. अंडभूत जातक।

'दूसरा पति प्राप्त' करने का संकल्प रानी प्रभावती ने प्रकट किया था।[1] इससे सिद्ध होता है कि जातक-युग में औरों की तो बात ही अलग रही, कोई रानी भी अपने एक पति का त्याग करके दूसरा पति प्राप्त कर सकती थी। यह प्रभावती मद्दराज की कन्या थी। कुसराज से ब्याही गई थी, जो बहुत ही कुरूप था। इसी गाथा में यह भी कहा गया है कि अक्कोकराज ने मद्दराज को बहुत-सा धन देकर उसकी कन्या प्रभावती को अपने पुत्र कुसराज से ब्याहा था। वरपक्ष से धन लेकर अपनी कन्या का विवाह करने की प्रथा जातक-युग के राजाओं में भी थी। तलाक देना और धन लेकर कन्या दिया जाना—इन दोनों बातों का पता जातक से चलता है, जो उस समय के राजाओं में प्रचलित थीं।

राजा के अधार्मिक होने का परिणाम : राष्ट्र का नाश

जातक-कथा से एक बात का पता चलता है कि राजा को अलौकिक पुरुष माना जाता था। उसके कर्मों का असर दूर-दूर तक पड़ता है, ऐसा विचार लोगों में था। राजा को न केवल शासन-पटु ही होना पड़ता था; बल्कि उसे एक सन्त का जीवन भी व्यतीत करना पड़ता था। उदाहरणों से पता चलता है कि जातक-युग में ऊँचे-से-ऊँचे विचारवाले और पतित-से-पतित राजा भी थे; किन्तु जनता चाहती यह थी कि उसका राजा सन्त का जीवन व्यतीत करे। जनता का विश्वास था कि राज्य की श्री-वृद्धि या ईति-भीतियाँ राजा के आचरण पर निर्भर करती हैं। उस समय राजा के आचरणों से न केवल सामाजिक या भौतिक हिताहित का सम्बन्ध माना जाता था; बल्कि प्राकृतिक हिताहित का भी सम्बन्ध लोग मानते थे; जैसे वर्षा होना, अच्छी फसल, मीठे फल या भूकम्प, सूखा, बाढ़, महामारी आदि। आज के वैज्ञानिक युग में ऐसी बातों को कोई स्वीकार नहीं करेगा कि शासक के अनाचारी या स्वेच्छाचारी होने से बाढ़ आ जाती है, सूखा पड़ जाता है या महामारी फैल जाती है। किन्तु, जातक-युग में इन सारी अच्छाइयों या बुराइयों की जवाबदेही राजा के सिर पर लाद दी जाती थी। एक कथा इस प्रकार है[2]—एक राजा था, जो ऐसे सत्यवक्ता की खोज में लगा रहता था, जो उसके दोष बतला सके। अपने दोषों को जानकर वह राजा आत्मशुद्धि करने को हर घड़ी तैयार रहता था। नगर में जब कोई ऐसा आदमी उसे नहीं मिला, तब वह हिमालय की ओर गया, जहाँ एक तपस्वी ब्राह्मण उसे मिल गया। तपस्वी ने राजा को जंगली फल खाने को दिया। फल रस से भरे और बेहद मीठे थे। राजा प्रसन्न हो गया। राजा के प्रश्न करने पर उस तपस्वी ने कहा—'राजा निश्चय से धर्मानुसार शासन करता है, उसीसे ये फल मधुर हैं।' राजा लौट कर वाराणसी चला आया, जहाँ का वह राजा था।

---

१. ऋग्वेद १०।४०।२ में सन्तानरहित विधवा का देवर के साथ विवाह की चर्चा है—तलाक की चर्चा ऋग्वेद में नहीं है। 'तलाक-प्रथा' सम्भवतः बाहर से यहाँ आई हो, किन्तु आर्य-संस्कृति में यह चीज नहीं पाई जाती। यहाँ तलाक शब्द स्त्री के द्वारा पुरुष को दिये गये 'तलाक' के अर्थ में आया है। ऋग्वैदिक युग में विधवा-विवाह तक की कल्पना न थी—ऐसा मत डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का भी है। (देखिए—'हिन्दू सिविलिजेशन')

२. राजोवाद जातक।

उसने जान-बूझकर मनमाने ढंग से शासन चलाना आरम्भ किया। कुछ दिनों के बाद वह फिर उसी तपस्वी के आश्रम में पहुँचा। तपस्वी ने फिर खाने के लिए वे ही फल दिये। वे कड़वे हो गये थे, उनकी मधुरता गायब हो चुकी थी, रस भी समाप्त हो गया था। तपस्वी ने कहा—'राजा निश्चय से अधार्मिक होगा।' उस तपस्वी ने कहा—

गवं तो तरमानानं जिह्मं गच्छति पुंगवो।
सब्बा गावी जिह्मणं यन्ति नेते जिह्मं गते सति ॥१॥
एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठ सम्मतो।
सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा ॥२॥
सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति राजा चे होति अधम्मिको ॥'

गौवों के (नदी) तैरने के समय यदि अगुवा टेढ़ा हो जाता है, तो नेता के टेढ़ा जाने के कारण गौवें टेढ़ी ही जाती हैं। इस प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना गया है (राजा), यदि वह अधर्म करता है, तो सारा राष्ट्र दुःखी हो जाता है—दुःख भोगता है।

इसके बाद कहा है—

एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो।
सो चेपि धम्मं चरति पगेव इतरा पजा॥
सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको ॥४॥

इसी प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना जाता है, यदि वह धर्म करता है, तो शेष प्रजा पहले ही धर्म करती है। राजा के धार्मिक होने पर सारा राष्ट्र सुख प्राप्त करता है।

राजा ने यह उपदेश सुनकर कहा—'मैंने ही उस फल को मीठा करके फिर कड़वा कर दिया है। अब फिर मीठा करूँगा।'

प्रजा में—जनता में फैली हुई प्रत्येक बुराई का दायित्व राजा पर होता था। कहीं चोरी हो या अनाचार, खून हो या कोई ऐसा ही दुराचार; जनता को यह कहने का अधिकार था कि सारी बुराइयों की जड़ राजा है। यदि राजा पाप-रहित होता, तो प्रजा पाप की ओर कैसे प्रवृत्त होती। आर्यग्रन्थों में भी ऐसी बातें आई हैं, जब प्रजा के दोषों के लिए राजा को दोषी माना गया है। राजा को भले ही अशेष सुख-सुविधाएँ मिली हों, पर उसे बहुत ही सँकरे और खतरनाक रास्ते से होकर आगे बढ़ना पड़ता है। जातक-कथाओं में ऐसी कथाएँ बहुत-सी आई हैं। वैदिक युग का नियम यह था कि राजा का जब अभिषेक होता था तब उसे शपथ लेनी पड़ती थी—'यदि प्रजा से द्रोह करूँ, तो अपने जीवन, अपने पुण्यफल, अपनी सन्तान सबसे वंचित किया जाऊँ।' इसके बाद पुरोहित राजा की पीठ पर दण्ड (पलास की छड़ी) से एक हल्का आघात करता है[२]। यह इसलिए कि राजा भी अदण्डनीय नहीं है[३]। जन-साधारण के लिए

१. राजोवाद जातक।

२. शतपथ, का० ५, अ० ४, ब्रा० ४, ७; 'दण्डैर्घ्नन्ति' ऐसा आया है।

३. 'दण्डवधमतिनयन्ति', शतपथ, का० ५, अ० ४, ब्रा० ४,७

जो न्याय-विधान है, राजा को भी उसकी सीमा के भीतर रहना चाहिए—यह इस बात से स्पष्ट होता है।

वेश्याएँ, पंचशील और पुरोहित

राजा स्वयम् दण्ड से अतीत रहकर दण्ड धारण करता था। शासन-कार्य चलाने के लिए जिन पदाधिकारियों की आवश्यकता होती थी, उनकी चर्चा भी जातक में है। [1]पदाधिकारियों के अतिरिक्त राजा, माता, पटरानी, उपराजा, पुरोहित, रज्जुक, सारथी, सेठ, द्रोणमापक, द्वारपाल और वेश्या भी होती थी। राज्य के प्रमुख अंग होने के कारण इनमें से प्रत्येक के लिए कुरुधर्म की दीक्षा आवश्यक मानी गई है। यदि केवल राजा ही कुरुधर्म का पालन करे और राज्य के प्रमुख अंग उसके सहायक न हों, तो राजा का कुरुधर्म पालन करना, उतना फलदायक नहीं हो सकता। कुरुधर्म की चर्चा हम कर चुके हैं। उपराजा राजा का छोटा भाई होता था, किन्तु आश्चर्य है कि वेश्या कैसे पंचशील को अपनाती होगी। पंचशील को अपनाने के बाद वह वेश्या नहीं रह जायगी। जो हो, पर 'कुरुधम्म जातक' के अनुसार वेश्या को भी कुरुधर्म अपनाना पड़ता था। वेश्या भी राज्य में प्रमुख स्थान रखती थी। 'जनपद-कल्याणी' का राष्ट्रीय महत्त्व था। यद्यपि कौटिल्य जातक-युग के बाद हुआ था, पर उसने अपने प्रसिद्ध अर्थशास्त्र[2] में सर्वांगपूर्ण शासन के लिए वेश्या के अस्तित्व का महत्त्व माना है। कौटिल्य ने गणिकाओं को राज्य के हित में उपयोग करने का सुझाव तो दिया है, किन्तु उस वर्ग के लिए किसी तरह के 'शील' की चर्चा नहीं की है। शुद्ध राजनीतिक आधार पर गणिकाओं का संगठन करना कौटिल्य श्रेयस्कर मानता है। चेष्टा-संकेत आदि से सारा भाव ताड़ लेनेवाली तथा बहुत देशों की भाषाएँ बोलनेवाली इन स्त्रियों (वेश्याओं) को इनके बन्धु-बान्धवों की आज्ञा से दुष्ट पुरुषों और राजा के गुप्तचरों के घात के लिए या उन्हें बरगलाने के लिए, राजा अपने काम में लावे, ऐसा आदेश 'अर्थशास्त्र' का है[3]।

जातक-युग में वेश्याओं को पंचशील की दीक्षा लेने की बात भी कही गई है। भगवान् बुद्ध के काल के लगभग जातक-कथाओं का निर्माण-काल भी प्रायः माना गया है। ३५० ई० पू० चाणक्य (कौटिल्य, विष्णुशर्मा, उपगुप्त, आदि नामों से वह प्रसिद्ध था) तक्षशिला के विश्वविद्यालय का आचार्य था। ज्यादा-से-ज्यादा २०० साल

---

१. राजा, माता, महेशी च, उपराजा, पुरोहितो।
रज्जुको सारथी, सेट्ठी, दोणो, दोवरिको तथा।
गणिका तेकादस जना कुरुधम्मे पतिट्ठिता॥
—कुरुधम्म जातक।

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधि० २, प्रकरण ४४।

३. संज्ञाभाषान्तरज्ञाश्च स्त्रियस्तेषामनात्मसु।
चारघातप्रमादार्थं प्रयोज्या बन्धुवाहनाः॥
—अर्थशास्त्र, अधि० २, प्र० ४४, २३

का अन्तर बुद्धदेव और कौटिल्य के बीच में पड़ता है। इतने ही दिनों में राजनीति और आचारनीति में कितना अन्तर पड़ गया, यह स्पष्ट है।

वेश्याओं का आधार ही अनैतिक है। भयानक-से-भयानक बुराइयाँ वेश्याओं के द्वारा समाज को प्राप्त होती हैं, फिर भी इनका—वेश्याओं का मूलच्छेद कभी नहीं हुआ, यद्यपि बड़े-बड़े सुधारक प्रहार करते रहे हैं। जातक-युग के सुधारकों ने वेश्याओं में, वेश्या को वेश्या के रूप में स्वीकार करते हुए भी, सुधार लाने का प्रयत्न किया है। चाणक्य ने सोच-विचार कर राज्य के हित में उनका उपयोग करना चाहा। यदि समाज ने वेश्याओं के अस्तित्व को आवश्यक मान लिया है, तो उन्हें वह कायम रखे, किन्तु राज्य के कल्याण के लिए भी उनका उपयोग हो, ऐसा कूटनीति के आचार्य चाणक्य का मत है। भगवान् बुद्ध पर एक वेश्या के चलते भयानक लांछन लगनेवाला था। वे भाग्य से बच गये, जिसकी कथा जातक में आई है। यही कारण है कि उन्होंने वेश्याओं के लिए भी पंचशील की चर्चा कर दी है। चाणक्य वेश्याओं का उपयोग राज्य के कल्याण के लिए करना चाहता है, तो भगवान् बुद्ध उन्हें ऐसा बना देना चाहते हैं, जिससे वे समाज का गला न घोटें। एक सन्त और कूटनीतिज्ञ—दोनों एक ही चीज को लेकर किस-किस दृष्टिकोण से विचार करते हैं, यही हम स्पष्ट करना चाहते हैं।

राज्य के जिन सात अंगों[१] की बात मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य आदि राजनीति के आचार्यों ने कही है तथा प्राचीन ग्रन्थों में जिनका उल्लेख मिलता है, वे हैं—स्वामी या राजा, अमात्य या मन्त्री, पुर या दुर्ग अथवा राजधानी, कोश, दण्ड या बल (सेना), सुहृद् या मित्र (घर में और बाहर भी)। जातक-कथा में भी राज्य के ये सात अंग ही माने गये हैं—किसी तरह का परिवर्त्तन नजर नहीं आता। प्रजा की प्रधानता सबने स्वीकार की है। जातक-कथा में यही बात है। प्राचीन आर्य-ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि राजा का मूल कोश-बल है। वही सभी धर्मों का मूल है और फिर धर्म का मूल प्रजा है।[२]

जब किसी राष्ट्र का कोई व्यक्ति उस राष्ट्र से भी बड़ा हो जाता है, तब परिणाम भयंकर निकलता है—पूरे राष्ट्र का नाश हो जाता है। यही कारण है कि राजा को प्रजा से छोटा बतलाया गया है। जातक-कथा का कोई भी राजा 'अतिमानव' नहीं बना। उसने अमात्य, पुरोहित आदि की सम्मति से ही शासन किया है।

वैदिक युग से ही 'शासन के अंग' यानी 'राजा के अंग' का पता चलता है। वेदों में इन्हें 'रत्निन्' कहा गया है। कालान्तर में इनकी संख्या बढ़ती गई। अथर्व

१. आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मत्राणि चैव हि।
तथा जनपदाश्चैव पुरञ्च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥
—महाभारत, शान्ति० ६९, श्लोक, ६४-६५

२. राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः॥
—महाभारत, शान्ति०, अ० १३०, श्लोक ३५

में रत्नियों की संख्या ५ है; किन्तु तैत्तिरीय में यह संख्या बढ़ गई। १२ तक रत्नियों की गिनती पहुँची—(१) ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, (२) राजन्य (सजात राजा), (३) महिषी[1] (पटरानी), (४) वावाता (प्रिय रानी), (५) परिवृक्ति (निराकृत पत्नी), (६) सूत (कथा और इतिहास सुनानेवाला), (७) सेनानी (सेना-नायक), (८) ग्रामणी (ग्रामाध्यक्ष), (९) क्षत्ता (दौवारिक), (१०) संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), (११) भागदुध (राज-ग्राह्य-कर संचित करने वाला), (१२) अक्षावाप (अक्ष अर्थात् आय-व्यय का गणनाध्यक्ष —यहाँ कुछ लोग अक्ष का अर्थ द्यूत भी करते हैं)।

शतपथ ब्राह्मण (५।५।१।१) में दो नाम और हैं—(१) गोनिकर्त्तन (गवाध्यक्ष, जो बैलों को निर्लक्ष्य बधिया कराने के कारण इस नाम से पुकारा जाता था। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ मृगयाध्यक्ष भी किया है) और (२) पालागल (दूत)। मैत्रायणी संहिता (२।६।५) के अनुसार तक्षा, रथकार जिसे राजन्य राजा कहा गया है, और ग्रामणी, जिसे वैश्य-ग्रामणी कहा गया है, ये नाम अधिक हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण (१९।१।४) में एक अधिक प्राचीन और छोटी सूची उन वीरों की है जो राजा के सहायक होते थे। इस सहायक दल में उसका—राजा का—भाई, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, (दौवारिक) और संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) भी सम्मिलित थे।

ग्रामणी सैनिक पदाधिकारी होता था—ऋग्वेद में ऐसा ही उल्लेख मिलता है। इस रूप में वह—ग्रामणी—ग्राम-संस्था की व्यावहारिक तथा सैनिक प्रमुखता का सूचक था—यह मत डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का है।[2]

जातक-युग में राजाओं के दरबार में ब्राह्मण-पुरोति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक युग में भी पुरोहित को हम महत्त्वपूर्ण स्थान पर देखते हैं। 'पुरोहित' शब्द का अर्थ है—आगे स्थापित।[3] वह 'पुरोधा' भी कहा जाता था तथा उसके कार्य का नाम था—पुरोहिति।[4] वह राजा का शिक्षक, पथ-प्रदर्शक, ऋषि तथा मित्र के रूप में प्रधान संगी होता था। जातक-युग के राजाओं के साथ भी हम पुरोहित को इसी रूप में पाते हैं। पुरोहित न केवल धार्मिक बातों की ही प्रधानता रखता था, बल्कि राजनीति में भी उसका नेतृत्व महत्त्वपूर्ण माना जाता था। यहाँ तक कि युद्ध में भी पुरोहित राजा के साथ रहता था और जीत के लिए देवताओं की स्तुति करता था[5], शायद युद्ध में भी भाग लेता था।

वैदिक युग की परम्पराएँ जातक-युग में आकर कुछ विकृत हो गईं। वैदिक युग के पुरोहित जातक-युग में भी हैं और उनका महत्त्व भी ज्यों-का-त्यों है; किन्तु बदलते हुए युगों ने उनके बाह्य रूप में फर्क डाल दिया है। राजा योग्य, विद्वान् और त्यागी

---

१. महिषी (पटरानी को छोड़कर राजा की अन्य स्त्रियाँ 'भोगिनी' कही जाती थीं—'भोगिन्योऽन्य नृपस्त्रियः'—अमरकोश, का० २, मनुष्य० ५। यह वावाता भी भोगिनी ही रही होगी।

२. देखिए—'हिन्दू सिविलजेशन'

३. ऋग्वेद—१।१।१।

४. ऋग्वेद—७।६०।१२; ८३।४।

५. ऋग्वेद—७।१८।१३

ब्राह्मण को आदर से बुलवा कर पुरोहित-का पद देता था।[१] पौरोहित्य एक पद था। अपात्र होने पर जिसे हटाया जा सकता था। देवताओं ने शुक्राचार्य को अपने पुरोहित-पद से हटा कर बृहस्पति को पुरोहित बनाया। 'सरह-जातक' की कथा में एक राजा ने अपने बाल्य-सखा ब्राह्मण को पुरोहित-पद सौंपने के लिए बुलाया, जो गृह-त्यागी हो चुका था। वह राजा के बार-बार आग्रह करने पर भी नहीं आया। अस्सी करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं से भरा अपना-अपना घर ब्राह्मण और ब्राह्मणी ने दान कर दिया और दोनों हिमालय की ओर चले गये।[२] इसी तरह पराकाष्ठा के त्याग की अनेक कथाएँ जातक में हैं, जो ब्राह्मणों ने किया है। यही कारण है कि आचार्य तथा पुरोहित के पद को वे वैदिक-युग से जातक-युग तक अलंकृत करते रहे। जातक-युग के बाद भी इस प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने-वाले हर्षवर्द्धन के दरबार में भी पुरोहित एक प्रधान व्यक्ति था। राज्य के बड़े-बड़े मामलों में पुरोहित की सम्मति ली जाती थी। हर्ष के जन्म के अवसर पर पुरोहित को फल तथा शुद्ध जल लेकर खड़े होने का वर्णन 'बाण' ने किया है।[३] धर्मसूत्रों के अनुसार पुरोहित शासन-शृङ्खला की एक सबल कड़ी था। जातक-युग का पुरोहित एक प्रकार का राजा होता था।[४] सात-सात तल्लों का उसका महल होता था और सात-सात ड्योढ़ियाँ होती थीं। ड्योढ़ियों पर स्त्रियों का ही पहरा रहता था। पर्दा का यह हाल था कि घर का कूड़ा भी परीक्षित होकर ही फेंका जाता था। उसके अन्तःपुर में ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। इतना ही नहीं, राग-रंग का यह हाल था कि वह ब्राह्मण-पुरोहित वीणा बजाता था। उसकी परम सुन्दरी पत्नी वीणा के ताल-ताल पर नाचती थी। तात्पर्य यह है कि जातक-काल के ब्राह्मण-पुरोहित राजा के समान ही सुखमय जीवन व्यतीत करता था। पुरोहित इस बात का सतत ध्यान रखता था कि उसका 'शील' कायम है या नहीं। धन और भोग के चक्कर में पड़ कर पुरोहित अपने गुणों के प्रति उदासीन नहीं होता था। थोड़ी-सी भी शंका होने पर वह अपने को कसौटी पर चढ़ा देता था।

एक पुरोहित को इस बात का भ्रम हो गया कि उसका जो इतना सम्मान होता है, वह उसके विद्वान् या ब्राह्मण होने के कारण। उसने एक सुनार की दूकान पर जाकर एक कार्षापण (स्वर्ण-मुद्रा) चुरा लिया, दूसरे दिन भी यही किया। तीसरे दिन उसे लोगों ने चोर की तरह पकड़ा और राजा के सामने उपस्थित किया। पूछे जाने पर वह पुरोहित बोला—'मैंने अपने शील की परीक्षा के लिए ऐसा किया।'[५] उसका यह भ्रम दूर हो गया कि वह पाण्डित्य या उच्च जाति-संभूत होने के कारण आदर पाता है। चोरी करने पर न तो उसका पाण्डित्य कहीं गया और न जाति गई, फिर उसे चोर बना

---

१. सरह जातक।
२. अननुसोचिय जातक।
३. 'साक्षाद्धर्मइव शान्त्युदकफलहस्तास्तस्थौ पुरः पुरोधाः'—हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास।
४. अंडभूत जातक।
५. सीलवीमंस जातक।

कर दरबार में क्यों दंड के लिए घसीट कर लाया गया ? निश्चय ही शील नष्ट होने पर मानव कहीं का भी नहीं रह जाता। पुरोहित ने कहा—'शीलवान् व्यक्ति अपने रिश्तेदारों का प्रिय होता है, मित्रों में प्रकाशवान् होता है और अन्त में उसे सुगति प्राप्त होती है[1]।'

पुरोहित कितना सतर्क रह कर अपने उत्तम गुणों की रक्षा और उसका प्रकाश करता था, उसका प्रमाण इस गाथा से मिलता है। जब कि उस पर राज्य के हिताहित का गुरुतर भार लदा होता था, तो वह भी अपनी पात्रता के प्रति सदा सजग रहता था। राजा के भोगों में पड़ कर अपने श्रेष्ठ गुणों से वंचित हो जाने के बहुत-से प्रमाण जातक में हैं, पर राजा का रक्षक पुरोहित कभी अपनी श्रेष्ठता से च्युत नहीं होता था। ब्राह्मण होने के नाते पुरोहित पहले ब्राह्मण होता था, बाद में पुरोहित। पुरोहित होने पर जिन गुणों के कारण उस गुरुतर उत्तरदायित्व को वह जिस बल से वहन करता था, वह बल उसका परम्परागत ब्राह्मणत्व था। पुरोहित राजा को सदा 'शील' की शिक्षा देता रहता था; क्योंकि शक्तिमद से उन्मत्त राजा शील का त्याग अनायास ही कर सकता था। एक पुरोहित ने राजा से कहा था—

पापानि कम्मानि करित्वान राजा, बहुस्सुतो चे न चरेय्य धम्मं।
सहस्स वेदोपि न तं पीटच्च, दुक्खा पमुञ्चे चरणं अपत्वा[2] ॥

यदि बहुश्रुत होकर भी पापकर्म में लिप्त हो और अधर्म का आचरण करे, तो उसका दुःख कट नहीं सकता। हजार वेद पढ़कर भी आचरणहीन मुक्त नहीं हो सकता।[3]

इसके बाद राजा ने प्रश्न किया—'तो क्या वेद निष्फल होते हैं ?' पुरोहित अपने कथन को और स्पष्ट करता है—

न हेव वेदा अफला भवन्ति असंसमं चरणञ्ञेव सच्चं।
कित्तिञ्च पप्पोति अधिच्च वेदे सन्तं पुनेति चरणेन दन्तो ॥

यह किसने कहा कि वेद निष्फल होते हैं। संयम-सहित आचरण ही (आर्य) सत्य है। वेद पढ़ने से कीर्त्ति की प्राप्ति होती है (विना शील के, शुद्धाचरण के यदि केवल वेद का पाण्डित्य प्राप्त कर लिया जाय, तो कोरी कीर्त्ति तो मिलेगी ही), संयत व्यक्ति सदाचरण के द्वारा शान्त-पद प्राप्त कर सकता है।

पुरोहित का ऐसा उपदेश देना आचरण की श्रेष्ठता की स्थापना करता है।

---

१. ञातिनञ्च पियो होति मित्तेसु च विरोचति।
कायस्स भेदा सुगतिं उपपज्जति सीलवा ॥—सीलवीमंस जातक

२. सेतकेतु जातक।

३. कठोपनिषद् (१।२।५) में कहा है—

'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥'

अविद्या-ग्रस्त (मूढ, संस्कार और शीलहीन) अपने को धीर पण्डित (पण्डित हो भी तो) माननेवाले मूढ अनर्थ को ही प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धे के साथ जाने में अन्धा अनर्थ भोगता है।

ऋग्वेद[1] में भी एक ऐसा मन्त्र आया है, जिसमें यह प्रार्थना की गई है कि—'मैं पाप में न फसूँ।' पुनः ऋग्वेद (१०।८५।४२), यजुर्वेद (३।५०) कृष्णयजुर्वेद और तैत्तरीयोपनिषद् ('सत्यं वद, धर्मं चर' आदि मन्त्र) भी हैं, जिनमें सदाचरण के लिए प्रार्थना की गई है। जातक-युग का पुरोहित भी उसी वैदिक परम्परा की एक कड़ी है और अपने उस ब्राह्मण-धर्म की रक्षा करता है, जिसकी नींव वैदिक-युग में ऋषियों ने दी थी। जातक-युग का ब्राह्मण पुरोहित वैदिक युग के ब्राह्मण का ही उत्तराधिकारी है। पुरोहित राजा को धर्म और सुशीलता से विमुख होने नहीं देता था, किन्तु यह एक अचरज की बात है कि वह कभी आदि-युग से आनेवाले मत-मतान्तर के प्रपंच में नहीं पड़ता था। जातक-कथाओं में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि पुरोहित ने राज-शक्ति की दिशा को अपने ईप्सित मत की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया हो। यह धार्मिक उदारता का उज्ज्वल प्रमाण है। पुरोहित बराबर राजा को मानव-धर्म की ओर ढकेलता रहता था, किसी धर्म-विशेष की ओर नहीं। राजा किसी भी मत-विशेष को माने, प्रजा किसी भी मत-विशेष को स्वीकार करे, यह कोई चिन्ता की बात जातक-युग में न थी। हाँ, शील पर अत्यन्त जोर दिया जाता था। राजा या प्रजा को शील (सदाचार) की ओर पूरा-पूरा ध्यान देना पड़ता था। सभी विद्याओं, धर्मों का मूल शील माना गया है—यही आर्य-धर्म का मूल-मन्त्र है। वैदिक ऋषि 'ॐ भद्रं नो अपिवायत मनः' (हमारा कल्याण हो, मन पवित्र कीजिए) कह कर यह घोषणा करते रहे कि मन पवित्र कीजिए। उनकी सबसे बड़ी कामना यही थी कि 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः' (हे देव, हम कानों से कल्याण करनेवाले वचन सुनें और ध्यान करनेवाले हम—चिन्तन करनेवाले हम नेत्रों से कल्याण का ही रूप देखें)। यह 'प्रश्नोपनिषद्' का शान्ति-पाठ है। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसमें ऐसी पवित्र कामना को अनुचित करार दिया गया हो। जातक-युग का पुरोहित यही उपदेश राजा को देता था। वह मत-मतान्तर से दूर रह कर शुद्ध ज्ञान का प्रकाश राजा के चारों ओर फैलाता था, जिससे विविध भोगों में संलग्न, शक्तिशाली राजा अकल्याण और विनाश में लिप्त होकर सारी प्रजा को ही अतल गर्त्त में न डुबो डाले। जातक में एक श्लोक आया है—

एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो।
सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा॥[2]

मनुष्यों में जो श्रेष्ठ (आचार्य, गुरु, राजा) माना जाता है, उसके अधर्म करने से (शील त्याग देने से) शेष प्रजा (जन-साधारण) पहले से ही अधर्म करती (करने लगती) है।

जातक-कथाओं में मत-मतान्तरवाद और झगड़ालू विषयों का कोई स्थान न था।

---

१. 'एनो मा नि गाम्'—ऋग्वेद, १०–१२८–४।

२. तुलनार्थ गीता का यह श्लोक देखिए—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥' ३।२१

श्रेष्ठ मनुष्य जो कुछ करता है, वही अन्य साधारण मनुष्य भी किया करते हैं। वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण मानकर अंगीकार करता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

कहीं भी पुरोहित ने राजा को धार्मिक वितण्डा में नहीं उलझाया है। यही कारण है कि पुरोहित का स्थान अत्यन्त उच्च और गौरवपूर्ण था। हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों राजा की शक्ति बढ़ती गई, जनता की शक्ति घटती गई और पुरोहित की उपयोगिता भी समाप्त होती गई। शासन में जब तक शील को प्रमुख-स्थान यहाँ मिलता रहा, तब तक शासन करना एक 'पवित्र-धर्म' का निर्वाह करना था। राजा शासन इसलिए नहीं करता था कि वह राजा है; बल्कि वह अपने इस कार्य को 'यज्ञ' स्वीकार करके, धर्म (सदाचार) को आगे रखकर, जनहित के लिए शासन करता था और पुरोहित अपनी श्रेष्ठता के साथ राजा के सामने उपस्थित रहता था।[१] जब राजनीति से शील, सदाचार (धर्म) को अलग कर दिया गया, तब पुरोहित का काम केवल मुंडन, विवाह, यज्ञ या श्राद्ध का नेतृत्व करना भर रह गया। यहीं से भारत का दुर्भाग्य भी शुरू हुआ। शासकों (राजाओं) में अनाचार की वृद्धि हुई; क्योंकि उनका शासन-कार्य मुख्य हो गया और सदाचार (धर्म) गौण।

संघ एवं परिषद्

संघ

जातक-कथाओं के अनुसार राजा के साथ पुरोहित का वही सम्बन्ध है, जो सम्बन्ध शरीर का आँखों से है। पुरोहित वंशानुक्रम से भी होते थे और राजा श्रेष्ठ, चरित्रवान् ब्राह्मण को आदर से बुलाकर भी पुरोहित का पद देता था। जातक में बहुत ही शानदार कथाएँ आई हैं। सूअरों ने मिल-जुलकर, आपस में एका करके एक विशाल शेर को मार डाला। सूअरों का ऐसा पराक्रम तथा उनकी संघ-शक्ति देखकर निकट के पहाड़ में निवास करने वाले देवता गद्‌गद हो गये और उन्होंने सूअरों के सामने खड़ा होकर सादर नमस्कार किया और कहा—

नमत्थु सङ्घानं समागतानं दिस्वा सयं सख्यं वदामि अब्भुतं।
ब्यग्घं मिगा यत्थ जिनिंसु दाठिनो साम्मग्गिया दाठबलेसु मुच्चरे॥[२]

यह जो (सूकरों) का संघ आया है, उसको मेरा नमस्कार है। मैं इस अद्‌भुत मैत्री-भाव को स्वयम् देखकर नमस्कार करता हूँ। दाँतोंवाले मृगों (सूअरों) ने बाघ को हरा दिया। इसीलिए सूकर एक होकर (भय से) मुक्त हुए।

मनुष्यों के संघ की तो बात ही अलग रही, सूअरों के संघ तक को जातक के देवताओं ने—सामने खड़ा होकर, अत्यन्त आदरपूर्वक—हाथ जोड़कर नमस्कार किया। जातक-युग में संघ के महत्त्व का जैसा वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है, वैसा अन्यत्र सुलभ नहीं है। एकता पर पूरा जोर दिया गया। कहीं बन्दरों के संघ की कथा आई है, तो कहीं बटेरों के संघ[३] की। मिल-जुलकर पराक्रम करने और आपदा से निकल भागने का उल्लेख जातक में जहाँ-तहाँ बहुत ही जोरदार ढंग से है। उपर्युक्त कथा से एक संकेत और मिलता है। जिस बढ़ई-सूअर (बढ़ई के घर पाला गया सूअर) के

---

१. 'पुरोधाः प्रथमं सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत्'—शुक्रनीतिसार, अ० २ (पुरोहित राजा और राष्ट्र का रक्षक है)। द्रष्टव्य—महाभारत, शान्ति० प०, अ० ७२, ७३, ७४, ७७, ७८ और ७९।

२. बड्ढकी-सूकर जातक।

३. सम्मोदमान जातक।

नेतृत्व में सूअरों ने संघ-बद्ध होकर शेर को मार गिराया था, उसका अभिषेक करके अपना राजा बना लिया और एक नवयुवती सूअरी को पटरानी का भी पद दिया। शायद राजा का अभिषेक होते समय पटरानी का रहना अनिवार्य था। बेब्याहा व्यक्ति राजा होने की पात्रता नहीं रखता था। संगठन करने, युद्ध करने और अपनी जाति (या राष्ट्र) की रक्षा करने की क्षमता का आदर ऐसे गुणोंवाले व्यक्ति को राजा बनाकर किया जाता था; क्योंकि प्रधान रूप में राजा में इन गुणों का रहना आवश्यक माना जाता था। इसीलिए उस सूअर को दूसरे सूअरों ने अपना राजा चुना।

संघ की महिमा के सम्बन्ध में वृक्षों की एक कथा भी जातक में आई है। समूह में रहनेवाले वृक्ष तूफान में अपनी रक्षा आसानी से कर लेते हैं। अकेला वृक्ष आँधी के थपेड़ों के सामने टिक नहीं सकता।

साधु सम्बहुला ञाती अपि रुक्खा अरञ्ञजा।
वातो वहति एकट्ठं ब्रहन्तम्पि वनस्पतिं ॥[1]

वैदिक युग में भी 'संघ' की बहुत महिमा थी। वैदिक वाङ्मय से इस बात का प्रमाण मिलता था कि आर्यों ने संघ-शक्ति का महत्त्व समझा था। ऋग्वेद के अन्तिम 'एकता सूक्त' के अन्त में एक मन्त्र आया है, जो इस प्रकार है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥[2]

(यजमान पुरोहितो!) तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो और तुम्हारा मन भी एक हो। तुम लोगों का पूर्ण रूप से संघटन हो।

एक दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥[3]

तुम आपस में मिल जाओ, एक साथ होकर स्तोत्र का पाठ करो। तुम सब का मन एक-सा हो; जैसे प्राचीन (काल में) देवता एकमत होकर अपना हविभाग (प्राप्य) स्वीकार करते थे, वैसे ही तुम भी एकमत होकर धन आदि ग्रहण करो।

इन मन्त्रों में एकता का ही सन्देश है—यही संघ है। वैदिक वाङ्मय ऐसे मन्त्रों से भरा पड़ा है, जिनसे एकता की जोरदार आवाज निकलती है। ऐसे दो-एक मन्त्र यहाँ और उद्धृत किये जाते हैं—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि योष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥[4]

---

१. रुक्खधम्म जातक।
२. ऋग्वेद–१०, १९१, ४
३. ऋग्वेद–१०, १९१, २
४. अथर्ववेद, काण्ड ३, अनु० ६, सूक्त० ३०, ५

इस मन्त्र में वेद के ऋषि ने कहा है—श्रेष्ठत्व को अधिकृत करो और एक साथ मिल कर रहो। कभी (एक दूसरे से) अलग न होना। एक दूसरे को सुखी (प्रसन्न) रखो और भारी बोझ (बड़े-बड़े कार्यों) को खींच ले चलो। एक दूसरे से मधुर शब्दों में व्यवहार करो, मिलकर प्रेमपूर्वक रहो। इसी संहिता का सातवाँ मन्त्र तो और भी प्रकाश देता है। ऊपरवाली सभी बातें कह डालने के बाद मन्त्र सुबह-शाम मिल-जुलकर एक जगह बैठने का आदेश भी देता है—

सायं प्रातः सुसमितिर्वो अस्तु।[1]

हम यही कहना चाहते हैं कि संघ-बद्ध होकर रहना, काम करना और समान-रूप में विकास करना, श्रेष्ठत्व को अधिकृत करना वैदिक युग में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। जातक-युग में भी यही बात, अपने ढंग पर, पाई जाती है। मिल-जुलकर रहने और श्रेष्ठत्व लाभ करने का जो संदेश वैदिक ऋषियों ने दिया था, वह जातक-युग में भी अपने महत्त्व पर स्थिर रहा। भगवान् बुद्ध ने संघ के महत्त्व को न केवल स्वीकार ही किया, बल्कि उन्होंने 'भिक्खु-संघ' की स्थापना करके उस वैदिक संदेश को विशेष महत्त्व दिया।

वैदिक वाङ्मय में 'परिषद्' शब्द कई रूपों में आया है। वैदिक विद्यालय को 'चरण' भी कहते थे। प्रत्येक चरण के अन्तर्गत् अध्यापक और उच्च छात्रों की चुनी हुई मण्डली भी 'परिषद्' कहलाती थी। वैदिक शाखाओं के संदिग्ध-पाठ और अर्थों के विषय में परिषद् जो भी निर्णय दे देती थी चरण—विद्यालय—उसे स्वीकार कर लेता था। 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ इन्हीं परिषदों की देन थे—ऐसी परिषदों को हम 'विद्वत्परिषद्' कह सकते हैं। उच्च शिक्षा के लिए नियमित संस्थाओं—विद्वत्परिषदों—का उल्लेख मिलता है। पांचाल-परिषद्, जो पांचाल-जनपद के राजा प्रवाहण जैवली के संरक्षण में था, के राजा भी उसकी बैठकों में उपस्थित रहा करते थे (देखिए—बृहदारण्यक ६।२।१–७)।

परिषद्

इसके बाद राजा की भी परिषद् होती थी। परिषद् के सदस्य परिषद्य[2] कहलाते थे। परिषद् मंत्रिपरिषद् ही थी, जिसके द्वारा अधिकारप्राप्त राजा 'परिषद्वल' या 'पर्षद्वल' कहलाता था[3]। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि विशिष्ट व्यक्तियों के चुने हुए संघटन को परिषद् कहते थे। समिति में जनसाधारण के प्रतिनिधि होते थे, जैसे संसद् और राज्य-परिषद्। जातक-युग में 'परिषद्' का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, भगवान्

१. 'समिति' शब्द इस मन्त्र में आया है। समिति जनता की बड़ी संसद् को कहा जाता है। इसे जन-सभा भी कह सकते हैं। अथर्व, का० ७, अनु० १, १३।१ में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा है, जिसका अर्थ डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी 'आद्य संस्थाएँ' मानते हैं, जो भारतीय-संस्कृति के उषःकाल में स्थापित हुई थी। देखिए—'हिन्दू-सिविलिजेशन'। मन्त्र इस प्रकार है—'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।'

२. पाणिनि–४।४।४४

३. पाणिनि–५।२।११२

बुद्ध ने 'परिषद्' की चर्चा की है[१]। उन्होंने आठ प्रकार की परिषदों के नाम गिनाये हैं; (१) क्षत्रिय-परिषद्, (२) ब्राह्मण-परिषद् (यह शायद विद्वत्परिषद् रही होगी, जैसा उल्लेख पाणिनि ने किया है), (३) गृहपति-परिषद्, (४) श्रमण-परिषद्, (५) चातुर्महाराजिक-परिषद्, (६) त्रायस्त्रिंश-परिषद्, (७) मार-परिषद् और (८) ब्रह्म-परिषद्। बुद्धदेव ने इन सभी परिषदों में सैकड़ों बार जाने और भाषण करने की भी बात कही है।[२] परिषद् में बाहर के श्रेष्ठ पुरुषों को बुलाकर या स्वतः किसी कारणवश उपस्थित हो जाने पर उनके उपदेश सुनने या विचार जानने का भी नियम था।

परिषद् में भाषण देना एक असाधारण बात थी। भगवान् ने आनन्द से कहा था—'आनन्द, मुझे अपना सैकड़ों क्षत्रिय-परिषदों में जाना याद है, वहाँ भी (मेरा) पहिले भाषण किये जैसा, पहिले आये जैसा साक्षात्कार होता है। आनन्द, ऐसी कोई बात देखने का कारण नहीं मिला, जिससे कि मुझे वहाँ भय या घबराहट हो।'. परिषद् में जाकर भयभीत न होना और न घबराना एक असाधारण बात सर्वदा रही है, जिसका बुद्धदेव ने भी उल्लेख किया। वह परिषद् निश्चय ही असाधारण रही होगी या उस युग में परिषदों का रूप बहुत ही गरिमामय रहा होगा। चुने हुए, चोटी के व्यक्ति पूर्ण गम्भीरता और प्रतिष्ठा के साथ परिषद् में बैठते होंगे। उनके विचार करने या निर्णय करने का स्तर भी अत्यन्त उच्च रहा होगा। परिषद् के जो सदस्य होते थे, वे असाधारण व्यक्ति ही होते थे, जिनका व्यक्तित्व भी ज्ञान और शील के सहारे पूर्ण निखरा हुआ होता था। यही कारण है कि परिषद्-शब्द गौरव और आदर का प्रतीक-सा बन गया था। एक बार जब भगवान् बुद्ध, अपने अन्तिम दिनों में, वैशाली पहुँचे तो लिच्छवियों की परिषद् बुद्धदेव के दर्शनार्थ आई। दूर से भगवान् लिच्छवियों की परिषद् को अपनी ओर आते देखकर भिक्षुओं को दिखलाते हुए कहते हैं—

येसं भिक्खवे! भिक्खुनं देवा तावतिंसा अदिट्ठा।
ओलोकेथ भिक्खवे! लिच्छवी परिसं, अपलोकेथ
भिक्खवे! लिच्छवी परिसं! उपसंहरथ भिक्खवे!
लिच्छवे! लिच्छवी परिसं तावतिंसा सदिसन्ति॥[३]

—'देखो भिक्खुओ, लिच्छवियों की परिषद् को; भिक्खुओ, देखो, लिच्छवियों की परिषद् को। भिक्खुओ, लिच्छवियों की परिषद् को देव-परिषद् (त्रायस्त्रिंश) समझो।' देवताओं की परिषद्-सी दिखलाई पड़नेवाली लिच्छवी-परिषद् को देखकर भगवान कितने पुलकित और आनन्द-विभोर हो गये। उन्होंने देव-परिषद् की तरह उसे दिव्य दर्शन-कहा। एक बात और विचारणीय है, किसी अति आदरणीय व्यक्ति का स्वागत करने परिषद् जाती थी, भीड़ नहीं। जनता के श्रेष्ठ व्यक्ति परिषद् में होते ही थे। इस तरह परिषद् एक ऐसी संस्था होती थी, जिसे अपने उच्च कोटि के सदस्यों के

१. महापरिनिब्बानसुत्त—अट्ठ खो इमा आनन्द ! परिसा······।
(हे आनन्द ! परिषद् आठ प्रकार की होती हैं)

२. महापरिनिब्बान सुत्त—९२

३. महापरिनिब्बान सुत्त—६६

कारण श्रेष्ठतम गौरव प्राप्त था। परिषद् के द्वारा सम्मान प्राप्त करने का अर्थ होता था—उस जाति या राज्य के द्वारा सम्मानित होना। परिषद् में बैठा हुआ व्यक्ति 'व्यक्ति' नहीं रह जाता था, वह सम्मान के सब से ऊँचे शिखर पर माना जाता था—सभी उसकी वन्दना करते थे। वह किसी के सामने सिर नहीं झुकाता था। परिषद् में बैठा हुआ उसका प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण परिषद् का जितना सम्मान होना चाहिए, उतने सम्मान और गौरव का अधिकारी माना जाता था। परिषद् का प्रत्येक सदस्य अपने को 'पूरी परिषद्' अनुभव करता था। परिषद् में बैठ कर सदस्य अपने को समष्टि के रूप में देखता था—व्यक्ति के रूप में नहीं। उसका आचरण, विचार, ज्ञान, सम्मान सब परिषद् के आचार, विचार, ज्ञान, सम्मान के रूप में देखे जाते थे, अतः परिषद् का प्रत्येक सदस्य इस बात के लिए सतर्क रहता था कि वह कोई भी ऐसा कार्य न करे, ऐसी बात न बोले, जिससे परिषद् के गौरव को क्षति पहुँचे।

अंगदेश में सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामका एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण था।[१] वहीं 'चम्पा' नगरी थी, जिसमें ५०० ब्राह्मण थे। वह ५०० ब्राह्मणों के साथ बुद्धदेव के दर्शनार्थ गया, जो गर्गरा पुष्करिणी के किनारे ठहरे हुए थे। सोणदण्ड भगवान् से बातें करते हुए परिषद् की ओर जरा-सा ऊपर सिर उठा कर देखता है। वे ५०० ब्राह्मण निश्चय ही ब्राह्मण-परिषद् या विद्वत्परिषद् के सदस्य रहे होंगे। इस कथा से यह जाहिर होता है कि जहाँ कहीं भी एक जगह एकत्र होकर परिषद् के सदस्य 'परिषद् के रूप' में बैठ सकते थे या वह सोणदण्ड ब्राह्मण बुद्धदेव से प्रश्नोत्तर करने पूरी (विद्वत्) परिषद् के साथ आया था। इसके बाद सोणदण्ड के न्योता देने पर भगवान् बुद्ध भिक्खु-संघ के साथ उसके घर गये। भगवान् जब भोजन कर चुके, तब सोणदण्ड छोटा-सा आसन लेकर एक ओर बैठ गया और बोला—

"हे गौतम, यह परिषद् मेरा तिरस्कार करेगी, यदि मैं परिषद् में बैठा रहकर आसन से उठूँ और आपका अभिवादन करूँ। यह परिषद् जिसका तिरस्कार करेगी, उसका यश क्षीण हो जायगा। जिसका यश क्षीण हो जायगा, उसका भोग भी क्षीण हो जायगा। यश से ही भोगों की प्राप्ति होती है। हे गौतम, यदि मैं परिषद् में बैठा रहकर (बिना खड़ा हुए) केवल हाथ जोड़ लूँ तो आप इसे मेरा खड़ा होना स्वीकार कर लें, यदि सिर पर की पगड़ी (वेष्टन) हटा दूँ, तो इसे सिर से प्रणाम समझें।"

सोणदण्ड के इस स्पष्टीकरण से परिषद् के महत्त्व पर पूरा प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही परिषद् में बैठा हुआ उसका सदस्य केवल परिषद् का ही आदर कर सकता है। परिषद् से श्रेष्ठ या आदरणीय, पूजनीय, वन्दनीय कोई भी दूसरा नहीं है। इतना ही नहीं, यदि वह सदस्य 'परिषद्' के साथ किसी यान पर भी जा रहा हो तो, वहाँ भी उसका महत्त्व वही रहता है, जो परिषद् में बैठा रहने पर रहता है। इसी सोणदण्ड ने आगे चलकर भगवान् बुद्ध से कहा था—

"यदि यान से उतरकर आपका अभिवादन करूँ, तो परिषद् मेरा (मेरे इस

१. दीघनिकाय,सोणदण्ड सुत्त–१।४

कार्य का, नियम-भंग करने के कारण) तिरस्कार करेगी। मैं केवल कोड़ा या डंडा उठा दूँ, तो उसे आप मेरा यान पर से उतरना समझ लें; हाथ ऊपर उठा दूँ, तो इसे आप मेरा सिर से अभिवादन समझ कर स्वीकार करें।"

जातक-युग में परिषद् का क्या महत्त्व था, वह इस कथा से पूरी तरह प्रकाश में आ जाता है। जो देश जनतन्त्रात्मक होता है, वहीं संसद् (समिति), सभा या परिषद् का आदर होता है, ज्यों-ज्यों देश अधिनायकवाद या साम्राज्यवाद की ओर खिसकता जाता है, संसद्, सभा या परिषद् का निरादर आरम्भ हो जाता है। व्यक्ति की प्रधानता बढ़ने लगती है और जनता के मत की उपेक्षा होने लगती है। जनता अपनी परिषद् के रूप में ही 'जनार्दन' कही जा सकती है। जातक-युग में जनतन्त्रात्मक भावना सारे देश में फैली हुई थी। व्यक्ति, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, जनमत को व्यक्त करने की शक्ति रखनेवाली परिषद् से ऊपर नहीं उठ सकता था। उसी तरह सभा का सदस्य 'सभ्य' कहा जाता था। यह सभ्य शब्द आज सुसंस्कृत आचार-व्यवहार का प्रतीक माना जाता है। सभा के सभ्य सभी बातों (गुणों) में आदर्श माने जाते थे और किसी को बहुत ही नपा-तुला उच्चकोटि का व्यवहार करते देखकर लोग कहते थे कि यह 'सभ्य' है—सभा का सदस्य है। इससे अधिक सभा की और क्या महिमा हो सकती थी कि उसके सदस्य 'सभ्य' कहे जाते थे और उन्होंने समाज पर अपने गुणों की ऐसी छाप छोड़ दी कि सज्जन और सुसंस्कृत व्यक्ति का 'सभ्य' शब्द परिचायक बन गया और इसी तरह 'असभ्य' शब्द गंदी गाली माना जाने लगा।

हमने संघ और परिषद् की चर्चा की है। यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वैदिक युग से आरम्भ करके जातक-युग तक यदि हम एक सीधी लकीर खींचें, तो आर्यों के आदि, मध्य और किसी हद तक अन्त की तस्वीर हमारे सामने आ जायगी। आर्यों के अन्त का तात्पर्य है उन आर्य-परम्पराओं का अन्त, जिनकी स्थापना वेद के ऋषियों ने की थी। हम यदि इस विषय पर क्रमबद्ध दृष्टिपात करें, तो यह तो पता चलता है कि वेदों में जिन परम्पराओं की नींव डाली गई थी, वे फूलीं-फलीं; किन्तु मूल-रूप में रहते हुए भी उनका बाह्य रूप इतना बदल गया कि हठात् उन्हें पहचान लेना कठिन हो जायगा। जातक-युग में हम उन सारी परम्पराओं को पाते हैं, जिनकी जड़ें वेदों के मन्त्रों में हैं; किन्तु उनका रूप बदल गया है। ऐसा लगता है कि जातक-युग की परम्पराएँ नई हैं, किन्तु गहराई से सोचने पर बात ऐसी नहीं प्रतीत होती है। गण या संघ का आदिम रूप हम वेदों में पाते हैं। वैदिकयुग के मानव गणों में रहते थे और उनका संघ होता था। महाभारत में एक कथा आई है। युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से प्रश्न किया था—

समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति॥

—शान्ति० ५९।८

इस संसार में जन्म, मरण आदि तथा दूसरे गुणों में समान होने पर भी किस कारण

कोई अपने से अधिक शूर-वीर और बुद्धिमान् लोगों पर शासन करने के लिए शक्तिमान् हो जाता है ?

प्रश्न का उत्तर भीष्म देते हैं—

न वै राज्यं न राजाऽसीन्न च दण्डो न दण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥
—शान्ति० ५९।१४

कोई राजा नहीं था, कोई राज्य नहीं था । कोई दण्ड देनेवाला नहीं था और कोई दण्डित भी नहीं था । केवल धर्म (अपने अस्तित्व के नियमों) से लोग एक दूसरे की रक्षा करते थे । राज्य और राजा के नहीं रहने से (वैराज्य की स्थिति में) परस्पर रक्षा करने का प्रश्न और भी प्रबल हो जाता है । फिर तो ऋत और सत्य के अतिरिक्त तीसरी कोई शक्ति नजर नहीं आती, जो न्यायपूर्वक सबकी सबसे रक्षा करती हुई सबका अभ्युदय करे । परस्पर ऋत और सत्य[1] के द्वारा व्यवहार करते हुए आर्यों ने अपनी स्थिति को इतना दृढ़ बना लिया कि वे भारत के पर्वत, आकाश और धरती की तरह एक प्रमुख अंग बन गये, जिसे हटाया या मिटाया नहीं जा सकता । तभी तो आर्यों ने घोषणा की—**'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' (अथर्व, १२।१।१।१२)**

हम जातक-युग में इसी ऋत और सत्य की पुकार सुनते हैं । जिन गुणों के द्वारा अपने को आर्यों ने मृत्युंजय बना लिया था, जातक-युग में उन्हीं गुणों को फिर से प्रज्वलित करने का प्रयास किया गया था । भगवान् बुद्ध ने बार-बार ऋत और सत्य की बात दुहराई है । शासन, कुशासन, वर्ग, जाति, शोषक, शोषित आदि अनेक टुकड़ों में अपने दुर्भाग्यवश बँटी हुई आर्य-जाति में बुराइयों ने घर कर लिया था, जो स्वाभाविक है । जातक-युग को गहराई से देखने पर यह पता चलता है कि भगवान् बुद्ध ने इन सभी खण्डों को मिलाकर एक में जोड़ने का प्रयास बार-बार किया है और उन्होंने भी ऋत और सत्य को ही इस कार्य के लिए अपना सहायक चुना । वे कहते हैं—

धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे ।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥
—धम्मपद, लोकवग्ग

सुचरित धर्म का आचरण करे और दुराचार में न फँसे । धर्माचारी इहलोक और परलोक दोनों जगह सुख से रहता है । धर्म (और सत्य) से भिन्न और क्या है । संघ और परिषद् इसी मत को सिद्ध करती है । भारत की आर्य-परम्परा को खँड़हर के रूप में

१. ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है, जिसमें यह कहा गया है कि ऋत और सत्य को विचार कर परमात्मा ने तप (ईक्षण) किया । प्रकृति में हलचल पैदा हो गई—आदि आदि । यह स्पष्ट हुआ कि यही ऋत और सत्य आर्य-गण या संघ का मूल मन्त्र था, जिससे वे एक दूसरे की रक्षा करते थे—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
—ऋग्, १०।१९०।१

परिणत होने से रोकने में ही भगवान् आरम्भ से अन्त तक सफलतापूर्वक लगे रहे। जातक-युग में 'गण' का कहीं अस्तित्व नहीं था, किन्तु जैन-सूत्रों में हम छह प्रकार के गणों का उल्लेख पाते हैं। वे हैं—अर्याणी, गणार्याणी, दा-रज्जणी, बी-रज्जणी, जुवार्याणी और रज्जनी।[१] इनमें पहला 'अर्याणी' अराजक-गण था। इस गण की विशेषता का वर्णन अथर्व (३।३०।५-६) में आया है, जो बहुत ही स्पष्ट है। जातक-युग में जिस एकता और समानता का वर्णन आया है, वह अथर्व के पहले दिये गये इस मन्त्र के जैसा ही है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तनो मा वि योष्ठ संराधयन्तः
सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
संध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि समानी प्रपा।
सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि॥

वेदों के प्रसिद्ध ज्ञाता मि० ब्लूम फिल्ड ने इस मंत्र का बड़ा महत्त्व माना है। उन्होंने इसकी टीका इस प्रकार की है—'क्या तुम यहाँ परस्पर सहायता करते हुए, एक ही लाठी के सहारे, एक साथ चल कर परस्पर सुन्दर आचरण करते हुए आये हो? तुम्हारे पेय और भोजन का भाग एक जैसा होना चाहिए। मैं तुम-सबको एक ही प्रवृत्ति और एक ही मार्ग में प्रेरित करता हूँ।'

अब (अथर्व–३।५०) एक दूसरा मन्त्र हम यहाँ उपस्थित करते हैं, जो इस प्रकार है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते॥

तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ, तू उत्तम गुण मुझ में धारण कर और मैं तुझ में धारण करूँ, यह मैं लेता हूँ और यह तू ले।

वैदिक-युग में शोषण-रहित साम्य-संघ या गणों का जो वर्णन मिलता है, उन संघों या गणों की नीति यही थी। अराजकता की स्थिति में रहते हुए आर्य-इसी धर्म-नीति और समानता का पालन करते थे। जातक-युग में ऐसी किसी बात का स्पष्ट पता नहीं चलता; किन्तु जहाँ तक हम गहराई में उतर कर देखते हैं तो ऐसा लगता है कि बुद्ध भगवान् इस अराजक (वैराज्य) समाज की ओर आकृष्ट होते थे और वे चाहते थे कि गुणों के आधार पर 'वैराज्य' का विकास हो।[२] कम-से-कम जातक-युग के भिक्षु-संघ के गठन का आधार यही था—अराजक। इस विषय पर भिक्षु-प्रकरण में प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

जातक-युग में परिषद् को या संघ को राजा से श्रेष्ठ माना जाता था। हाँ,

---

१. आचाराङ्ग जैन-सुत्त।

२. अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुब्बलं॥—धम्मपद, अत्तवग्ग।
व्यक्ति अपना स्वामी आप है, उसका दूसरा कोई स्वामी कैसे हो सकता है? अपने को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी को प्राप्त करता है।

यदि राजा गुणों से विभूषित हुआ, तो उसका भी आदर होता था। बुरे और संस्कार-हीन राजाओं की कुरीतियों का उल्लेख तो जातक-कथाओं में है; किन्तु कहीं भी किसी संघ के विरुद्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया।

जातक-युग की शासन-व्यवस्था में, चाहे वह राजा के द्वारा हो या परिषद् के द्वारा, मानव का मूल्य था। मानव की स्थिति को सर्वोपरि मान कर ही उस पर शासन किया जाता था। शासन-व्यवस्था का जनसाधारण से लगाव था; किन्तु जन-समाज स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी परम्पराओं के अनुसार अपना काम करता था और शासन अपना काम धर्म और न्याय के आधार पर चलाता था। जन-समाज के दैनिक जीवन से हाथापाई करते रहने की प्रवृत्ति न तो 'शासन' में थी और न जन-समाज ही शासन से उलझा करता था। जातक-युग में आत्मशुद्धि पर ही अधिक जोर दिया जाता था, पर-चर्चा पर कम।

अत्तनो[1] व अवेक्खेय्य कतानि च अकतानि।

—धम्मपद, पुप्फवग्ग

किन्तु यदि राजा अन्याय या अनाचार करता था, तो जनता से उसे निबटना पड़ता था। जनता शासन के प्रति जागरूक रहती थी, उदासीन नहीं। जनता अपने कार्यों की ओर भी जागरूक-दृष्टि रखती थी। केवल पर-चर्चा और राजा (शासक) के कार्यों की ही आलोचना-प्रत्यालोचना करना उसका लक्ष्य न था। जातक-युग के नेता यही कहते थे कि पहले अपने को उचित काम में लगावे, बाद में दूसरों को उपदेश दे। आत्मशुद्धि और आत्मनिरीक्षण को आर्य-ग्रंथों में महत्त्व दिया गया है—भारत स्वभाव और संस्कार से दार्शनिक विचारों का पोषक रहा है। जातक-युग में भी हम देखते हैं कि त्याग, तपस्या, भक्ति, शान्ति, मैत्रीभाव आदि की प्रधानता है—सभी आध्यात्मिक श्रेय के लिए उत्सुक दिखलाई पड़ते हैं, भौतिक प्रेय को शायद ही कहीं प्राथमिकता मिली हो। जातक-युग का एक तपस्वी कहता है—

मनुस्सयोनिं अभिपत्थयानो,
तस्सा परक्कम तपो करामि।—चम्पेय्यजातक

(मैं तो मनुष्ययोनि की फिर से प्राप्ति की कामना से पराक्रम-पूर्वक तपस्या करता हूँ)। जातक-युग में मानव हीन नहीं; श्रेष्ठ माना जाता था। यही कारण है कि जातक-युग की शासन-व्यवस्था सौम्य है और उसमें जनता शासन-मशीन का केवल निर्जीव पुर्जा नहीं है।

मन्त्री, राजसभा, न्याय और दण्ड

अब हम दो शब्द मन्त्री, राजा-सभा, न्याय और दण्ड के सम्बन्ध में कहना चाहते हैं। जातक-युग के भारत में जिस तरह के समाज के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, वह निश्चय ही उन्नत-स्थिति में था। राजा और पुरोहित का वर्णन पहले आ चुका है।

---

१. अत्तानमेव पठमं पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो॥—धम्मपद, अत्तवग्ग

यदि हम पुरोहित और मन्त्री दोनों को सामने रखकर देखते हैं, तो पुरोहित की तुलना में मन्त्री नहीं ठहरता। शासन का अंग होते हुए भी मन्त्री का प्रभाव केवल शासन-व्यवस्था तक ही सीमित है, किन्तु पुरोहित इहलोक ओर परलोक दोनों पर प्रकाश डालता है। अतः स्वभावतः वह मन्त्री से कहीं अधिक और व्यापक अधिकारों का उपयोग करनेवाला है। मन्त्री भी प्रायः ब्राह्मण ही होता था।[१] पुरोहित की तरह मन्त्री का ब्राह्मण होना आवश्यक या अनिवार्य न था; किन्तु शिक्षा, त्याग और सूझ-बूझ के क्षेत्र में प्रमुखता अर्जन करने के कारण मन्त्री-पद के लिए भी ब्राह्मणों को ही चुना जाना कोई अचरज की बात नहीं है। मगध-सम्राट् अजातशत्रु का मन्त्री 'वर्षकार' ब्राह्मण था, जो भगवान् बुद्ध की सेवा में अपने राजा की आज्ञा से यह पूछने गया था[२] कि वज्जियों के गणतन्त्र का अन्त किस उपाय से हो सकेगा।

पूर्व के नीतिज्ञ ऋषियों (शुक्र, नारद आदि) ने मन्त्रियों में जिन गुणों का होना आवश्यक बतलाया है, वैसे गुणों का विकास ब्राह्मणों में ही उस युग में मिलता है। स्मृतिमान्, शीलवान्, स्थिर-धी, निरभिमान, वेद-शास्त्रज्ञ, सौम्य (शुभदर्शन), शत्रुता नहीं रखनेवाला, प्रभावशाली आदि गुण मन्त्रियों के बतलाये गये हैं। इन गुणों से युक्त मन्त्री राज्य की श्री-वृद्धि करने में समर्थ हो सकता है। राजा पर वह इतना प्रभाव रखता था कि वह विना मन्त्री की इच्छा के कुछ भी कर नहीं सकता था। हिन्दू-राज्यशास्त्र के प्रणेताओं के अनुसार राज्यमन्त्री तन्त्री होता था, राजतन्त्री नहीं। यह नियम सम्राट् अशोक तक चला आया था। ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि सम्राट अशोक बहुत धन खर्च करता था; मगर उसका मन्त्री राधगुप्त ने उसे रोक दिया। श्रावस्ती का राजा विक्रमादित्य का मन्त्री भी प्रबल था। उसने राजा की अत्यधिक दान-प्रवृत्ति को यह कहकर रोका था कि आपकी दानशीलता के कारण आपका तो यश फैलता है; मगर प्रजा पर नये-नये कर लगाकर धन जुटाने में मन्त्री अप्रिय होते जा रहे हैं। रामायण में भी मन्त्री के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। अरण्यकाण्ड[३] में मारीच ने उन मन्त्रियों को मार डालने की व्यवस्था दी है, जो राजा को कुमार्ग में जाने से रोकने की शक्ति न रखते हों। मारीच के विचार से मन्त्री ऐसे होने चाहिए, जो अपने स्वेच्छाचारी राजा को वश में रख सकें।

भगवान् राम ने भरत से, जब वे चित्रकूट में उन्हें मनाने आये थे, पूछा—

---

१. ब्राह्मण प्रधान मन्त्री होता था, जैसे—मगधराज अजातशत्रु का वर्षकार, कोसलराज विडूडभ का दीर्घचारायण, वत्सराज, उदयन का यौगन्धरायण, चन्द्रगुप्त का चाणक्य, अशोक का राधगुप्त, अवन्तिराज पालक का आचार्य पिशुन, चंडप्रद्योत का भरत रोहक, राजा अंशुमान् का घोटमुख (भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ, १५८) कोसलराज परन्तप का कणिक भारद्वाज (अर्थशास्त्र टीका), पांचाल ब्रह्मदत्त का आचार्य बाभ्रव्य (मत्स्यपुराण २।३०) आदि।

२. महापरिनिब्बान सुत्त—२।

३. वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण।
ये त्वामुत्पथारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः॥ —अरण्य०, सर्ग ४१, श्लो० ६

क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन और अभिप्राय को समझनेवाले मन्त्री बनाये हैं ?[1]

इस श्लोक से यह भी पता लगता है कि नया शासक अपने मन के अनुसार नये मन्त्री नियुक्त करता था या कर सकता था।

भगवान् राम के कथनानुसार मन्त्री का चरित्र राजा-जैसा (गुणों की दृष्टि से) ही होना चाहिए। मन्त्री वही बन सकता था जो प्रजा का पूरा विश्वासी[2] हो। जब तक मन्त्री प्रजा का विश्वासी नहीं होगा, राजा उसके भय से क्यों भीत होगा—जन-शक्ति को अपने वश में रखनेवाला मन्त्री राजा को कैसे बहकने दे सकता है। मंत्री प्रायः वृद्ध होते थे। पचास साल से कम उम्र का मन्त्री नहीं होता था।[3] रामायण-काल में भी वृद्ध, अनुभवी मन्त्री ही रहते थे।[4]

हम यह कह चुके हैं कि मात्स्यन्याय से देश या समाज को बचाने के लिए ही राजा का चुनाव किया गया था—राजा की कल्पना का यह आदि इतिहास है। वेदों और रामायण तथा महाभारत से भी इस मत की पुष्टि होती है। जनता का समर्थन प्राप्त करके जब राजा (राष्ट्रपति) शासन करने को उद्यत हुआ, तो जनता ने उसे एक मन्त्रिपरिषद् भी दी। यह परिषद् जनता के योग्यतमव्यक्तियों की होती थी। इस परिषद् का अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होता था। यह प्रधान मन्त्री राजा के आचरणों पर कड़ी निगाह रखता था। प्रजा द्वारा राज-सत्ता के नियन्त्रण का यह अत्यन्त सुगठित रूप था और जातक-युग में भी यही शासन-पद्धति थी। 'अंगुत्तर निकाय' में एक सरल सीधा प्रश्न पूछा गया है—राजा का राजा कौन है ? उत्तर भी वहीं पर है—'धर्म'।

यहाँ 'धर्म' शब्द व्यापक अर्थ में आया है—मतवाद या मतविशेष नहीं। मन्त्री इसी 'धर्म' की रक्षा में तत्पर रहता था और राजा यदि किसी भी तरह धर्म से विलग होता था, तो मन्त्री उसे वहीं रोक देता था। यदि वह मन्त्री के अंकुश को नहीं मानता था तो उसे प्रजा के कोप की आग का दुःखदायी मुकाबला करना पड़ता था—जन-शक्ति उसे कुचलकर समाप्त कर डालती थी। राजा की निरंकुशता की रोक-थाम करनेवाली मन्त्रिपरिषद् और सभा थी। [5]यह परिषद् ३३ मन्त्रियों की होती थी और प्रधान मन्त्री प्रधानामात्य कहा जाता था। [6]अध्यक्ष तो प्रधान मन्त्री ही होता था,

१. कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥
—अयोध्या०, सर्ग १००, श्लो० १५।

२. 'पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतोगताः॥'
—महाभारत, शान्ति०, अ० ८३, श्लो० ४६

३. 'पंचाशत्वर्षवयसमित्येकैकस्य'॥
—महाभारत, शान्ति०, अ० ८५, श्लो० ९ पर नीलकंठ की टिप्पणी।

४. 'रामायण', अयोध्या०, सर्ग १४ श्लो० ४४
,, ,, युद्धकाण्ड, सर्ग ३४, श्लो० २०
,, ,, अयोध्या०, सर्ग ५० श्लो० ३४

५. महाभारत,—शान्ति०। ८५।६—११।

६. ऋग्वेद—मण्डल १, सू० १८ (सातवलेकर की टीका द्रष्टव्य)

जो श्रेष्ठ व्यक्ति रहता था।[१] मन्त्री कैसा हो इस सम्बन्ध में जो मान्यताएँ जातक-कथाओं में हैं, वे दिव्य हैं तथा वैदिक वाङ्मय में बतलाई हुई मान्यताएँ-जैसी ही हैं। कहा है—

यं तिंसति सारमया अनुज्जुका
परिकिरिय गोपाणसियो समट्ठिता।
ता सङ्गहीता बलसा च पीलिता
समट्ठिता उपरितो न धंसति॥
एवं मित्ते हि दलहेहि पण्डितो
अभेज्जरूपेहि सुचीहि मन्तिहि।
सुसङ्गहीतो सिरिया न धंसति
गोपाणसी भारवहाव कण्णिका॥

ये जो मजबूत और टेढ़ी तीस कड़ियाँ घेर कर खड़ी हैं और नहीं गिर रही हैं। राजा यदि इसी प्रकार ऐसे मन्त्रियों से युक्त हो, जो अभेद्य (जिन्हें फोड़ा न जा सके), शुचिपरायण (मन, वचन और कर्म से पवित्र) और राजा के (राज्य के) दृढ़ मित्र हों तो (राजा) राज्य-श्री से रहित नहीं होता, जैसे यह छज्जा इन 'घोड़मुँहों' पर टिका हुआ है।

कौटिल्य ने मन्त्री नियुक्त करने के सम्बन्ध में लिखा है कि वही पुरुष मन्त्री बनाया जाय, जो स्वदेशीय हो; उच्च तथा उदात्त वंश का हो; बन्धुत्व निभानेवाला हो, अर्थात् जो अपना सजातीय हो और राजा को, बुरे मार्ग पर चलने पर, दृढ़ता से रोक सके; गज, अश्व, रथ तथा अन्य प्रकार के युद्धों में कुशल हो, आयुधों के चलाने और पहचानने में दक्ष हो एवं गान्धर्व-विद्या में निपुण हो, अर्थशास्त्र का अच्छा जानकार हो, प्राज्ञ हो, जिसकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तेज हो, शीघ्रतापूर्वक किसी कार्य को सम्पादन करनेवाला हो, उपपन्न मति का और मधुर भाषी हो, प्रगल्भ तथा प्रश्नाकार एवं प्रतिवचन में पूर्ण समर्थ हो, प्रभुता और उत्साह-सम्पन्न हो, कष्ट-सहिष्णु हो, मन-कर्म-वचन और शरीर से पवित्र हो, स्निग्ध व्यवहार करनेवाला हो, राजा में दृढ़ भक्ति रखनेवाला हो, शील-बल-सम्पन्न, निरोग और धीर हो, स्थिर-प्रकृति हो, स्तम्भ-वर्जित (विगर्व) हो, सौम्य आकृति का हो तथा किसी तरह के वैर का शमन करने में निपुण हो। इन पचीस गुणों से युक्त पुरुष मन्त्री बनाने के लिए उपयुक्त है। इनमें से १३ से कम गुणवाला अधम मन्त्री होगा, १८ गुणोंवाला मध्यम कहा जायगा और २१ गुणों से युक्त पुरुष मध्यगावर कहलाता है।[२] पचीस गुणों से युक्त ही मन्त्री उत्तम मन्त्री है। ज्ञात होता है, चाणक्य में ये पचीसो गुण वर्त्तमान थे।

जातक में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। लक्ष्मी कहती है कि मुझे कहाँ रहना प्रिय है—

यो वापि सीते अथवापि उण्हे
वातातपे डंससिरिंसपे च,

१. कुक्कु जातक

२. कौटिलीय, अर्थशास्त्र, प्रक० ५, अध्या० ९, १।

खुदं पिपासं अभिभूय्य सब्बं
रत्तिन्दिवं यो सततं नियुत्तो,
कालागतञ्च न हापेति अत्थं
सो मे मनापो निवसे वतम्हि ॥[1]

मुझे ऐसा व्यक्ति प्रिय है और ऐसे ही व्यक्ति के साथ रहना मैं चाहती हूँ, जो शीत, उष्ण, हवा; धूप, मक्खी, सर्प आदि का दंश, भूख-प्यास को जीतकर, काल के आने पर भी अपने अर्थ (कर्त्तव्य) को नहीं छोड़ता।

ठीक इसके विपरीत कालकण्णी (मृत्यु या दरिद्रता) ने कहा है—

मक्खी पलासी सारम्भी इस्सुकी मच्छरी सठो।
सो मह्यं पुरिसोकन्तो लद्धं यस्स विनस्सति ॥[2]

मैं ऐसे पुरुष को पसन्द करती हूँ जो अकृतज्ञ, बात न माननेवाला, झगड़ालू, ईर्ष्यालु, कंजूस, शठ तथा जो मिले उसे व्यसनों में फूँकनेवाला हो। इन दोनों गाथाओं से स्पष्ट हो जाता है कि किन गुणों से अलंकृत पुरुष को लक्ष्मी पसन्द करती है और किन कुकार्यों में लिप्त रहनेवाले कैसे अभागे को मृत्यु या दरिद्रता वरण करती है। जातक-युग में मन्त्री का चुनाव इस दृष्टि से किया जाता था कि वह श्री-सम्पदा की वृद्धि करनेवाला न हो और दरिद्रता का प्रियपात्र हो जो अपने साथ राजा और प्रजा दोनों को ले डूबे।

मणिकुण्डल-जातक (३५१) में कहा है कि एक दुष्ट अमात्य (मन्त्री) ने कोसल-राज को लाकर काशीराज से भिड़ा दिया। काशीराज सन्त-स्वभाव का था। वह कैद में डाल दिया गया।

दुष्ट मन्त्री के चलते वह साधु-स्वभाव का राजा भी स्त्री, सन्तान, राज्य, प्रतिष्ठा सब कुछ गँवाकर अन्यायी राजा की कैद में जीवनयापन करने को बाध्य हुआ।

वैदिक वाङ्मय में राजा, परिषद्, सभा, समिति, मन्त्रिपरिषद् का जैसा वर्णन आया है, रामायण, महाभारतादि महाग्रन्थों में उस समय की राजपरिषद् आदि की जैसी कथाएँ आई हैं, उन कथाओं से जैसी तस्वीर हमारे सामने खिंच जाती है, उसी तस्वीर को हम जातक-युग में भी देखते हैं। राजा, परिषद् आदि के सम्बन्ध में जैसी मान्यताएँ वैदिकयुग के ऋषियों ने या रामायण, महाभारत के आचार्यों ने स्थिर की थीं, उसी परम्परा को हम जातक-युग में भी प्रकाशमान देखते हैं। हाँ, उन परम्पराओं का बाह्य-रूप कुछ बदला हुआ-सा जान पड़ता है; पर मूलरूप में कोई अन्तर लक्षित नहीं होता। पाली-धर्मशास्त्र में विद्या की एक शाखा है, जिसे 'खत्तिविज्जा' कहते हैं। यह प्रकारान्तर में दण्डनीति है। बौद्ध-ग्रन्थों में इस विद्या की निन्दा की गई है। यह 'खत्तिविज्जा' राजविद्या (दण्डनीति, शासन-नीति) है। इस विद्या को उन विद्याओं में रखा गया है, जिसके द्वारा नीच कलाओं के द्वारा लोग जीविका-अर्जन करते हैं।

जातक-कथा में एक राजा का वर्णन है, जिसके पाँच मंत्री थे। एक था 'अहेतु-

---

१. सिरिकालकण्णि-जातक।

२. वही।

वादी', वह हेतु और कारण को नहीं मानता था। दूसरा था ईश्वरकारणवादी, उसके मत से प्रत्येक कर्म का कारण ईश्वर ही है। तीसरा था, पुब्बकतावादी (पूर्वकर्त्तावादी)- इसका विश्वास पूर्वकृत कर्मों पर था। चौथा उच्छेदवादी था, जो कहता था कि सब कुछ नाशवान है, सबका उच्छेद हो जायगा। अब पाँचवें मंत्री का राज सुनिए—यह खत्तिविज्जावादी था। बतलाया गया है कि यह 'खत्तिविज्जा' बहुत ही गर्हित विद्या है। इस विद्या का ज्ञाता अपनी स्वार्थ-सिद्धि किसी भी उपाय से कर लेता है—चाहे माता-पिता या सगे-सम्बन्धियों का ही खून क्यों न करना पड़े।[१]

यह स्पष्ट हुआ कि बौद्ध-विद्वानों के मत से राजनीति एक भयानक कूटनीति-मात्र है, अतः महा गर्हित चीज है। तो क्या हम मान लें कि राजनीति से जातक-युग में घृणा की जाती थी? एक बात यह स्पष्ट थी कि सभी विचार के मंत्री राजा के यहाँ होते थे, किन्तु कोरा कूटनीतिज्ञ गर्हित समझा जाता था। फिर भी, उस तरह के विचारवाले को भी मंत्री का पद दिया ही जाता था।

सभी विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व मन्त्रिपरिषद् के रूप में, राजा के यहाँ होता था। निश्चय ही राजा सभी मत-मतान्तरों के प्रति उदार रहता था और अपने विचारों को जनता पर लादने का इच्छुक न था—यह जातक-युग के शासकों की विशेषता थी। वह सभी तरह के विचारों को, जो जिसके राज्य में अपना दृढ़ अस्तित्व रखते थे, आदर की दृष्टि से देखता था—वह न तो किसी मत का आग्रही होता था और न विरोधी।

अब हम दो शब्द 'खत्तिविज्जा' मत के सम्बन्ध में निवेदन करना चाहते हैं, जिसकी निन्दा बौद्ध-विद्वानों ने की है। हो सकता है कि यह खत्तिविज्जावाद चार्वाक-मत ही हो या इसी तरह का कोई राजनीतिक मत हो, जो अवसरवादी विचारों का पोषण करता हो। रामायण-युग में ऐसे मत का कोई पता नहीं चलता—मतलब साधने के लिए कर्म-कुकर्म सभी कर डालने की प्रवृत्ति का अभाव रामायण-युग में था। महा-भारत-युग में इस मत ने जोर पकड़ा था, जो कौटिल्य-युग तक चला आया। इसके बाद यह 'खत्तिविजी' मत सारे संसार में फैल गया और आज तो इसी मत की प्रधानता न केवल राजनीति में ही है; बल्कि हर विचार का प्रत्येक व्यक्ति इसका शिकार हो गया है।

पूर्व-काल में नारद, पिशुनाचार्य, उद्धव, बृहस्पति (चार्वाक-मत का प्रवर्त्तक) उशनस् (शुक्राचार्य, भारद्वाज, कौणपदन्ताचार्य (भीष्म), आदि अर्थशास्त्र (राजनीति-शास्त्र) के आचार्य हो चुके हैं, जो 'खत्तिविजी' मत का प्रतिपादन करते थे। इसकी चर्चा कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में की है। सारा 'अर्थशास्त्र' ही 'खत्तिविजी' मत को सामने रखकर कौटिल्य ने लिखा है, जिसमें खून, जहर, धोखा, ठगी, प्रपंच, जाल-फरेब सबको राजनीति में स्थान दिया गया है।[२] धर्माधर्म या शील आदि का

१. 'खत्तविज्जवादी माता पितरोपि मारेत्वा अत्तनो व अत्थो कामेतब्बो।' 'मातरम् पितृम् हन्ने अत्थो जेट्ठमपि मातरम् हन्नेय पुत्त च दारे च अत्थो चैतादिसो सिया।'—जातक

२. अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० १२, सू० १८

कोई स्थान अर्थशास्त्र में नहीं है—गुप्त हत्याएँ, पुत्रवध तक की चर्चा अर्थशास्त्र के पूर्वाचार्यों ने की है और मतलब सिद्ध करने में ऐसे भयानक कार्यों को बुरा नहीं माना है। हाँ, एक बात है। ऐसे भयानक कार्यों का प्रयोग 'प्रहार' के लिए नहीं 'रक्षा' के लिए करने का अर्थशास्त्र आदेश देता है—बलवान शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी उपाय को काम में लाना बुरा नहीं माना जाता था।[1] आज भी बुरा नहीं माना जाता, और तो क्या, राजा के लिए यह उचित बतलाया गया है, वह अपने अविश्वासी पुत्र तक को मरवा डाले; क्योंकि वह आगे चलकर अपने पिता का ही भक्षक बन जायगा।

जन्मप्रभृति राजपुत्रान्रक्षेत्।
कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः।
तेषामजातस्नेहे पितर्युपांशुदण्डः श्रेयानिति भारद्वाजः॥[2]

कौटिल्य ने भारद्वाज के इस मत का उल्लेख किया है कि राजा के लिए उचित है कि राजकुमारों के जन्म से लेकर उनपर चौकसी रखे। राजपुत्र स्वभाव से ही केंकड़े की तरह अपने जनक—पिता—को ही खाकर बढ़ते हैं। भारद्वाज मुनि का मत है कि यदि राजा को अपने पुत्र पर स्नेह उत्पन्न न हो, अर्थात् विश्वासभाजन न हो सके, तो उसे मरवा डाले।

यह है 'खत्तिविज्जा', जिसकी निन्दा बौद्ध विद्वानों ने की है। राजनीति और पाप का सम्बन्ध चोली-दामन का है।

भगवान् बुद्ध के समय में ही अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार को बिना अन्न और जल के तड़पाकर मार डाला और फिर बुद्ध भगवान् से ही वज्जियों के अजेय होने का रहस्य प्राप्त करके अजातशत्रु ने वर्षकार मन्त्री के द्वारा वज्जियों का नाश करा दिया।[3]

सदा कूटनीति के दाँव खेलनेवाले राजा को या राजनीति को महात्मा विदुर ने विश्वास के योग्य नहीं माना है। साँप की तरह राजा (राजनीति) को बुरा माना है—राजा भी साँप की तरह विश्वास के योग्य नहीं है।

···राजासु सर्पेषु·······
विश्वासं कः प्राज्ञः कर्त्तुमर्हति॥ ५७॥[4]

जातक में भी ऐसी कथाएँ हैं, जब कि 'खत्तिविज्जा'-नीति का आश्रय ग्रहण करके श्रेष्ठ पुरुषों ने अर्थ-साधन किया है[5]।

प्रसेनजित् (कोसल का राजा) वृद्धावस्था में साकिय-जनपद के मेदलुंप ग्राम में

१. अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० १४, प्रकरण—१०, सू० १—२।
२. अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० १७, प्रकरण १३, सू० ३—४।
३. अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० १७, प्रकरण १३, सूत्र ६—७।
४. महापरिनिब्बान सुत्त ४३।
५. विदुरनीति : अध्याय ५, श्लो० ५७।

भगवान् बुद्ध से मिलने गया था, तो उसके मन्त्री दीर्घकारायण ने विद्रोह कर दिया और उसके लड़के विड्डडम को गद्दी पर बैठा दिया। प्रसेनजित् शरण-याचना के लिए अपने दामाद अजातशत्रु के यहाँ गया, पर नगर-द्वार के बाहर ही मर गया। (धम्मपद अट्ठकथा—४।३)।

प्रसेनजित् ने कुसीनर के मल्ल बन्धुल को अपना सेनापति और फिर न्यायपति बनाया। वह बाहर का आदमी था। अधिकारियों ने षड्यन्त्र करके एक बनावटी विद्रोह का दमन करने के लिए उसे सीमान्त पर भेजा और वहीं मार डाला। राजा भी इस षड्यन्त्र में शामिल था।

बन्धुल के स्थान पर उसके भतीजा दीर्घकारायण को नियुक्त किया। यह एक विद्वान् ब्राह्मण था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसे एक आचार्य के रूप में माना है। राजा प्रसेनजित् जब अपना मुकुट और खड्ग उसे सौंपकर बुद्ध भगवान् से मिलने गया तो उसने विड्डडम को राजा बनाकर अपने चाचा का बदला वसूल किया।

'तयोधम्म-जातक' में एक गाथा आई है। बन्दरों का नेता अपने बच्चेको आलिंगन करने के बहाने, इसलिए मार डालना चाहता था कि बड़ा होकर वह उसे नेतृत्व से वंचित कर देगा। उसने उसे एक खतरनाक तालाब में भी भेजा, जहाँ का जल-राक्षस तालाब में उतरनेवाले को मार डालता था। अपना नेतृत्व सुरक्षित रखने के लिए उस बन्दरराज ने अपने ही बच्चे का खून करना चाहा—यही 'खत्तिविज्जी' नीति है, जिसका अस्तित्व जातक-युग में था।

प्रसंगवश हमने राजनीति पर कुछ लिखा है। हम मन्त्री या मन्त्री-परिषद् पर विचार कर रहे थे।

जातक-युग के ऊपर रामायण-युग और महाभारत-युग है और नीचे कौटिल्य-युग। रामायण-युग और महाभारत-युग से राजनीति की एक विशेष प्रकार की लहर (खत्तिविज्जावाद) पैदा होती है और वह जातक-युग को सराबोर करती हुई कौटिल्य-युग तक पहुँचती है और फिर सारे संसार में फैल जाती है। जातक-युग को हम रामायण-महाभारत-युग और कौटिल्य-युग को मिलानेवाली एक कड़ी (राजनीतिक दृष्टि से) मान लें तो इसमें मतभेद की गुंजाइश कहाँ है! विचार करते समय हमें इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिए। आदि युग से चली आई परम्पराओं की लहरों के बाहर जातक-युग नहीं है। राजा, मन्त्री, परिषद्, राजनीति—इन सारी बातों की जो परम्पराएँ प्राचीन (जातक-युग के आगे) युग से प्रवाहित हुई हैं, वे कहीं रुकी नहीं—आगे बढ़ती गईं, बढ़ती जा रही हैं। हम भले ही युगों की विभाजक रेखाएँ खींचकर महाभारत-युग से बौद्ध-युग को अलग कर दें; किन्तु परम्पराएँ इन रेखाओं का बन्धन नहीं मानतीं। हमारे किये हुए कृत्रिम बिलगाव का प्रभाव परम्पराओं पर नहीं पड़ता—जैसे, सूर्य की रोशनी सारे भारत पर पड़ती है, वह प्रान्त, जिला, गाँव की विभाजक रेखाओं पर नहीं रुकती और न अपने को किसी दायरे के भीतर सीमित ही करती है।

ऋग्वेद[१] का राजा—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

(राजन्) तुम्हें राजा बनाया जाता है—तुम इस देश के स्वामी हुए। अटल, अविचल और स्थिर रहो। प्रजा (विश्) तुम्हें चाहे और तुम्हारा यह राज्य (राष्ट्र) नष्ट न हो।

रामायण[२] युग का राजा—

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ।
पातकं वा सदोषं वा कर्त्तव्यं रक्षिता सदा ॥

ताड़का राक्षसी का वध करना श्रीराम नहीं चाहते थे। इस पर विश्वामित्र ने कहा—'प्रजा की रक्षा के लिए भला-बुरा, निर्दोष-सदोष सभी कर्मों को तुम्हें (राजा को) करना चाहिए।

ऋग्वेद के राजा में और रामायण के राजा में कुछ अन्तर आ गया। राजनीति और कूटनीति ने राज-काज में स्थान पा लिया।

अब महाभारत[३] के राजा की ओर देखें—

दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद्दण्डकृद्यमः ।
अग्निश्शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥

राजा यम के समान दण्ड देनेवाला है; क्योंकि वह कुकर्म करनेवालों को सजा देता है, अग्नि के समान वह पवित्र भी है—रक्षा करने के लिए सबसे कर लेता है।

महाभारत का राजा दण्ड देने में यम की तरह भयानक है तथा अग्नि की तरह पवित्र भी है—उसे दोष दिया ही नहीं जा सकता; क्योंकि अग्नि अत्यन्त पवित्र मानी गई है, राजा भी एकदम दोष-रहित है।

ऐसा लगता है कि राज-शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई थी और राजा की स्थिति बेहद ऊपर उठ गई थी। वह अतिमानव मान लिया गया था—एकदम तानाशाह !

अब जातक-युग[४] के राजा का परिचय प्राप्त कीजिए—

सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा ।
सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति राजा चे होति अधम्मिको ॥

राजा के अधार्मिक होने पर सारी प्रजा (सारा राष्ट्र) दुःख में पड़ जाती है।

यहाँ 'धर्म' शब्द राज-धर्म के अर्थ में आया है न कि किसी खास धर्म के लिए। राजधर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है, अतः चर्वित-चर्वण न्याय की पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है।

---

१. ऋग्वेद १०।१७३।१।

२. रामायण, बालकाण्डम्, सर्ग २५, श्लोक १८।

३. शुक्रनीतिसार, अ० १, श्लो० ७।

४. राजोवाद-जातक।

वैदिकयुग, रामायण-युग, महाभारत-युग और जातक-युग तक के राजा का चित्र यहाँ हमने उपस्थित किया है—कोई भी अन्तर नजर नहीं आता। वैदिकयुग के राजा से कहा गया है कि अचल रहो, प्रजा के प्रिय रहो और तुम्हारा यह राज्य नष्ट न हो, यह आशीर्वाद दिया गया। रामायण-युग में कहा गया कि प्रजा की रक्षा के लिए अच्छे-बुरे सभी काम राजा कर सकते हैं। महाभारत-युग के राजा के सम्बन्ध में तीन बातें कही गई हैं—वह दण्ड देने में यमराज-जैसा क्रूर और भयानक है, वह अग्नि-जैसा पवित्र है और प्रजा का दोहन इसलिए करता है कि उससे वह प्रजा की रक्षा करता है। युग-धर्म के अनुसार इन तीन युगों के राजा-सम्बन्धी मान्यताओं में जरा-जरा-सा अन्तर पड़ता है, जो नगण्य-सा है। जातक-युग के राजा को और भी महत्त्व मिला है; क्योंकि वह यदि धर्म का त्याग कर दे तो सारी प्रजा दुःख भोगने लगती है।

महाभारत-काल का राजा प्रजा के द्वारा किये हुए सत्कर्मों के फल का चौथा भाग प्राप्त कर लेता था[1]—

यञ्च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति॥

इसी सिद्धान्त को उलटकर जातक-युग में कहा गया है कि राजा के अधार्मिक होने से प्रजा कष्ट भोगती है—यह तो एक ही सिक्के का दूसरा भाग-मात्र है।

धारणाओं की एक परम्परा होती है—वैदिकयुग से आरम्भ करके जातक-युग तक इस परम्परा को हम अविच्छिन्न रूप में पाते हैं। विचारों, धारणाओं, मान्यताओं, और सिद्धान्तों का सिलसिला एक युग को पार करता हुआ दूसरे युग में, फिर तीसरे और चौथे युग में भी आता है; किन्तु अपने को अखण्डित रखता है।

अब हम कौटिल्य के युग की ओर चलें। कौटिल्य[2] कहता है—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनु वैवस्वतं राजानं चक्रिरे॥ ६॥
धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः।

मात्स्यन्याय (छोटी मछली को बड़ी मछली निगल जाती है—यह क्रम अविच्छिन्न रूप से चल रहा है) न फैल जाय और सबल व्यक्ति निर्बल व्यक्ति को आक्रान्त न कर ले, इसी की रोक-थाम के लिए राजा की कल्पना की गई थी। उसे अन्न और सोना का कुछ भाग इसलिए दिया जाता था कि कोश की वृद्धि हो और राजा प्रजा की रक्षा करे। हम इस प्रसंग का अन्त यहीं पर कर देना चाहते हैं।

मन्त्री, मन्त्री-परिषद्, पुरोहित आदि का जैसा क्रम वैदिकयुग से शुरू हुआ था, रामायण, महाभारत, बौद्ध-युग, कौटिल्य-युग तक चलता आया—कहीं विशेष उतार-

१. महाभारत, शान्ति०, अ० ६७, श्लो० २७।
२. अर्थशास्त्र अधि० १, प्रक०९, अ०१३, ३।
कौटिल्य के इस सूत्र को महाभारत के निम्नलिखित श्लोक से मिलाकर पढ़िए—
पशूनामधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च॥—२३
धान्यस्य दशमं भागं, दास्यामः कोशवर्द्धनम्॥—२४
—महाभारत, शान्ति-पर्व, अ० ६७, श्लो० २३।२४

चढ़ाव नज़र नहीं आता। ऐसे प्रमाणों का अन्त नहीं है, जिनसे इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि एक युग अपने मूल रूप में दूसरे युग में उपस्थित है या यों कहिए कि वैदिक युग सभी लोगों में (प्राण-रूप में) स्थित है। हम यह भी कह सकते हैं कि वैदिकयुग सूर्य की तरह एक जगह स्थित है और विभिन्न युग उसके चारों ओर घूम रहे हैं; किन्तु प्रकाश और जीवन उसी युग (सूर्य) से प्राप्त करते हैं।

किसी युग का भी युग-पुरुष कोई ऐसी बात नहीं बोल गया जो वैदिक युग के ऋषियों की वाणी से भिन्न या मौलिक हो—कहने का तर्ज अपना-अपना रहा; पर बात वही रही, जो वैदिक वाङ्मय के ऋषियों ने कह दी थी। हम यह कहना चाहते हैं कि चाँद तो एक ही है, पर अलग-अलग तिथियों के नाम से उसका परिचय दिया जाता है—दूज का चाँद, चौथ का चाँद, पूर्णिमा का चाँद आदि। इसी तरह ज्ञान का मूल प्रवाह, जो वेदों के हिमालय से प्रवाहित हुआ, विभिन्न युगों और कालों से होता हुआ प्रवाहित होता रहा—यह बात हम भारत और आर्यजाति को अपने सामने रखकर कह रहे हैं।

दूत

राजा, पुरोहित और मंत्री के बाद ही दूत का भी स्थान है। वह शासन का एक सबल अंग था; क्योंकि वह अकेला व्यक्ति पूरे शासन और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का महत्त्व धारण करता है। दूत-पद भी योग्य, विद्वान् और शीलवान् ब्राह्मण को दिया जाता था; क्योंकि ब्राह्मण होने के कारण वह यों भी सम्मान का अधिकारी था तथा स्वभाव और संस्कार से सौम्य, त्यागी और चरित्रवान् होता था, जो ब्राह्मण-जाति का विशिष्ट गुण माना गया है। बुद्धदेव ने कहा है[1]—

दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो॥

दिन में सूर्य, रात में चन्द्रमा, अलंकृत राजा और ध्यानी (ज्ञान-युक्त) ब्राह्मण तपते (अपने तेज से प्रकाशमान) हैं।

अब हम आपका ध्यान वैदिक युग की ओर ले जाना चाहते हैं; क्योंकि वह आर्य-जाति का अभ्युदय-काल था। एक मंत्र इस प्रकार आया है—

अग्निर्देवानां दूत आसीत
उशना काव्योऽसुराणाम्[3]॥

अग्नि देवों का दूत और उशना-काव्य (शुक्राचार्य) असुरों का दूत था। ऋग्वेद के एक ऋषि हैं—मेधातिथि। उन्होंने अग्नि में आदर्श दूत की कल्पना की है।

अब हम एक दूसरा मंत्र उपस्थित करते हैं[4]—

१. आनन्द स्थविर की कथा—धम्मपद।
२. उशना और काव्य—ये दोनों नाम शुक्राचार्य के ही हैं। देखिये—'अमरकोष', दिग्वर्ग, श्लो० २५
३. तैत्तिरीय संहिता, २।५।८।७
४. ऋग्वेद, १।१२ मेधातिथिः काण्वः। अग्निः ६ प्रथमपादस्य (निर्मथ्याहवनीयौ) अग्नी। गायत्री।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।
अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥

इस मन्त्र का अन्वय इस प्रकार होगा—

होतारं, विश्ववेदसं, अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं, दूतं अग्निं वृणीमहे ।
विश्पतिं, हव्यवाहं, पुरुप्रियं, अग्निं अग्निं सदा हवन्त ॥

अब राजदूत के पक्ष में दूत का अर्थ इस प्रकार होगा—

१. **अग्नि**—वह तपस्वी हो और कभी फीका या उदास न हो **(अग्नि-अग्रणीः)** वह कार्य को पूर्णता तक—अग्रभाग तक—पहुँचानेवाला हो। वह प्रमुख **(अगति इति अग्निः)** हो, गतिशील हो ।

२. **होता**—बुलानेवाला, पुकारनेवाला दूत हो ।

३. **विश्व-वेदः**—ज्ञान और धन से युक्त हो ।

४. **यज्ञस्य सुक्रतुः**—कार्य को उत्तम रीति से सिद्ध करनेवाला हो । **(यज्ञः—देवपूजा-संगति-करण-दानात्मकः)** श्रेष्ठों का सत्कार और संगठन करे, सहायता भी करे ।

५. **विश्[1]-पतिः**—अपने प्रजाजनों का पालन करनेवाला हो । प्रजा का पालन उत्तम रीति से हो, इसपर बराबर ध्यान रखे ।

६. **हव्यवाह्**—अन्न पहुँचानेवाला हो ।

७. **पुरुप्रियः**—सबका प्रिय हो ।[2]

राजदूत में जितने गुणों की आवश्यकता होती है, उन सभी गुणों का वर्णन इस मन्त्र में है—यह अग्नि देवताओं का दूत है, ऐसा कहा गया है । वैदिक वाङ्मय में राजदूत का वर्णन स्थान-स्थान पर आया है ।

वैदिक युग में राजदूत का होना प्रमाणित होता है । इसके बाद रामायण-युग आता है । जब भरत ननिहाल गये थे, तब उनके पास दूत भेजे गये थे—

अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ।[3]

दूत सर्ववेदज्ञ होते थे । निश्चय ही उस युग में ब्राह्मण ही वेदज्ञ होता था । ब्राह्मणेतर वर्ग वेद-ज्ञान से उतना सम्पर्क नहीं रखते थे । महाभारत में स्वयम् भगवान् कृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के दरबार में सन्धि-प्रस्ताव लेकर गये । भगवान् कृष्ण-जैसे व्यक्ति को यह भार (दूत का कार्य-भार) सौंपा गया । सोचना यह है कि दूत-कार्य कितना महत्त्वपूर्ण माना जाता था । वैदिक युग से लेकर महाभारत-युग तक दौत्य-कर्म करते हुए हम श्रेष्ठ पुरुषों को ही देखते हैं । यदि केवल दूतों के सम्बन्ध में ही खोज की जाय, तो एक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने की बारी आ जायगी । संक्षेप में हम यही कहना चाहते हैं कि दूत-कर्म को जैसा महत्त्व वैदिक युग में मिला था, वैसा ही महत्त्व हम जातक-युग में भी पाते हैं ।

---

१. विश्=प्रजा ।
२. हमने श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की व्याख्या को स्वीकार किया है ।—ले०
३. रामायण, अयो० कां०, सर्ग ८१, श्लो० ११

जातक-युग में दूत का महत्त्व था, जिसका एक प्रमाण यह है कि यदि कोई एक ठीकरा उठाकर यह कहता कि यह 'तेरा राजदूत है, तुम्हें राजा के दरबार में चलना पड़ेगा' तो वह विना विरोध चला जाता था[१]। वास्तविक राजदूत की प्रतिष्ठा का अनुमान इसी से हम कर सकते हैं। एक बात और थी—यदि कोई उस ठीकरे का निरादर कर देता, तो राजा उसे दण्ड देता था और वह इसलिए कि उसने राजदूत का निरादर कर दिया। एक राजा दूसरे धर्मप्राण राजा के यहाँ उससे धर्म की दीक्षा लेने दूत भेजता था।[२] उस दूत-वर्ग में प्रमुखतः ब्राह्मण होते थे और अमात्य भी रहते थे। इन्द्रप्रस्थ का राजा कुरुधर्म का पालन करता था[३]। उसके यहाँ कलिंग के राजा ने दूत भेजा था। दूतों ने इन्द्रप्रस्थ के राजा से सोने की पट्टी पर कुरुधर्म लिखाकर कलिंग के राजा को दिया।

एक दूसरी गाथा[४] में एक राजा ने अपने सिर में दो-चार सफेद बालों को देखकर उन्हें देव-दूत कहा। ये बाल मानों देव-लोक से यह संदेशा लेकर आये हैं कि अब यौवन चला गया—परलोक की चिन्ता करो। जातक में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथा आई है[५]—एक भूखा यह चिल्लाता हुआ कि 'मैं दूत हूँ, मैं दूत हूँ' राजा के निकट चला गया। उसे किसी ने भी नहीं रोका और वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ राजा भोजन कर रहा था।

ऐसा नियम था कि दूत को रोका न जाय। वह किसी समय भी राजा के निकट पहुँच सकता है—चाहे राजा सो रहा हो या स्नान या भोजन में लगा हो। विलम्ब होने से कार्य की हानि की संभावना थी और राज्य पर संकट आ सकता था। इसीलिए दूत को इतनी व्यापक छूट दी गई थी।

वैदिक युग में देश-भर में फैले ९ राज्य थे, जो आर्य-सभ्यता के प्रतिनिधि थे। पाणिनि (ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व) का युग आज से २६५६ वर्ष का पुराना है—बुद्ध से १५६ वर्ष पहले। पाणिनि ने २२ जनपदों के नाम गिनाये हैं। पूर्वकालीन बौद्ध-युग के जो साहित्य उपलब्ध हैं, उनके अनुसार १६ जनपदों की सूचना मिलती है[६]। संस्कृत-ग्रन्थ महावस्तु में भी यही बात है। जैन-ग्रन्थ 'भगवती' में १६ जनपदों का उल्लेख है। 'उवासगदसाओ' (२, परिशिष्ट), 'उत्तरायण-सूत्र' (अध्याय १८) 'सूत्रकृतांग' (२।२) आदि प्राचीन साहित्य द्रष्टव्य हैं। भगवान् बुद्ध के समय में चार बड़े राज्य थे। काशी और कोसल के विग्रह का वर्णन जातक-कथाओं में है।

हम यहाँ इन राज्यों की चर्चा इसीलिए कर रहे हैं कि बड़े राज्यों के अस्तित्व से 'दूतों' की महत्त्वपूर्ण स्थिति प्रमाणित होती है। छोटे-छोटे राजा भी दूत का महत्त्व समझते थे और उसे सम्मानित करते थे। जातक-कथाओं से यह भली भाँति स्पष्ट

---

१. ग्रामणीचण्ड जातक।

२. कुरुधम्म जातक।

३ जीव-हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामभोगादि मिथ्याचार में मत पड़ो, झूठ और मद्यपान से दूर रहो—यही कुरुधर्म है।

४. मखादेव जातक।

५. दूत जातक।

६. अंगुत्तर निकाय—१।२१३; ४।२५२, २५६, २६०

होता है कि जातक-युग में, शासन-कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग दूत था और इस सम्बन्ध की जैसी परम्परा वैदिक युग से चली थी, उसी परम्परा का निर्वाह जातक-युग में भी किया गया है। कौटिल्य-युग में तो 'दूत' का महत्त्व बहुत बढ़ गया था—वह वैदिक युग की समकक्षता प्राप्त कर चुका था। कौटिल्य ने तीन प्रकार के 'दूत' की चर्चा की है—

उद्धृतमन्त्रो दूतप्रणिधिः अमात्यसम्पदोपेतो निस्सृष्टार्थः पादगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः।[1]

निस्सृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर—तीन प्रकार के दूत होते हैं, जिनमें (पूर्वोक्त) अमात्योंवाले गुण हों, वह निस्सृष्टार्थ; इस गुण से जो चतुर्थांश में न्यून हो, वह परिमितार्थ और जो निस्सृष्टार्थ से आधा गुण रखता हो, वह शासनहर कहलाता है।

दूत सदा सत्य बोले और अपने राज्य का हित करे, चाहे उसके प्राण भी संकट में क्यों न पड़ जायँ।[2] दूत का कार्यभार ब्राह्मण को ही दिया जाता था। कौटिल्य के युग तक यही नियम था। उसने कहा है—

दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च ॥ १६ ॥ × × × तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारस्तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः ॥ १७ ॥ किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः ॥ १८ ॥ परस्यैतद्वाक्यमेष दूतधर्म इति ॥ १९ ॥[3]

राजा तो दूतों के द्वारा ही बातचीत करते हैं। उसमें कटु या मधुर सब कुछ कहने का दूत को अधिकार है। × × × दूतों में कोई चांडाल भी नियुक्त हो, तो वह भी अवध्य है—दूत तो शस्त्र के सामने भी सत्य ही बोलता है—उसको बोलना चाहिए। यदि चांडाल भी दूत-पद पर नियुक्त हो जाय, तो वह अवध्य है, फिर ब्राह्मण के अवध्य होने में कहना ही क्या है—'किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणः'।

यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक युग से आरम्भ करके कौटिल्य-युग तक दूतों की एक ही परम्परा रही—कोई अन्तर नहीं पड़ा। वैदिक युग में दूतों की कल्पना साम्राज्य के उदय के साथ-साथ की गई और वह कल्पना रामायण-युग, महाभारत-युग, जातक-युग और कौटिल्य-युग तक फूलती-फलती रही। कहीं इस परम्परा-रेखा को हम खण्डित नहीं पाते।

राजा और प्रजा

इसके बाद हम शासन तथा जनता के सम्बन्ध में निवेदन करेंगे। राजा प्रजा के समर्थन से शासक बनता है; किन्तु होता ऐसा है कि राजा अपने अधिकारी-वर्ग के साथ एक वर्ग में चला जाता है और प्रजा का एक वर्ग बन जाता है—दोनों वर्गों से कभी-कभी इतना बिलगाव हो जाता है कि टक्करें होने लगती हैं। यह

---

१. अर्थशास्त्र, अधि० १, प्र० १२, अध्या० १६, सू० १
२. अर्थशास्त्र, अधि० १, प्र० १२, अध्या० १६, सू० १०, ११ और १२
३. ,, ,, ,, सू० १६, १७, १८ और १९

माना कि प्रजा का वर्ग बलवान् होता है और वह शासक-वर्ग को चूर-चूर कर डालता है; मगर यह कोई खूबसूरत स्थिति नहीं है।

वह वर्ग शासन की शक्ति पाकर जनसाधारण से अलग हो जाता है। वह ऐसा भी प्रयास करता है कि जनता का प्रिय बना रहे और उसे जनता अपना ही अंग समझे। वह शक्ति के द्वारा जनता को सिर उठाने नहीं देता। जनता को प्रलोभनों के द्वारा भुलावे में रखना भी एक तरीका है, जिसका उपयोग वह शासक-वर्ग करता है। उत्तम तो यही है कि शासक-वर्ग बराबर अपने को जनता का अंग ही नहीं, सेवक समझे। जनता के समर्थन का मूल्य उसी समय तक रहता है, जबतक शासक-वर्ग अस्तित्व में नहीं आ जाता। जन-समर्थन से शासन-सूत्र सँभालनेवाला वर्ग—यदि वह जनता का प्रतिनिधित्व ईमानदारी से करता है—का बराबर प्रयास रहेगा कि उसका लगाव जनता से बना रहे और वह अधिक-से-अधिक जनता की भावनाओं और विचारों को समझ कर शासन-चक्र चलावे। आर्य-शासन-पद्धति पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि समान व्यक्तियों में से ही अग्रगण्यता प्राप्त करके, उच्च पद प्राप्त करके, कुछ व्यक्ति शासन-व्यवस्था का संचालन करते थे और एक निश्चित अवधि के बाद वे फिर जनसाधारण में लौट आते थे।

जनता के समर्थन से पद प्राप्त कर लेने के साथ ही राजा या राष्ट्रपति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और वह भी धर्म या ईश्वर के सामने नहीं, अपने स्वामी (जनता) के सामने। प्रतिज्ञा भयानक होती थी—

यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति ॥[१]

मेरा जन्म जिस रात को हुआ और जिस रात को मेरी मृत्यु होगी, इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान (शुभकर्म) मैंने किये हैं, उनसे, तथा स्वर्गलोक, अपने जीवन और संतान से भी वंचित हो जाऊँ, यदि मैं तुमसे (प्रजा से) विद्रोह करूँ (पीड़ा पहुँचाऊँ, अहित करूँ)।

यह भयानक प्रतिज्ञा बतलाती है कि वैदिक युग का शासक जनसेवक होता था, वह विपरीत आचरण करने पर हटा दिया जा सकता था। राष्ट्र का मंगल-साधन करना ही राजा या शासक का चरम लक्ष्य था। अथर्व के अनुसार आरम्भ में केवल बिराट् था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसमें राजा न था—पूरा वैराज्य था। इसके बाद 'सभा' की उत्पत्ति हुई। यह गाँवों या जातियों की पंचायत-जैसी कोई चीज थी। इसके सदस्य 'सभ्य' कहे जाते थे। सभा के ऊपर समिति थी। समिति में पंचायतों और सभाओं के प्रधान या अध्यक्ष होते थे। समिति के सदस्य 'समित्य' कहलाते थे। समिति से भी ऊपर एक व्यवस्थापिका थी, जिसका नाम 'अमन्त्रण' था, जिसमें समितियों के चुने हुए (समितियों में से ही या समितियों के द्वारा) लोग जाते थे। इसके सदस्य 'आमन्त्रणेय' कहे जाते थे।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।३।१५

इस संगठन और इतनी सावधानी के कारण यह सम्भव न था कि शासन की शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद कोई शासक जनता से विमुख होकर या अलग रहकर अपने को कायम रख सके।[१] यह प्रमाणित होता है कि शासक और प्रजा (विश्) में एकता रहती थी और बीच में किसी खाई का पता नहीं चलता था। सही बात तो यह है कि प्रजा (विश्) के मत का आदर किया जाता था। वैदिक युग में यह नियम था कि राजा के आसन्दी पर बैठने की घोषणा राजकर्त्ता[२] करते थे और 'राजकर्त्ता' कौन ? ऋग्वेद के अनुसार थे—सूत, रथकार, कर्म्मकार, ग्रामणी और राजन्। राजन् को बाद दे देने से सभी जन-साधारण में से राजकर्त्ता होते थे—सूत, रथकार, कर्म्मकार आदि।

सभा के निर्णय को सभी मानते थे—राजा भी और दूसरे लोग भी। अथर्व[३] में प्रयुक्त 'नरिष्टा' पद से ऐसा भान होता है। सायण ने इसका अर्थ 'अहिंसिता परैरनभिभाव्या' किया है—सभा में एकत्र होकर अनेक व्यक्ति (बहुमत से) जो फैसला करें, वह दूसरों के द्वारा अनुल्लंघ्य हो **(बहवः सम्भूय यदि एकं वाक्यं वदेयुः तत् हि न परैः अतिलंघ्यम्)**—ऐसा स्थिर नियम था। बहुमत का आदर होता था। गौतम ऋषि के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि वे राजा से मिलने सभा में ही जाते थे। इससे पता लगता है कि राजा सभा में उपस्थित रहता था और सभा का निर्णय स्वयं सुनता था। सभा का अध्यक्ष[४] दूसरा कोई होता था, राजा यहाँ एक साधारण सदस्य की तरह बैठता था।

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमः॥[५]

ऐसा मन्त्र 'रुद्राध्याय' में आया है—सभा या सभापति, ये परमात्मा के रूप हैं, अतः इन्हें सादर प्रणाम !

हम केवल यही बतलाना चाहते हैं कि वैदिक युग में सार्वभौम शक्ति जनता में निहित थी और राजा सदा जनमत और जन-इच्छा के अनुसार शासन करता था। प्रजा केवल दोहन और शोषण की चीज तब न थी। यह परम्परा कौटिल्य के युग तक चली आई थी। यही रामायण-युग की भी विशेषता रही। दशरथ की मृत्यु के बाद 'राजकर्त्ता', जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं, भरत को राजा बनाने के लिए प्रस्तुत हो गये थे।[६] ये कर्त्ता थे, वे ही सूत, रथकार, कर्म्मकार आदि।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।१; बृहदारण्यक ६।२।१–७, वैदिक-युग का सर्वश्रेष्ठ परिषद् कुरुपांचाल में था और राजा प्रवाहण जैवलि बराबर परिषद् में उपस्थित रहकर जन-प्रतिनिधियों का आदेश ग्रहण करता था।

२. ऐतरेय, ८।१७

३. अथर्व, ७।१३।२। 'विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि'।
ग्रिफ्थ ने लिखा है—
'We know thy name Conference thy name in interchange of talk'

४. 'सदसस्पतिं' (सदसः पतिं), यह शब्द ऋग्वेद में आया है—मं० १।१८।६ मेधातिथि।

५. वा० य० १७

६. रामायण, अयोध्या०, सर्ग ७९, श्लो० ३

महाभारत की एक कथा से पता चलता है कि राजा प्रतीप का ज्येष्ठ पुत्र सभी गुणों से सम्पन्न रहने पर भी चर्म-रोग से पीड़ित था। शास्त्रानुसार राज्याभिषेक की सारी तैयारियाँ हो चुकीं, तो प्रजा, ब्राह्मण और राज्य के वृद्धों ने विरोध कर दिया।[१] वह राजा नहीं बन सका। जनता की राय मानी गई।

जातक-युग में भी यही नियम था। एक राजकुमार जो राजा का एकमात्र पुत्र था, दुष्ट स्वभाव का था। उसे अमात्यों ने नदी में डुबो दिया। यह कथा जातक में है। राजा ने इस कार्य के लिए अमात्यों को कुछ भी नहीं कहा। वही राजकुमार जब राजा हुआ, तो उसने अपने एक उपकारी तपस्वी को बँधवाकर सड़कों पर कोड़े लगवाते हुए शूली दे देने का आदेश दिया। उस तपस्वी ने उसे डूबने से बचा लिया था। तपस्वी की दशा देखकर नगर के लोगों ने पूछा—'तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार राजा क्यों कर रहा है?' तपस्वी ने बीती कहानी दुहराई, तो प्रजा बिगड़ खड़ी हुई। नगर निवासियों ने सोचा—'जो मित्रद्रोही राजा, इस प्रकार के गुणवान्, प्राणदान देनेवाले व्यक्ति का उपकार मात्र भी नहीं मानता, वह हमारी क्या उन्नति करेगा!'

तीर, धनुष, तलवार, फरसा लेकर प्रजा ने राजा को घेर लिया। वह हाथी पर बैठा था। उसे मारकर खाई में फेंक दिया गया और उसी तपस्वी का अभिषेक करके राजा बना दिया।[२]

इससे अधिक चमत्कारपूर्ण गाथा और क्या हो सकती है। राजा वेण को भी ऋषियों ने ब्रह्मदण्ड से मार डाला और उसके पुत्र पृथु को गद्दी पर बैठा दिया था। यह कथा भी पुरानी है।

जातक में एक दूसरी गाथा इस प्रकार है—एक राजा था, जिसे एक सुन्दरी स्त्री मिली। उसने राजा को प्रसन्न करके 'राष्ट्र का धन और हुकूमत' माँगा। राजा ने उत्तर दिया—'भद्रे, सारे राष्ट्र के निवासियों पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है। मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। हाँ, जो राजाज्ञा के विरुद्ध कोई काम करते हैं, उन्हीं का मैं स्वामी हूँ। मैं तुझे राष्ट्र का ऐश्वर्य और हुकूमत नहीं दे सकता।'[३]

इस गाथा से स्पष्ट होता है कि राजा अपने को उन्हीं का स्वामी मानता था, जो राजाज्ञा का उल्लंघन करते थे—उनपर वह शासन करता था, उन्हें दण्ड देता था। शान्त प्रजा बिलकुल स्वतन्त्र थी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह परमोज्ज्वल रूप हम जातक-युग में देखते हैं। पातकी के लिए ही 'यमदण्ड' होता है, उसी के लिए धर्मराज यमराज बनते हैं, न कि पुण्यात्माओं के लिए।[४]

---

१. महाभारत, उद्योग-पर्व, अ० १४९, श्लोक २२-२३

२. सच्चंकिर जातक।

३. तेलपत्त जातक।

४. अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं॥—तेलपत्त जातक।

जिसका चित्त आसक्ति-रहित है, स्थिर है और पाप-पुण्य से परे है, उस जागरूक पुरुष को भय कैसा?

महाभारत-युग में राजशक्ति ने जन-शक्ति को चबा डाला था[१]। दुर्योधन की कोई मन्त्री-परिषद् न थी—वह स्वयं सब कुछ था। भीष्म, विदुर आदि सत्पुरुष उसके मन्त्रियों में थे; किन्तु उनकी एक नहीं चलती थी। मन्त्री-परिषद् दरबार बन चुकी थी और राजा जो चाहता था, वही होता था। कंस ने बच्चों का वध किया और वह भी अपनी ही बहन के बच्चों का; किन्तु न तो मन्त्रियों ने कुछ कहा और न जनता ने। दुर्योधन ने अपने बड़े भाई की पत्नी को खुली सभा में नंगी करके अपनी जाँघ पर बैठाने का प्रयत्न किया, किन्तु भीष्म, द्रोण, विदुर-जैसे नीतिमान् पुरुष साँस रोके बैठे रहे, उन्होंने विरोध में सभा-त्याग भी नहीं किया। इन घटनाओं के साथ एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि नियमानुसार मन्त्री उसी राज्य का व्यक्ति हो सकता है;[२] किन्तु दुर्योधन ने बाहर के गिरे हुए लोगों को अपना मन्त्री बनाया था[३]। जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्र इस तरीके को बुरा समझते थे,पर लाचार थे। राज्य के बाहर का व्यक्ति यदि मन्त्री होता है, तो उसपर दायित्व क्या है ? राजा और जनता को एक में जोड़नेवाला मन्त्री होता है, किन्तु बाहर का व्यक्ति किसका नेतृत्व करता है ? वह केवल राजा की मर्जी की रक्षा करके अपना पद जिलाये रखता है। ऐसी अवस्था में तानाशाही का सिर उठाना कोई अचरज की बात नहीं है। महाभारत-युग में जो दोष आ गया था, उसका पता जातक-युग में नहीं चलता। जातक-युग की जनता बलवान् दीख पड़ती है। पुराने ग्रन्थों के क्रमबद्ध अध्ययन से यह पता चलता है कि बहुत बार जन-शक्ति राज-शक्ति के पैरों के नीचे आ गई थी; किन्तु फिर वह उभरी, ऊपर उठी। जन-शक्ति को दबाकर जब-जब राज-शक्ति ने सिर उठाया धरती पर, उस राज्य में नरक का नमूना उपस्थित हो गया। रामायण-युग के बाद महाभारत-युग आया और महाभारत-युग के बाद बौद्ध-युग। रामायण-युग में जन-शक्ति पूर्ण विकसितावस्था में थी, महा-भारत-युग में वह कुछ मूर्च्छित नजर आती है, महाभारत में कई गणों के संयुक्त शासन का वर्णन आया है (शान्ति० १२।८१)। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज ये पाँच गण थे, जिन्होंने अपने को एक संघ में संगठित किया था। इस संघ के नेता श्रीकृष्ण स्वयं थे। इसके अतिरिक्त अलग-अलग राज्य के अलग-अलग नेता थे, जैसे—भोजों का नेता अक्रूर था, बलदेवजी अक्रूर के दल में थे (शान्ति० १२।८१।१४)। आहुक स्वयं यादव था और उसी नाम के दूसरे दल का नेता भी था (शान्ति० ५।८६)। श्रीकृष्ण के विरुद्ध संगठन भी किया गया था। नारदजी से जब श्रीकृष्ण ने इसकी शिकायत की, तो उन्होंने कहा कि आप संघ के नेता हैं। संघ के आभ्यन्तर भेदों (पार्टीबन्दियों) से ऊपर उठकर संघ को नष्ट होने से बचा लें (शान्ति० १२।८१)।

---

१. परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त जन्मेजय जब राजा बनाया जाने लगा, तो प्रजा की भी स्वीकृति ली गई—'नृपं शिशुं सुतं प्रचक्रिरे संमेत्य सर्वं पुरवासिनो जनाः' (महाभारत, आदि०,अ० ४४, श्लो० ६)। दुर्योधन की तानाशाही समाप्त हो जाने के बाद फिर प्रजा के अधिकार लौटकर प्रजा को मिल गये थे—ऐसा बोध होता है।

२. अस्मैक्षेतः संवृज्यते—ऋग्वेद। जानपदोऽभिजातः—कौटिल्य, अ० १, अ० ९, १

३. महाभारत, शां०, अ० ८३, श्लो० ३८
   ,, ,, अ० ८३, श्लो० १९

यह तो बीच की बात हुई। हम देखते हैं कि जन-शक्ति जो राज-शक्ति के सामने कुचली जा चुकी थी, बौद्ध-युग में उसमें फिर जान आ गई, किन्तु विदेशियों के आने पर वह फिर कुचली गई। इस तरह हम देखते हैं कि पाँच हजार साल के बीच में बहुत बार जन-शक्ति उठी और गिरी। जन-शक्ति को सदा बलवान् बनाये रखना उस शासन-व्यवस्था का काम है, जिसका अस्तित्व ही जन-समर्थन पर है।

कौटिल्य कट्टर साम्राज्यवादी था; किन्तु भारत की राजनीति में यह विशेषता रही है कि राजा 'ईश्वर का अंश' माना जाकर भी जनता का सेवक ही रहता था। जनता 'विराट्' थी, 'विराट्' से बड़ा कोई कैसे हो सकता है। वेदों में 'विराट्' की जो वन्दना की गई है—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति[1]॥

कौटिल्य के मत से[2] प्रजाओं का हित करते रहना और उनकी प्रियता प्राप्त करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि प्रजा की प्रियता प्राप्त किये बिना राजा राज्य का शासन कर ही नहीं सकता। अर्थशास्त्र (छठा अध्याय, प्रथम अधिकरण के तीसरे प्रकरण) में कुछ उदाहरण देकर कौटिल्य ने यह बतलाया है कि काम-क्रोधादि के चलते पूर्व काल में कौन-कौन राजा सबन्धुबान्धव नष्ट हो चुके हैं। दोष ग्रहण कर लेने पर—

तद्विरुद्धवृत्तिवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति॥

जन-शक्ति को कुपित करके राजा या शासक नहीं टिक सकता। वेदों में, रामायण और महाभारत में राज-शक्ति से ऊपर जन-शक्ति को स्थान दिया है। जातक में भी जन-शक्ति को अपनी महिमा के साथ हम देखते हैं और कौटिल्य ने राजाओं को चेतावनी दी है कि भोगों के चक्कर में पड़े कि राज्य भी गया और सबान्धव तुम भी गये। निश्चय ही यह भी जन-शक्ति की ही ओर इशारा है—राजा के नीति-विरुद्ध कार्यों से 'विराट्' कुपित होगा और उसका कोप राज-शक्ति को खाक में देखते-देखते मिला देगा। जातक-युग में जन-शक्ति का यथेष्ट आदर था; क्योंकि स्वयम् भगवान् बुद्ध राजकुल के होते हुए भी गणतंत्र को प्यार करते थे—शरीर से मुक्ति मिलने पर ही आत्मा की मुक्ति होती है—गुलाम को स्वर्ग-लाभ कैसे सम्भव है। जातक-युग में प्रजा 'शासित' न थी—वह 'स्वामी' थी और राज-शक्ति के ऊपर उसकी शक्ति थी।

राज्य

ऋग्वेद के समय का भारत सभ्यता और भीतरी संगठन की सीमा पर पहुँच चुका था।

१. अथर्व, कां० ८, सू० १०, अनु० ६, १

हिन्दू-राज्य 'सप्तात्मक-शासक' कहा जाता था, जिसमें 'राष्ट्र' यानी प्रजा का प्रमुख स्थान था।
—महाभारत, शान्ति०, अ० ६९, श्लो० ६४—६५

२. अर्थशास्त्र, अधि० १, अध्या० ५, प्रक० २, ८

पाँच भागों में विभक्त या संगठित भारत का जो चित्र हमारे सामने आता है, वह गौरवपूर्ण है। गृह[१] (अथवा कुल), ग्राम[२], विश्[३] (प्रजा या कबीला), जन[४] और राष्ट्र[५]—ये वे पाँच अंग हैं जिनके योग से ऋग्वेदकालीन भारत का सम्यक् विकास हुआथा। पहले घर, घरों का समूह—मिलजुलकर बसने की भावना से गाँव, गाँवों से बड़ा विश्, विश् से बड़ा जन और फिर देश या राज्य के लिए 'राष्ट्र'—यह एक क्रमिक विकास का संक्षिप्त रूप है। हम जातककालीन भारत की संस्कृति के विषय में लिख रहे हैं और बतलाना चाहते हैं कि जातककालीन संस्कृति प्राचीन धारा की अविच्छिन्न विकसित रूप थी, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। एक ही युग, जिसे हम वैदिक युग कहते हैं; एक ही संस्कृति, जिसे वैदिक युग की संस्कृति कहते हैं; एक ही विचार-धारा, जिसे हम वैदिक युग की विचारधारा कहते हैं, वह रामायण एवं महाभारत-युग को पार करती हुई जातक-युग में आई और फिर ये सारी विशेषताएँ कौटिल्य को सराबोर करती हुई हमारी तरफ बढ़ गईं। जैसा कि हमने बार-बार कहा है, इस परम्परा की संस्कृति के बाह्यरूप में परिवर्त्तन आ गया है, किन्तु मूल तो वही है, जो था। एक युग का ज्ञान-विज्ञान दूसरे युग में जाता है, किन्तु उसका बाह्य चोला बदल जाता है, अतः उसे 'नया' कहना धोखा देना है या धोखा खाना है। इस परिवर्त्तन को ऋग्वेद[६] ने भी स्वीकार किया है। एक ऐसा भी वचन मिलता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वं अनुज्ञाताः स्वयम्भुवाः ॥

पूर्व युग की समाप्ति पर गुप्त हुए वेदों (ज्ञान) को इतिहासों (परम्परा) के समेत इस युग के ऋषियों ने (पुनः) प्राप्त किया।

"ऋग्वेद के युग में सभ्यता का केन्द्र पश्चिम से—जहाँ पंजाब में पंचजन लोगों का निवास था—पूर्व की ओर, जहाँ सरस्वती और दृषद्वती दोनों नदियों के बीच में भारत 'जन' की स्थिति थी, विस्तारोन्मुख रहा। किन्तु, इस उत्तर-युग में सभ्यता के पूर्व की ओर प्रसार की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से पूरी हो चुकती है। उसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था, जिसके दक्षिण में 'खाण्डववन', 'तूर्घ्न' और पश्चिम में 'परीनः' था। इसी केन्द्र के चारों ओर—जो पीछे 'मध्यदेश' कहलाया और जिसमें कुरु-पंचाल सम्मिलित थे—'शवस्', 'उशीनर', उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र तथा सात्वत दक्षिण में बसे हुए थे।"

---

१. ऋग्वेद—१०।१७९।२; ३।५३।६; २।४२।३; ७।५६।१६; १०।१०६।५; २।३८।८
२. ऋग्वेद—१।४४।१०; १०।९०।८; ३।३३।११; १०।६२।११
३. ऋग्वेद—१।३७।८
४. ऋग्वेद—८।८४।२; २।२६।३; १०।९१।२; ८।६।४६; ३।५३।१२; ३।४३।५
५. ऋग्वेद—४।४२।१; १०।१०९।२; ५।५३।११
६. ऋग्वेद (१।१०९।२)—'स्तोमं जनयामि नव्यम्।'
　„　„ (६।८।५)—'युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्नेरयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।'
　दूसरे मन्त्र का अर्थ है—'प्रत्येक युग में नवीन कहे जानेवाले अग्नि ! हमें नवीन-नवीन ऐश्वर्य और यश प्रदान करो।' यह अग्नि प्रकाशमान 'ज्ञान' ही तो है।

उपर्युक्त मत प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का है। देश का विस्तार जब शुरू हुआ, तब आर्यों ने नये-नये जन-पद और जन की स्थापना करनी प्रारंभ की। कुरु-पंचाल दूसरे राज्यों में मुख्य थे[१]। दूसरा राजा प्रवाहण जैवलि था, जो सदा पांचाल-परिषद् में उपस्थित रहता था[२]। परीक्षित और जन्मेजय के समय में कुरु-पंचाल की उन्नति सीमा पार कर गई थी। इसकी राजधानी 'असन्दीवति' थी।[३] दो प्रधान नगर भी थे, जिन्हें मण्णार[४] और करोती[५] कहा जाता था।

कोसल, काशी, विदेह—ये तीन राज्य वैदिक संस्कृति के केन्द्र थे। डॉ राधा-कुमुद मुखर्जी का मत है कि विदेघ माथव[६] के......पुरोहित और पथ-प्रदर्शक गोतम राहूगण नामक ऋग्वेदकालीन ऋषि था, जो यह सिद्ध करता है कि आर्य-सभ्यता का पूर्व की ओर प्रसार ऋग्वेद के समय में ही हो चुका था।

मगध और अंग (वर्त्तमान पश्चिम-बंगाल) आर्य-सभ्यता के प्रसार-क्षेत्र के अन्तर्गत ही थे। निश्चय ही कुरु-पंचाल से यह प्रदेश दूर पड़ता था।

उशीनर, मत्स्य,कुरु, पंचाल, काशी और विदेह[७] आर्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले सभी देशों में प्रमुखता रखते थे। हमारा विषय दूसरा ही है, अतः इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालना यहाँ उचित नहीं।

जातक-युग में जिन राज्यों का वर्णन है, उनकी जड़ें वैदिक युग में ही जम गई थीं और जिस आर्य-संस्कृति का चित्र हम जातक-युग में देखते हैं, वह संस्कृति वैदिक युग में ही पूरी तेजी से भारत के इस छोर से उस छोर तक फैल चुकी थी। रामायण-युग और महाभारत-युग उसी संस्कृति के पवित्र-प्रकाश से जगमगाता हुआ नजर आता है। वही प्रकाश जातक-युग को भी चमकाने में सहायक हुआ। हजारों वर्षों की रगड़ से उस संस्कृति के स्वरूप में जरूर कुछ फर्क पड़ गया; पर उसकी आत्मा तो अमर थी, अमर है। जातक-युग का भारत श्री-सम्पन्न था और बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। बड़ी खूबी से भारत को कई भागों में बाँटकर शासन-व्यवस्था को दृढ़ किया गया था। पहले तो सारा भारत ३ भागों में विभक्त था—

१. महामण्डल	९०० योजन
२. मध्यमण्डल	६०० योजन और
३. अन्तर्मण्डल	३०० योजन

ये थे तीन मण्डल, जिनके अन्तर्गत सारे भारत का क्षेत्रफल (सम्पूर्ण जम्बूद्वीप) १००० योजन था। इसके बाद पाँच प्रदेश थे और सोलह महाजन-पद। पहला प्रदेश था—मध्यमदेश।

१. शतपथ, कां० ३, अ० २, ब्रा० ३, १५
२. छान्दोग्य०, ५।३।१। बृहद्० ६।२।१-७
३. शतपथ, कां० १३, अ० ५, ब्रा० ४, २
४. ऐत०, ब्रा० ८, २३, ३
५. शतपथ, कां० ९, अ० ५, ब्रा० २, १५
६. 'हिन्दू सिविलिजेशन'
७. कौषीतकि ब्राह्मण-उपनिषद्, ४।१

(१) मध्यम देश

इस मध्यम देश में—काशी, कोसल, अंग (वर्त्तमान पच्छिम-बंगाल), मगध (वर्त्तमान गया-पटना जिला), वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, आवश्यक और अवन्ति नामक देश पड़ते थे। मध्यम देश ३०० योजन लम्बा और २५० योजन चौड़ा था तथा इसका परिमण्डल ९०० योजन था। शेष दो जनपद गन्धार और कम्बोज उत्तरपथ में पड़ते थे। विनयपिटक के अनुसार मध्यम देश—पूर्व दिशा में कजंगल निगम, पूर्व-दक्षिण दिशा में सलिलवती नदी, दक्षिण में सेतकण्णिक निगम[१], पच्छिम दिशा में थूण[२] नामक ब्राह्मणों का प्रसिद्ध गाँव या इलाका था। उत्तर में था उसीर-ध्वज[३] पर्वत।

अंग-जनपद की राजधानी चम्पा थी। चम्पापुर 'महापरिनिब्बान सुत्त' के अनुसार भारत के छह बड़े नगरों में से था। अंग-जनपद में ८० हजार गाँव थे। महागोविन्द सुत्त से यह स्पष्ट होता है कि अंग की असाधारण महत्ता थी—वह भारत के सात बड़े राजनीतिक भागों में से एक था। एक युद्ध हुआ और मगध-सम्राट् सेनिय बिम्बिसार ने अंग को मगध के अधीन कर दिया। भगवान् बुद्ध के पूर्व यह अंग एक शक्तिशाली राज्य था। चम्पा से व्यापारी नदी और सागर से होकर 'स्वर्ण-भूमि' (लोअर बर्मा) जाते थे। आपण नाम का भी एक नगर अंग में था, जो राज्य के व्यापार का केन्द्र था।

मगध-जनपद वर्त्तमान गया जिला और पटना जिला माना जाता था। इसकी राजधानी गिरिव्रज (राजगृह) थी। जिन पहाड़ियों से यह राजधानी घिरी थी—ऋषि-गिलि, वेपुल्ल, वेभार, पाण्डव और गृद्धकूट ये पाँच पहाड़ियाँ थीं। एक नदी भी नगर से होकर जाती थी—'तपोदा'। इस जनपद के प्रसिद्ध नगर थे—एकनाला नालकग्राम, खाणुमत, और अन्धकविन्द। वज्जि और मगध—इन दोनों जनपदों के बीच पुण्यतोया गंगा थी। जातक-कथाओं में नालन्दा-महाविद्यालय की कहीं चर्चा नहीं आई। तक्षशिला की प्रशंसा स्थान-स्थान पर है। भगवान् बुद्ध की दृष्टि में भी तक्षशिला का गौरव था। पाटलिपुत्र का अस्तित्व भी बाद में आया। वज्जि-गणतन्त्र पर आक्रमण करने के लिए पाटलिग्राम का विकास अजातशत्रु ने किया था[४]। अशोक के समय में पाटलिपुत्र धरती का स्वर्ग बन चुका था। इसे प्यार से पुष्पपुर भी कहते थे—'फूलों की नगरी'। वैशाली वज्जि-जनपद की राजधानी थी। यह वैशाली मुजफ्फरपुर जिले में है। वैशाली एक विशाल नगरी थी। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार इस नगर को तीन बार सँवारा गया, इसे फैलाया गया। करीब ८००० तो विशाल महल-मकान थे, इतने ही कोठे थे, इतने ही नजरबाग (उद्यान-गृह) थे, इतने ही तालाब भी थे। कैसा सुन्दर होगा वह नगर—प्रत्येक इमारत से लगा हुआ एक सुहावना नजरबाग, बाग में स्वच्छ जल से भरा तालाब! नगर के बीच में एक विशाल संसद्-भवन[५]

---

१. हजारीबाग जिले का स्थान।
२. वर्त्तमान थानेश्वर नगर।
३. विनयपिटक ५।३।२
४. महापरिनिब्बान सुत्त २ (पाटलिपुत्र का निर्माण) सु० ३७ से ३९ तक द्रष्टव्य।
५. परिनिब्बान सुत्त ६६—'लिच्छवी परिसं तवातिंसा सदिसन्ति।'

(पार्लियामेंट) था। भगवान् बुद्ध ने लिच्छवियों को 'स्वर्ग के देवता' कहा है। इस महान् गणतन्त्र को बुद्ध भगवान् के महापरिनिर्वाण के केवल तीन वर्ष बाद ही अपने ब्राह्मण मन्त्री वर्षकार के द्वारा फूट डलवाकर मगधसम्राट् अजातशत्रु ने बर्बाद कर दिया !!!

मल्ल गणतन्त्र जनपद था और उसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी। देवरिया जिले का कुशीनगर ही 'कुशीनारा' था। फाजिलनगर—सठियाँव 'पावा'। कुशीनारा के खण्डहर आज भी हैं, जो कुशीनगर के अनुरधवा गाँव में हैं।

चेदि-जनपद यमुना के किनारे (निकट) था। यह वर्त्तमान बुन्देलखण्ड को लिये हुए फैला हुआ था।

वत्स, कुरु आदि भी थे। उनका विस्तार से वर्णन करना कठिन है। इस पर तो एक स्वतन्त्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है। मध्यमदेश जो प्रथम प्रदेश था, बहुत ही गौरवपूर्ण और भरा-पूरा था। केवल २५०० साल पहले का यह चित्र है!

उत्तरापथ की पूर्वी सीमा पर ही थूण-ग्राम था, जो उत्तर में हिमालय तक फैला हुआ था---यह ब्राह्मण-जनपद था। उत्तरापथ इन दो महाजनपदों में विभक्त था—

(२) उत्तरापथ

गन्धार और कम्बोज। गन्धार की राजधानी विश्वविख्यात तक्षशिला थी। वर्त्तमान पेशावर (पाकिस्तान) और रावलपिण्डी (पाकिस्तान) के जिले गन्धार-जनपद में थे। तक्षशिला का राजा मगध-सम्राट् को भेंट और नजर भेजा करता था। कश्मीर-राज्य गन्धार-जनपद के अधीन था—अशोक-काल में यहाँ बुद्धधर्म का प्रचार हुआ। हुएनत्सांग के यात्रा-वर्णन और अशोक के शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि वर्तमान राजौरी (सीमाप्रान्त का हजारा जिला) कम्बोज-जनपद था।

इस प्रकार—अरिट्ठपुर (वर्त्तमान पंजाब का शेरकोट-प्रदेश), तक्षशिला (वर्त्तमान रावलपिंडी जिला में), सागल (वर्त्तमान पंजाब का स्यालकोट) आदि सम्पन्न जनपद जातक-युग के भारत में थे।

(३) अपरान्तक

वर्त्तमान सिन्ध, पश्चिमी राजपूताना, गुजरात, नर्मदा के वेसिन के कुछ भाग मिलाकर अपरान्तक-प्रदेश बना था। वाणिज ग्राम, भड़ौच, महाराष्ट्र, सूरत, लाट-राष्ट्र अपरान्तक-प्रदेश में थे। सुप्पारक राजधानी थी।

(४) दक्षिणापथ

आचार्य बुद्धघोष के मत से दक्षिणापथ गंगा से दक्षिण और गोदावरी से उत्तर का सारा भाग था। दक्षिण-कोसल भी दक्षिणापथ में ही था। प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर इसका उल्लेख मिलता है। वर्त्तमान विलासपुर, रामपुर और सम्भलपुर के जिले तथा गंजाम के कुछ भाग दक्षिणापथ में पड़ते थे। इस दक्षिणापथ में कई बन्दरगाह भी थे। अमरावती, भोज, दमिलरठ, कलिंग, वनवासी आदि प्रमुख नगर-ग्राम दक्षिणापथ में थे। कलिंग-राष्ट्र इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग था, जिसे जीत लेने के लिए सम्राट् के रूप में अशोक गया, पर वहाँ से संत के रूप में लौटा। कलिंग की राजधानी दन्तपुर नगरी थी। दमिलरठ (द्रविडराष्ट्र) में कावेरी-पट्टन बहुत ही सम्पन्न बन्दरगाह था, जो मालाबार के आसपास कहीं पर था।

प्राच्य-प्रदेश की सीमा पर कजंगल निगम, अंग और मगध-जनपद बहुत ही सम्पन्न थे। प्राच्य-प्रदेश में ही वंग-जनपद (सम्पूर्ण बंगाल) पड़ता था। प्रसिद्ध ताम्रलिप्ति बन्दरगाह भी था, जो मिदनापुर के अन्तर्गत 'तामलुक' परगना के नाम से आज विख्यात है। इसी बन्दरगाह से अशोक ने संघमित्रा और महेन्द्र को बोधिवृक्ष की एक टहनी के साथ लंका भेजा था। यहाँ एक विशाल विश्वविद्यालय भी था। लंका में प्रथम भारतीय उपनिवेश स्थापित करनेवाला वंग का राजा सिंहबाहु था।

(५) प्राच्य

यह है जातक-युग के राज्यों का संक्षिप्त वर्णन। जातक-युग के भारत को स्वर्ण, रत्न, विद्या, त्याग और तपस्या से अलंकृत भारत कहा जा सकता है। वह युग ही कुछ ऐसा था कि न केवल भारत में ही, बल्कि संसार में एक-से-एक श्रेष्ठ पुरुषों का अवतार हुआ। भारत में पार्श्वनाथ, महावीर, भगवान् बुद्ध; यूनान में पीथागोरस, अरस्तू; चीन में लाओत्से और कन्फ्युसियस और ईरान में जरथुस्त्र। तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से संसार के लिए और विशेष रूप में भारत के लिए वह युग ईश्वर का वरदान था।

शासन-प्रणाली

जातक-युग में राज्यों की शासन-प्रणाली क्या थी, यह प्रश्न स्वाभाविक है। वेदों के मनन से यह प्रमाणित हो चुका है कि आर्य-जाति के रक्त में गर्हित गुलामी का कोई स्थान न था—हाँ, राजा की कल्पना वह करती थी। राजा 'गुणों का रक्षक' के रूप में था और स्वयं भी गुणों का धारण करनेवाला होता था। जनता के गुणों का विकास करना, आपदाओं से रक्षा करना और धर्म से किसी को विमुख न होने देना, राजा का मुख्य कर्त्तव्य था। यह दूसरी बात है कि जनता ने गलत आदमी को अपना रक्षक चुन कर एक दो या पचास बार धोखा खाया हो।

आदि-युग में जब वेदों के अनुसार केवल 'विराट्' था, तब यहाँ एक साम्य-संघ था, जो सभी मिल-जुलकर उत्पादन करते और आपस में बाँट लेते थे। 'यज्ञ' शब्द वेदों में शताधिक बार आया है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु में न प्रत्यय लगाकर बनता है; किन्तु श्रीपाद अमृत डाँगे का विचार है कि यह शब्द नहीं है—एक पूरा वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ होता है—'वे आपस में मिलते हैं और (मिल-जुलकर) उत्पन्न करते हैं।' य, ज और न—इस वाक्य (यज्ञ) के तीन अंश हैं। 'इ' धातु का अर्थ होता है—जाना, एकत्र होना; 'ज' का अर्थ पैदा करना या उत्पादन करना। 'न' अन = अन्त—ये तीन प्रत्ययों में से किसी एक के लगने पर अन्यपुरुष बहुवचन के रूप बनते हैं। सब मिला कर जो वाक्य बनता है, वह बहुत ही चमत्कारपूर्ण है—वे आपस में मिलते हैं और उत्पादन करते हैं।[१]

'यजुर्वेद' में यजुस् अथवा यजुर् शब्द भी शब्द न होकर एक वाक्य है। यज्

---

१. प्रसिद्ध साम्यवादी विद्वान् श्रीपाद अमृत डाँगे ने अपनी विख्यात पुस्तक "भारत' में यज्ञ का ऐसा ही अर्थ किया है। देखिए—'भारत', अध्याय ४; यज्ञ, ब्रह्म और वेद-प्रकरण।

और उस् या उर्—अन्यपुरुष बहुवचन के रूप का प्रत्यय है। पूरे वाक्य का अर्थ वही होता है—'वे एकत्र होकर मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं'। बाद में यह वाक्य संज्ञा मात्र रह गया, जिसका अर्थ हुआ उत्पादन की प्रणाली। इसी प्रणाली का ज्ञान वेद है। डाँगे का यही मत है। जो हो, किन्तु आरंभ में कोई राजा न था, साम्य-संघ था और सबके लिए सब कोई प्रयास करते थे—न व्यक्तिगत सम्पत्ति थी और न पूँजी। वेदों में ऐसे मंत्रों की बहुलता है, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सब कोई मिलकर अर्जन और अर्जित द्रव्य का उपभोग करें[१]। यह यज्ञ क्या है? जबतक आर्यों में निजी सम्पत्ति, वर्ग और शासन-सत्ता का जन्म नहीं हुआ, तबतक की उनकी प्राचीन उत्पादन-प्रणाली का नाम है। सत्र और ऋतु-यज्ञ का अस्तित्व तबतक रहा जबतक उनमें निजी सम्पत्ति आदि का विकास नहीं हो पाया। बाद में यज्ञ का यथार्थ रूप बदल गया और वह केवल विधि, पूजा या देवता की तृप्ति, पुरानी परम्परा को येन-केन प्रकारेण कायम रखने की एक निर्जीव पद्धति के रूप में जातक-युग तक रहा, जिसका विरोध बुद्ध भगवान् को भी करना पड़ा। इस तरह विधि-कर्म का यज्ञ असली यज्ञ की एक विडम्बना मात्र ही रह गया, जिसे किसी-न-किसी रूप में आज तक ढोया जा रहा है। यज्ञ और आदिम संघ से ही समाज का जन्म हुआ। उस युग में शासन-व्यवस्था का भार समूहों के मुखिया करते रहे होंगे। एक समूह के अपने रीति-रिवाज रहे होंगे और दूसरे के दूसरे रिवाज होंगे। मुखिया या पुरोहित जो भी रहे हों, रीति-रिवाजों का संरक्षण करते होंगे और बेतुके आदमियों को दंड भी देते होंगे, जिससे अव्यवस्था न फैले। इधर-उधर घूमनेवाले आर्यों का जीवन उतना उलझा तो रहा नहीं होगा, जो तरह-तरह के कायदे कानूनों का जाल वे बुनते। जब वे घरों में बसे, गाँव आदि अस्तित्व में आये तब उनकी जरूरतें बढ़ीं—कायदे-कानून बढ़े, मात्स्य न्याय के अनुसार एक दूसरे को निगलने की कुप्रवृत्ति पैदा हुई, राजा की आवश्यकता हुई, दृढ़ शासन का प्रयोजन पड़ा, धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों का निर्माण हुआ और बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हो गई। आदि साम्य-संघ तहस-नहस हो गया—व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने तरह-तरह की विडम्बनाओं को सामने लाकर खड़ा कर दिया। यह क्रम आज तक है। केवल कल्पना के स्वप्नों के धरातल पर सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं हुआ करता। यदि यज्ञ केवल पूजा-विधि होता, तो उसके द्वारा आर्य-जाति का चरम-विकास नहीं होता।

'ब्रह्म' या 'ब्रह्मन्' शब्द का यज्ञ-कर्म में उल्लेख बार-बार होता है। वेद-कालीन आर्यों का 'ब्रह्म' या 'ब्रह्मन्' धरती पर का जीव था, जब कि उपनिषद् का 'ब्रह्म' दार्शनिकों का सर्वशक्तिमान्, कारणरूप, निर्गुण ब्रह्म बन गया[२]। संसार के वे विद्वान्, जिन्होंने वेदों के सम्बन्ध में काफी परिश्रम किया है, इस ब्रह्म या ब्रह्मन् को लेकर काफी व्यग्र रहे। हॉग, एगिलिंग, हिलेब्रॉट, केतकर, तिलक इन सभी विद्वानों ने

---

१. ऋग्वेद-संहिता का अन्तिम सूक्त 'संज्ञान-सूक्त' या 'ऐक्यमत्य-सूक्त' है। सब मिलाकर चार ही मंत्र हैं, जो इस विषय को प्रमाणित करते हैं।—ले०

२. वेदान्त-दर्शन—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—के बाद कहा है—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (१।१।२२)। मुंडक० २।१।२

ब्रह्म या ब्रह्मन् की छान-बीन की है। 'हॉग' ने तमाम अर्थों को एक जगह जमा कर दिया, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि वेदों का ब्रह्म या ब्रह्मन् उपनिषदों या वेदान्त-दर्शन के ब्रह्म से भिन्न था। वह इनमें से कोई था—

(१) अन्न या अन्नवलि;
(२) सामवेद के गायक का संगीत, उच्चारण या वेद-पाठ;
(३) अभिचार (जादू) का एक सूत्र;
(४) वेद-पाठ और दक्षिणा;
(५) होतृ या वेद-पाठ और
(६) महान्।

ऋग्वेद में 'ब्रह्मनस्पति' की स्तुति आती है। सायणाचार्य ब्रह्मन् का अर्थ—'अन्न' करते हैं। ब्रह्मनस्पति हुआ अन्न का स्वामी। प्रसिद्ध विद्वान् राजवादे के मतानुसार ब्रह्म या ब्रह्मन् 'ब्राह्मणों अथवा ऋषियों का नेता था—साम्य-संघ के सदस्यों का नेतृत्व करनेवाला [१]।' इतनी माथा-पच्ची के बाद एक प्रकाश तो मिला। आदि साम्य-संघ का नेता ब्रह्मन् था। निश्चय ही यह संघ पर शासन करता होगा और इसके अनुशासन में संघ के सभी सदस्य रहते होंगे। ऐसे नेता का वर्णन ऋग्वेद में आया है। आदि-युग की शासन-प्रणाली का श्रीगणेश इसी रूप में होता है। जातक-युग के बौद्ध संघ की भी यही तस्वीर है। वैदिक-युग के साम्य-संघ भी चलते-फिरते रहते थे—ऋतु या चरागाह की अनुकूलता खोजते हुए वे इधर-उधर (कबीलों की तरह) घूमा करते थे। वे अपने साथ यज्ञ का पंडाल भी लिये फिरते थे, जो चार पहियोंवाले एक चौकोर तख्ते पर बनाया जाता था—जिसमें अग्नि की स्थापना की जाती थी। वह सचल यज्ञ-वेदी थी[२]। उस संघ का नेता होता था 'ब्रह्मन्'। उसी तरह बौद्ध-संघ भी घूमता रहता था और उसका भी नेता होता था। अन्तर यही है कि वैदिक साम्य-संघ में बाल-बच्चे भी होते थे; किन्तु बौद्ध संघ में स्वेच्छा से घर छोड़कर 'शासन' में आनेवाले भिक्खु थे। साम्य-संघ अपने नेता के द्वारा रक्षित और शासित था और भिक्खु-संघ भी अपने नेता के द्वारा रक्षित और शासित था। दोनों में विचित्र साम्य है। ऐसा लगता है कि वैदिक-साम्य-संघ के आधार पर ही भिक्खु साम्य-संघ की स्थापना की गई थी। आखिर भिक्खुओं का संघ भी तो साम्य-संघ ही था।

हाँ, तो हम यही कह रहे थे कि आदि साम्य-संघ के बाद ही बड़े-बड़े राज्य अस्तित्व में आये; किन्तु स्वतन्त्रता का उपयोग करनेवाले आर्यों में गुलामी के तत्त्वों का विष नहीं फैला था, अतः उनकी शासन-व्यवस्था काफी उदार थी और गणतन्त्र-शासन पद्धति को उन्होंने अपनाया। प्रतिकूल परिस्थितियों के चलते या किसी दूसरे कारणों से आर्यों ने राजाओं का भार लादा। रामायण और महाभारत युग में भी शासन अत्यन्त उदार था और उस युग में भी जनतन्त्र या गणतन्त्र शासन-पद्धति का अस्तित्व था।

---

१. राधामाधव में विवाद—(राजवादे) पृष्ठ १०७ द्रष्टव्य।

२. प्रसिद्ध विद्वान् श्री कुन्ते का यही मत है। उनकी पुस्तक—'आर्य-सभ्यताओं का अवस्थान्तर' द्रष्टव्य है।

बहुत-से ऐसे प्रदेश भारत में थे, जहाँ जनतन्त्रात्मक पद्धति से शासन होता था। यह सिलसिला जातक-युग में भी था और राजाओं के द्वारा शासित प्रदेशों के अतिरिक्त जनता के द्वारा शासित प्रदेश भी थे। जिन-जिन प्रदेशों का शासन जनता करती थी, वे राजाओं के द्वारा शासित प्रदेशों से कहीं अधिक विकसित और बलवान् थे, जैसे वैशाली-गणतन्त्र[१]। किन्तु जातक-युग के बाद से जनतन्त्र का ह्रास आरम्भ हो गया! शक्तिशाली राजाओं का उदय हुआ—अशोक, चन्द्रगुप्त, हर्षवर्द्धन, धर्मपाल आदि। इसके बाद विदेशियों ने अपनी लूट का जो सिलसिला शुरू किया, वह भारत के स्वतन्त्र होने तक बिना रोक-टोक के किसी-न-किसी रूप में चालू रहा!

अब देखना यह है कि वैदिक भारत, रामायण तथा महाभारत-कालीन भारत और जातक-युग के भारत में कुछ एकता थी या नहीं। यह एकता हम उन जनपदों या राज्यों की सूची में देखना चाहेंगे। हम उत्तरकालीन वैदिक भारत को अपने सामने रखकर सोचेंगे। ऋग्वेदीय भारत से उत्तरकालीन वैदिक भारत कुछ भिन्न था। उत्तरकालीन भारत का आभास हमें उत्तरकालीन संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से मिलता है। ऋग्वेद-संहिता मूल ग्रन्थ था, यह आप ध्यान में रखें।

हम यहाँ तीन मानचित्र उपस्थित कर रहे हैं। पहला है—वैदिक भारत का, दूसरा है—महाभारत का और तीसरा है—ईसा से ६०० वर्ष पूर्व के भारत का। इन तीनों मानचित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि तीनों युगों में कौन-कौन से प्रदेश या जनपद थे, जो वैदिक युग में भी थे, महाभारत में भी थे और जातक-युग में भी थे।

पहले हम उत्तरकालीन वैदिक युग के जनपदों और नदियों की चर्चा करेंगे—

सुवास्तु	* शुतुद्रि
आर्जिकिया	मस-हृद्वा
पक्थ	* कोसल
भलन	* काशी
कुभा	प्राच्य
क्रमु	* विदेह
* सिन्धुनदी	सदानीरा
गोमती नदी	मध्यदेश
उदीच्य	* कुरु-पांचाल
* कैकेय	* मगध
यदु	* सरस्वती नदी

१. हेगेल (साम्यवादी दार्शनिक) ने अपने एक लेख में वैशाली की चर्चा की है। उसने लिखा है कि लिच्छवि-गणतन्त्र में ७७०७ राजा (Statesman) वैशाली नगर में रहते थे। ये सभी लिच्छवियों के थे। कार्यकारिणी का संचालन इन्हीं के द्वारा होता था—यानी कार्यकारिणी, सभा-अधिकारियों का चुनाव ये ही करते थे। नगर की आबादी १६८००० थी। दो वर्ग थे—बाह्य नागरिक और आन्तरिक नागरिक। ये वैशालीय कहे जाते थे।

* वितस्ता	द्षद्वती नदी
* उत्तरकुरु	परुष्णी
* उत्तर-भद्र	श्रृंजय
असिक्नी	उक्त ३४ वैदिक नामों में से १३ नाम महा-
अनु	भारत में भी मिलते हैं। उत्तर-वैदिक
तुर्वसु	काल का भारत महाभारत-युग के भारत से
द्रुह्यु	छोटा था और महाभारत-युग के
त्रिक्कुद	भारत से जातक-युग का भारत करीब-
* विपासा-नदी	करीब बराबर है।

उत्तर-वैदिक भारत के ३४ जनपदों और नदियों के नामों में से १३ महाभारत-कालीन भारत में हैं और जातक-कालीन भारत में भी ये नाम आये हैं—

सिन्धुनदी, उत्तर कुरु, कोसल, प्राच्य (महाभारत में यह नाम नहीं है), मध्यदेश (यह नाम भी महाभारत में नहीं है), कुरु-पांचाल, मगध और सरस्वती।

कुरु और पांचाल अलग-अलग जातक-कालीन भारत में मिलते हैं। ये ८ नाम वैदिक युग के ३४ नामों में से हैं जो जातक-युग में भी ज्यों-के-त्यों थे। जातक कालीन भारत में, जैसा कि हमने कहा है, भारत ३ मण्डलों और ५ प्रदेशों तथा १६ जनपदों में विभक्त था। वैदिक युग का 'प्राच्य' महाभारतकालीन भारत में 'प्राच्य' नहीं था। बीच में रामायण-युग छूट गया। रामायण-युग की भौगोलिक सीमा विन्ध्याचल से बहुत आगे तक नहीं है और दक्षिण में दण्डकारण्य, बस। हाँ, आर्य-सभ्यता लंका तक फैल गई थी। रावण आर्य-सभ्यता के आदर्शों को मानता था।

इन तीन मान-चित्रों के देखने से स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक युग के नगर और नदियों के नाम महाभारत-युग से होते हुए (कुछ कम होकर) जातक-युग तक आ गये[1]। जातक-युग में गणराज्यों के अस्तित्व का पता तो चलता है, किन्तु शासन-प्रणाली का कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थों का यदि सावधानी से अध्ययन किया जाय, तो यह आभास मिलता है कि उस समय नाम-मात्र के पूर्ण विकसित गणतन्त्र-राज्यों के अतिरिक्त कुछ अपूर्ण प्रजातन्त्र राज्य बच रहे थे। प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर डेविड्स[2] का यही मत है, जो उन्होंने अत्यन्त छानबीन के बाद स्थिर किया है। मगध, कोसल, वंस या वत्स और अवन्ती में तो राजा थे और बाकी देश में पूर्ण या अपूर्ण गणतन्त्र

* चिह्नित नाम महाभारत-कालीन भारत में भी पाये जाते हैं। उत्तर-वैदिक काल और महाभारत-युग के बीच में कोई विभाजक रेखा नहीं है। हाँ, महाभारत-युग में आर्यों का विकास पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था।

१. डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी की पुस्तक 'हिन्दू सिविलिजेशन', मूल महाभारत, जातक और भिक्खु धम्मरक्षित की पुस्तक 'बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय' तथा ऋग्वेद-संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थों से सहायता ली गई है।—लेखक

२. 'Buddhist in India', by Davids.

राज्य थे—कोसल की राजधानी श्रावस्ती, वंश या वत्स की राजधानी कौशाम्बी (प्रयाग के निकट कोसम-गाँव), अवन्ती की राजधानी उज्जयिनी। लिच्छवि, मल्ल आदि जातियों का शासन-कार्य सभा (संथागार) में होता था। भगवान् बुद्ध की मृत्यु की सूचना देने के लिए आनन्द मल्लों के 'संथागार' में गया था, जहाँ वे जमा होकर किसी आवश्यक विषय पर विचार कर रहे थे[१]। मगध की राजधानी राजगृह थी। वहाँ का राजा था बिम्बिसार तथा उसका बेटा था अजातशत्रु। प्रोफेसर डेविड्स[२] ने लिखा है—"यह हमें नहीं मालूम कि एक मुखिया कैसे और किस अवधि के लिए कार्यकर्त्ता चुना जाता था जो सभाओं के अधिवेशनों की अध्यक्षता करता था और जब अधिवेशन नहीं होते थे, तब राजकाज चलाता था। राजा की यह पदवी कुछ-कुछ रोमनों के कान्सल या यूनानियों के आर्कन के समान थी।" वैदिक युग में ऐसी बात न थी[३]। उस युग में सभा और समिति के दो अध्यक्ष अलग-अलग होते थे, अतः यह सोचा भी नहीं जा सकता कि दोनों के अध्यक्ष राजा बन कर शासन करते होंगे।

'मनुस्मृति' बौद्धयुग के बाद की रचना मानी जाती है[४]। उसमें शासन की इकाइयों का जैसा वर्णन है, उस वर्णन पर हम बौद्धयुग के शासन-इकाइयों का प्रभाव मान लें, तो इसमें कोई हर्ज नहीं है; क्योंकि अपने आस-पास के युग को बिलकुल बाद नहीं दिया जा सकता—उसकी चिन्तन-धारा पर आस-पास के युग की छाया पड़ती है। मनु के अनुसार शासन की इकाइयों का गठन दशम पद्धति के अनुसार किया गया था। अधिकार एक क्रम था, यही इकाइयाँ थीं—

(१) ग्राम को सबसे छोटी इकाई कह सकते हैं—इसका प्रबन्धक अधिपति कहा जाता था; (२) दस ग्रामों का समूह—इसका अधिकारी 'दशग्रामपति' कहलाता था; (३) २० गाँवों का समूह—विंशतीश इसका प्रबन्धक था; (४) सौ गाँवों का अधिपति—शतेश और (५) सहस्र गावों के समूह का शासक—सहस्रपति[५]। सहस्र गाँवों के स्थान पर समस्त देश का उल्लेख मिलता है। अधिकारियों को 'वृत्ति' दी जाती थी, नकद वेतन नहीं।

अधिपति या ग्रामणी को—अन्न-पान, ईंधन और शाक[६]।
दशी को—एक परिवार के पोषण के लिए भूमि।
विंशतीश को—पाँच परिवारों के लिए पर्याप्त भूमि, इतनी भूमि कि जिसकी जुताई २० हलों से हो।
शतेश को—एक पूरे गाँव की आय और

१. 'बुद्धिस्ट इन इण्डिया', पृ० १९ और 'महापरिनिब्बान सुत्त'।
२. " " "
३. अथर्व, कां० ३, सू० ४। २; कां० ३, सू० २। ३ और १५।९।३
४. डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का यह मत है।
५. 'ग्रामस्याधिपतिं कुर्यात् दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥'—मनु०, ७।११५
६. मनुस्मृति, ७।११८

सहस्रेश को—एक पूरे पुर (नगर) की आय[१]।

शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करते समय हमारे सामने मगध-राज्य का चित्र उपस्थित हो जाता है। बिम्बिसार का शासन संगठित और काफी मजबूत था। प्रधानाधिकारी महामात्य कहलाते थे। शासनकारिणी की मुख्य सभा 'सब्बात्थक' (समस्त अर्थों और कार्यों के प्रति उत्तरदायी), न्यायाधिकारी वोहारिक और सेनाधिकारी सेना-नायक कहलाते थे। बिम्बिसार की दंड-व्यवस्था कठोर थी—कारागृह, अंगच्छेद, अर्थदंड आदि का वर्णन मिलता है[२]। ८० हजार गाँवों के मुख्य ग्रामिक अपनी सभा में एकत्र होते थे। 'विनयपिटक' का ग्रामिक ही मनुस्मृति में ग्रामणी है। एक गाँव पर एक ग्रामणी होता था—मनुस्मृति में ऐसा ही उल्लेख है। बिम्बिसार के राज्य में ८० हजार गाँव थे और 'विनयपिटक' के अनुसार ८० हजार ग्रामिक सभा में जमा होते थे। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति में जो ग्रामणी है, वही 'विनय' का ग्रामिक है।

अब हम लिच्छवियों की संघ-शासन-पद्धति पर एक दृष्टि डालेंगे। लिच्छवी-विधान और शासन में पूर्णता थी। उन्होंने वैदेशिक सम्बन्ध को भी महत्त्व दिया था और उसकी देख-भाल के लिए ९ लिच्छवियों की एक समिति थी। १८ गणराज्यों और ९ मल्लिकों को मिलाकर एक संगठन भी बनाया था। बाहर के आक्रमण के भय से ऐसा संगठन किया गया था[३]। भीतरी शासन के लिए संघ-सभा में ७७०७ राजन्य थे। सम्भवतः संघ-सभा के सदस्य को 'राजा' कहा जाता था। लिच्छवी-गणतंत्र के इन ७७०७ राजाओं का उल्लेख मिलता है—वे परस्पर एक दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं मानते थे और सब कहते थे—मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ[४]। सबका अधिकार बराबर था, वे एक थे। गणसभा में केवल क्षत्रिय होते थे, जो राजन्य (अभिषिक्तराजन्य —पाणिनि, ६।२।३४) कहे जाते थे। कौटिल्य ने भी इन संघों की चर्चा की है, जिसमें राजा उपाधि, संघीय संगठन का मूल आधार थी—'राजशब्दोपजीविनः'। लिच्छवियों के ९ सदस्यों की समिति के सदस्य अलग-अलग चिह्न धारण करते थे—नील, पीत, हरित, मंजिष्ठ, लाल (लोहित) सुफैद (ओदात) या मिश्रित (व्यायुक्त) वर्णों की वेश-भूषा तो धारण करते ही थे, उनके रत्न, घोड़ा, रथ यहाँ तक कि छत्र, चाबुक और जूते तक का भी रंग अलग-अलग होता था। नील वस्त्र पहननेवाले का जूता, छत्र, छड़ी, घोड़ा, रथ, चाबुक—सब-कुछ नील वर्ण ![५]

वैदेशिक कार्यों की देखभाल करनेवाली ९ सदस्यों की समिति और अष्टकुल-समिति न्याय की देख-भाल करती थी। यह न्याय के लिए सबसे ऊँची

१. मनु०, ७।११९
२. विनयपिटक, ७।३।५
३. 'जैन-कल्प-सूत्र', १२८ और 'निर्यावलि-सूत्र', पृ० २७ (वारेन द्वारा सम्पादित)
४. ललितविस्तर, ३।२३—'एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति।'
५. महापरिनिब्बान सुत्त ; अंगुत्तर (पाली टैक्स्ट सोसायटी) २।२३९, महावस्तु, १।२६९; दीघनिकाय, २।९६

समिति थी। यह पता नहीं चलता कि शासन और न्याय—दोनों अलग-अलग थे या नहीं। प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल के बाद अपराधी को इसी अष्ट-कुल-समिति के आगे पेश कर देते थे। जाँच करनेवाले विशेषज्ञ दो प्रकार के थे, विनिश्चय महामात्र और व्यावहारिक। विनिश्चय महामात्र मामलों के तथ्यों का निश्चय और संग्रह करता था और 'व्यावहारिक' वकील था। एक और था—वह था सूत्रधार। यह धर्म, रीति आदि के सूत्रों का पारदर्शी विद्वान् होता था तथा धर्म और रीति-नीति के सूत्रों के परिवर्त्तनशील बाह्य रूप के भीतर छिपे हुए मूल भाव को अच्छी तरह समझ कर व्याख्या करता था एवं न्यायकर्त्ता को प्रकाश देता था। अपराधी को अष्टकुल में दंड प्राप्त हो जाता था। उसे दण्डप्राप्ति के लिए सेनापति, वहाँ के राजा या उपराजा और अन्त में राजा के पास भेज देता था। 'पवेणि-पोत्थक' दण्ड और कानून के लिखित संग्रह के अनुसार दण्ड को नियमित करता था[१]।

पालि-ग्रन्थों[२] में ऐसी बातों का उल्लेख मिलता है कि सभी जमा होकर और खूब वाद-विवाद करके शासन-कार्य चलाते थे। वे सभी शक्ति-सम्पन्न थे और उन पर किसी का प्रभाव न था। संघ के सदस्यों के आपस में तर्क-वितर्क करते रहने का उल्लेख भी मिलता है[३]। वे इसके लिए बदनाम रहते थे कि रात-दिन प्रश्न-प्रतिप्रश्न, तर्क-वितर्क के अतिरिक्त और किसी ओर ध्यान देने की रुचि ही उनमें न थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे सभी मन-प्राण से शासित प्रदेश की उन्नति की ओर ही लगे रहते थे और उनके सामने दूसरा कोई लक्ष्य न था—वे जीवनदानी थे। शरीर और दिमाग दोनों का पूरा-पूरा उपयोग वे शासन को चमकाने में ही करते थे। बहुमत का आदर होता था। जब जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता था, तब बहुमत का आह्वान होता था—नहीं तो आपस में ही वाद-विवाद करके सदस्य मामला निबटा लेते थे। जिसको आज 'डिवीजन' कहते हैं, उसे 'येब्भुय्यस्सिकेन'[४] कहा जाता था (यद् भूयसि क्रिया)। शाक्य संघ की सभा में एक बार ऐसा निर्णय करना पड़ा था कि कोसलराज विड्डभ की, नगर-द्वार खोल कर, अधीनता स्वीकार कर लें या नहीं। जो सदस्य पक्षपात, दोष, मोह और भय से रहित होता था, संघ के विशेष प्रस्तावानुसार मतदान का अधिकारी नियुक्त होता था—उसे शलाका-ग्राहक कहते थे। मतदान को छन्द[५] (स्वतन्त्रता) कहते थे। मतदान में पूरी आजादी रहती थी—आज जैसा पार्टी का 'ह्विप' नहीं होता था। सदस्य अपनी पार्टी के अनुशासन में बँधकर स्वतन्त्रतापूर्वक

१. बुद्धघोष, अट्ठकथा और महापरिनिब्बान सुत्त।

२. देखिए जायसवाल-कृत 'हिन्दू राज्य-तंत्र'; डॉ० सुकुमारदत्त-कृत 'अर्ली बुद्धिस्ट मोनाकिज्म' (केगन पॉल, लन्दन); विनयकुमार सरकार-कृत 'पोलीटिकल थ्योरीज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ हिन्दूज।'

३. 'ते सब्बेपि पटिपुच्छावितक्का अहेसु'—निदानकथा, एकपंच जातक—१४९ तथा चुल्लकालिंग जातक—३०१

४. चुल्लवग्ग, ४।८।९

५. महावग्ग, २।२३; ३।५; ९।३।५; चुल्लवग्ग, ४।१४

अपने 'मत' (vote) का उपयोग किसी भी हालत में नहीं कर सकता, ऐसा उस समय नहीं था। प्रत्येक सदस्य अपने मत के रंग की शलाका चुपके से चुन लेता था, जिसे कोई नहीं जान पाता था।

सभा की कार्यवाही का रेकार्ड भी रखा जाता था[१]। मतदान को अवैध भी घोषित किया जाता था। असमान व्यवहार, वर्ग में बाँटकर या मतदाता की सम्मति (यथादृष्टि) के विपरीत दिये गये मत को अवैध माना जाता था[२]। 'सम्मति के विपरीत' शब्द पर ध्यान दीजिए। किसी प्रस्ताव का किसी सदस्य ने विरोध किया, अपना विरोधी मत व्यक्त किया; किन्तु मत दिया उसके अनुकूल। जातक-युग की सभा ऐसे मत को दबाव या किसी कारण-विशेष से दिया हुआ मानती थी और उस मत को अवैध करार दे देती थी। आज 'मत' का मूल्य है व्यक्ति का, उसके विचार का नहीं। देखा यह जाता है कि सभा या परिषद् में विरोधी मत व्यक्त करनेवाला सदस्य पार्टी के दबाव या अनुशासन का खयाल करके प्रस्ताव के पक्ष में ही मत देता है। यहाँ 'मत' व्यक्ति और उसके विचार—दोनों से अधिक वजन रखता है। इस तरीके से व्यक्ति दो भागों में बँट जाता है। उसने अपनी पार्टी से मानो समझौता कर लिया है कि मैं बोलने की आजादी चाहता हूँ; किन्तु 'मत' सौंपता हूँ। जातक-युग में मत से अधिक महत्त्व व्यक्ति के विचार का था। यहाँ मत शब्द हम 'वोट' के अर्थ में लिख रहे हैं। जातक-युग में बहुत-से विषयों पर 'बहुमत' को ही महत्त्व नहीं दिया जाता था या ऐसे विषयों पर मत लिया ही नहीं जाता था। जैसे—(१) तुच्छ बात के लिए (अवरमात्रक); (२)—जहाँ प्रस्ताव पर निश्चित तरीके से विचार न किया हो; (३) जहाँ विवादग्रस्त विषय भ्रामक हो—सदस्य उसे स्पष्टतापूर्वक समझ न सके हों; (४) यदि मतदान के परिणामस्वरूप संघ के टूट जाने का या धर्म के नष्ट होने की आशंका हो। ऐसी स्थिति में मतदान (डिवीजन) लेना भी वर्जित था—बहुमत का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

एक नियम और था और वह था 'रेफरेण्डम्', यानी समस्त संघ का किसी विशेष विषय के लिए मत लेना। जातक (संख्या १) में कहा गया है कि राजा का चुनाव समस्त नगर (सकल नगर) का मत लेकर किया गया था। 'एकछन्दाः भूत्वा'—नागरिकों ने एकमत होकर अपना मत दिया था। सभा में वही व्यक्ति उपस्थित होता था, जो मतदान का अधिकारी (कर्म्मपनाः) होता था—यानी सदस्य। जातक-युग का संघ[३] (संघीय शासन) अपने क्षेत्र (आवास) के आधार पर सदस्यों के साथ सीधा सम्बन्ध रखने की पद्धति द्वारा प्रजातन्त्रीय रीति से कार्य करता था। यदि अपने राज्य में योग्य व्यक्ति नहीं होता था, तो दूसरे राज्य से योग्य व्यक्ति की उस राज्य के अधिकारी से माँगकर अपने यहाँ पद दे देने का नियम जातक-युग में था।

१. दीघनिकाय, १९।१४; हिन्दू पॉलीटी (डॉ० जायसवाल) पृ० ११२

२. विनयपिटक (ओल्डेनबर्ग)

३. डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का यही मत है। देखिए 'हिन्दू सिविलिजेशन'।

बिम्बिसार के पास पत्र भेज कर एक ऐसे व्यक्ति की माँग कोसलराज ने की थी, जो उस के राज्य के व्यापार को सँभाले।[१] यह पद 'श्रेष्ठी' का होता था, जिसे 'व्यापार-मंत्री' कहा जा सकता है। आज्ञा माँगने पर परिषद् ने सम्राट् बिम्बिसार को अपने यहाँ के सर्व-श्रेष्ठ 'महाकुल' को भेजने से मना कर दिया; क्योंकि वह राज्य के लिए उपयोगी तथा योग्य था। अंग-देश के एक श्रेष्ठी-पुत्र धनंजय को भेजा गया, जिसके लिए परिषद् ने आदेश दे दिया। उसे कोसलराज ने श्रेष्ठी का पद दिया और श्रावस्ती से ७ योजन ऊपर साकेत-नगर में उसे बसा दिया—और नागरिक अधिकार दे दिया। कोसल-राज्य निवासी होने के कारण अब धनञ्जय की राष्ट्रीयता बदल गई। वह मगध-राज्य के प्रति उत्तरदायी न रहकर कोसल-राज्य के हित के ही कार्य सोचने और करने को प्रस्तुत हो गया। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, जो जातक-युग में थी।

सारे गाँव को सजा देने के लिए माल्गुजारी बढ़ा देने का भी जातक-युग में नियम था। कथा इस प्रकार है कि [२]राजा युद्ध में हार कर भागा और एक गाँव में किसी गृहस्थ के यहाँ रह गया। चलते समय उसने अपने गृहस्थ मित्र से कहा—'मेरा नाम महाअश्वारोहक है। नगर के दक्षिण द्वार के द्वारपाल से पूछना तो वह मेरे घर तक तुम्हें पहुँचा देगा।' वह सौम्य गृहस्थ भूल गया कि उसने किस की सेवा की थी। वह 'महाअश्वारोहक' (महाअस्सारोहक) से मुलाकात करने नहीं गया। राजा प्रतीक्षा करते-करते थक गया। अब उसने उस गाँव की माल्गुजारी बढ़ा कर दुगुनी कर दी, फिर तिगुनी। गाँववालों ने घबरा कर उस गृहस्थ को 'महाअश्वारोहक' के पास भेजा कि वह अपने प्रभाव से, राजा से कह कर, माल्गुजारी कम करवा दे। कारण कुछ भी हो, किन्तु यह पता चलता है कि सारे गाँव पर दंडस्वरूप टैक्स लादने की परिपाटी उस युग में भी थी। राजा किसी अपराध पर पूरे-के-पूरे गाँव को अर्थ-दंड दे सकता था। इसके अतिरिक्त दंड-व्यवस्था बहुत ही भयानक थी। आज-कल की दंड-व्यवस्था उस समय (जातक-युग) की दंड-व्यवस्था के सामने फीकी ठहरती है।

दण्ड-व्यवस्था

सदाचार की स्थापना और दुराचार का अन्त ही दंड का मूल उद्देश्य है[३]—पूर्वकृत अपराध के लिए सजा देना और भविष्य में कोई अपराध न हो, इसके लिए रोक लगाना—ऐसी व्यवस्था करना कि कोई अपराध की ओर प्रवृत्त न होने पावे। यह दंड-व्यवस्था चिकित्सा की तरह होनी चाहिए, जिसमें चिकित्सक की भावना शुद्ध रहती है और कल्याणमूलक भी[४]। अपराधी को दंड दिया जाता है, वह राष्ट्र की

१. त्रिपिटक, विशाखा चरित।

२. महाअस्सारोह जातक।

३. शुक्रनीतिसार (अ० ४, श्लोक ४०)—'निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दण्डतश्च यत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः॥'

४. दंडनीति, समुद्देश-नीति—चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः, वाक्यामृत—१।

शुद्धि के लिए होता है। यदि दंड-व्यवस्था में कमजोरी हो, तो फिर बड़े छोटे को निगलना शुरू कर देते हैं—मात्स्य न्याय का दृश्य उपस्थित हो जाता है।[१]

आर्य-ग्रन्थों में दंड की महिमा का पारावार नहीं है। जितने भी नीति-ग्रन्थ मिलते हैं, सब में दंड के औचित्य पर कुछ-न-कुछ वाक्य मिलते हैं। महाभारत में तो दंड को भगवान् विष्णु का रूप माना है—**'दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः'** ॥[२] मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि अविचारपूर्वक दिया गया दंड नाश कर देता है[३]—**'विनाशयति सर्वतः।'**

कौटिल्य ने दंड के तीन भेद बतलाये हैं[४]—सुविज्ञात प्रणीत, दुष्प्रणीत और अप्रणीत। आर्य-ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि शील (सदाचार) को धर्म का सबसे उज्ज्वल-स्वरूप माना गया है। सदाचार-विरोधी कार्यों को रोकना ही राजा या शासक के अस्तित्व की सार्थकता है। यह स्पष्ट है कि विना दंड के न तो सदाचार की रक्षा हो सकती है और न दुराचार की निवृत्ति। दंड का रूप केवल अवरोधात्मक ही नहीं है—केवल रोकना ही दंड की सार्थकता नहीं है, रुकावटों को दूर करके गुणों को विकसित होने का सुपास देना भी दंड का काम है। अन्य आर्य-ग्रन्थों में दंड के सम्बन्ध में जैसा उदात्त वर्णन है, उससे यह सिद्ध होता है कि आर्यों ने सब प्रकार की सुख-शान्ति और विकास की ओर भरपूर ध्यान दिया था। विरोधी तत्त्वों को नष्ट कर देने के लिए कठोर-से-कठोर उपायों का अवलम्बन भी उन्होंने किया था। आर्य गुणों के विकास के लिए जितना तत्पर थे, उतना ही तत्पर अवगुणों को ठिकाने लगाने की दिशा में भी थे। मानवीय दुर्बलताओं को सीमा पार करने देना उनको प्रिय न था। जीवन में सदाचार को प्रथम स्थान देने के कारण आर्य अनाचार को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते थे। कठोर-दण्ड-व्यवस्था को उन्होंने महत्त्व दिया था। उन्होंने घोषणा[५] की थी—'एक सौ आत्मा रहने पर भी देवों के नियम के विरुद्ध कोई नहीं जी सकता।'

यह देवों का नियम क्या है? सदाचार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि, 'कुकर्मी मनुष्य सत्य के मार्ग को पार नहीं कर सकता'[६]। यही सत्य का मार्ग सदाचार का मार्ग है और यह रास्ता ऐसों के लिए महाकष्टसाध्य है, जिन्होंने सत्य (सदाचार) का त्याग कर दिया है। ऐसे कुकर्मियों में यदि एक सौ प्राण भी हों, तो उन्हें जीवित रहने का अधिकार नहीं है—वे समाज और राष्ट्र के लिए विषवत् हैं। आर्य प्रतिज्ञा करते थे कि—'मैं असत्य (अनाचार) से बच कर सत्य

---

१. इस सम्बन्ध में महाभारत, शान्ति०, अ० १२१ देखिए।

२. महाभारत, शान्ति०, अ० १२१।२३

३. मनु-स्मृति, ७। १९

४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण १, अध्याय ४, सूत्र १४ से १६ तक।

५. ऋग्वेद, मं० १०, सू० ३३, मंत्र ९—'न देवानामतिव्रतं शतात्मा च न जीवति ॥'

६. ऋग्वेद, मं० ९, सू० ७३, मंत्र ६—'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥'

(सदाचार) की ओर जाता हूँ[1] ।'—'मुझे कीर्त्ति और वैभव हो[2] ।' इतना ही नहीं, वे पाप और मृत्यु को बराबर समझते थे तथा दोनों से बचने की प्रार्थना करते थे—'मेरे पास पाप और मृत्यु न फटकने पावे[3] ।' इसके बाद हाथ जोड़कर ईश्वर से याचना करते थे—'तू मुझे पाप से बचा ले[4] ।' इन बातों पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि आर्य पापों से घबराते थे[5] तथा जहाँ भी अनाचार की गन्ध पाते थे, कठोर-से-कठोर उपाय का अवलम्बन करके उस गंदगी का समूल अन्त कर देते थे[6] । वैदिक वाङ्मय की गहरी छानबीन के बाद यह स्पष्ट होता है कि उस युग में अपराधों (अनाचारों, पापों और समाजविरोधी तथा राष्ट्रघाती कर्मों) के लिए भयानक-से-भयानक दण्ड-व्यवस्था थी[7] । शासन के विघटन के भय से जनता के मनमानेपन के लिए रोक-थाम न करना, जनता के प्रति घोर विश्वासघात माना जाता था । न्यायपूर्वक एक ही दिन शासन करना, अन्यायपूर्वक सौ या करोड़ साल तक शासन करने से कहीं श्रेयस्कर है—ऐसा मत हमारा नहीं, पूर्वाचार्यों का है ।

अबतक हमने दण्ड-व्यवस्था का जो वर्णन किया है, वह वैदिक और महाभारत युग का है । इन सारी बातों से यहाँ स्पष्ट किया गया है कि जातक-युग में जैसी दण्ड-व्यवस्था थी, वह केवल जातक-युग की ही देन नहीं थी । जातक-युग की दंड-व्यवस्था ऐसे तो दहला देनेवाली है ; किन्तु गहराई से विचार करने पर यह मान लेना होगा कि बुराइयों की जड़ काटने के लिए वह व्यवस्था उचित थी । इस युग में दण्ड को 'कम्मकरण' कहते थे । बारह प्रकार के भयानक दण्डों की चर्चा भगवान् बुद्ध ने की है[8]—(१) शंख-मुंडिका, (२) राहुमुख, (३) ज्योतिर्मालिका, (४) हस्त-प्रज्योतिका, (५) एरकवत्तिका, (६) चीरकवासिका, (७) ऐणेयक, (८) बडिसमंसिका, (९) कार्षापणक, (१०) खारापतच्छिका, (११) परिधि-परिवर्त्तिका और (१२) लालपीठक ।

इन दण्डों की व्याख्या इस प्रकार है—(१) सिर की चमड़ी आदि छील कर शंख के समान बना देना, (२) कानों तक मुँह को फाड़ देना, (३) शरीर में कपड़ा लपेट कर और तेल से भिंगोकर आग लगा देना, (४) हाथों में कपड़ा लपेट कर और तेल से भिंगो कर आग लगा देना, (५) गर्दन तक खाल उतार कर घसीटना, (६) ऊपर से कमर तक खाल खींच देना और नीचे से खाल खींच कर कमर तक पहुँचा देना, (७) केहुनी और घुटनों में लोहे की कीलें ठोंक कर उन्हीं के

१. यजुर्वेद, १।५—'अहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥'
२. यजुर्वेद, २९।४—'यशः श्रीः श्रयतां मयि ॥'
३. अथर्व, कां० १७, सू० १, मं० २९—'मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः ॥'
४. अथर्व, कां० ४, सू० २३, मंत्र १—'स नो मुञ्चत्वंहसः ॥'
५. ऋग्वेद, मण्डल ७, सू० १०४, मंत्र २३
६. ऋग्वेद, १।१२५।७
७. बृहदारण्यक, ५।२।३—"तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रय ँ् शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥"
८. महादुक्खक्खन्ध सुत्तन्त (१।२।३)

सहारे जमीन पर टिका देना और फिर आग लगा देना, (८) वंशी की तरह लोहे का अंकुश निगलाकर फिर बाहर खींचना जिससे भीतर का गला वगैरह फट जाय, (९) पैसे-पैसे-भर मांस काट-काट कर शरीर से निकालना, (१०) शरीर को चीर कर उसमें क्षार या नमक रगड़ना, (११) दोनों कानों में किल्ली ठोंक देना और उस किल्ली को जमीन में गाड़ कर, पैर पकड़ कर चारों ओर घुमाना, (१२) मुँगरी से मार कर शरीर की हड्डियों को भीतर-ही-भीतर चूर कर देना और शरीर को मांस-पिंड बना देना।

एक समय मिस्र के सुप्रसिद्ध 'फराओ-काल' की सभ्यता के अवशेष मिट्टी के भीतर से खोदकर निकाले जा रहे थे। यह दण्ड-व्यवस्था आज से ३००० साल पहले थी— भगवान् बुद्ध से ५०० साल पूर्व। तरीका यह था कि श्रीसम्पन्न या आदरणीय व्यक्ति जब मर जाते थे, तब उनके शरीर को तरह-तरह के वैज्ञानिक उपायों से सुरक्षित रखा जाता था। एक शवाधार में शरीर को रखकर किसी निर्धारित स्थान में, जो इसी काम के लिए बनाया जाता था, रख दिया जाता था। एक खोदाई में खोदने पर एक असाधारण कलापूर्ण शवाधार निकला। खोलने पर एक सुन्दरी युवती का शरीर उसमें दिखलाई पड़ा, जो ३००० साल से अपनी पूर्वावस्था में ही थी, जैसे अभी-अभी किसी ने दफन किया हो। साथ में एक चित्र-वर्ण-माला में लिखा हुआ शिलालेख भी था। वह सुन्दरी एमेन (प्राचीन मिस्रवासियों के प्रमुख देवता) के स्वर्णमन्दिर के द्वारपाल की पुत्री 'ताशात' थी। एक चित्र भी खुदा हुआ था, जिसमें यह दिखलाया गया था कि ताशात देवता एमेन की पूजा कर रही है। स्पष्ट हुआ कि वह 'देवदासी' थी और देवता के पूजन करने का भी उसे अधिकार था, जो उस युग के लिए महान् गौरव था। शव पर के लिपटे हुए वस्त्र (ममिआई) को इस भय से नहीं हटाया गया कि हवा लगने से कहीं शव नष्ट न हो जाय। एक्स-रे की सहायता से सुन्दरी का शरीर देखा गया। चित्र लेने पर दिल को दहला देनेवाला दृश्य दिखलाई पड़ा। सुन्दरी का सिर कटा हुआ था, जो शरीर के साथ मसाले से जोड़ दिया गया था। रीढ़ टूटी हुई थी और पसलियाँ रीढ़ से अलग हो गई थीं। बायाँ हाथ कोहनी के ऊपर से टूटा हुआ था। ऐसा लगता था कि उसके शरीर पर इतना भयानक दबाव या मार पड़ी थी कि रीढ़ और पँजरे की हड्डियाँ चूर हो गई थीं, फिर सिर काट लिया गया। वह पुजारिन थी, नवयुवती और सुन्दरी भी थी। वह शव १५ साल की उम्र की नवयुवती का था। इसी चढ़ती जवानी में उसे मौत की विभीषिका का सामना करना पड़ा !!!

मिस्र के 'फराओ-काल' का इतिहास बतलाता है कि 'एमेन-देवता' के मन्दिर में बहुसंख्यक पुजारिनें रहती थीं। उनके लिए कठोर नियमों का पालन करना अनिवार्य था। ऐसा संभव है कि सुन्दरी 'ताशात' ने उन नियमों का उल्लंघन किया होगा, जिससे उसे तीव्र यन्त्रणा देकर फिर मार डाला गया। उसके शरीर की हड्डियों को मुँगरी से तोड़कर फिर उसका सिर काटा गया।[१] जान पड़ता है कि उसके पिता ने अपनी पुत्री को शवाधार में रखकर छुट्टी पाई। जातक-युग का १२ वाँ

१. 'साइंटिफिक आर्केलाजी' से।

प्रकार का दंड था मुँगरी से मारकर शरीर की हड्डियों को चूर कर देना, जिसे मिस्र के फराओ-काल (३००० वर्ष पूर्व) में हमने देखा है। जातक-युग के जिन १२ प्रकार के दंडों की सूची ऊपर दी गई है, उनके अतिरिक्त भी कुछ प्रमुख दंड थे, जिनमें चाबुक तथा बेंत से पिटवाना, अर्थ-दंड, हाथ-पैर कटवा लेना, नाक-कान तराश लेना, 'विलंग-थालिक' (एक विलक्षण प्रकार का दंड) आदि थे। विलंग-थालिक में खोपड़ी पर की चमड़ी छीलकर जलता हुआ लोहे का गोला रख दिया जाता था। जेल में बन्द कर देना, राज्य से बाहर निकाल देना आदि दंडों की चर्चा व्यर्थ है। ऐसी भयानक दंड-व्यवस्था को जनता सहती कैसे थी, यह एक प्रश्न है। यह हमने देखा है कि जनता राजा को चुनती थी और खदेड़ भी देती थी। वह असीम शक्ति-सम्पन्न मानी जाती थी। मानवता को निचोड़ कर, दबाकर, रौंदकर बर्बाद नहीं किया गया था; बल्कि जातक-युग में मानवता को पनपने का अवसर मिला था। इसलिए न्याय का महत्त्व लोग आत्म-शुद्धि मानते थे; क्योंकि न्याय साफ और पारदर्शी होता था। नागराज ने राजा से कहा था कि—"मनुष्य-लोक के अतिरिक्त कहीं संयम और (आत्म) शुद्धि की गुंजाइश नहीं है[1]।" अतः जब मानव स्वयम् आत्मशुद्धि और संयम के द्वारा आत्मनियंत्रण करने को तैयार है, तब न्यायपूर्वक दिये गये दंड से अपनी आत्म-शुद्धि क्यों न माने? दंड वही जन-रोष को प्रदीप्त करता है, जो अन्याय-पूर्वक या विकारग्रस्त होकर दिया जाता है। धर्म के बन्धनों में बँधी हुई प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी[2] और स्वाभिमान इतना कि अपराध हो जाने पर केवल उसकी निन्दा कर दी जाती थी। निन्दा को मृत्यु-दंड से भी अधिक भयानक माना जाता था। तलवार तो नश्वर शरीर का ही नाश करती है; किन्तु निन्दा तो आत्मा को भी नीचे गिरा देती है और सारे आत्मबल और पुण्यबल को तबाह कर डालती है।

आर्य-वाङ्मय से यह प्रमाणित होता है कि यद्यपि दंड-व्यवस्था बहुत कड़ी थी, किन्तु शायद ही कभी उसे काम में लाना पड़ता हो। जातक-युग में दंड देने की जो भयानक व्यवस्था थी, वह 'हर्षवर्धन' के राजत्व-काल तक चली आई थी। ईसा की ७ वीं शताब्दी के आरंभ से मध्य तक हर्ष का काल माना गया है[3]। हाथ, पैर, नाक, कान काटे जाने का भी वर्णन है। जातक-युग के सैकड़ों वर्ष बाद तक भारत की दंड-व्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं आया था। दण्ड-व्यवस्था की कठोरता के कारण अपराधों की संख्या बिलकुल ही नगण्य हो गई थी। ह्वेनसांग[4] ने लिखा है कि—"शासन का काम सचाई से चलता था...अपराधियों की संख्या स्वल्प थी।"

युग बदलते गये, शासन-व्यवस्था भी बदलती गई। भारत का मानचित्र भी बदलता गया। बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए; किन्तु आर्यों ने अपने अभ्युदय-काल में जिस नीति की नींव दी थी, वह हर्ष तक कायम रही और आश्चर्य यह है कि उसका रूप

१. चम्पेय्य-जातक—'जनिन्द नाञ्ञत्र मनुस्स लोका सुद्धि च संविज्जति संयमो च।'

२. महाभारत, शान्ति० ५९।१४—'धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥'

३. वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७२ और १७६

४. वाटर्स, जिल्द १, पृष्ठ १७१

भी वही रहा। चाहे देश में जनतंत्र की स्थापना हुई हो या राजतन्त्र की, अधिनायकवाद फैला हो या वैराज्य (अ-राजक), किन्तु कठोर दण्ड के द्वारा बुराइयों के उभरने न देने की नीति का किसी ने भी उल्लंघन नहीं किया। जातक-युग में तो 'शील' को जीवन में प्रथम स्थान दिया गया था और शील का शत्रु होता है अनाचार; अतः शील की सुरक्षा के लिए अनाचार को निर्दयता-पूर्वक दबाया गया। केवल शासन में ही नहीं, बल्कि भिक्खु-संघ में भी दंड को स्थान मिला था, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

दूसरा परिच्छेद

समाज

यहाँ वैदिक युग के समाज के एक धुँधले आभास के बाद रामायण और महाभारत-युग के चित्र उपस्थित किये जायँगे और तब फिर जातक-युग के। विषय को इतना विस्तृत रूप देना हमारा उद्देश्य न था, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन की ओर आप की प्रवृत्ति हो और इस दिशा में आप सोचें, यही हमारी मंशा है।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था से, अनेक परिवर्त्तनों और मोड़ों से होता हुआ भारत का आर्य-समुदाय ऊपर उठा और समाज के नियमों के बन्धनों में बँधकर सुगठित हो गया। यह सोचने की बात है कि जिन नियमों के आधार पर आर्य-समुदाय समाज के रूप में परिणत हुआ, वे नियम 'कमाओ, खाओ और मौज उड़ाओ' न होकर अत्यन्त उदार और विकासात्मक थे। न तो शोषण के लिए और न समाज बनाकर भौतिक सफलताओं का अर्जन करने के लिए ही आर्य-समुदाय ने अपना विकास किया; बल्कि उसके भीतर मानवीय सद्गुणों का, पराकाष्ठा तक, विकास हुआ और ज्ञान, त्याग, सेवा, तपस्या और प्रेम को स्थान मिला। आर्यों के सामाजिक जीवन का आधार उच्च नैतिकता थी, सभी धर्मों से उसने आचार (शील) को पहला स्थान दिया। कहा है—"जो अभी दिया है, जो पहले दिया है, जो आगे दिया है और जो बाद में दिया जायगा, वह सब वलि वैश्वकर्म को प्राप्त हो। जिस प्रकार घोड़ा नित्य घास पाता है, उसी प्रकार प्राणियों को प्रतिदिन उनका भाग (वलि) देना चाहिए[1]।"

सबको सबके लिए चिन्ता और सबको सबके लिए कर्म करना तथा सबको सबके भाग—हिस्सा—देने में उदारता, यह बहुत बड़ी बात है। आगे कहा है—

सस्तुमाता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥[2]

इसके बाद—

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये॥[3]

---

१. यजुर्वेद, १८।६४ और अथर्व, कां० १९, सू० ५५, मं० ६—
'अहरहर्वलिमित्ते हरन्तो अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।'

२. ऋग्वेद, मं० ७, सू० ५५, ऋ० ५

३. अथर्व, कां० ९, सू० ५, ऋ० ३०

अपने को, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, पत्नी, जन्म देनेवाली माता—इन सबको अपने पास मैं सादर बुलाता हूँ।

वैदिक युग के समाज का मुखिया सब के लिए सोचता था और वह चाहता था कि उसकी रुचि सबमें हो, सभी का वह प्रिय हो[1]। उसकी कामना थी कि—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजासु नास्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥

इस उदार कामना और भावना की पृष्ठभूमि में वैदिक समाज का विकास हुआ।

समाज का गठन यों ही, अनायास ही, नहीं हुआ था और न किसी दुष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्य आपस में संगठित होकर फैले थे। यदि ऐसी बात होती, तो मात्स्य न्याय के अनुसार वे एक-दूसरे को परस्पर निगल जाते। युगों तक अपने अस्तित्व को सुदृढ़ रखनेवाले उन आर्यों का सिद्धान्त 'मरो और मरने दो' नहीं था; बल्कि वे इस बात का प्रयत्न करते थे कि सब मिलजुल कर सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीवित रहें—

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः[2]॥
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या[3]॥
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः[4]॥

भावार्थ है—सब मनुष्यों का जल-स्थान एक समान हो, एक हो। अन्न भी बाँटकर ग्रहण करो। मैं तुम सब को एक ही कौटुम्बिक बन्धन में बाँधता हूँ, तुम सब मिलकर कर्म करो; जैसे रथचक्र की नाभि में सभी ओर लगे आरे कर्म करते हैं। मैं तुम्हारे हृदयों को समान करता हूँ और तुम्हारे मन को द्वेष-रहित करता हूँ। तुम परस्पर उसी तरह सभी से प्रेम करो, जैसे गाय बच्चे को चाहती है। जो जीव मन-वाणी से इस प्रकार की समानता का पक्षपाती है, उसी को इस लोक में सौ वर्ष तक (जीवित रहकर भोगने के लिए) समस्त ऐश्वर्यों को दिया है।

समानता का समर्थन करनेवाला आर्यों का समाज-संगठन कितना दृढ़ और उदार रहा होगा, यह बतलाना व्यर्थ है। कुछ ऐसी बातें भी बतलाई गई हैं, जो

१. अथर्व, कां० १९, सू० ६२, ऋ० १ और यजु० १८।४८
२. अथर्व, कां० ३, सू० ३०, ऋ० ६
३. अथर्व, कां० ३, सू० ३०, ऋ० १
४. यजु०, १९।४६

समाज-विरोधी हैं। जो कोई भी उन बातों या कर्मों को अपनाता है, वह समाज की दृष्टि में पापी है, वह दण्ड और नरक का अधिकारी है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ[1]॥

'सप्त मर्यादा' का वर्णन है—हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य भाषण—इन कर्मों के करनेवालों का संग-त्याग। इसे ही 'सप्त मर्यादा' कहते हैं। इस मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति दण्ड का अधिकारी माना जाता था। यदि हिंसा, चोरी आदि स्वयम् न करके भी ऐसे कर्मों के करनेवाले का साथ किया जाय, तो वह भी पाप माना गया है; क्योंकि बुराई करनेवाले को इससे प्रश्रय मिलता है। शराब न पीकर भी शराबखाने में डेरा डाले रहना, पीनेवालों से कम अनैतिक कर्म नहीं है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। सम्भव है कि शरीर से बुरे काम करनेवाले का मन उसका साथ नहीं देता हो—उसका पाप कुछ हल्का हो जाता है—किन्तु बुरे कर्म करनेवाले से लगाव रखनेवाला तो परिस्थितिवश शरीर के बुरे कर्म नहीं करता हुआ भी मन से उसका समर्थन करता है। यह तो और भी भयानक बात है, जिसकी ओर वैदिक समाज के निर्माताओं का ध्यान गया था। 'सप्त मर्यादा' में सातवीं मर्यादा महत्त्वपूर्ण है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र[2]॥

गरुड़ के समान मद (घमण्ड), गीध के समान लोभ, गौरैये के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उल्लू के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िया के समान रोष को मार भगाना चाहिए। इन षड्रिपुओं का (छह विकारों का) बहुत ही कवित्वपूर्ण वर्णन है। छह पंछियों और पशुओं में अलग-अलग दुर्गुण हैं। जैसे—गरुड में घमण्ड, और भेड़िये में रोष, किन्तु मानव में तो एक साथ ही गरुड, गीध, गौरैया, कुत्ता, उल्लू और भेड़ियावाले दुर्गुणों का निवास है—हाय रे अभागा मानव !!!

इन सारे प्रमाणों पर एक सरसरी निगाह डालने से यही निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक युग का सामाजिक संगठन ठोस धरती पर था। जो नींव वेद-काल के ऋषियों और मननशील मुनियों ने डाली थी, वह पक्की इमारत के रूप में ऊपर उठी, उठती चली गई और अनेक प्रहारों को सहती हुई भी वह नहीं हिली, यद्यपि इमारत क्षति-ग्रस्त हो गई।

आर्यों ने अपने समाज को गुणों के आधार पर ऊपर उठाया था। वह गहरा भी था और ऊँचा भी, व्यापक भी था और उदार भी। वह किसी राजा के अन्तःपुर की तरह दीवारों और कड़े पहरे से दूसरों के लिए रहस्य नहीं बना हुआ था, बल्कि सभी उसमें सम्मिलित हो सकते थे। गुणों के द्वारा एक-दूसरे का हित करते हुए वैदिक युग के समाज का कोई भी आदरणीय सदस्य बन सकता था।

---

१. ऋग्वेद, मं० १०, सू० ५, ऋ० ६
२. ऋग्वेद, मं० ७, सू० १०४, ऋ० २२

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते[१] ॥

मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू उत्तम गुण मुझसे धारण कर और मैं तुझसे—तेरे द्वारा—धारण करूँ। यह मैं लेता हूँ और तू भी यह स्वीकार कर—परस्पर न्याय-युक्त व्यवहार हो। यह सामाजिक संगठन का मूल आधार है। कोई भी इन गुणों को अपनाकर, किसी को अपना बना सकता है। वैदिक युग के समाज-निर्माता जानते थे कि अधिक धन जोड़ने का नतीजा बुरा होता है। धन से विकार और द्वेष पैदा होता है—एकता नष्ट होती है, अतः यज्ञ (सबके लिए सबका मिलजुल कर प्रयास) ही समस्त बुराइयों को मिटानेवाला है।

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेपि द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः[२] ॥

एकगुना धन रखनेवाला अपने से दुगुने धनवाले की ओर झपटता है, दुगुने धनवाला तिगुने धनवाले का पीछा करता है, चौगुने धनवाला अपने से दूने धनवाले की महत्ता को प्राप्त होता है। गरज यह कि धनवानों को देखकर अधिक-से-अधिक धन प्राप्त करने की लोगों में इच्छा होती है, स्पर्धा होती है। अतः शुद्ध ज्ञान-दृष्टि—व्यापक दृष्टि—को विशेष महत्त्व दिया गया है। ज्ञान की दृष्टि से सत्य को देखा जाता है और जिसने सत्य को देख लिया, वह छीना-झपटी और स्पर्धा-जैसी छोटी-छोटी बातों की ओर क्यों अपने मन को धकेलेगा।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ँ श्रृणुयाम् ॥
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम्।
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्[३] ॥

ज्ञानियों का हित करनेवाला शुद्ध ज्ञान-नेत्र उदित है। उससे हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जीवित रहें, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक अदैन्य जीवन व्यतीत करें, सौ वर्ष से भी अधिक दिनों तक सानन्द रहें।

पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसी बातें दी गई हैं, जिनसे आगे के सामाजिक जीवन का धुँधला-सा आभास मिलता है। पता चलता है कि 'शिल्प' (जानपदीय वृत्ति) भी था, वेतन से जीविका चलानेवाले भी थे (वेतनादिभ्यो जीवति)[४], अस्त्रोपजीवी[५] भी थे। भृत्ति या मजदूरी के बल पर जीनेवाले भी थे[६], ठहराई की शर्तें बाँधकर (परिक्रयण[७]) काम करनेवाले भी थे। मजदूरों को मजदूरी नकद और जिन्स

१. यजु०, ३।५०
२. ऋग्वेद, मं० १०, सू० ११७, ऋ० ८
३. यजुर्वेद, ३६।२४
४. पाणिनि, ४।४।१२
५. „ ४।४।१४
६. „ १।३।३६
७. „ १।४।४४

(नमक, अन्न आदि) के रूप में भी दी जाती थी। क्रय-विक्रय[1], दूकानदारी और सूद पर कर्ज लगाना[2], १० प्रतिशत तक ब्याज की चर्चा आई है (कुसीद दशैकादशात्), ऋण जिस मास में देय होता था, ऋण का नाम उसी के आधार पर रखा जाता था[3], जैसे अगहन में चुकता करने के वादे पर दिये गये ऋण का नाम होता था—'आग्रहायणिक'। साल समाप्त होने पर जिस कर्ज की वसूली का वादा होता था, उसे 'सांवत्सरिक' कहते थे।

अष्टाध्यायी में कृषि[4]-सम्बन्धी तथा शिल्प-कला[5] का भी वर्णन है। संगीत का भी उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणों से हम यही बतलाना चाहते हैं कि वैदिक युग के बाद—रामायण और महाभारत-काल तक भी—आर्य-जाति बराबर विकास करती गई और उसकी समाज-व्यवस्था सर्वांगपूर्ण थी। शुल्क, नाप-तोल, सिक्के सभी कुछ थे—पाणिनि-काल का भारत एक सम्पन्न भारत था।

कुल और वंश के सम्बन्ध में भी पाणिनि ने चर्चा की है[6]। कुल को परिवार कह सकते हैं। कई पीढ़ियों तक वह चला, तो वंश कहलाया। वंश रक्त-सम्बन्ध और विद्या-सम्बन्ध दोनों रीतियों से बन जाता था। गोत्र की चर्चा तो वेदों में भी है। पाणिनि ने भी गोत्र का उल्लेख किया है[7]—वत्स द्वारा स्थापित वत्स-गोत्र में बेटा वात्स और पोता वात्स्य तथा प्रपौत्र वात्स्यायन। यह गोत्र तो जातक-युग में बहुत ही फैल गया और आदरणीय माना गया। धर्मसूत्रों में भी भारतीय समाज-संगठन आदि का वर्णन आया है। सूत्र-ग्रन्थों में गौतम, बौधायन, वसिष्ठ, आपस्तम्ब आदि भी द्रष्टव्य हैं। गृह्यसूत्र भी धर्म-सूत्र-जैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम चाहेंगे, हमारे विद्वान् पाठक बी० पी० काणे लिखित 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरेचर' अवश्य पढ़ें। हम यहाँ इस सम्बन्ध के उपलब्ध साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करने में असमर्थ हैं।

वैदिक युग में ही वर्ण-व्यवस्था उत्पन्न हो चुकी थी। गृह्यसूत्रों में भी इसकी चर्चा है—वेदों में तो वर्ण-व्यवस्था का साफ-साफ उल्लेख मिलता है। समाज-संगठन की दृष्टि से या दूसरे कारणों से वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ। यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि तब वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त उदार थी और उसमें कोई विकार न था, किसी प्रकार की भी तानाशाही न थी, किसी को दबाने या किसी को ऊपर उठाने की बात भी न थी। जातक-युग में भी हम वर्ण-व्यवस्था पाते हैं। हम आगे चलकर इस विषय पर पूरा-पूरा प्रकाश डालने का साहस करेंगे।

कुछ विद्वानों ने वैदिक समाज को मातृमूलक माना है[8]। सही बात

१. पाणिनि, ४।४।१३
२. „ ४।४।३१
३. „ ४।३।४७
४. „ ४।३।१२४; ५।४।५८-५९; ५।२।२–४
५. „ ४।३।१५८;४।१।४२; ४।२।२; ४।३।११८
६. „ २।१।१९
७. „ ४।१।१६२ और ४।१।९३
८. श्री श्रीपाद अमृत डाँगे की विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'भारत' देखिए।

कुछ दूसरी है। वेदकालीन समाज पितृमूलक था। 'यूथ-विवाह'-जैसी बातें लिखकर यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि वेदकालीन समाज में स्त्रियाँ सार्वजनिक सम्पत्ति थीं। पिता का कोई ठौर-ठिकाना न रहने के कारण बालक अपनी माता का ही नाम बतला सकता था। कहा जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जब उदय हुआ, तब 'उत्तराधिकार' का प्रश्न सामने आया और विवाह-प्रथा की नींव पड़ी। इसपर हम तब विचार करेंगे, जब 'स्त्रियों' के सम्बन्ध में लिखेंगे।

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है कि आर्य पूषण से कन्या की याचना करते थे[१], दौहित्र को उत्तराधिकारी बनाते थे[२], कन्याएँ कसीदा काढ़ती थीं[३], स्त्री घर की मालकिन थीं[४], वीर-प्रसविनी नारी के लिए आर्य देवताओं से प्रार्थना करते थे[५]। वस्त्राभूषणों से सजाकर कन्या-दान किया जाता था[६], पति-पत्नी साथ-साथ यज्ञ करते थे[७] और रक्त-शुद्धि को ध्यान में रखकर अनौरस पुत्र से दूर भी रहते थे[८]।

पितृमूलक समाज के लिए हम यहाँ दो-चार वेदमन्त्र उद्धृत करके इस प्रसंग का अन्त करेंगे।

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे[९]॥

अर्थात्—किसी से विरोध मत करो, गृहस्थाश्रम में सुख-पूर्वक निवास करो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ आनन्दपूर्वक खेलते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्श-रूप बनाओ।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ[१०]॥

अर्थात्—संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों—पति-पत्नी—को भली भाँति जानें, हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त हों, हम दोनों की प्राण-शक्ति, धारणा-शक्ति और उपदेश-शक्ति परस्पर कल्याणकारी हों।

ये मन्त्र न तो तथाकथित 'यूथ-विवाह' की तस्वीर उपस्थित करते हैं और न तब का, जब 'शोषण और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय' हो चुका था।

वैदिक समाज का हमने जो आभास यहाँ दिया है, वह स्थाली-पुलाक-न्याय को दृष्टि में रखकर ही। यदि गहराई से समीक्षा की जाय, तो एक गौरवपूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होगा। राथ, रेनो, फ्रेजर, बेबर, ब्लूमफील्ड, स्टेनकोनो, ई०हार्डि, कोलब्रुक ('एसे आन द वेदाज'—भाग ८, १८३७ ई०), रैगोजिन ('वेदिक इण्डिया'—१८९५ ई०) आदि विदेशी विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय पर प्रकाश डाला है तथा सैकड़ों

१-८. ऋग्वेद, ९।६७।१०-११; ३।३१।१-२; २।३।६; १०।८५।२०; १०।८५।४४; १०।३९।१४; ९।४६।२; ७।४।७ और १।१२१।३

९. ऋग्वेद, १०।८५।४२

१०. ऋग्वेद, १०।८५।४७

की संख्या में ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। तिलक, वैद्य, पी० पी० एस्० शास्त्री आदि बहुत-से भारतीय विद्वानों ने भी वैदिक वाङ्मय पर गम्भीर विचार किया है।

यह सोचना बिलकुल ही वाहियात है कि जातक-युग का सामाजिक गठन किसी खास तरह का रहा होगा और वह एक स्वतन्त्रसत्ता-सम्पन्न समाज होगा। ऐसी बात नहीं है और यह संभव भी नहीं है। बुद्ध भगवान् का दृष्टिकोण अपना रहा होगा; किन्तु उन्होंने कल्पना कहाँ से पाई? प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय उनके सामने था। वह उसे बिलकुल ही भूलकर एक नई दुनिया का निर्माण कैसे कर सकते थे? यदि रामायण और महाभारत में वर्णित समाज की रूपरेखा भी हम यहाँ उपस्थित करें, तो विषय बहुत ही फैल जायगा। संक्षेप में यही कहना चाहते हैं कि वेदकालीन भारतीय समाज का जो रूप हमारे सामने है, उससे मिलता-जुलता रूप ही रामायण और महाभारत-काल में था। कुछ पुराने विचारों का अन्त हो गया था और कुछ नये विचारों ने अपना स्थान बना लिया था। मूल में कोई प्रभेद न था।

इतिहास के लम्बे दौर में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए गाँव ही, कुछ स्थानीय परिवर्त्तनों के साथ, भारतीय जीवन का अपरिवर्त्तित आधार बने रहे। के० एम्० पन्निकर ने कहा है—'एक मात्र यह ही वह आधार है, जिसपर भारत का प्रत्येक साम्राज्य पाला-पोसा गया और पनपा[1]।'

राइस डेविड्स ने लिखा—'(बौद्धकालीन गाँवों में) हमें अपराध की एक भी घटना सुनाई नहीं पड़ी।...गाँवों में छोटा स्वशासित लोकतन्त्र था[2]।' वह फिर आगे लिखता है कि धान के खेतों के चारों ओर गाँव बसे होते थे। पशु किनारे के जंगलों में चरते थे, उन जंगलों पर गाँववालों का समान अधिकार होता था[3]। खेतों की जुताई इतनी सुन्दर होती थी कि मगध के जोते-बोये खेतों को देखकर ही भगवान् बुद्ध ने 'चीवर' की रूपरेखा ही कल्पना की थी[4]। सबसे विचित्र बात यह थी कि अपने खेत पर स्वयम् काम करना लोग गौरव मानते थे—नौकर रखना तो भारी कलंक माना जाता था या नौकरों के द्वारा खेती कराना निन्दा की बात मानी जाती थी[5]। दूसरे के खेत पर मजदूरी करने को बाध्य होना भारी दुर्भाग्य माना जाता था—इसे सामाजिक पतन समझते थे। इस प्रणाली की निन्दा की गई है।[6]

राइस डेविड्स के मतानुसार ईसा से पूर्व ७ वीं शताब्दी में उत्तर-भारत की कुल जन-संख्या डेढ़ या दो करोड़ से अधिक न थी। बुद्ध भगवान् का समय भी यही है या १०० साल पहले तक का यह हिसाब है।

गरीबी तो कहीं थी ही नहीं और न अमीरी थी। उस युग के किसान—

---

१. 'ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री', पृष्ठ ९
२. 'बुद्धिस्ट इण्डिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५
३. " " " " पृष्ठ १४
४. विनय-ग्रन्थ २, २०७–९
५. दीघा, १।५१, अरिगु १।१४५
६. राइस-डेविड्स की पुस्तक 'बुद्धिष्ट इण्डिया' द्रष्टव्य।

'परम प्रसन्न, खुशहाल, अपने बच्चों के साथ खेलते हुए खुले दरवाजेवाले घरों में रहते थे[१]।'

एक बात राइस डेविड्स ने बहुत ही मार्के की लिखी है—'गाँवों के भीतर आबाद...समुदायों का सामाजिक संगठन...बहुत-कुछ उसी ढंग का था, जैसा वैदिक युग के गाँवों का।' वह आगे चलकर लिखता है—'उन्हें अपनी स्थिति, परिवार और गाँव पर गर्व था। वे अपने वर्ग और गाँव के मुखिया के द्वारा शासित थे। ये मुखिया उन्हीं के आदर्शों और परम्पराओं के द्वारा चुने होते थे[२]।'

गाम, निगम, कुल और नागरका का उल्लेख बौद्ध आचार्यों के नियम-ग्रन्थों में पाया जाता है। जैन ग्रन्थों में घोस, खेस, खरवट गाम, पल्ली, पत्तान, सम्बाह, मातम्ब का उल्लेख मिलता है[३]। राइस डेविडस लिखता है कि '(गाँवों के) सभी मकान एक साथ (समूह में) बने होते थे और सँकरी गलियों द्वारा ही वे पृथक् थे[४]।'

बौद्ध जातकों में सामान्य गाँवों की जो चर्चा आई है, उसके अनुसार १००० तक परिवार का एक गाँव में रहना सिद्ध होता है। यदि हम औसत ५ व्यक्ति का एक परिवार मान लें, तो ५००० व्यक्तियों का गाँव निश्चय ही भरा-पूरा रहा होगा और यदि हम प्रत्येक परिवार के लिए औसत ५० एकड़ खेत की कल्पना कर लें, तो ५० हजार एकड़ खेतों से घिरा हुआ जातक-युग का गाँव जरूर स्वर्ग का नमूना रहा होगा। आबादी कम थी, अतः कोई कारण नहीं कि जमीन का अभाव रहा हो। एकड़ को 'करिसा' कहते थे। डॉ० राधाकुमुद मुकुर्जी ने ५०० हलों के चलने का उल्लेख अपने एक लेख में किया है।[५]

भारत ने अपने आदि-युग से ही कृषि-कर्म को महत्त्व दिया है और जातक-युग में भी खेती-गृहस्थी का वही महत्त्व था, जैसा महत्त्व उसे वैदिक युग में प्राप्त था। 'खेती करो'[६]—ऐसी स्पष्ट आज्ञा वेद ने दी है। वैदिक युग का मानव अपने को किसान कहने में गौरव का अनुभव करता था—'पृथिवी मेरी माँ है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।'[७] कृषि-कर्म को जैसी प्रतिष्ठा वैदिक समाज में प्राप्त थी, उस प्रतिष्ठा की पूरी-पूरी रक्षा जातक-युग में की गई है। दूसरे प्रकार के व्यवसायों का भी विकास जातक-युग में हो चुका था। 'सुत्तनिपात' का धनियसुत्त बहुत ही कवित्व-पूर्ण है। धनिय गोप एक सद्गृहस्थ था, जो कृषि-कर्म करता हुआ पूर्ण सन्तुष्ट था। वह अपने आनन्द का वर्णन इस प्रकार करता है—'मैं अपनी मजदूरी स्वयम् करता हूँ, किसी का

---

१. 'डायलॉग्स आफ दि बुद्धा' १, १७६
२. 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृ० १७
३. 'हिन्दू सिविलिजेशन' (डॉ० राधाकुमुद), पृष्ठ २९९।३०१ (बम्बई, १९५० का संस्करण)
४. 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृ० ३३
५. 'ए० आई० सी० सी० इकानामिक रिव्यू' वर्ष ७, अंक ८।९
६. ऋग्वेद १०।३४।१३ (सातवलेकर-संस्करण, द्वितीयावृत्ति, स्वाध्याय-मण्डल (औंध) से प्रकाशित, सन् १९४० ई०)—'कृषिमित् कृषस्व'।
७. अथर्व, कां० १२, सू० १, मंत्र १२ (प्रकाशक—आर्य-साहित्य-मण्डल लि०, अजमेर, संवत् २००९ वि०) 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'।

चाकर नहीं हूँ। मेरे तरुण बैल-बछड़े हैं, गाभिन[1] और दुधार गायें भी हैं। एक साँड़ भी इनके बीच में है।'

जातक-युग का समाज कृषक-समाज था और वह कृषि-कर्म को महत्त्व देता था। नगर थोड़े थे और गाँवों तथा शहरों के बीच चौड़ी-गहरी खाई न थी। शहरवालों की दृष्टि में गाँववाले गँवार न थे और न गाँववालों की दृष्टि में नगरवाले छैला, उचक्का, लफंगा, धूर्त्त आदि थे। गाँव और शहर—दोनों की जीवन-धारा साथ-साथ प्रवाहित होती थी। उस युग के नेताओं ने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा था कि गाँव के जीवन से शहर के जीवन का मेल बैठे। शहर में जो रहते थे, वे गाँवों से बिलकुल ही अलग नहीं हो गये थे। उनके जीवन को रस गाँवों से ही मिलता था; क्योंकि गाँव शक्ति-सम्पन्न थे।

श्रेष्ठजन

जातक-युग के समाज में श्रेष्ठजनों का आदर था। कुलीनता पर पूरा ध्यान दिया जाता था और अ-कुलीन या हीन-कुलीन व्यक्तियों से दूर रहने में हित माना जाता था। कुल, धर्म, जाति, चरित्र, आचरण आदि की दृष्टि से जो गिरा होता था, वह हीन माना जाता था—वस्तुतः ऐसों को ही अनार्य, व्रात्य आदि कहा जाता था। यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि 'अनार्य' एक जाति ही थी। आर्यों के बीच से ही अनार्यों का जन्म हुआ था। लोक-कल्याणकारी गुणों के धारण करनेवाले ही आर्य माने जाते थे और जो उन गुणों की उलटी दिशा में जाते थे, वे अनार्य कहे जाते थे। क्या रावण जाति या धर्म से अनार्य था? वह ऋषि-कुल में पैदा हुआ, ब्राह्मण-वर्ण का था, वेदों के रहस्यों का पण्डित था। उस समय हीन-कुल के लोगों से उत्तम गुण-युक्त कार्यों की आशा नहीं रखी जाती थी। ऐसी धारणा थी कि जिस समाज में श्रेष्ठजन का अभाव हो जाता है, वह समाज नष्ट हो जाता है[2]।

एक गाथा इस प्रकार है कि किसी वन में बहुत-से वृक्ष-देवताओं ने वृक्षों पर बसेरा ले रखा था। वह जंगल शेरों से भरा था। किसी कारणवश कुछ नासमझ वृक्ष-देवताओं ने डराकर शेरों को खदेड़ दिया। शेर भाग गये। शेरों की अधिकता के कारण उन वन में न तो बहेलिया घुसते थे और न लकड़हारे। शेरों का भागना था कि बहेलियों और लकड़हारों ने धावा बोल दिया। देखते-देखते सारा वन उजड़ गया।

---

१. सुत्तनिपात—धनियसुत्त—'अत्तेवतनभतोऽहमस्मि' ॥ ७ ॥

'अत्थि वसा अत्थि धेनुपा गोधरणियो पवेणिऽयोपि अत्थि।

उसभोऽपि गवंपती च अत्थि……॥ ९ ॥'

विशेष—'पैप्पलाद-संहिता' (३।२६) में घर-गृहस्थी का जो वर्णन आया है, वह सुत्तनिपात के उस वर्णन से मिलता है—

'अपहूता इह गाव अपहूता अजावयः।

अथो अन्नस्य कीलाल अपहूतो गृहेषु नः ॥'

हमारे घरों में दुधार गायें, भेंड़-बकरी हैं; अन्न को अमृत-तुल्य स्वादिष्ठ बनानेवाले रस भी हैं।

२. ब्यग्घ जातक।

वृक्षों के काटे जाने से वृक्ष-देवताओं को भी बेपनाह हो जाना पड़ा—वे भी इधर-उधर चलते बने।

भागे हुए बाघों को फिर से बुलाकर वन में देवताओं ने बसाना चाहा—

एथ ब्यग्घा, निवत्तव्हा, पच्चमेथ महावनं।
मा वनं छिन्दि निब्यग्घं, ब्यग्घा मा हेसु निब्बना॥

हे व्याघ्रो, लौटो और उस महावन में चलो, जिससे व्याघ्र-रहित वन को (लकड़हारे) न काटें और व्याघ्र भी विना वन के न रहें।

जिस समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति इधर-उधर चले जाते हैं, वह समाज कभी टिक नहीं सकता। तरह-तरह के उत्पात समाज के गठन को तोड़ डालते हैं और समाज-विरोधी तत्त्व ऊपर उठकर पूरे समाज को अन्त में तबाह कर डालते हैं। जातक-युग में ऐसी बात नहीं थी। उस समय श्रेष्ठ व्यक्तियों का आदर था; क्योंकि उनके प्रभाव से समाज के शत्रुओं को सिर उठाने की हिम्मत नहीं होती थी और समाज सुरक्षित रहता था।

इतिहास कहता है कि महाभारत के युद्ध में एक साथ ही सारे देश के श्रेष्ठ व्यक्तियों के नष्ट हो जाने का परिणाम इतना भयानक हुआ कि भारतवर्ष की रीढ़ ही टूट गई और वह सीधा तनकर खड़ा न हो सका। श्रेष्ठ व्यक्तियों से हीन समाज नरक-निवासियों का समाज बन जाता है। जातक-युग के समाज में ऐसी बात न थी। मानवीय दुर्बलताओं का अन्त नहीं किया जा सकता, वे सहजात दोष हैं। उन्हें कम किया जा सकता है और धर्म, उपदेश, नीति, दर्शन आदि का निर्माण इसी कार्य के लिए हुआ है। वेदकालीन समाज में भी यह ध्यान रखा जाता था कि पतित व्यक्ति अन्दर घुसने न पावें—जाति से, संस्कार से, कुल से, कुसंग से किसी भी दृष्टि-कोण से जो गिर चुका है, वह सत्य के मार्ग को, पार नहीं कर सकता[१]। गिरे हुए लोगों से समाज को बचाना और श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपना अगुआ बना कर अपनी उन्नति करना वेदकालीन समाज में भी था। व्यक्ति यदि अपने देवोपम गुणों के कारण पूजनीय हुआ, तो उसकी पूजा समाज की शक्ति की पूजा है, व्यक्ति की नहीं। जातक-युग के समाज में श्रेष्ठ व्यक्तियों का आदर होता था। भगवान् बुद्ध ने वर्षकार ब्राह्मण के प्रश्न करने पर कहा था कि 'जब तक वज्जी अपने वृद्धों (ज्ञानवृद्धों) का आदर करेंगे, वे अजेय बने रहेंगे[२]।' बाल पकने से ही कोई पूजा का पात्र नहीं माना जाता था। जातक-युग में ज्ञानी को, शीलवान् को आदरणीय माना जाता था।

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्य मोघजिण्णो'ति वुच्चति[३]॥

इसके बाद वंश-मर्यादा का भी कुछ कम खयाल न था। जो हीनकुल का

१. 'ऋतस्य पंथां न तरन्ति दुष्कृतः'—ऋग्वेद, ९।७३।६

२. महापरिनिब्बान सुत्त।

३. लकुण्टक भद्दिय स्थविर गाथा (धम्मपद) १९।५। मिलाइए—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।' (मनु० २।१५६)

होता था या जिसका रक्त अशुद्ध होता था, उसके द्वारा किसी उत्तम तथा गौरवपूर्ण कार्य के होने की आशा नहीं की जाती थी। ऐसे को अनार्य और असत्पुरुष कहा जाता था। जो अनार्य या असत्पुरुष है, उसका उपकार करना भी व्यर्थ ही होता है। वह स्वभाव से ही नीच और कृतघ्न माना गया है। समाज का यह दारुण-असहयोग उस गिरे हुए आदमी को खाक में मिला कर धर देता था। कहा है—

यथा बीजं अग्गिस्मिं डहति न विरूहति।
एवं कतं असप्पुरिसं डय्हति न विरूहति[१]॥

(जिस प्रकार) आग में डाला हुआ बीज खाक में मिल जाता है, (उसी प्रकार) असत्पुरुष (अनार्य और गिरे हुए व्यक्ति) का किया हुआ उपकार जल जाता है, नष्ट हो जाता है। कुल-मर्यादा या वंश-मर्यादा का खयाल वैदिक युग के समाज में भी रखा जाता था[२]। इस वैदिक युग के नियम (परम्परा) का निर्वाह जातक-युग में किया जाता था।

एक सिंह ने एक गीदड़ी से संग किया। बच्चा हुआ, जो शक्ल में सिंह-जैसा था; कन्तु स्वर था गीदड़ का[३]। वह सिंह के बच्चों के साथ खेलता-खाता था। जब सिंह के जवान बच्चे दहाड़ते, वह भी दहाड़ने की चेष्टा करता; मगर उसके मुँह से 'हुआँ-हुआँ' शब्द प्रकट होता था। एक दूसरी गाथा में साफ-साफ कहा गया है—

कुलपुत्तोव जानाति कुलपुत्ते पसंसितु[४]॥

कुल-पुत्र (श्रेष्ठ कुल में जो उत्पन्न हुआ है) ही कुल-पुत्र की प्रशंसा करना जानता है। इससे पता चलता है कि नीच-वंश में जिसने जन्म ग्रहण किया है, वह श्रेष्ठ वंश में जन्म-ग्रहण करनेवाले के महत्त्वपूर्ण कार्यों का मर्म नहीं जानता है, वह प्रशंसा क्या करेगा। एक सेठ कहता है—

एसम्हाकं कुले धम्मो पितु पितामहो सदा[५]।

इस वाक्य को अथर्व के 'अनुव्रतः पितुः पुत्रो' के सामने रखकर सोचें। दोनों में कितनी समता है। वेद का वचन जैसा है, भगवान् बुद्ध ने भी वैसी ही बात कही है। जाति-गौरव के सम्बन्ध में एक-से-एक गाथाएँ जातक में हैं[६]। सिन्धु देश का एक बछेड़ा था, जो एक बुढ़िया के यहाँ था। वह उसे चरागाह में चरने भेज देती थी और संध्या समय माँड़-भात और खरी-भूसा खाने को देती थी। बछेड़ा यही खाता था। जब उसे एक घोड़े का पारखी व्यापारी ले गया, तब उसने भी माँड़-भात,

---

१. महाअस्सारोह जातक।
२. आचार्य रघुवीर-परिष्कृत 'पैप्पलाद-संहिता' (प्रकाशक—सरस्वती-विहार, लवपुर, विक्रम-सं० १९९३); (५।१९।२)—'अनुव्रत॒पितु॒पुत्रो...।'
३. सीहकोत्थुक जातक।
४. जम्बुखादक जातक।
५. पीठ जातक।
६. कुण्डक—कुच्छिसिन्धव जातक।

खरी-भूसा खाने को दिया। घोड़े ने भूख-हड़ताल कर दी। व्यापारी हैरान हो गया; पर उसने कुछ नहीं खाया। जब व्यापारी ने भूख-हड़ताल करने का कारण पूछा, तो घोड़ा बोला—

यत्थ पोसं न जानन्ति जातिया विनये न वा।
पहू तत्थ महाब्रह्मे, आपि आचाम कुण्डकं॥
त्वञ्च खो मं पजानासि यादिसायं हयुत्तमो।
जानन्तो जानमागम्म न ते भक्खामि कुण्डकं॥

हे महाब्रह्म, जिस स्थान में लोग जाति या गुण नहीं जानते, वहाँ चावल, माँड़, पसावन ही बहुत है। मैं कैसा उत्तम (जाति का) घोड़ा हूँ, तू तो जानता है। अपना बल (जाति, नस्ल, गुण) जानता हुआ मैं तुझ जानकार के साथ आया हूँ, फिर ऐसा भोजन क्यों स्वीकार करूँ (जो मेरे उपयुक्त न हो)।

विडूडभ एक ऐसा ही राजा था, जो शुद्ध रक्त का न था। शाक्यों से उसके पिता प्रसेनजित् ने एक कन्या माँगी थी; किन्तु शाक्यों ने छल करके एक दासी-पुत्री को भेज दिया। इसी के पेट से विडूडभ का जन्म हुआ। शाक्यों का खुलकर उसने वध किया था। कुल-हीन क्या नहीं कर सकता!

महाभारत-युग में भी रक्त-शुद्धि पर बड़ा जोर दिया जाता था। गीता में साफ-साफ कहा है कि वर्ण-संकरता की वृद्धि होने से पिण्डोदक-क्रिया लुप्त हो जायगी। कुल का भी नाश हो जाता है।

व्यक्तिगत और जातिगत का सवाल जरा गम्भीर है। जातक-युग में ऐसे व्यक्तियों की भी निन्दा होती थी, जो कुल-धर्म या कुल-परम्परा का त्याग कर नीचे गिरता था और ऐसी जाति की भी निन्दा होती थी, जो पतित मानी जाती थी। गीदड़ों की एक गाथा है। किसी वन में तपस्वी रहते थे, उन्होंने एक छोटा-सा गड्ढा तैयार किया था, जिसमें पीने के लिए पानी रहता था। तपस्वी उस गड्ढे को साफ-सुथरा रखते थे। गीदड़ रात को आते थे और पानी पी लेने के बाद पानी में ही मल-त्याग कर देते थे। एक गीदड़ पकड़ा गया। प्रश्न करने पर उसने तपस्वियों से कहा—'यह हमारा जातिगत धर्म है।' तपस्वी बोले—'जिस जाति का धर्म इतना गन्दा है, उस जाति का अधर्म कैसा होगा'[१]? दूसरी गाथा है—एक गीदड़ से सिंह ने मित्रता की। गीदड़ शिकार की टोह में वनों में घूमता था और सिंह को बतला देता था। सिंह गुफा में लेटा रहता था। गीदड़ के सुराख देने पर वह विना परिश्रम के शिकार मार लेता था। गीदड़ ने सोचा कि 'मैं भी शिकार कर सकता हूँ।' वह हाथी का शिकार करने गया, सिंह ने मना किया कि गीदड़ हाथी का शिकार नहीं कर सकता; मगर उस गीदड़ ने एक न माना। नतीजा यह हुआ कि उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े[२]।

हीन जातिवाला उच्च जातिवाले की समता नहीं कर सकता; क्योंकि

१. उपदानदूसक जातक।
२. विरोचन जातक और सूकर जातक।

उसमें उन गुणों का अभाव होता है, जिन गुणों की बहुलता उच्च जातिवाले में होती है। जिसकी जैसी जाति होती है, उसी के अनुरूप उसके भीतर गुण होते हैं—बाज की तरह कौआ झपट्टा नहीं मार सकता, यद्यपि वह भी मांसाहारी है। बाज का झपट्टा मारना उसका व्यक्तिगत गुण नहीं है, जातिगत गुण है।

उत्तम जाति के घोड़े का निरादर करके एक राजा हीन जाति के घोड़े पर चढ़कर युद्ध करने गया—वह हार गया। जब उसने फिर उत्तम जाति के घोड़े पर सवारी की, तो जख्मी हो जाने पर भी उस घोड़े ने राजा को विजयी बना दिया[1]।

जो जाति से संस्कारहीन हो, उसे आश्रय देना भी जातक-युग में वर्जित था—ऐसे का प्रतिपालन तो और भी खतरनाक माना जाता था। एक तपस्वी की कथा है, जिसने दया के कारण साँप के बच्चे को पाला। उसने तपस्वी को चुटुक लिया। वह बेचारा मर गया[2]।

जो नीच-जाति का हो, मगर ऊपर से देखने में सुन्दर लगे, उससे भी सावधान रहने की बात कही जाती थी। एक विषफल, जो आम-जैसा था, मना करने पर भी कुछ लोगों ने न माना, उसे खा गये। बाद में तड़प-तड़प कर मर गये।[3] सुन्दर वस्तु के लिए भी जानना उचित है कि वह जाति से क्या है। यदि विष-फल हो, तो फिर उसका त्याग ही श्रेयस्कर है। पतित जाति के धूर्त्त सन्तों-जैसा रूप बनाकर अपनी पूजा करवाते हैं—इस बात की ओर भी ध्यान दिया जाता था[4]।

समाज को गिरे हुए लोगों से बचाकर विकसित करना तत्कालीन नेताओं का प्रधान कर्त्तव्य था। वे सतत प्रयत्न करते थे कि नीच-भावना का प्रवेश समाज में न होने पावे। यह भी विश्वास था कि किसी समाज की उन्नति श्रेष्ठ कुलवालों के सहयोग से होती है। जातक-युग में कुलीनता का बड़ा खयाल रखा जाता था और कुलहीनों से समाज को भरसक दूर रखने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसा विश्वास था कि कुलीन व्यक्ति जानते या अनजानते कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेगा, जिसके परिणाम-स्वरूप समाज का स्तर नीचे गिरने की सम्भावना हो या उत्तम परम्पराओं पर आँच आवे। ठीक इसके विपरीत, अकुलीन व्यक्ति से किसी भी उत्तम विचार या कार्य की उम्मीद रखी ही नहीं जा सकती। इसलिए, यदि कोई नीच व्यक्ति तेज धारा में बहा जा रहा हो, तो उसे बाहर निकालने से कहीं अधिक अच्छा है, बहती हुई लकड़ी को बाहर निकालना।

सच्चं किरेवमाहंसु नरा एकच्चिया इध।
कट्ठं विप्लावितं सेय्यो न त्वेवेकच्चियो नरो[5]॥

समाज की शुद्धि के लिए और विकास के लिए कितनी कठोर व्यवस्था दी

१. भोजाजानीय जातक।
२. वेलुक जातक।
३. किम्पक्क जातक।
४. अग्गिक जातक।
५. सच्चंकिर जातक।

गई है—सोचकर आश्चर्य होता है। विना कठोर नियमों और बन्धनों के, न तो व्यक्ति का विकास सम्भव है और न समाज का। अनियंत्रित स्वतन्त्रता नाश कर देती है, जब कि अत्यधिक बन्धन से अचलता पैदा होती है। बीच का ही मार्ग सरल और सुगम है। महाभारत की लड़ाई के बाद भारतीय समाज में जो छिन्न-भिन्नता पैदा हो गई थी, उसकी झलक जातक-काल के समाज में मिलती है। फिर से समाज को गठित करने के लिए कठोर नियमों और बन्धनों की आवश्यता तब पड़ती है, जब उसका गठन किया जाता है। गठित हो जाने के बाद अपनी धुरी पर समाज स्वयं घूमने लगता है। निर्माण की व्यवस्था में ही पूरी ताकत और सतर्कता बरती जाती है। निर्माण जब पूर्णता में परिणत हो जाता है, तब उसकी स्थिति स्वयं दृढ़ हो जाती है, वह अपने-आपमें पूर्ण हो जाता है। उस समय, बिखरे हुए समाज का नवनिर्माण किया जा रहा था; अतः छोटी-छोटी बातों की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी, नियम भी कठोर थे।

शील, सदाचार

वैदिक युग का सदाचार दोषों से रहित रहा होगा, ऐसी कल्पना तो हम नहीं कर सकते; किन्तु इतना तो कह सकते हैं कि वह युग ऐसा था जब सदाचार पर बहुत जोर दिया जाता था। उस युग में ऐसी धारणा रही थी कि आचार ही प्रथम धर्म है तथा एक ऐसा गुण है, जिसकी रक्षा करता हुआ मानव मानवता का चरम विकास कर सकता है। राजा धर्म के लिए शासन करता था। गुरु धर्म की रक्षा के लिए शिष्य को तैयार करता था। समाज के आदरणीय व्यक्ति इस बात के लिए खड्गहस्त रहते थे कि समाज के भीतर अनाचार का प्रवेश न होने पावे। परिवार धर्म के बन्धन में बँधा होता था। मानव अपने भीतर धर्म की मर्यादा की प्रतिष्ठा करने के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को प्रस्तुत रहता था। यहाँ हम 'धर्म' शब्द उसके व्यापक अर्थ में लिख रहे हैं, न कि सम्प्रदाय-विशेष के अर्थ में। सच्ची बात है कि 'धर्म' शब्द की व्यापकता नष्ट करने का जो जघन्य पाप बाद में कमाया गया, उसने मानवता का गला ही घोंट दिया। धर्म के द्वारा रक्षित, धर्म के द्वारा शासित और धर्म के लिए उत्सुक वैदिक युग का मानव हमसे बहुत भिन्न था। यही धर्म शील और सदाचार के रूप में बदल जाता था, इसमें मतभेद न होगा। यजुर्वेद का मानव प्रार्थना करता था—

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
(२५।२१)

हे विद्वानो, हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखों से देखें और अपने दृढ अंगों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो।

यह बहुत बड़ी प्रार्थना है। वैदिक युग का मानव-समाज न तो अहितकर बात सुनना चाहता था और न ऐसी बात वह बोलना ही पसन्द करता था, जिससे

कल्याण का नाश होने की संभावना हो। आँखों से भी बुरी चीजें देखना उसे रुचिकर न था। वह चाहता था कि अपने शरीर से सदा ऐसे कर्म करे, जिससे विद्वानों का, सज्जनों का, श्रेष्ठजनों का हित हो। उसने हाथ जोड़कर पाप से कहा था—'हे पाप! तू मुझसे दूर हट जा। मुझसे बुरी बातें क्यों कहते हो'—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामय वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः[1]॥

क्योंकि उस युग का प्रत्येक मानव सत्य-पथ पर चलना चाहता था—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव[2]।

उस युग में शील-चरित्र पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था। सभी सम्पदाओं से बड़ी सम्पदा थी सच्चरित्रता। भौतिक सिद्धि-लाभ करने के बाद ही कोई आध्यात्मिक मुक्ति की कामना कर सकता है—भौतिक सिद्धि उच्च कोटि की नैतिकता से ही प्राप्त होती है। वेदों ने भौतिक सिद्धि पर बहुत अधिक जोर दिया है, जो आध्यात्मिक मुक्ति की आधार-शिला है। जातक-युग में भी इसी बात पर जोर दिया जाता था। भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आध्यात्मिक जीवन के विकास का सपना देखना सपना ही है। इस सत्य को ध्यान में रखकर वेद-कालीन समाज को 'शील' का का बार-बार उपदेश दिया गया है तथा इसी सत्य को रामायण-युग के आचार्यों ने तथा महाभारत-युग के ज्ञानियों ने स्वीकार किया है। जातक-युग तो 'शील' की पुकारों से गूँज रहा है। अब हम दो-चार उदाहरण, वैदिक युग के समाज का, देकर जातक-युग की ओर झाँकने का प्रयास करेंगे।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक ग्रन्थ है 'ताण्ड्य-ब्राह्मण'। इस ब्राह्मण का कहना है कि 'सत्य के रास्ते ही स्वर्ग तक पहुँचा जा सकता है[3]।' सत्य भौतिक सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति का संयोजक पुल है—

ऋतेनैवं स्वर्गं लोकं गमयति।

स्वर्ग प्राप्त करना आध्यात्मिक मुक्ति है, जिसकी प्राप्ति भौतिक सिद्धि से (सत्य के द्वारा) ही होती है। यहाँ 'सत्य' शब्द व्यापक अर्थ में आया है। केवल मौखिक सत्य को ही सत्य कहना ठीक नहीं है—मन से, वचन से और कार्यों से जिस सत्य की प्रतिष्ठा की जाती है, वही सत्य सत्य है। इसी सत्य को लक्ष्य करके 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' ने अपना मत व्यक्त किया है। वैदिक युग का समाज निश्चय ही 'शील' की दृष्टि से एक आदर्श समाज था; क्योंकि वह युग ही ऐसा था, जब चारों ओर से शीलवान् व्यक्ति की माँग थी। वह निर्माण का युग था और तेज आँच में तपा कर मानव को सुन्दर-से-सुन्दर ढाँचे में ढाला जा रहा था। पूरा वैदिक वाङ्मय इसका गवाह है। 'आर्य' शब्द 'देवता' शब्द से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था—

---

१. अथर्व, ६।४५।१

२. ऋग्वेद संहिता, ५।५१।१५ (सातवलेकर-संस्करण, औंध; द्वितीयावृत्ति, सन् १९४० ई०)

३. ताण्ड्यब्राह्मण, १८।२।९

कारण क्या है? 'आर्य'-जैसा गौरवपूर्ण पद जिन मानवों ने धारण किया था, वे जीवन के सभी अंगों में श्रेष्ठ थे। यही कारण है कि 'अनार्य' शब्द गाली-जैसा बन गया था।

भगवान् बुद्ध ने 'आर्य' शब्द को स्वीकार किया और ऐसा लगता है कि उन्होंने वैदिक युग को ही उठाकर अपने युग में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। वैदिक युग के बाद जातक-युग में 'आर्य' शब्द का जितना प्रयोग हुआ है, उतना न तो रामायण-युग में हुआ और न महाभारत-युग में। बुद्ध भगवान् ने आर्यत्व के गौरव का अनुभव किया और उन्होंने प्रयत्न किया कि वे लोगों में भी इस आर्यत्व के गौरव की ज्योति जगा दें।

अब हम जातक-युग के समाज की ओर आपको चलने के लिए प्रेरित करेंगे। जातक-युग के समाज में शील का, आर्यत्व का क्या स्थान था! शील आर्यत्व का विशेष गुण था। आत्माभिमान या आत्मगौरव की भावना को 'अहंकार' कह सकते हैं, यदि उसका आधार मिथ्या हो। सत्य पर, गुणों पर आधारित आत्माभिमान किसी जाति की वह विशेषता है, जो उसे लगातार ऊपर उठाती रहेगी। यों तो 'मानव' होना ही कुछ कम गौरव की बात नहीं है; किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने को मानव मानकर मानवता का अभिमान करे, यह एक कल्पना-संभूत सुख-सपना-मात्र है। अपने प्रकाशमान् इतिहास के कारण कोई जाति प्रेरणा, प्रगति और आत्मगौरव का अनुभव करती है और वह चाहती है कि अपने इतिहास में नये गौरवपूर्ण परिच्छेद जोड़े, जिससे आनेवाली संतान महत्त्व का अनुभव करे। आर्यों का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है—सभी दृष्टियों से, और यही कारण है कि अपने को 'आर्य' कहना जातक-युग में भी आत्माभिमान, आत्मगौरव का प्रतीक माना जाता था। जो अपने को आर्य कहते थे, वे आर्योचित गुणों का धारण करते थे और प्रत्येक काम करते समय रुककर सोच लेते थे कि कहीं उनके आर्यत्व पर धब्बा न आ जाय—कहीं उनका जातीय, यानी राष्ट्रीय गौरव नीचे न गिर जाय।

भगवान् बुद्ध ने[१] 'सत्य' को, जो स्वयं प्रकाश है, आर्य विशेषण से भूषित कर दिया था, जो (आर्य-सत्य) दूसरे सभी प्रकार के सत्यों से श्रेष्ठ माना गया है। वे चार प्रकार के आर्य-सत्य ये हैं[२]—

१. दुःख—आर्य-सत्य,
२. दुःख—समुदय आर्य-सत्य,
३. दुःख—निरोध आर्य-सत्य और
४. दुःख—निरोध की ओर ले जानेवाले मार्ग आर्य-सत्य।

आर्य-सत्य का अर्थ होता है—श्रेष्ठ सत्य।

आर्य-जाति ने जिस सत्य को अपनाया; वह सत्य आर्य-सत्य हुआ—श्रेष्ठजनों के द्वारा अपनाया हुआ श्रेष्ठ सत्य। आर्यों की मुहर लग जाने के कारण ही सत्य को

१. सुत्तपिटक या विनयपिटक या अभिधम्मपिटक द्रष्टव्य।

२. ऋषिपत्तन, मृगदाव (सारनाथ, बनारस) में धर्मचक्र चलाते हुए बुद्ध का वचन।

श्रेष्ठत्व की प्राप्ति हुई। जिस जाति ने अपनी छाप 'सत्य'-जैसे चिरन्तन तत्त्व पर भी लगा दी, उस जाति में यदि आत्मगौरव या आत्माभिमान हो, तो वह उचित ही है। महाभारत (सभापर्व १६) में कहा है—'कालो हि दुरतिक्रमः'। काल तो सबके लिए दुर्लंघ्य है। समय बीता और आर्य-गौरव नीचे की ओर खिसका। भगवान् बुद्ध ने उस गिरती इमारत के सँभालने में पूरा जोर लगाया और उन्होंने फिर से आर्य-गौरव को उठाकर उसके सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर देना चाहा, जहाँ से वह खिसक पड़ा था। समाज में फैले हुए विकारों का उन्होंने संहार करना चाहा और ऐसा किया भी। भगवान् ने फिर से भारतवासियों के मन में आर्यत्व की महिमा का प्रकाश फैलाया। उन्होंने उस 'शील' की प्रतिष्ठा की, जो कमजोर पड़ चुकी थी। तत्कालीन भारतवासी संभवतः भूल गये थे कि वे उस महान् आर्य-जाति की सन्तान हैं, जिसने जीवन के सभी अंशों को भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों क्षेत्रों में प्रकाश से भर दिया था। उस जाति ने चिन्तन और आचार-व्यवहार की एक परम्परा बनाई थी तथा ऐसी अनेक विकासात्मक परम्पराओं की स्थापना की थी, जो सबके लिए वरदान-तुल्य थीं। भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने गौरवमय अतीत की ओर देखा और फिर भविष्य की ओर भी—यह उनकी तपस्या की चरम सिद्धि थी। उन्होंने वैदिक युग की महान् आर्य-संस्कृति को उठाकर 'वर्त्तमान' के आँगन में रख दिया और भविष्य के बन्द दरवाजों को खोल डाला। निश्चय ही बुद्धदेव के बाद का भारत गिरा हुआ भारत नहीं, शानदार भारत था। उस युग को स्वर्ण-युग कहा जाता है।

जातक-युग में शील पर पूरा जोर दिया जाता था। बहुत-सी कथाएँ ऐसी आई हैं, जिनसे शील का महत्त्व पूरा-पूरा प्रकट होता है। उन्नति के छह द्वार बतलाये गये हैं—

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं
सीलं च बुद्धानुमतं सुतं च।
धम्मानुवत्ती च अलीनता च
अत्थस्स द्वारा पमुखा छडेते[1] ॥

निरोगता पहला लाभ है, शील (सदाचार) दूसरा लाभ है, ज्ञान-वृद्धों का उपदेश तीसरा लाभ है और बहुश्रुतता, धर्मानुकूल आचरण, अनासक्ति—ये छह लाभ उन्नति के मुख्य द्वार बतलाये गये हैं। शील के सम्बन्ध में कहा है—

सीलं किरेव कल्याणं सीलं लोके अनुत्तरं[2] !

शरीर, वाणी तथा मन से सदाचार के नियमों का पालन करना ही आचार-शील है (किर = परम्परा)।

बौद्ध-त्रिशरण में शील का सबसे पहला स्थान है। मन, वचन और कर्म की शुद्धि शील से होती है। एक स्थान पर गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियों के नाम

१. अत्थस्सद्वार जातक।
२. सीलविमंस जातक।

गिनाकर कहा गया है कि प्राणियों के मल ये पवित्र-नदियाँ नहीं धो सकतीं। बाहर और भीतर को पारदर्शी बनाने की शक्ति एक मात्र शील में है —व्यर्थ के बाह्याडम्बर से कुछ भी बनता नहीं। ये तो मूर्खों के मन बहलाने के साधन-मात्र हैं।

न गंगा यमुना चापि सरयू वा सरस्सती।
निन्नगा वा चिरवती मही वापि महानदी॥
सक्कुणन्ति विसोधेतुं तं मलं इध पाणिनं।
विसोधयति सत्तानं यं वे सीलजलं मलं[१]॥

एक बार भगवान् बुद्ध ने पाटलिग्राम (पाटलिपुत्र) के उपासकों को सम्बोधित करके कहा था—

शील पाँच प्रकार के महालाभ देते हैं[२]—

१. पाप-विषय में लिप्त न हो, सदाचारी बना रहे और अप्रमादी रहकर कर्त्तव्य का पालन करने से अपार भोग-वस्तुओं की अनायास प्राप्ति होती है। शील-पालन का यह पहला फायदा है।
२. शीलवान् पुरुष का सुयश सर्वत्र फैलता है, यह दूसरा लाभ है।
३. शीलवान् पुरुष निर्भय रहता है, यह तीसरा लाभ है।
४. मरते समय शीलवान् अपना ज्ञान नहीं खोता, होश में रहता है। यह चौथा लाभ है।
५. मरने के बाद सुन्दर गति प्राप्त होती है, स्वर्ग में जन्म ग्रहण करता है। यह पाँचवाँ लाभ है।

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट होता है कि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह के लाभ शील के द्वारा प्राप्त होते हैं। दुःखद परिणामवाले कर्मों से बचे रहने का आदेश दिया जाता है[३]।

अत्तानुवादादिभयं विद्धंसयति सब्बसो।
जनेति कित्तिहासञ्च सीलं सीलवतं सदा॥
गुणानं मूलभूतस्स दोसानं बलघातिनो।
इति सीलस्स विञ्ञेय्यं आनिसंसकथा मुखं[४]॥

अपने शील के कारण शीलवान् निन्दा-प्रशंसा के भय से मुक्त रहता है। निश्चय ही शीलवान् यश और आनन्द का भागी होता है। शील सभी गुणों का मूल है और शील से दोषों की जड़ें कमजोर हो जाती हैं, उनका बल क्षीण हो जाता है। यह शील की महिमा है।

---

१. विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस, २४ (भारतीय विद्या-भवन, अँधेरी, बम्बई, १९४० ई०)
२. विनयपिटक (प्रथम संस्करण, १९३५ ई०), पृष्ठ २३९ ; राहुल सांकृत्यायन
३. धम्मपद, बालवग्ग, १८—
  'न त कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति।
  यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति॥'
४. विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस, २४ (भारतीय विद्या-भवन, अँधेरी बम्बई, १९४० ई०)

सारा बौद्ध वाङ्मय शील की प्रशंसा से भरा हुआ है। कहा गया है कि अशान्त पुरुष अपने और दूसरों के लिए संकट होता है और शील-रहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती। वह सदा सोचा करता है—

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे[१]।

उसने मुझे मारा, गाली दी, हराया, लूट लिया आदि उत्तेजनावर्द्धक विचारों से पगला बना हुआ अशान्त व्यक्ति (शील-रहित व्यक्ति) सदा हीन विचारों में उलझा रहता है। उसकी आत्मा जलती रहती है, उसके बुरे विचार उसे धकेलकर नीचे गिराया करते हैं, चैन लेने नहीं देते और अन्त में कहीं का भी रहने नहीं देते। जिसके जीवन में शील नहीं है, उसे शान्ति कहाँ, गौरव और सुख कहाँ। उसका इहलोक तो नष्ट होता ही है; परलोक भी चौपट हो जाता है।[२] इस तरह के दुःशील और असंयमी को राष्ट्र का अन्न खाने का अधिकार नहीं है। भगवान् बुद्ध ने कहा है —

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गि सिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो[३]॥

दुःशील और असंयमी होकर राष्ट्र का अन्न खाने से अच्छा है कि आग में तप्त लोहे का गोला खा जाय।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध भगवान् शील को अत्यन्त महत्त्व देते थे। वैदिक वाङ्मय में भी हम शील की प्रशंसा में अनेक महावाक्य पाते हैं। यह तो आर्य-संस्कृति की विशेषता है जो वह 'शील' को सभी गुणों से ऊँचा स्थान देती है। बुद्धदेव ने भी उसी मार्ग को अपनाया, जिस मार्ग पर चलकर आर्य-जाति ने अपना सम्यक् आत्मविकास किया था। सही बात तो यह है कि भगवान् लुप्तप्राय आर्य-गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए ही धरती पर पधारे। तरह-तरह के वितण्डावादों तथा बाह्याडम्बरों में उलझ कर आर्यत्व अपने स्थान से खिसक चुका था। गलत लोगों से पिण्ड छुड़ाने के लिए बुद्ध भगवान् ने साफ-साफ कहा कि—मनुष्य अपना बनाने-बिगाड़नेवाला खुद है। अपने भले-बुरे का स्वामी आप है। दूसरा कोई भी नहीं है। यदि अपने को भली भाँति वश में कर ले, तो वह दुर्लभ नाथ-पद प्राप्त कर सकता है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं[४]॥

हम दूसरों पर शासन करना चाहते हैं, दूसरे को वश में रखने को व्यग्र रहते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हम अपने ऊपर शासन करें। यह तो अजीब-सी बात है कि हम दूसरों को अपने इशारे पर नचाना चाहते हैं; किन्तु अपने ऊपर अपना कोई

१. धम्मपद, १।३ (यमक वग्ग)
२. विशुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस २४
३. धम्मपद, निरयवग्ग—२२।३
४. धम्मपद, अत्तवग्गो—१२, ४

वश नहीं चलता। शीलवान् ही आत्मजित् बनकर अपना दमन कर सकता है। दूसरों का दमन करनेवाला अत्याचारी माना जाता है, उसका नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन हो जाता है; किन्तु शीलवान् दूसरे को उपदेश करने के बदले अपना दमन करता हुआ परम पद प्राप्त करता है। वह इह-लोक और पर-लोक दोनों को जीत लेता है।

अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो[१]॥

इन उपदेश-वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धदेव ने मानव को उसकी पूर्ण-प्रतिष्ठा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया था। मानव अशेष शक्ति-सम्पन्न स्वयम् प्रभु है। मानव के भीतर जिन दिव्य शक्तियों का अस्तित्व बीज-रूप में है, उन शक्तियों का विकास शील के द्वारा ही सम्भव है। वैदिक वाङ्मय में बार-बार इस सत्य पर प्रकाश डाला गया है। यदि हम वैदिक वाङ्मय में से और बौद्ध वाङ्मय में से शीलवाले अंश को निकाल डालें, तो फिर कुछ भी बचता नहीं—सब कुछ शेष हो जाता है।

जातक-युग में बार-बार शील की ओर जनता का ध्यान दिलाया जाता था और बुरे लोगों की निन्दा की जाती थी। शील का ज्यों-ज्यों अभाव होता है, मानव, परिवार, समाज या राष्ट्र नीचे गिरता जाता है। इस गम्भीर खतरे की ओर पूरी सतर्कता से ध्यान दिया जाता था। सदाचार (शील) को प्रथम धर्म का स्थान देकर ही बुद्धदेव ने आगे की बातें कही हैं। आत्मनिरोध के द्वारा आत्मोन्नति करने की बात पर जातक-युग में काफी जोर दिया जाता था। आत्मनिरोध शील ही तो है। भगवान् बुद्ध ने अपने महानिर्वाण के दिन भिक्षुओं को जो उपदेश दिया था, उसमें उन्होंने सात मार्ग[२] (अपारमिताएँ) बतलाई हैं। इन मार्गों को सात रत्न कहा जाता है। ये सात रत्न शील हैं—पाप रोकने का प्रयत्न; पाप की जो अवस्थाएँ पैदा होती हैं, उन्हें रोकने का प्रयत्न; भलाई करने और बढ़ाने का प्रयत्न। इन रत्नों से अलंकृत मानव जीवन-भर शुभ विचारों और कर्मों में ही लगा रहेगा। कामासक्ति, राग-द्वेष, अभिमान आदि दस प्रकार की अविद्याओं के बन्धनों से मुक्त होकर ही कोई भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है।[३] उसी के विचार शान्त हैं, उसी के वचन और कर्म शान्त हैं, जो सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वतन्त्र और शान्त हो गया है।

शील को सभी उन्नतियों का मूलमन्त्र माना गया है। जातकों में जो शील की उपेक्षा करते थे, उनकी कुगति का भी खुलकर वर्णन मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि जातक-युग धीरे-धीरे वैराज्य—राज्यहीन राज्य की ओर जा रहा था। भगवान् बुद्ध के शील-सम्बन्धी उपदेशों और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि जनता को वे स्व-शासन की दिशा में ले जाना चाहते थे। ज्यों-ज्यों जनता का नैतिक स्तर ऊपर उठता जायगा, शासन का बन्धन ढीला पड़ता

१. धम्मपद, अत्तवग्गो—१२, ३
२. महापरिनिब्बान सुत्त, ३।६५
३. धम्मपद, ९०।९६

जायगा, शासन का अस्तित्व ही कमजोर होता जायगा। अन्त में शासन का केवल नाममात्र ही शेष रहेगा। हो सकता है कि यह काल्पनिक चीज हो और व्यवहार में ऐसा सम्भव न हो; किन्तु बात गलत नहीं है। भगवान् बुद्ध ने बार-बार कहा है कि—अपने भले-बुरे का दायित्व तुम पर है, और किसी पर नहीं।

इस प्रकार उन्होंने न केवल मानव की अजेय शक्तियों को ही जगाया है; बल्कि मानव को स्मरण दिलाया है कि तुम क्या हो। जातकों की अनेक कथाएँ इस बात को पुष्ट करती हैं। कम-से-कम शासन की तलवार के नीचे रहना अधिक-से-अधिक हितकर है। शील धारण कर लेने के बाद जीवन का कुछ ऐसा सिलसिला बन जाता है कि शासन का पंजा उसे दबोच नहीं सकता। वैदिक युग के ऋषियों ने भी इस सत्य पर पूरी तरह प्रकाश डाला था[1]। उस युग के समाज का गठन भी कुछ इसी आधार पर था कि 'शासन' की कोई वैसी जरूरत न थी। धर्म के आधार पर एक दूसरे की रक्षा करते थे।

'शील' केवल शील के लिए नहीं हैं। जीवन को ऊपर उठाने में शील का मुख्य योग रहता है और पूर्ण विकसित मानव-समाज को किसी दूसरे के इशारे पर नाचने की जरूरत नहीं है। वह भय-रहित होता है। वैराज्य की स्थिति तभी पैदा हो सकती है, जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति पूर्णरूपेण शीलवान् हो, वह दुर्गुणों और विकारों से ग्रस्त न हो। वैराज्य-शासन का जिक्र ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है[2]। जैन 'आचारांग-सूत्र'[3] में भी वैराज्य का नाम आया है। 'अराजक'[4] या विना शासकवाली शासन-प्रणाली आदर्शवादियोंकी शासन-प्रणाली थी। आततायियों के उपद्रव से ग्रस्त राज्य के अर्थ में अराजक शब्द का व्यवहार किया जाता है। अराजक शासन-प्रणाली का तात्पर्य यह था कि केवल कानून और धर्म-शास्त्र को ही शासक मानना चाहिए, किसी व्यक्तिविशेष को नहीं। इसमें शासन का अधिकार नागरिकों का पारस्परिक निश्चय या सामाजिक बन्धन माना जाता था। यह प्रजातन्त्र-प्रणाली की मानो चरम सीमा थी[5]।

शील के द्वारा व्यक्ति का नैतिक स्तर इतना ऊपर उठा देने का प्रयास जातक-युग में होता था कि वह अपने ऊपर स्वयम् शासन कर सके। बतलाया तो यह जाता था कि शीलवान् को स्वर्ग या मुक्ति मिलती है; किन्तु स्वर्ग या मुक्ति मिले या न मिले, शासन के भार से तो वह इसी धरती पर मुक्त हो सकता था। शील का रूप इतना व्यापक होता है कि वह धर्म, अर्थ, काम को पूरा करता हुआ मोक्ष तक पहुँच जाता है। जिस तरह आध्यात्मिक मोक्ष की हमें आवश्यकता है, उससे कम भौतिक मोक्ष की आवश्यकता हमारे जीवन में नहीं है। शील पहले भौतिक मोक्ष ही हमें दिलायेगा, तब आध्यात्मिक मोक्ष।

---

१. जिमर-लिखित Alt-indisches Leleen और मैकडोनल्ड तथा कीथ-कृत Vedic Index में 'आर्य' और 'जन' शीर्षक लेख पढ़िए।
२. ऐतरेय ब्राह्मण (आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना; द्वितीय संस्करण, १९३१ ई०); अध्याय ३८, खण्ड २
३. आचारंगसुत्तम् (जैकोबी-संस्करण) पृष्ठ ८३, 'वेरज्जानि'—शब्द।
४. 'हिन्दू पॉलिटी' १०१, डॉ० जायसवाल-कृत।
५. जायसवाल—'हिन्दू पॉलिटी', १०१

तीसरा परिच्छेद

शिक्षा और शिक्षा-प्रणाली

वैदिक युग में शिक्षा का महत्त्व आर्यों ने समझा था; क्योंकि यह वह कला थी, जिससे व्यक्ति, व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र को अभ्युदय और श्रेय की सिद्धि मिलती थी। भौतिक सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति की नींव शिक्षा पर ही थी। आर्यों ने शिक्षा को ऐसा रूप दिया था कि वह जीवन में एकाकार हो जाता था, जैसे दूध में जल या मिसरी। जीवन के सम्बन्ध में जैसी धारणाएँ उस युग में थीं, उस युग के विचारक जीवन को जिस साँचे में ढालना चाहते थे, शिक्षा उसकी पूर्त्ति करती थी। वैदिक युग के विचारकों के सामने जीवन की एक तस्वीर थी और उन्होंने शिक्षा को—उस तस्वीर को पूर्णता तक पहुँचाने का काम सौंपा था—पढ़ा देना और पढ़ लेना ही काफी न था। क्यों और क्या पढ़ाया जाय, किस हेतु पढ़ा जाय, इन सवालों पर गहराई से विचार किया गया था—

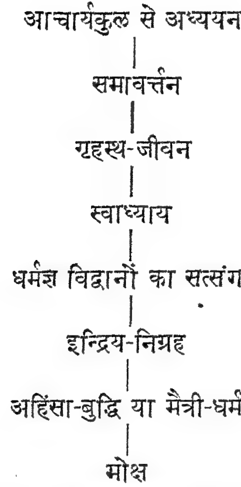
आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते[1] ॥

आचार्य-कुल से वेदाध्ययन करके, गुरुदक्षिणा देकर, समावर्त्तन द्वारा कुटुम्ब में आवे और (वहाँ भी) स्वाध्याय में लगा रहे। धर्मज्ञ विद्वानों के सत्संग में रह कर इन्द्रियों को वश में करे। अहिंसा-बुद्धि से (मैत्री-धर्म से) सभी प्राणियों को देखता हुआ, आयु-पर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। वह ब्रह्मलोक जाता है और वहाँ से फिर लौटकर नहीं आता, कभी नहीं आता।

प्रारम्भ में अध्ययन है और अन्त में सुगति, मोक्ष। इससे यह स्पष्ट हुआ कि अध्ययन की धरती पर खड़ा होकर धीरे-धीरे उठता हुआ कोई मोक्ष के चाँद को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। अब हम इस क्रम से विचार करें—

---

१. छान्दोग्य-उपनिषद्, अध्या० ८, खण्ड १५, श्लोक १



यह एक सीधा और साफ रास्ता है, जिसकी खोज आर्य-विचारकों ने की थी। अध्ययन का अन्तिम फल मोक्ष माना गया है, यदि वह सम्यक् रीति से किया गया हो और उसे आत्मसात् कर लिया गया हो। आर्य-विचारकों ने शिक्षा को जीवन-निर्माण तथा राष्ट्र-निर्माण का मूल मन्त्र माना था। शिक्षा के साँचे में उन्होंने व्यक्ति को ढाला। ऐसे व्यक्तियों से परिवार, समाज और राष्ट्र बना। यह परिणाम हुआ कि सारा-का-सारा राष्ट्र आन्तरिक भाव से एक ही सूत्र में आबद्ध हो गया। उसका गठन इतना ठोस हो गया कि आजतक टूटते-टूटते भी टूट न सका। यह एक विचित्र चित्र है। वह शिक्षा साधारण नहीं हो सकती, जो हमारे सोचने के ढंग को परिष्कृत और व्यापक बनाती है, सत्य-पूत दृष्टि-कोण देती है, जीवन के सम्बन्ध में ऊँची-से-ऊँची धारणाएँ देती है, हमारे भीतर जो शक्तियाँ निहित हैं, उन्हें सही दिशा में उभरने की प्रेरणा देती है, हमें बतलाती है कि हम अपने ऊपर कैसे शासन करें, हमारे सामने हमारे रूप को स्पष्ट करती है। हमारे मन, वाणी और कर्म में पवित्रता भरकर उन तीनों में एकसूत्रता पैदा कर देती है, विविधता के भीतर जो शाश्वत एकता है, उसका ज्ञान कराती है और अन्त में हमें नर से नारायण के पद तक पहुँच जाने की शक्ति देती है।

ऋग्वेद में एक मन्त्र आया है, जो विद्या के सम्बन्ध में आर्य-विचारकों के गहरे विचार का परिचायक है—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥१०॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥११॥
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति[1] ॥१२॥

१. ऋग्वेद संहिता, मण्डल १, सूक्त० ३, मन्त्र १०, ११, १२

इस मन्त्र का अन्वय इस तरह होगा—

सरस्वती नः पावका, वाजेभिः वाजिनीवती; धियावसुः यज्ञं वष्टु ॥१०॥
सुनृतानां चोदयित्री, सुमतीनां चेतयन्ती, सरस्वती यज्ञं दधे ॥११॥
सरस्वती केतुना महो अर्णः प्र चेतयति, विश्वा धियः वि राजति ॥१२॥

विद्या हमें पवित्र करनेवाली है, अन्नों को देने के कारण अन्नवाली है, बुद्धि से होनेवाले अनेक कर्मों से नाना प्रकार के धन देनेवाली (यह विद्या) यज्ञ की सफलता करे। सत्य से होनेवाले कर्मों की प्रेरणा करनेवाली, सुमतियों को बढ़ानेवाली, यह विद्या देवी हमारे यज्ञ का पूर्ण रूप धारण करती है। यह विद्या ज्ञान से (जीवन के) बड़े महासागर को स्पष्ट दर्शाती है, (यह विद्या) सब प्रकार की बुद्धियों पर विराजती है।

यह सरस्वती-सूक्त है। सरस्वती विद्या के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती। अनादि काल से चली आई विद्या प्रवाहवती होने के कारण सरस्वती कहलाती है। विद्या रस देती है, रहस्य प्राप्त होने से विशुद्ध आनन्द देती है, अतः इसे 'स + रस + वती = सरस्वती' कहते हैं। सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों के आश्रम थे, गुरुकुल थे। वहाँ पढ़ना-पढ़ाना अनादि काल से होता था, अतः उस नदी का नाम ही 'सरस्वती' पड़ गया।

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत—ज्ञान के ये तीन प्रकार हैं। विद्या में सब प्रकार का ज्ञान अन्तर्भूत होता है। इस सूक्त में इसी ज्ञानमयी विद्या का नाम सरस्वती कहा गया है।

अब जरा अर्थ के विस्तार में हम जायँ, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक युग के विचारकों ने विद्या को किस रूप में देखा था, विद्या के सम्बन्ध में उनकी धारणा क्या थी तथा इसी के अनुरूप उन्होंने पढ़ने-पढ़ाने की परम्परा की स्थापना की थी। ऊपरवाले मन्त्र को हम जरा विस्तृत रूप में यहाँ उपस्थित करते हैं। कहा है—यह विद्या **(पावका)** पवित्र करनेवाली है, शरीर, मन और बुद्धि की शुद्धता इसी विद्या से होती है ; **(वाजेभिः वाजिनीवती)** विद्या अन्न देती है, पेट का प्रश्न हल करती है, इसलिए यह अन्नवाली—अन्नपूर्णा—है। नाना प्रकार की शक्ति भी विद्या से प्राप्त होती है, अतः इसे बलवती कहते हैं, जो उचित भी है। 'वाज' का अर्थ अन्न और बल दोनों है—यह शब्द उपर्युक्त मन्त्र में आया है; **(धियावसुः)** धी का अर्थ बुद्धि और कर्म है। बुद्धि से जो उत्तम कर्म होते हैं, उनसे तरह-तरह की सम्पदा (धन) देनेवाली यही विद्या है; **(सुनृतानां चोदयित्री)** सत्य से होनेवाले महत्त्वपूर्ण कर्मों की प्रेरणा इसी विद्या से प्राप्त होती है; **(सुमतीनां चेतन्ती)** शुभ-मतियों को चेतना यही देती है, यह विद्या **(केतुना)** ज्ञान का प्रसार करने के कारण **(महो अर्णः प्रचेतयति)** कर्मों के (जीवन के) महासागर को ज्ञानी के सामने स्पष्ट कर देती है—ज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाती है। मानवी बुद्धियों पर विद्या का ही साम्राज्य है। विद्याहीन बुद्धि पशु-बुद्धि कही जाती है।

सरस्वती (विद्या) धन देनेवाली भी है। धन प्राप्त करने के अनेक तरीके हैं। विद्या का दुरुपयोग धन के लिए हो सकता है; किन्तु कैसा धन चाहिए, यह ऋग्वेद के

एक मन्त्र[1] में आया है 'अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्'—पूर्ण यश और सहस्रों को दान दिये जानेवाले तेजस्वी धन की कामना की गई है। अतः यह शंका निराधार होगी कि विद्या से धन प्राप्त करने की जो बात कही गई है, वह 'भयानक' भी हो सकती है।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि 'वाणी' वाक् या भाषा के सम्बन्ध में वैदिक युग के विचारकों का क्या मत था—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां, लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि[2] ॥

जैसे छलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, उसी तरह बुद्धिमान् लोग भाषा को—वाणी को—परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्ते जायेव पत्य उशती सुवासाः[3] ॥

कोई-कोई देख कर, समझ कर भी भाषा नहीं देख सकते, नहीं समझ सकते; सुन कर भी नहीं सुन सकते। किसी-किसी के पास वाग्देवी स्वयम् उसी प्रकार प्रकट होती हैं, जैसे सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत जाया अपने पति के सामने। यहाँ सरस्वती को पत्नी की तरह प्रकट हो जाना कहा गया है। यह बात सही है। 'बृहस्पति' को विद्या का अनन्त सागर कहा जाता है—बृहस्पति शब्द का अर्थ ही होता है 'सरस्वती का पति'[4]।

गायत्री मंत्र का वैदिक मंत्रों में अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्[5] ॥

सायणाचार्य ने इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—जो सविता हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है, सम्पूर्ण श्रुतियों में प्रसिद्ध उस द्योतमान जगत्स्रष्टा परमेश्वर के संभजनीय तेज का हम ध्यान करते हैं। इसका एक अर्थ इस तरह भी किया जाता है—विश्व के रचयिता परमात्मा (या सूर्य) के श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को (सत्कर्म में) प्रेरित करे।

वैदिक युग के ऋषियों ने कामना की है कि हमारी बुद्धि ईश्वरीय तेज से तेजोमय हो, न कि अविद्या के मद से उद्धत तथा उन्नत। शिक्षा देने की पद्धति भी

---

१. ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त ९, मंत्र ८

२. ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त ७१, मंत्र २

३. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त, ७१, मन्त्र ४

४. वाग्घि बृहती तस्या एव पतिः बृहस्पतिः (छान्दोग्य-उपनिषद्, अध्याय १, खण्ड २, श्लो० ११) बृहतां वाचां पतिः (पारस्कर गृह्यसूत्र ६।१।१५७); गीष्पतिः वाचस्पतिः—इत्यमरः; वाक्पतिः, वचसां पतिः, वागीशः—इति शब्दरत्नावली।

५. ऋग्वेद, मण्डल, ३, सूक्त ६२, मंत्र १०

पूर्ण निष्ठापूर्वक तपोमय जीवन एवं पवित्र आचरण के साथ चलती थी। पवित्र तथा उच्च साध्य के लिए पवित्र एवं उच्च साधन की आवश्यकता, उनका मूल मन्त्र था। विद्यारम्भ के प्रथम चरण में ही आचार्य-करण[१] (उपनयन) होता था। शिष्य, छात्र इसलिए कहलाता था कि गुरु उसे ढक कर सभी दोषों से बचा लेते थे[२]। कोई भी दोष विद्यार्थी को स्पर्श न करने पाये, इसके लिए गुरु सचेष्ट और सतर्क रहते थे। विद्यार्थी के जीवन का गठन यानी राष्ट्र का निर्माण गुरु के द्वारा होता था, अतः गुरु अपने उत्तरदायित्व के महत्त्व को पूरी तरह निबाहते थे। गुरु-छात्र का सम्बन्ध इतना निकट का होता था कि छात्र अपने गुरु के नाम से परिचित होता था जैसे पाणिनि के शिष्य को 'पाणिनीय' कहा जाता था[३]। छात्र जो कुछ पढ़ता था, उसका नाम अध्ययन के विषयों के अनुसार भी होता था, जैसे—छन्द का अध्ययन करनेवाला छांदस, व्याकरण पढ़नेवाला वैयाकरण, निरुक्त का विद्यार्थी नैरुक्त, वैदिक, अग्निष्टोम, वाजपेय आदि; क्रतुओं का अध्ययन करनेवाला आग्निष्टोमिक या वाजसनेयिक; सूत्रों का अध्ययन करनेवाला वार्त्तिक सूत्रिक, संग्रह सूत्रिक आदि कहा जाता था[४]। जो अध्यापक जिस विषय का विद्वान् होता था, वह अपने विषय के अनुसार उपाधि धारण करता था। वेद और छन्दों को पढ़ानेवाला श्रोत्रिय[५], वेदार्थों का प्रवचन करनेवाला प्रवक्ता कहलाता था। अकारण गुरु का त्याग करनेवाला विद्यार्थी 'तीर्थकाक' कहा जाता था।

यो गुरुकुलं गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।
—पाणिनि १।२९१

गुरु वेद-पाठ कराते समय केवल पाँच बार मन्त्र का उच्चारण करता था। शिष्य का काम था सुनते ही स्मरण कर लेना। जो पहली बार सुनते ही स्मरण कर लेता था, उसे 'एक सन्धग्राही'[६] कहा जाता था। वेद पढ़ते समय या पाठ करते समय जो छात्र जितनी अशुद्धियाँ करता था, उन्हीं की संख्या के अनुसार उस छात्र का नाम धर दिया जाता था, जो निन्दा या लज्जा का कारण था। जैसे—ऐकान्यिक, द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक आदि। इतना ही नहीं, यह संख्या बढ़ जाती थी, तो त्रयोदशान्यिक, चतुदर्शान्यिक तक नामकरण हो जाता था। छात्र आचार्य के कुल में ही रह कर विद्याध्ययन करता था, इसलिए वह 'अन्तेवासी' कहलाता था[७]। वैदिक विद्यालयों को चरण भी कहते थे। स्त्रियाँ भी पढ़ने जाती थीं—कोई रुकावट न थी। कठचरण की छात्राएँ कठी कहलाती थीं। स्त्रियों के लिए छात्रावास का भी समुचित प्रबन्ध था[८]।

---

१. पाणिनि–अष्टाध्यायी, १।३।३६
२. पाणिनि–अष्टाध्यायी, ४।४।६२
३. पाणिनि–अष्टाध्यायी, ६।२।३६
४. पाणिनीय अष्टाध्यायी, ४।२।५९-६०
५. पाणिनीय अष्टाध्यायी, ५।२।८४
६. पाणिनीय अष्टाध्यायी, ५।१।५८
७. छान्दोग्योपनिषद्, अध्या० २, खण्ड २३, १
८. पाणिनीय अष्टाध्यायी, ६।२।८३

एक बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक चरण में एक 'परिषद्' होती थी। इस परिषद् का गठन अध्यापकों और उच्च छात्रों को लेकर होता था। वैदिक शाखाओं और संदिग्ध पाठों और अर्थों के विषय में यह परिषद् काफी वाद-विवाद के बाद निर्णय करती थी। 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ ऐसी ही परिषदों या विद्वत्परिषदों की देन थे।

चरक-संज्ञक वैदिक संस्थाओं का बड़ा मान था, जो शिक्षा-विधि की सफलता के लिए अत्यन्त विख्यात थीं[१]। ब्रह्मचर्य शिष्यों के लिए आवश्यक था[२]। ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण से उऋण होना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य था। ब्रह्मचारी शिष्य कृष्णमृगचर्म धारण करता (कार्ष्णं वसानः) था। शिष्य तप से अपने आचार्य को तृप्त करता था—(आचार्यं तपसा पिपर्त्ति)। शिष्य का पाप आचार्य को भी लगता था (शिष्यपापं गुरोरपि), ऐसा उल्लेख मिलता है। शिष्य का जीवन नियमों में इतना कसा होता था कि वह हिल नहीं सकता था[३]। वह और्वानल और पार्थिव दोनों अग्नियों को धारण करता था। जीवन के प्रथम चरण में ही उसे तपा-तपा कर ऐसा इस्पात बनाया जाता था कि जिससे आगे चलकर कठोर और कष्टमय जगत् की अग्नि-ज्वाला से वह जरा भी पिघल न सके।

बतलाया गया है कि विद्याध्ययन से श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, यश और अमृतत्व की प्राप्ति होती है[४]। इस प्रकार विद्या भौतिक सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति देनेवाली कही गई है—सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में पूरी सफलता देना विद्या का प्रधान गुण था।

अध्ययन आरम्भ करने का समय १२ साल की उम्र था[५]। श्वेतकेतु ने १२ साल की अवस्था में अपने पिता उद्दालक के पास अध्ययन आरम्भ किया था, जो आठ साल तक जारी रहा। उपकोसल ने अपने आचार्य जाबालि की सेवा में रहकर १२ वर्षतक अध्ययन किया[६]। ३२ वर्ष तक या जीवन-भर अध्ययन करने का भी उल्लेख मिलता है[७]।

नियमित छात्रावस्था की समाप्ति पर शिक्षा की समाप्ति नहीं होती थी। ऐसे विद्याप्रेमी को 'चरक'[८] कहा जाता था, जो छात्रावास में रहकर अध्ययन समाप्त करने के बाद भी विभिन्न आचार्यों के पास जाकर ज्ञान-लाभ करते रहते थे। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार 'अवधि-सीमा-विधान' में भी गुरुकुलवासी ब्रह्मचारियों को छूट दी जाती थी। पाराशर-स्मृति की माधवटीका में कात्यायन-वचन (३।१, पृ० १४८) द्रष्टव्य है—

१. अथर्व, काण्ड ११, अनु० ३, सूक्त ५
२. यजुर्वेद, तैत्तिरीय सं०—६।३।१०।५
३. अथर्व, काण्ड ११, अनु० ३, सूक्त ५, मंत्र ११
४. अथर्व, काण्ड १९, अनु० २, सूक्त ६३, मंत्र १; सूक्त ६४, मंत्र १
५. छान्दोग्योपनिषद्, अ० ६, खण्ड १, मंत्र २
६. छां०, अ० ४, खण्ड १०, मंत्र १
७. छां०, अ० ८, खण्ड ७, मंत्र ३
८. बृहदारण्यक, अ० ३, ब्रा० ३, मंत्र १

ब्रह्मचारी चरेत्कश्चिद् व्रतं षट्त्रिंशदाब्दिकम् ।
समावृत्तो व्रती कुर्यात्स्वधन्यान्वेषणस्ततः ॥
पंचाशदाब्दिको भोगस्तद्धनस्यापहारकः ।

वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी अध्ययन का त्याग नहीं करते थे। ये चरक अपना सारा जीवन ज्ञान-लाभ और ज्ञान-प्रचार में लगाते थे—वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमते थे। ये देश-सेवा के लिए घूमा करते थे और इन्हें सच्चे अर्थों में जीवनदानी कहा जा सकता है। उद्दालक अरुणि, शौनक, पतञ्जलकाप्य, पञ्च महाशाल महाश्रोतीय, नारद आदि ये विख्यात विद्वान् ऋषि कहीं नहीं टिकते थे और देश के इस कोने से उस कोने में घूमते हुए ज्ञान-लाभ करते थे तथा ज्ञान का प्रचार करते थे। बिलकुल इसी वैदिक परम्परा को ध्यान में रख कर भगवान् बुद्ध ने बहुजनसुखाय, बहुजन-हिताय भिक्खुओं को घूमते-फिरते रहने का आदेश दिया था।

उच्च शिक्षा के लिए विद्वत्परिषद् और विद्वत्समितियों और परिषदों का भी उल्लेख मिलता है[१]। पाणिनि (४।३।१२३) में भी इसका उल्लेख है। ज्ञान के सामने पुत्र या सम्पत्ति का कोई महत्त्व न था। जब राजा जनक[२] ने याज्ञवल्क्य के चरणों पर 'मैं आपका सेवक हूँ' कहकर अपना राज्य न्योछावर कर दिया, तब याज्ञवल्क्य बोले—'पूर्वकाल के ज्ञानियों ने कहा है कि जिसे आत्मिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसे प्रजा (संतान) की जरूरत नहीं है।'

त्यागमय जीवन ग्रहण करके ही चरक विद्वान् बहुजनसुखाय बहुजनहिताय घर-घर, गाँव-गाँव भ्रमण करते रहते थे। याज्ञवल्क्य ऐसे ही विद्वानों में थे। आर्य संस्कृति का संगठन बैठे-बिठाये नहीं हुआ था—सैकड़ों, हजारों, लाखों और शायद करोड़ों महात्यागी, महाविद्वान्, महाजीवनदानी हजारों वर्षों तक अपनी पढ़ी हुई विद्या और अर्जन किये हुए ज्ञान का प्रकाश, गली-गली घूमकर, घर-घर पहुँचाते रहे। किसी जाति का गठन या राष्ट्र का निर्माण कैसे होता है तथा शिक्षा और विद्वानों का क्या कर्त्तव्य है, इसके ज्वलन्त उदाहरण वैदिक युग और उस युग की शिक्षा-पद्धति तथा हमारे ऋषि-ज्ञानी हैं। पेट पालने के लिए अध्ययन करना उनका उद्देश्य न था, वे अपने ज्ञान की प्रत्येक 'कणा' को जन-कल्याण के लिए उत्सर्ग करते थे। अथर्ववेद (६।४१।१) में एक मन्त्र आया है, जिसमें कहा गया है कि मन, अन्तःकरण, सम्यक्ज्ञान, धारणा-शक्ति, प्रतिभा-शक्ति, चेतना-शक्ति और मनन-शक्ति, गुरूपदेश द्वारा श्रवण-शक्ति तथा आत्मचक्षु-शक्ति आदि प्राप्त करने के लिए हम यज्ञ-कर्म करें। यह यज्ञ-कर्म ज्ञान-यज्ञ है, जो सबकी उन्नति के लिए ही किया जाता है—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥

विद्वान् होने के बाद ज्ञानी घर-गृहस्थी को प्रणाम कर, लोक-कल्याण के लिए

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।१—बृहदारण्यक ६।२।१
२. फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद् पृष्ठ, ९०

निकल पड़ते थे और अपने जीवन के अन्तिम क्षण को भी जनहित के लिए न्योछावर कर देते थे। 'कुर्सी-तोड़' विद्वानों की चर्चा वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं हैं। कर्म के महत्त्व को समझकर चिरंतन सम्यक् कर्म में लगे रहना ही उस युग के त्यागियों और विद्वानों का धर्म था।

वैदिक युग में ज्ञान के क्षेत्र में सबका स्वागत होता था।[1] मनु ने शूद्र अध्यापकों तथा शिष्यों का भी उल्लेख किया है।[2] यह धारणा गलत है कि जाति-विशेष तक ही ज्ञान का क्षेत्र सीमित था। हाँ, अपात्रों को तथा पतितों दिव्य-ज्ञान नहीं दिया जाता था। अपात्र अपने ज्ञान का भयानक दुरुपयोग कर सकता है, यह खतरा कौन जान-बूझ कर मोल ले। ज्ञान मानव की शक्तियों को बहुत बढ़ा देता है और अपात्र अपनी बढ़ी हुई शक्तियों का उपयोग जनहित में न करके जन-नाश में कर सकता है। क्या आज के युग के वे वैज्ञानिक, जिन्होंने जन-संहार के एक से बढ़कर एक अस्त्र बनाये हैं, हमारी इस धारणा को सत्य प्रमाणित नहीं करते ?

शिक्षा का जो क्रम वैदिक युग से चला था, वह किसी-न-किसी रूप में जातक-युग में भी था। जातक-युग में भी वेदाध्ययन का महत्त्व था तथा वैदिक युग में जिन विषयों की पढ़ाई होती थी, वे ही विषय जातक-युग में भी पढ़ाये जाते थे। वे प्रधानतः १३ विषय थे। इनमें राजनीति, नास्तिक-शास्त्र, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति आदि विषय तो थे ही; वेद, वैदिक सूत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग (निरुक्त, कल्प आदि), दर्शन, धर्मशास्त्र आदि भी थे। वेदों का महत्त्व जातक-युग में जरा भी कम न था[3]। पुरोहित राजा से कहता है—'राजन्! यदि बहुश्रुत होकर पाप करे और धर्माचरण न करे तो हजार वेद भी, बिना आचरण के, दुःख से मुक्त नहीं कर सकते।' उसने आगे कहा है—'वेदाध्ययन निष्फल नहीं, वेदाध्ययन से लोक में कीर्त्ति प्राप्त होती है; पर संयम-सहित आचरण श्रेष्ठ है। कोई भी विद्या तभी फल देती है जब उसका पढ़नेवाला अपने आचरण को शुद्ध रखता है। किसी ग्रन्थ के उच्चारण-मात्र से क्या लाभ ?'

इस गाथा के अन्त में कहा गया है कि पूर्वजन्म में स्वयम् बुद्ध ही उस राजा के पुरोहित थे, जिन्होंने उपर्युक्त वाक्य कहे। इस तरह वेदों के सम्बन्ध में पुरोहित ने जो कुछ मत व्यक्त किया है, वह बुद्धदेव का ही मत है।

---

१. 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ् शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूया समयं मे कामः
समृध्यतामुपमादो नमतु।'—यजुर्वेद-संहिता, अध्या० २६, मन्त्र २

अर्थात्—जैसे राजा की कल्याणकारिणी आज्ञा सभी मनुष्यों के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों तथा उसके (राजा के) लिए भी होती है, उसी तरह मैं सभी के लिए हितकारिणी वाणी बोलूँ, जिससे मैं देवताओं, दाताओं के लिए इहलोक और परलोक में भी प्रिय होऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले और मेरी सभी कामनाएँ पूरी हों।

२. मनुस्मृति, अ० ३, श्लो० १५६

३. सेतकेतु जातक—३३७।

जातक-युग में वेदाध्ययन होता था और उसका महत्त्व भी वैसा ही था, जैसा वैदिक युग में था। 'सेल-सुत्त' में शैल नामक एक ब्राह्मण का वर्णन आया है, जो निघंटु, कल्प, अक्षर-भेद-सहित तीनों वेद, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र में निपुण था। वह ३०० विद्यार्थियों को मन्त्र (वेद) पढ़ाता था। सेल-सुत्त से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में भी ब्राह्मण-आचार्य ३०० और उससे भी अधिक विद्यार्थी अपने निकट रखकर पढ़ाते थे। वैदिक युग में जिन विषयों की पढ़ाई होती थी, उन्हीं विषयों को जातक-युग में भी पढ़ाया जाता था। इसी 'सेल-सुत्त' में केणिय-जटिल की एक गाथा आई है। बुद्धदेव केणिय-जटिल के आश्रम में भोजन करने गये। भोजनोपरान्त उन्होंने जटिल को उपदेश दिया—

यज्ञों में मुख्य अग्नि होत्र है,
छन्दों में मुख्य सावित्री[1] है,
मनुष्यों में मुख्य राजा और
नदियों में मुख्य सागर है।

'छन्दों में मुख्य गायत्री' इसका क्या अर्थ है? सही बात यह है कि बुद्ध भगवान् ने 'मंत्र' की जगह पर छन्द कह दिया। गायत्री की प्रशंसा उन्होंने भी की है और गायत्री वेद-मन्त्रों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

प्राचीन (वैदिक युग) शिक्षा-पद्धति में केवल अर्थार्जन न था। मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास ही शिक्षा का लक्ष्य था। जातक-युग में भी शिक्षा का यही महत्त्व था। स्नातक शब्द का अर्थ होता है—स्नान किया हुआ[2]। स्नान करने से शरीर का मल निकल जाता है, वैसे ही अन्दर का मल ज्ञान-लाभ करने से दूर होता है[3]। ज्ञान होने से सत्य का बोध होता है, सत्य का बोध होने से आचरण में शुद्धता आती है और आचरण शुद्ध होने से बन्धनों का अन्त हो जाता है। अभ्युदय और श्रेय-सिद्धि के लिए सम्यक् शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव जातक-युग में किया जाता था। वैदिक पंच महाविद्या (शब्द-विद्या, अध्यात्म-विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतु-विद्या और शिल्प-विद्या) जातक-युग में ज्यों-की-त्यों थी। इन्हें पंच-यान कहा जाता था—'बुद्धदेव का यान, बोधिसत्त्वों का यान, प्रत्येक बुद्ध का यान, श्रेष्ठ शिष्यों का यान और गृहस्थ शिष्यों का यान।

पीछे चल कर ये यान मतवाद बन गये। जातक में तक्षशिला का नाम बार-बार लिया गया है। तक्षशिला के अन्तर्गत कई विद्यालय थे—वैदिक विद्यालय, अष्टादश विद्यालय, शिल्पविज्ञान-विद्यालय, सैनिक विद्यालय, ज्यौतिष और आयुर्वेद-विद्यालय आदि। प्रत्येक विद्यालय में ५-५ सौ छात्र शिक्षा पाते थे।

वैदिक युग की तरह आचार्य गुरु-दक्षिणा भी जातक-युग में प्राप्त करते थे[4]।

---

१. सावित्री = गायत्री।

२. मज्झिमनिकाय, सुत्तन्त १।१।७

३. सरस्वतीति द्विविधं ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता। नदीवद्देवतावच्च……। बृहद्देवता, २।१३५

४. ऋग्वेद, मण्डल १, सू० १२५, मन्त्र ६; मं० १०, सू० १०७, मन्त्र १-११,

जो शिष्य कुछ भी नहीं देता वह आचार्य के घर का काम करता था। आचार्य योग्य विद्यार्थी से अपनी कन्या का विवाह भी कर देते थे[1]।

वैदिक युग का आचार्य 'उपास्य देवता' कहा जाता था। जातक-युग का आचार्य भी उपास्य देवता ही माना जाता था। निर्धन-विद्यार्थी, यदि आचार्य की दृष्टि में सत्पात्र हुआ तो, रख लिया जाता था। उसे गुरु के निकट स्थान मिलता था—उसे 'धर्म-शिष्य' कहते थे[2]। आचार्य का घरेलू काम भी शिष्य करता था—यह उसका कर्त्तव्य था। वैदिक युग से लेकर जातक-युग तक यह नियम प्रचलित था। महाभारत, वनपर्व १।२५; ११-१२ और गुण जातक (१५७ द्रष्टव्य)।

आचार्य के यहाँ शरण प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त न था। अनेक उपायों से आचार्य अपने शिष्य के ज्ञान की परीक्षा लेते रहते थे[3]। यदि विद्यार्थी बिल्कुल ही जड़मति हुआ तो उसे अपने पास से खर्च देकर आचार्य घर भेज देते थे[4]। शील पर पहले ध्यान दिया जाता था। चरित्र पर निगाह रखी जाती थी। जातक-युग में यह विश्वास था कि जिसका चरित्र गिरा हुआ हो, वह किसी ज्ञान का अधिकारी नहीं है। शीलवान् होना जरूरी था। अपात्र को जो दान दिया जाता है, वह धन का हो या ज्ञान का, बेकार जाता है, अवसर पर धोखा होता है—

अदेय्येसु ददं दानं देय्येसु नप्पवेच्छति।
आपासु व्यसनं पत्तो सहायं नाधिगच्छति[5]॥

योग्य शिष्यों को 'सिद्धिविहारिक' कहा जाता था। ये सारी चीजें हम पाल-काल तक, नालन्दा और 'विक्रमशिला'-विश्वविद्यालयों में भी पाते हैं।

वैदिक युग का ऐसा नियम था कि शिष्य भी आचार्य या गुरु पर कड़ी निगाह रखता था। गुरु अपने शिष्यों को यह अधिकार देता था कि[6]—मेरे शुभ कर्मों का ही तुम अनुकरण करो, औरों का नहीं।

यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।

यह नियम रामायण और महाभारत-युग में भी हम देखते हैं। संसार के इतिहास में ऐसी बात नहीं मिलती जब शिष्यों को, विद्यार्थियों को यह खुला अधिकार दिया गया हो कि वह अपने गुरु या आचार्य के चाल-चलन पर कड़ी निगाह रखे। वह यदि सीधे रास्ते पर न चले तो उसका शासन करे।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्[7]॥

---

१. सीलवीमंसन जातक—३०५।
२. तिलमुट्ठी जातक—२५२।
३. नंगलीस जातक—१२३।
४. नंगलीस जातक—१२३।
५. महाअस्सारोह जातक—३०२।
६. तैत्तिरीय, अ० १, अनु० ११, सू० २
७. वाल्मीकीय रामायण, अयो० कां०, सर्ग० २१, श्लो० १३

जातक-कथाओं से यह भी प्रमाणित होता है कि प्रमादी गुरु का शिष्य शासन करता था[१]। वैदिक-युग में स्वाध्याय को बहुत महत्त्व दिया जाता था—

यद्यद्ध वाऽयं छन्दसः। स्वाध्यायमधीते
तेन तेन है वास्य यज्ञ क्रतुनेष्टुं भवति।
यऽएवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते
तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः[२] ॥

कहा है, जितना वह स्वाध्याय करता है, उतना ही उसे यज्ञ-फल मिलता है। अतः स्वाध्याय अवश्य करे, यही लोक-परलोक का मार्ग है।

जातक-युग में भी स्वाध्याय को बहुत उच्च स्थान मिला था। एक आचार्य की गाथा आई है, जो पहले तो ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर वेद पढ़ा और पढ़ाया करता था। प्रथमाश्रम का त्याग करके वह गृहस्थाश्रम के चक्कर में फँसा। स्वाध्याय में गड़बड़ी पैदा हो गई और वेदों का तत्त्वार्थ उसे रुचने नहीं लगा। वह भगवान् बुद्ध की सेवा में अपनी कष्ट-कथा सुनाने आया। भगवान् बुद्ध ने उसे फिर से अरण्यवासी होने की राय दी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए वह स्वस्थ-चित्त से वेदाध्ययन नहीं कर सकता था और विना स्वाध्याय किये तत्त्वार्थ का बोध होना असम्भव था।

जातक में ऐसी भी एक गाथा आई है जब पढ़नेवाले शिष्यों में यह मिथ्या अहंकार फैल गया कि वे अपने आचार्य से अधिक विज्ञ हो गये[३]। आचार्य को जब यह पता चला, तब उसने एक ऐसा प्रश्न पूछ दिया कि शिष्यों का दिमाग ठंडा पड़ गया। आचार्य ने शिष्यों को फटकारते हुए कहा—

बहूनि नरसीसानि लोमसानि ब्रहानि च,
गीवासु पटिमुक्कानि कोचिदेवेत्थ कण्णवा ॥

बहुत-से सिर दिखलाई देते हैं, वे बालोंवाले भी हैं। सभी सिर गर्दनों पर रखे हुए हैं, ताड़ के फल की तरह हाथ से पकड़े हुए नहीं है। इन बातों में सब एक-जैसे हैं। यहाँ कोई भी कानवाला है ?

कण्णवा—प्रज्ञावान् तो बिरले ही होते हैं। मिथ्या अहंकार से ग्रस्त शिष्यों ने आचार्य से क्षमा माँगी और फिर स्वाध्याय में लग गये। सत्य का बराबर बोध कराकर आचार्य शिष्य को बहकने नहीं देता था। 'मैं सर्वज्ञ हूँ', ऐसा विश्वास होते ही विकास रुक जाता है। जैसा कि हमने आगे निवेदन किया है—आचार्य बोलकर पढ़ाते थे, यही परिपाटी जातक-युग तक थी। आचार्य ने कहा है कि—'यहाँ कानवाला है ? इस प्रश्न का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि—मैं तो पढ़ाता हूँ; किन्तु तुम सब कानवाले नहीं हो, जो सुनो और सीखो।

बोलकर पढ़ाने की पद्धति आजतक है और उस वैदिक पद्धति को सारे संसार ने स्वीकार किया है।

---

१. दुब्बच जातक—११६।

२. शतपथब्राह्मण, काण्ड ११, प्रपा० ४, ब्रा० १, सू० ३

३. मूलपरियाय जातक—२४५।

जातक-युग में वृषल-चाण्डाल के ज्ञानी होने की भी कथा आई है[1]। इस वृषल ने एक विद्वान् ब्राह्मण को प्रश्न पूछकर निरुत्तर कर दिया था। महाभारत की एक कथा के अनुसार जाजलि चाण्डाल ने विश्वामित्र को 'सत्यानृत' का उपदेश दिया था। आर्य-संस्कृति में, ज्ञान और शिक्षा में, भेद-भाव नहीं बरता जाता था[2]। जो पतित होता था, उसी से दूर रहने की बात कही जाती थी। जातक-युग में वृषल होने से न तो कोई पतित माना जाता था और न ब्राह्मण होने से पूज्य। पतित ब्राह्मणों और पूज्य वृषलों की चर्चा बहुत-से ग्रन्थों में है। शील—सदाचार—को प्रमुखता दी जाती थी, आचरण-हीन ज्ञान सुफल के बदले कुफल लानेवाला माना जाता था।

अध्ययन का उद्देश्य यश और वैभव प्राप्त करना भी था। विद्यार्थी अपनी शुभ इच्छाओं को फूलते-फलते देखना चाहता था[3]। ऋग्वेद[4] के अनुसार विद्वान् को पवित्र और तेजोमय होना चाहिए—'पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः'। यही आदर्श जातक-युग का भी था। श्रावस्ती का एक ब्राह्मण क्षत्रियकुमारों को वेद पढ़ाया करता था। बुद्धदेव ने उसे उपदेश दिया—

यथोदके आविले अप्पसन्ने न पस्सति सिप्पिकसम्बुकञ्च।
सक्खरं वालुकं मच्छगुम्बं एवं अविले हि चित्ते
न पस्ससि अत्तदत्थं परत्थं ॥[5]

जिस प्रकार गँदले पानी में सीप, शंख, कंकड़, बालू तथा मछलियों का समूह दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार चित्त के चंचल रहने से आत्मार्थ तथा परार्थ नहीं सूझता। यहाँ भी वही ऋग्वेदवाली बात दुहराई गई है कि विद्वान् को पवित्र और तेजोमय होना चाहिए। चरित्रवान् और शीलवान् सदाचारी ही विद्या के मर्म को छू सकता है, अन्यथा वह पढ़ तो लेगा; किन्तु ज्ञान की गहराई में उतर नहीं सकता।

जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। दुःख से छुटकारा पाने के लिए विद्या द्वारा अविद्या का नाश ही एकमात्र उचित निदान है।

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः[6]।

सारे दुःखों का मूल मिथ्याज्ञान माना गया है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदन्तरापायादपवर्गः[7] ॥

---

१. सेतकेतु जातक—३३७।

२. 'षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान्स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम् ॥'
—रामायण, सु० का०, सर्ग, १८, श्लो० २
(ब्राह्मणरक्षसाम् = 'ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम्' या 'ब्रह्मविदां रक्षसाम्' मानना चाहिए)

३. यजुर्वेद, अ० २, श्लो० १० और छान्दोग्योपनिषद् अ० ८, खण्ड १५, सू० १

४. ऋग्वेद, मं ८, सू० ३, मंत्र ३

५. अनभिरतिजातक—१८५।

६. महाभारत, शान्ति०, २०५।६; ३३०।१६

७. न्याय-शास्त्र (गौतम)

मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख। यही क्रम गौतम ने न्याय-शास्त्र में बैठाया है। अब सवाल यह रह जाता है कि इस दुःख से छुटकारा कैसे हो—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते[1]।

कर्म से प्राणी बँध जाता है और विद्या से छुटकारा मिलता है। 'वस्तु का यथार्थ परिचय' विद्या के द्वारा ही प्राप्त होता है, तब अज्ञान या उससे भी बुरा मिथ्या-ज्ञान दूर हो जाता है।

जातक-युग में जो शिक्षा-पद्धति थी या शिक्षा के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ थीं, वे भिन्न प्रकार की नहीं थीं। पाठ्य-विषयों में भी हम विशेष अन्तर नहीं पाते। वही आचार्य और वही उनका सम्मान, वही शिक्षार्थी और वही उनका धर्म, वही रीति, वही नीति तथा शिक्षा-लाभ का वही उद्देश्य दोनों युग में आपको मिलेंगे। वैदिक युग के ऋषियों ने शिक्षा का जो रूप स्थिर कर दिया, वह रूप युगों को पार करता हुआ जातक-युग तक आया; किन्तु वह ज्यों-का-त्यों बना रहा। कालान्तर में नगरों का विकास हुआ और विश्वविद्यालय अस्तित्व में आये।

प्राचीन भारतीय-संस्कृति और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० अल्तेकर ने एक पुस्तक लिखी है—'प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति'। इस पुस्तक (पृष्ठ २४) में उन्होंने लिखा है—

"जातकों से यह भी सिद्ध होता है कि विद्यार्थी उपनयन के तत्काल बाद ही नहीं, बल्कि १४ या १५ वर्ष की उम्र में जब वे इस योग्य हो जाते थे कि सुदूर स्थान में अपना ध्यान रख सकें, गुरुकुलों में भेजे जाते थे। यह भी सम्भव है कि स्थानीय अविभावक गुरुकुलों में निवास करने के लिए अपने बालकों को न भेजते रहे हों। किन्तु ऐसी घटनाएँ अधिक नहीं होती रही होंगी। इसके विपरीत यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि अपने नगर में ही योग्य आचार्य रहने पर भी धनी-मानी व्यक्ति अपने बच्चों को दूर के गुरुकुलों में भेजने के लिए विशेष रूप से सतर्क रहा करते थे; क्योंकि वे गुरुकुल-प्रणाली से लाभ उठाने के लिए उत्सुक रहते थे।"

गुरु और शिष्य के बीच पिता और पुत्र के उच्च सम्बन्ध की कल्पना न केवल वैदिक युग के ऋषियों ने की थी, बल्कि जातक-युग के आचार्यों ने भी यही माना था—'पुत्रमिवैनमभिकांक्षन्'। 'प्राचीन-काल के आचार्य अपने पेशे की पवित्रता का पूरा निर्वाह करते थे। उस काल में आज की भाँति धन और सम्मान परस्पर सम्बद्ध नहीं माने जाते थे'—यह मत डॉ० अल्तेकर का है, जो अभिनन्दनीय है (देखिए—'प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति')।

जातक-युग की शिक्षा-पद्धति और उस समय की शिक्षा का लक्ष्य केवल 'विषयों का ज्ञान' कराना नहीं था। शिक्षा जीवनमय हो जाती थी और जीवन के प्रत्येक अंग को सबल बना देती थी। समाज के लिए योग्यतम सदस्य बनाकर समाज के स्तर को ऊपर उठाने के लिए शिक्षा दी जाती थी। यह काम बड़े-बड़े त्यागी विद्वान् रात-दिन

---

१. महाभारत, शान्ति०, २४१।७

करते थे। आचार्य अपने कर्त्तव्य का पालन प्राण-पण से तो करते ही थे, समाज भी ऐसे त्यागी आचार्यों के लिए सारा प्रवन्ध करता था, जिसमें उन्हें अपने कार्य करने में पूरी सुविधा रहे। प्राचीन काल में अन्य अप्रत्यक्ष साधनों से भी राज्य शिक्षा-प्रसार में सहायक होता था। पढ़ाई समाप्त होने पर विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी राज्य से मिलती थी—

सर्वविद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद्भृतिपोषितम्।
समाप्तिविद्यं तं दृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत्[1]॥

यह नियम जातक-युग में था और तक्षशिला में भी कई विद्यार्थी राजकीय छात्र थे[2]।

एक वात और थी। तक्षशिला जैसे स्थानों में महाविद्यालय तो थे ही, जहाँ विद्यार्थी रह कर नियमपूर्वक शिक्षा-लाभ करते थे; किन्तु ऐसे वहुत-से आचार्य भी थे जो स्वयं एक-एक विद्यालय थे। उनके यहाँ विद्यार्थी जाते थे और रह कर पढ़ते थे। जब आचार्य यह कह देता था कि—'जितना मैं जानता हूँ, उतना तू जानता है, जितना तू जानता है, उतना मैं जानता हूँ', तव विद्यार्थी घर लौट आता था। 'आराद-कालाम' और 'उदकरामपुत्र' के यहाँ से ऐसा ही उत्तर मिलने पर सिद्धार्थ को वहाँ से हट कर ज्ञान की खोज में भ्रमण करते हम पाते हैं। ऐसे आचार्यों के यहाँ रह कर पढ़ने-वाले विद्यार्थी का मान-आदर कुछ कम न था। किसी विद्यालय के स्नातक की तरह इन आचार्यों के द्वारा पढ़ाये हुए विद्यार्थी भी मान पाते थे। कोई यह नहीं कहता था कि यह किसी विद्यालय का स्नातक नहीं है। किसी श्रेष्ठ विद्यालय का स्नातक हो या किसी आचार्य का प्रमाण-पत्र लेकर घर लौटा हो, दोनों को बराबर मान्यता दी जाती थी—हमारे कहने का यही तात्पर्य है। पढ़नेवाले अपरिमित थे; किन्तु विद्यालय अपरिमित न थे। श्रेष्ठ विद्वान् आचार्य का पद ग्रहण करते थे और विद्यालय में भर्ती न होकर किसी आचार्य के चरणों में बैठ कर विद्यार्थी शिक्षा-लाभ करते थे—दोनों एक ही बात थी। कभी-कभी हम ऐसा भी पाते हैं कि आचार्य से प्रमाण-पत्र लेकर विद्यार्थी लौट आता था, तो फिर दूसरा विषय पढ़ने के लिए उसके अभिभावक गुरु-दक्षिणा के साथ उसी आचार्य के यहाँ लौटा देते थे[3]। एक ब्राह्मणकुमार को उसकी माता ने यह कह कर फिर लौटा दिया था कि इस बार वह 'स्त्री-चरित्र' का ज्ञान प्राप्त करे।

जातक-युग में स्त्री-शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। बहुत-सी विदुषी स्त्रियों का वर्णन जातक-कथाओं में आया है। सारिपुत्त भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य थे। वे तत्त्वज्ञ भी थे और विद्वान् भी; किन्तु चार स्त्रियों ने शास्त्रार्थ करने के लिए उन्हें श्रावस्ती में ललकारा[4]। वैशाली में पाँच सौ मतों का—मतमतान्तरों का—एक विद्वान्

---

१. शुक्र०, १।३६८
२. जातक—५२२।
३. असातमंत जातक—६१।
४. चुल्लकालिङ्ग जातक—३०१।

आया। एक ऐसी ही पण्डिता भी आई, जो पाँच सौ मतमतान्तरों को जाननेवाली थी। लिच्छवियों ने सोचा कि दोनों विद्वानों का यदि विवाह-सम्बन्ध करा दिया, जाय तो जो बच्चे पैदा होंगे, वे भी विद्वान् ही होंगे। पाण्डित्य-परम्परा को कायम रखने के लिए उस पण्डित का पण्डिता से धर्म-सम्बन्ध जोड़ दिया गया। समय पर पाँच सन्तानें हुईं—एक पुत्र और चार पुत्रियाँ। इन पुत्र-पुत्रियों ने माता से पाँच सौ वाद और पिता से पाँच सौ वाद सीख कर भरपूर पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। पुत्र तो वैशाली में ही लिच्छवियों का आचार्य बन कर रह गया; किन्तु लड़कियाँ शास्त्रार्थ करती हुई नगर-नगर घूमने लगीं। इन्होंने सारिपुत्त से एक हजार प्रश्न पूछे। यह साहस का काम था कि विहार की ड्योढ़ी पर जाकर स्त्रियाँ बौद्ध धर्म के आचार्य महास्थविर को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दें।

हम यह कहना चाहते हैं कि जिस तरह वैदिक युग में स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया जाता था, उसी तरह जातक-युग में भी जोर दिया जाता था और नारियाँ भी विदुषी होती थीं। सभी वर्ग शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी थे। केवल जो व्यक्ति बिलकुल ही गिरा हुआ होता था, उसे पढ़ाना वर्जित था। गुप्त-विद्या का उतना ही महत्त्व था, जितना महत्त्व किसी राज्य के लिए उसकी गुप्त बातों का है। यदि पतित या अनधिकारी व्यक्ति राज्य के गुप्त रहस्यों को जान ले, तो राज्य का नाश हो जायगा। उसी तरह यदि पतित या अनधिकारी व्यक्ति गुप्त-विद्या के रहस्यों को जान लेगा, तो निश्चय पूरी जाति, संस्कृति और राष्ट्र का नाश हो जा सकता है। यह बात गलत है कि किसी पूरे-के-पूरे वर्ग (जाति) को सम्यक् शिक्षा से कभी वंचित रखा जाता था। जातक-कथाओं से ऐसा प्रमाण मिलता है कि जिसका शील नष्ट हो गया है, जो पतित विचार का है उसे कभी ज्ञान न दिया जाय। असंयमी और दुराचारी का क्या विश्वास ! उसकी मन की गति कोई रोक नहीं सकता, न देवता और न राजा।

न संति देवा पवसन्ति नून, नहनून सन्ति इध लोकपाला।
सहसा करोन्तानं असञ्ञतानं नहनून सन्ति पटिसेधितारो[1]॥

आग में डाले हुए अन्न की तरह असंयमी और दुराचारी को जो ज्ञान दिया दिया जाता है, वह खाक हो जाता है और यदि फल भी देता है, तो विषवत्। वैदिक युग से लेकर जातक-युग तक इस सिद्धान्त को ही माना गया कि विद्या, ज्ञान उसी के लिए सुलभ किया जाय जो संस्कारवान् हो, शीलवान् हो; अच्छे वंश का हो। जातक-युग में भी इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि गलत आदमी कहीं विद्या या ज्ञान न प्राप्त कर ले। जैसे ही आचार्य को यह पता चलता था कि उसका यह विद्यार्थी शील-रहित है, वैसे ही वे उसे पढ़ाना रोक देते थे और घर लौटा देते थे।

हम बार-बार जानकर इस बात को दुहराते हैं कि वर्ग-विशेष के लिए ही ज्ञान-लाभ का द्वार खुला न था, वह सबके लिए था। बन्द केवल उसीके लिए था, जो अनधिकारी माना जाता था—वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या किसी भी वर्ग या वर्ण का क्यों न हो। जिस पुरुष में शिष्टों के नियोज्यमान गुण स्थिर मिलते हैं, उसे 'द्रव्य'

१. मणिचोर जातक—१९४।

कहते हैं[१]। तात्पर्य यह है कि विद्या का फल योग्य शिष्य ही प्राप्त कर सकता है[२]—पढ़ने से पतितों का स्वभाव नहीं बदलता।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध में बुद्धदेव ने भी यही कहा है। शिष्यों में बुद्धि के आठ गुण होने ही चाहिए।

शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहः ।
तत्त्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्[३]॥

आचार-हीन गुरु से पढ़ना भी वर्जित था। विद्या भले ही प्राप्त हो; किन्तु गुरु के बुरे चरित्र का बुरा असर विद्यार्थी पर पड़ता है। वह—विद्यार्थी—पढ़ तो लेगा; पर अपना चरित्र गँवा देगा। चरित्र नष्ट होने से विद्या भी बेकार जायगी, उलटा फल प्रकट होगा[४]। गुरु का सम्मान बड़ा ऊँचा था[५]। विचारकों का मत था कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रनिर्माण का गुरुतर कार्य पूर्ण होता है। आज निश्चय ही शिक्षा-लाभ का मूल उद्देश्य अर्थ-लाभ बन गया है, किन्तु वैदिक युग में और जातक-युग में ऐसी बात न थी।

जातक-युग के आचार्य शिष्यों को पढ़ाते थे[६]; किन्तु कुछ बातें छिपा लेते थे। इसे 'आचार्य-मुष्टि' कहा जाता था। यदि शिष्य योग्य हुआ, तो अन्त में आचार्य उसे यह छिपी विद्या भी सिखला देता था।

एक शिष्य ने गुरु से मुकाबला कर दिया[७]। यह मुकाबला जनता के सामने हुआ। जनता को फैसला करना था कि गुरु—आचार्य—अधिक जानते हैं या उनका यह उद्धत शिष्य। उस समय आचार्य का पद बहुत ऊँचा था[८]। पत्थरों से मारकर उस उद्धत शिष्य को जनता ने समाप्त कर दिया। आचार्य ने राजा से कहा—राजा, विद्या तो सुख-लाभ के लिए सीखी जाती है; मगर किसी के लिए विनाश का भी वह कारण बनती है। जैसे ठीक से न बनाया हुआ जूता पैरों को काट खाता है। इतना कहकर गुरु ने दो गाथाएँ कहीं, जो बहुत ही कीमती हैं—

यथापि कीता पुरिसस्सुपाहना
सुखस्स अत्थाय दुखं उदब्बहे;

---

१. 'यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रमन्ति तद् द्रव्यम्'—नीतिवाक्यामृत, वि० वृ०।
२. नीतिवाक्यामृत।
३. अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० ५, २
४. नीतिवाक्यामृत (विद्यावृद्धि-समुद्देश)
५. आपस्तम्ब, १।२।६।१३ और महावग्ग, १।२५, ११, २१
६. उपाहनजातक—२३१।
७. ,, ,, ,,
८. चरकसंहिता; विमान-स्थान, ८।२—'तमुपसृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भ्रातृवच्चाप्रमत्तः।'

धम्माभितत्ता तलसा पपीलिता
तस्सेव पादे पुरिसस्स खादरे ॥
एवमेव यो दुक्कुलीनो अनरियो
तम्हाकविज्जञ्च सुतञ्च मादिय;
तमेव सो तत्थ सुतेन खादति
अनरियो वुच्चति पानदूपमो ॥

जो नीच कुल का होता है (खानदानी पतित), वह अनार्य जिस (आचार्य) से विद्या सीखता है, श्रुत ग्रहण करता है, उसी को वह अपने ज्ञान (श्रुत) से खाता है, जिस प्रकार सुख के लिए खरीदा गया जूता उसी का पैर काट खाता है, उसी प्रकार अनार्य को खराब जूता समझना चाहिए । लज्जा-भयरहित असत्पुरुष को ही अनार्य कहना चाहिए । जन्म से या दूसरे राजनीतिक तरीकों से जिन्हें अनार्य कहा गया, वह तो देश में फूट डालने के लिए । जातक-कथाओं में, आर्य और अनार्य का भेद गुणों और अवगुणों को दृष्टि में रखकर किया गया था । आर्य की संतान भी पतित बनकर अनार्य कही जाती थी और तथाकथित अनार्य को भी आर्य-पद से विभूषित किया जाता था । इसलिए, पतितों को विद्यादान देना वर्जित था । यह नियम सनातन से चला आता था, जिसे जातक-युग में भी मान्यता मिली ।

चौथा परिच्छेद

समाज-रचना

हमारी धारणा है कि वैदिक युग में समाज की स्थापना जिन तथ्यों पर हुई थी, उन तथ्यों का अभाव जातक-युग में पूर्णतः नहीं हुआ था। युगों तक कायम रहने के कारण कुछ रूपान्तर हो जाना सम्भव है; क्योंकि बहुत तरह के कारणों और उनके परिणामों के आघात-प्रतिघातों का असर तो समाज की नींव पर पड़ा ही होगा। बाहर से देखने पर वैदिक समाज और जातक-युग के समाज में जो भी अन्तर आया हो; किन्तु मूल में हम विशेष अन्तर नहीं पावेंगे। हमें यहाँ समाज के भौतिक अंश पर विचार करना है, आध्यात्मिक अंश पर नहीं। मार्क्स[१] ने कहा है कि—"प्रत्येक समस्या का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि किसी गोचर पदार्थ या तत्त्व (Phenomenon) का जन्म इतिहास में किस प्रकार हुआ, अपने विकास-पथ में इस तत्त्व ने कितने क्रमों को पार किया, तब उसकी प्रगति के दृष्टिकोण से हमें भी परीक्षा करनी चाहिए कि उस तत्त्व का आधुनिक रूप क्या है?"

मार्क्स ने गोचर पदार्थ या तत्त्व पर प्रकाश डालने का एक सरल-सीधा रास्ता बतला दिया है। किसी गोचर पदार्थ या तत्त्व का जन्म इतिहास में किस प्रकार हुआ और अपने विकास-पथ में इस तत्त्व ने कितने क्रमों को पार किया आदि।

यदि इसी दृष्टिकोण से हम वैदिक समाज के एक-एक गोचर पदार्थ या तत्त्व को लें और उसे जातक-युग तक विविध क्रमों को पार करते हुए आते देखें, तो हम समझते हैं कि हमारा लिखना सार्थक होगा। हम स्पष्ट करना चाहेंगे कि वैदिक समाज-रचना में जिन गोचर तत्त्वों ने अपना काम किया था, वे रामायण और महाभारत के युगों को पार करते हुए जातक-युग तक पहुँचे, तो उनका क्या रूप रहा? परिवार, निजी सम्पत्ति, शासन-सत्ता की उत्पत्ति और इनके क्रमिक विकास तथा इनके गोचर रूपों में परिवर्त्तन का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर वैदिक युग से आरम्भ करके हम जातक-युग तक पहुँचेंगे।

वैदिक युग के सम्बन्ध में श्रीपाद अमृत डाँगे ने लिखा है[२]— "आदिम साम्यवादी व्यवस्था की उत्पादन-प्रणाली, उसके जीवन के मूल तत्त्व इस प्रकार हैं—उस व्यवस्था में सामूहिक परिश्रम और सामूहिक उपभोग होता था।"

---

१. मार्क्सिजिम (मास्को-संस्करण), पृष्ठ ४२६।

२. 'भारत', आदिम साम्यवाद से दास-प्रथा तक—पृ० ४९ (हिन्दी-संस्करण)

वेदों के मनन से यह स्पष्ट होता है कि धन की माँग की गई है[१]। धन, सन्तान और पशु—इन तीन प्रमुख चीजों के लिए जो प्रार्थनाएँ वेदों में पाई जाती हैं, वे स्थान-स्थान पर हैं। धन पर विशेष जोर दिया जाता था।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना[२] ॥

विविध वैभववाली पृथिवी, मुझे मणि और सुवर्ण प्रदान करो। प्रसन्नवदना, वरदात्री और धन-रत्न-धात्री वसुधे, हमें अमित वैभव प्रदान करो।

इन्द्र[३] से भी धन की याचना की जाती थी। गृहस्थी—घर—कैसा हो, इसका एक चित्र इस प्रकार है—

सूनृतावन्तस् सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृष्यासो गृहा मास्मद् बिभीतिनः ॥

\+ + + +

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥
उपहूता भूरिधनास् सखायस् स्वादु संमुदः।
अरिष्टास् सर्वपूरुषा गृहा नस् सन्तु सर्वदा[४] ॥

अर्थात्, जिन घरों के निवासी आपस में मधुर और सभ्य सम्भाषण करते हैं (कटु वचन और कटु व्यवहार से बचते हैं) जहाँ सौभाग्य रहता है, प्रीतिभोज होता है, जहाँ सभी हँसी-खुशी से रहते हैं, जहाँ न कोई भूखा है और न प्यासा, वहाँ कहीं से भय का संचार न हो।

हमारे इन घरों में दुधार गायें हैं, भेड़-बकरियाँ भी हैं, अन्न को अमृत-तुल्य बनानेवाले रस भी हैं।

प्रचुर धनी मित्र इन घरों में आते हैं और प्रसन्नतापूर्वक भोजन में सम्मिलित होते हैं। हमारे घर के अन्दर रहनेवाले प्राणी ग्रह-गृहीत-रहित (रोग-रहित) रहें। शायद यह उस समय की तस्वीर है, जब आर्यों ने घर बनाकर, परिवार और समाज के साथ रहना शुरू किया था।

निम्नलिखित मन्त्रों से वैदिक युग की समाज-रचना पर पूरा प्रकाश पड़ता है—

---

१. ऋग्वेद (श्रद्धा-सूक्त), मण्डल १०, सू० १५१, मंत्र ४, 'श्रद्धया विन्दते वसु'।
२. अथर्व, कां० १२, सू० १, मंत्र ४४
३. ऋग्वेद, मं० १, सू० ५, मंत्र ३
४. पैप्पलादसंहिता—३, २६, ३ और ५-६

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे—ऋग्वेद, ३६।१८

(हम आपस में मित्र की दृष्टि से देखें ।)

शं नः कुरु प्रजाभ्यः—ऋग्वेद, ३६।२२

(हमारी संतानों का कल्याण करो ।)

यशः श्रीः श्रयतां मयि—ऋग्वेद, २९।४

(मुझे यश और वैभव मिले ।)

सुसस्याः कृष्वीष्कृधि—ऋग्वेद, ४।१०

(बढ़िया अन्नवाली कृषि हो ।)

अदीनाः स्याम शरदः शतम्—ऋग्वेद, ३६।२४

(हम सौ वर्ष तक अदैन्य रहकर जीवित रहें ।)

मा कृधः कस्यस्विद्धनम्—ऋग्वेद, ४०।१

(किसी की सम्पत्ति का लालच मत करो ।)

आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्—अथर्व, ५।३०।७

(ऊपर उठना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है ।)

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर—अथर्व, ३।२४।५

[सौ हाथों से (मिलकर) संचय करो और हजारों हाथों से (संचित द्रव्य का) वितरण करो ।]

विश्व पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्—ऋग्वेद, १।११४।१

(इस गाँव के सभी स्वस्थ रहें, नीरोग रहें ।)

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अथर्व, ३।३०।६

सब मनुष्यों का जल-स्थान एक हो—एक समान हो, तुम सब अन्न को एक समान ही बाँटकर लो । मैं तुमको एक ही कौटुम्बिक बन्धन में बाँधता हूँ, तुम सब मिलकर कर्म करो, जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए आरे कर्म करते हैं ।

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः ॥—यजुर्वेद, १९।४६

जो जीव, मन, वाणी से इस प्रकार की समता के पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिए मैंने इस लोक में सौ वर्ष (सौ वर्ष की आयु) तक भोगने के लिए ऐश्वर्य दिया है ।

इन मन्त्रों से वेदकालीन भारतीय समाज पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है । हमने यह माना कि इन मन्त्रों से उन्नत और गठित वेदकालीन समाज की ही रूप-रेखा स्पष्ट होती है, आदिकाल की नहीं; किन्तु आदिम-साम्य-संघ की झलक भी मिलती है ।

उन्नत होकर भी वेदकालीन समाज ने समता के महत्त्व का त्याग नहीं किया था, यह पिछले मन्त्रों में अच्छी तरह देखा जाता है।

जातक-युग में राजा, प्रजा, धनी, दरिद्र, शोषक, शोषित, न्याय, अन्याय—सारी बातें हैं। अतः हमने वेद-काल के उस समाज की ओर ध्यान दिया है, जिसका मेल जातक-युग से बैठता है।

यह कहा जाता है कि आदिम-साम्य-संघ मातृ-मूलक था, पितृ-मूलक नहीं। मॉरगन, मार्क्स और एञ्जील्स के मतानुसार मनुष्य का निर्माण उसके सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के अनुसार होता है और मनुष्य की उत्पादन-प्रणाली का प्रत्येक सामाजिक युग उसके परिवार के रूपों को निर्धारित करता है। इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात प्रमाणित होती है। आदिम-साम्य-संघ के बाद जिस वैदिक समाज को हम अस्तित्व में पाते हैं, उससे यही प्रमाणित होता है। उत्पादन की प्रणाली का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, परिवार का रूप भी बदलता गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति का युग आया तो उत्तराधिकार का भी सवाल पैदा हुआ।

भीष्म पितामह ने चारों युगों के यौन सम्बन्धों को चार नाम दिये हैं—

कृतयुगे— **न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।**
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते॥
त्रेता— **ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा।**
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप॥
द्वापर— **द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप।**
कलियुग— **तथा कलियुगे राजन्द्वन्द्वमापेदिरे जनाः**[1] **॥**

कृतयुग में संकल्प, त्रेता में संस्पर्श, द्वापर में मैथुन और कलि में द्वन्द्व।

श्रीपाद अमृत डाँगे ने 'संकल्प'-नामक यौन-सम्बन्धकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"संकल्प यौन सम्बन्ध वे होते थे, जिनमें कोई बन्धन न था। यह सम्बन्ध किन्हीं दो व्यक्तियों में हो सकता था, जो इसकी कामना (संकल्प) या इच्छा करते थे—इस कामना पर कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत रोक न थी।"

"संस्पर्श-यौवन-सम्बन्ध सीमित दायरे में यौन-सम्बन्ध स्थापित करने को कहा जाता है—एक ही गोत्र में नहीं[2]।"

मैथुन वैवाहिक सम्बन्ध की अन्तिम अवस्था है। यूथ-विवाह का अन्त हो जाता है। जबतक इच्छा रहती थी, पति-पत्नी दोनों एक कुटुम्ब में बँधे रहते थे और दोनों किसी अन्य से यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करते थे। द्वन्द्व (जोड़ा) यौन सम्बन्ध वह है,

१. महाभारत, शांति० २०७।३८–४० ; महाभारत ११३ अध्याय में।
टिप्पणी—पांडु ने कुन्ती और माद्री से कहा था कि 'प्राचीनकाल में पति और पत्नी का जोड़ा नहीं होता था।' देखिए—महाभारत आदिपर्व ११३।
(भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना १९१० ई०)

२. डाँगे-कृत 'भारत', पृ० ७८

जो आज हमारे यहाँ प्रचलित है—जिससे पत्नी पर पति का एकाधिकार निजी सम्पत्ति से भी बढ़कर होता है। मातृ-सत्ता का अन्त हो गया और पितृ-सत्ता स्थापित हो गई। महाभारत-काल तक मातृ-सत्ता का कुछ-कुछ आभास मिलता है; किन्तु द्वन्द्व यौन सम्बन्ध ने जोर पकड़ लिया था। एक पति और पत्नी के बन्धन में नारी ही बाँधी जाने लगी थी—इस मर्यादा का निर्वाह नारी को करना पड़ता था—पतिव्रता बनकर। पुरुष फिर भी बहुत-कुछ आजाद था। जातक-युग में भी हम द्वन्द्व यौन सम्बन्ध पाते हैं।

वैदिक युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति ज्यों-ज्यों अस्तित्व में आती गई, उसी अनुपात से साम्य-संघों का ह्रास होता गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विकास को कोई रोक नहीं सका और न साम्य-संघों को बिखरने से बचाया जा सका। विचारक असमर्थ हो चुके थे और वे जानते थे कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' की स्थापना को यदि रोका न गया, तो धरती नरक बन जायगी। मानव सहयोग के सहारे विकास कर सकता है और वह सहयोग समान हित और समान स्वार्थ के आधार पर हो, न कि तलवार और डंडे के जोर से। साम्य-संघों के टूटने से सहयोग की बात जघन्यता में बदल गई। गुणों के आधार पर सहयोग का कोई सवाल ही नहीं रह गया—लूट के लिए सहयोग होने लगा, यह भी उतनी ही देर के लिए जबतक मतलब न निकल जाय। जब स्वाभाविक समता समाप्त हो गई, तब कृत्रिम समता की स्थापना का प्रयास किया गया। कृत्रिम सहयोग की आवाज उठाई गई। यह कृत्रिम समता क्या थी? दर्शन और वेदान्त का आश्रय लेकर यह प्रचार किया गया कि एक ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र है। सभी एक हैं—पहाड़, रजकण, चींटी और हाथी। हम इस सिद्धान्त का खण्डन नहीं करते; किन्तु आलोचना अवश्य करेंगे। जब 'व्यक्तिगत पूँजी' के चलते आर्थिक विषमता पैदा हो गई, शोषक और शोषित अस्तित्व में आ गये, कोई अमीर और कोई दरिद्र बन गया—महादरिद्र; तब दार्शनिक समता का क्या महत्त्व हो सकता है? आर्थिक विषमता ने सामाजिक विषमता को भी जन्म दिया। केवल यह शोर मचाया गया कि 'ईश्वर के दरबार में सब बराबर हैं।'

विचारक चाहते थे कि आदिम युग का साम्य-संघ बना रहे, सब मिल-जुलकर रहें, कोई बड़ा और कोई छोटा न हो, किन्तु उनकी बातें कौन सुनता है। आर्थिक विषमता की आग को दार्शनिक समता की रुई से ढाँका गया, आज तक यह प्रयास जारी है, जो बेकार साबित हो चुका है।

वैदिक युग के समाज का वही रूप अपने पुराने साम्य-संघ से अलग होकर अमीर, गरीब, शोषक, शोषित, ऊँच, नीच, दस्यु, वृषल आदि से भर गया था। जातक-युग के समाज से इसी का मेल बैठता है।

ऋग्वेदकालीन समाज अपने में पूर्ण था। सदाचार के नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता था। पिता-पुत्री या भाई-बहन का यौन सम्बन्ध बिलकुल वर्जित था। जब समाज पितृ-प्रधान बन गया, तब कन्या को दायाधिकार या उत्तराधिकार से वंचित माना गया। यदि पुत्र न हो और पुत्री ही पिता की एकमात्र सन्तान हो, तो

उत्तराधिकार उसे ही मिलता था, नहीं तो पुत्र ही उत्तराधिकारी माना जाता था। गोद लेने की प्रथा भी थी[१]। कन्या गोद नहीं ली जाती थी।

सम्पत्ति में उस समय—पशु या गाय, घोड़े, हिरण्य (सोना), दास-दासी (चल सम्पत्ति) की गणना होती थी[२]। दास-प्रथा आरम्भ हो गई थी, जो युगों तक रही।

अचल सम्पत्ति में भूमि थी (गोचर नहीं, इसपर किसी का स्वामित्व नहीं रहता था)। उपजाऊ भूमि को 'खिल्य' कहते थे। आर्थिक जीवन-केन्द्र पशु-सम्पत्ति को माना जाता था। गाय, बैल, गधे, घोड़े, कुत्ते, सूअर—ये सभी पशु-धन थे[३]। गो-धन को कीमती माना जाता था। कृषि को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कृषि करना आर्यत्व की पहचान था[४]। 'व्रात्य' कृषि नहीं करते थे। वे भूमिहीन थे; क्योंकि 'पंचविंश-ब्राह्मण' में कहा गया है कि कृषि से ही आर्य की पहचान, व्रात्य से, की जाती थी। व्रात्य शायद तत्कालीन आर्यों से पृथक् एक जाति थी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि लायक बेटा को भी वैदिक युग में धन समझा जाता था—

अश्विनं स पुत्रिणं, वीरवन्तं, गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति[५]।

बढ़ई, कर्मकार (धातु का काम करनेवाले), लोहार, सोनार, चर्मकार, और जुलाहे भी अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु, अमुक जाति ही अमुक कर्म करे, ऐसा बन्धन न था। एक ऋषि ने कहा है कि मैं कवि हूँ, पिता वैद्य है और माता चक्की चलाने-वाली (उपलप्रक्षिणी) है[६]।

व्यापार भी होता था—व्यापारी को 'वणिक्' कहा जाता था[७]। विनिमय का नियम था[८]। मुद्रा भी अस्तित्व में आ चुकी थी[९]। यह एक क्रान्तिकारी पद-विक्षेप था। विनिमय के इस सुलभ माध्यम ने ही पूँजीवाद को जन्म दिया और भयानक बना दिया। ऋग्वेद में 'मना' शब्द का प्रयोग सोने के लिए आया है। ऋग्वेद का यह 'मना' शब्द यूनानी तथा लातिनी भाषा में भी अदल-बदल कर आया है।

आनो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्।
सचा मना हिरण्यया ॥—ऋग्वेद, ८।७८।२

जब मुद्रा आ गई, तो कर्ज[१०] भी अस्तित्व में आया। कर्ज आया तो ब्याज[११] भी प्रकट हुआ। सामुद्रिक व्यापार भी शुरू हो गया था[१२]।

१. ऋग्वेद, ७।४।७-८
२. ऋग्वेद, १।११०।५
३. ऋग्वेद, ८।२२।५; ७।५५
४. पंचविंश ब्राह्मण, १७।१
५. ऋग्वेद, ५।४।११
६. ऋग्वेद, ९।११२।३
७. ऋग्वेद, १।११२।११
८. ऋग्वेद, ४।२४।१० —'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।'
९. ऋग्वेद, १।१२६।२ —'शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्।'
१०. ऋग्वेद, २।२७।४ —'मृतावानक्षयमाना ऋणानि।'
११. ऋग्वेद, ८।४७।१७ —'यथा कलां यथा शफं यथा ऋणं सन्नयामसि॥'
१२. इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए डॉ० मोतीचन्द्र-लिखित और 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'सार्थवाह' पढ़िए।

आभूषणों की चलन भी चल गई थी। स्त्री-पुरुष दोनों गहने पहनते थे—

१. कर्णशोभना-कुण्डल (ऋग्वेद, ८।७८।३)

२. पैरों और वक्षों में (ऋग्वेद, ५।५४।११)

३. कानों में और गले में (ऋग्वेद, १।१२२।१४)

दाढ़ी बनाने का भी प्रचलन था और दाढ़ी (श्मश्रु) बढ़ाने का भी[1]। हजामत बनाने का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। यह काम योग्यतम व्यक्ति (कवि) करता था। नाई भी था, जिसे 'वप्ता'[2] कहा जाता था।

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य
राज्ञो वपतु प्रचेतसः ॥१॥

इस मन्त्र का अन्वयार्थ इस प्रकार कीजिए—

अयं सविता क्षुरेण आगन् = यह सविता छुरे के साथ आया है।

हे वायो उष्णेन उदकेन एहि = हे वायु, गरम जल के साथ आओ।

सचेतसः = एक मत से वसु, रुद्र और आदित्य

उदन्तु = इन बालों को गीला करें और

प्रचेतसः सोमस्य राज्ञः = बुद्धिमान् सोम राजा की आज्ञा से

वपतु = मुण्डन करो, हजामत बनाओ।

गरम जल से हजामत बनाने में जरूर आराम मिलता है। हजामत बनाने का पेशा बिना राजा की आज्ञा के कोई नहीं कर सकता था।

प्रचेतसः राज्ञः वपतु से यही सिद्ध होता है। हजामत बनवाने से आयुष्य की वृद्धि होती है[3]। शरीर का सौन्दर्य तो बढ़ता ही है। अतः अनाड़ी के द्वारा हजामत बनवाना उचित नहीं समझा जाता था। 'क्षुर' = छुरा, 'कर्त्तनी' = कैंची और 'नखहिन' = नरहनी—ये शब्द वेदों में मिलते हैं।

इस बात का खयाल रखा जाता था कि बुरी बीमारी की हजामत बनाने से उस्तरे में जो रोग का विष लग जाता है, उससे हजामत बनवाने से जीवन पर खतरा पैदा न हो जाय। हजाम को सावधान कर दिया जाता था कि ऐसे उस्तरे से हजामत मत बनाओ कि हमारी आयु का नाश हो जाय—छूत का रोग हमें भी पकड़ ले और जीवन संकट में फँस जाय। हजामत का प्रकरण वेदों में बार-बार आया है[4]। वैदिक युग में 'कुल' का गठन बड़ा मजबूत था। संयुक्त परिवार का वर्णन स्थान-स्थान पर वेदों में आया है। सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई 'कुल' था। पिता या ज्येष्ठ भ्राता, जो 'कुल' के स्वामी होते थे, 'कुलप' कहे जाते थे[5]। कुलप का अनुशासन

१. ऋग्वेद, २।११।१७ —'प्रदोधुवच्छ्मश्रुषु प्रीणानो।'

२. ऋग्वेद, १०।१४२।४ —'वप्तेव श्मश्रु वपसि प्रभूम।'

३. चरक-संहिता, सूत्रस्थानम्, ५।९३—'पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्॥'

४. ऋग्वेद, ८।४।१६ (सायण-भाष्य ८।४।१६); पुनः १०।२८।९

५. ऋग्वेद, १०।१७।२—'परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्।'

मानते हुए कई सदस्य एक ही घर में एक साथ सुखपूर्वक रहते थे[१]। वे कामना करते थे कि जब तक हमारा पुत्र भी पिता न बन जाय, हम न मरें—सौ साल तक जीवित रहें—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः[२] ॥

आर्य अकारण जीवित रहना पसन्द नहीं करते थे। वे सौ साल तक कर्म करते हुए जीवित रहना चाहते थे[३]। बुढ़ापा के पहले ही मर जाना बहुत ही बुरा माना जाता था। वेद का आदेश है—हे मानव, बुढ़ापा के पहले तू मत मर[४]!

वैदिक भारत का जीवन भार नहीं था। उस युग के लोग ऐसी स्थिति में नहीं थे कि जीवन से मरण सुखकर जान पड़ता। धरती उनकी थी, आकाश उनका था, सुख उनका था, शान्ति उनकी थी, जीवन में खींच-तान न थी, निराशा और कुरूपता न थी—तो फिर वे क्यों नहीं चाहते कि पौत्र को जी भरकर प्यार करें, सौ साल तक कार्यरत रहें, तब मरें। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे[५] ॥

किसी से विरोध मत करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए, आनन्द मनाते हुए अपने ही घर में रहो, घर को आदर्श रूप बनाओ।

किसी बात की चिन्ता न थी। पितरों को सम्बोधित करते हुए कहा है—

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयःकीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्[६] ॥

बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों (के रस) की धाराएँ बह रही हैं, अतः 'स्वधा' में ठहरे हुए हे पितरो, आप तृप्त हों।

यह तो पितरों की बात हुई, किन्तु वैदिक गृहस्थ[७] कैसा होता था, उसके चित्र पर ध्यान दीजिए—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमनो वन्दमानो रमध्वं मा बिभीतमत् ॥१॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥

१. ऋग्वेद, २।४२।३
२. यजुर्वेद, २५।२२
३. यजुर्वेद, ४०।२—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'
४. अथर्व, ५।३०।१७—'सच त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः।'
५. ऋग्वेद, १०।८५।४२
६. यजुर्वेद, २।३४
७. अथर्व, ७।६०।१—७

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥३॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥
सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदा ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेण सह भूयांसो भवता मया ॥७॥

हे वीर्यवान् , धन-सम्पत्ति-मेधा-सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो ! इन घरों में प्रेमपूर्वक आइए, डरिए मत । ये घर आरोग्यवर्द्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मीवान् और श्रीमान् हैं । ये घर अमित धनवाले, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद करनेवाले तथा भूख-प्यास हरनेवाले हैं; अतः निडर होकर आतिथ्य स्वीकार कीजिए ।

गायें, बकरियाँ, तरह-तरह के सरस अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं—ये घर सत्यवालों (सत्य आचरण करनेवालों), भाग्यवानों, धनियों, हँस-मुख और भूख-प्यास-रहितों के हैं; आप आइए—डरिए मत । थके हुए पथिक जो इन घरों को स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर (सादर) बुलाते हैं, अतः यहीं रुकिए, कहीं न जाइए । ये घर अनेक प्रकार के पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहाँ रह रहे हैं और सब प्रकार से सुखी (शरीर और मन से भी) हैं ।

इससे अधिक शानदार चित्र वैदिक युग के गृहस्थ का और हो ही क्या सकता है ? इस वर्णन को पढ़कर किसका जी नहीं ललचेगा, कौन ऐसा है, जो मुग्ध न हो जायगा ।

वेदकालीन संस्कृति सादा जीवन और उच्च विचार की धरती पर टिकी हुई थी। सादा-सौम्य जीवन, गृहस्थ-जीवन ही वैदिक समाज का जीवन था । मिस्र और असीरिया की सभ्यताओं में भौतिक उन्नति का परिचय देनेवाली बहुत-सी चीजें हम पाते हैं—बड़ी-बड़ी इमारतें, गम्भीर अदब-कायदे, तड़क-भड़क, शान-शौकत; किन्तु यहाँ ऐसी बातों का अभाव ही रहा । हमारे ऋषि-विचारक अरण्यों में त्याग का जीवन व्यतीत करते थे । उन्होंने जो रास्ता बतलाया, वह सरल और सीधा था । भारत ने कभी किसी विजेता या प्रबल सम्राट् को अपना नेता, पूज्य, आदर्श, गुरु नहीं माना । यह देश सदा त्यागियों के चरणों पर झुकता रहा । यही कारण है कि वेदों के बहुत-से मन्त्र ज्ञान के उच्चतम छोर को स्पर्श करते हैं, जिनमें 'गायत्री' तो ऐसी है कि जो कुछ अक्षरों की होती हुई भी पूरे वेद का महत्त्व रखती है । यह निर्विवाद है कि वेदकालीन समाज की जीवन-पद्धति अत्यन्त सरल तथा उच्च थी ।

ऋग्वेदकालीन समाज मृत्यु के अनन्तर होनेवाले उस जीवन में विश्वास

रखता था, जो यम के अनुशासित लोक में प्राप्त होता था[१]। उपनिषद् का 'नचिकेतो-पाख्यान' प्रसिद्ध है। नचिकेता ने यम से जाकर बहुत-से प्रश्न किये थे। आगे के एक मन्त्र में 'स्वधा में टिके हुए पितर' का उल्लेख आया है। यह मन्त्र यजुर्वेद का है। यह भी ध्यान में रखने योग्य है। देश के विभिन्न भागों में, विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों में रहने पर भी आर्य-जाति की सभ्यता-संस्कृति और समाज की रूप-रेखा एक-जैसी थी—भौगोलिक अन्तर ने कोई विभाजक दीवार नहीं खड़ी की थी। ऋग्वेद से पता चलता है कि सप्त-सिन्धुप्रदेश के वैदिक आर्य विभिन्न टोलियों में रहते थे, किन्तु वे एक-दूसरे से भिन्न न थे—आचार, विचार, संस्कार सभी एक तरह के थे। ऋग्वेद के अनुसार ये टोलियाँ या जातियाँ पाँच थीं—'पञ्चजनाः[२]।' इस 'पञ्चजनाः' का उल्लेख कई स्थानों पर आया है[३]।

कहीं देवता, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प तथा पितृगण का समावेश 'पञ्चजनाः' के भीतर माना गया है[४]।

ऋग्वेद[५] पंचजात मानवों को सरस्वती-तट पर बसा हुआ बतलाता है, जो ठीक है।

ऋग्वेद में हम वर्ण-व्यवस्था पाते हैं जब कि पिता-पुत्र वंशानुक्रम से चलनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय एवं तीन[६] और चार[७] वर्णों के विभाग का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद में कुछ मंत्र क्षत्रियों के भी बनाये हुए हैं। ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि हैं और ऐतरेय ब्राह्मण ने उन्हें क्षत्रिय कहा है। एक विचित्रता यह है कि वैदिक साहित्य में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद वैश्य कभी आचार्य, पुरोहित या राजा के पद पर आसीन हुआ हो। प्रथम दो वर्णों की ही आपस में घनिष्ठता थी—ब्याह-शादी भी होती थी। क्षत्रिय राजा शर्यात की पुत्री का विवाह ब्राह्मण च्यवन ऋषि से हुआ था; किन्तु जातक-युग में इस सम्बन्ध को गन्दा बना दिया गया था[८]। कथा इस प्रकार है कि अम्बट्ठ माणवक, जो बहुत बड़ा विद्वान् था, बुद्धदेव की सेवा में गया। बुद्धदेव ने उससे प्रश्न किया—"यदि एक क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सहवास करे, उनके सहवास से पुत्र उत्पन्न हो। क्षत्रिय-कुमार से ब्राह्मण-कन्या में पुत्र उत्पन्न होगा, क्या वह ब्राह्मणों में आसन-पानी पायगा ?"

१. देखिए—मैकडोनल्ड और कीथ-कृत 'वैदिक इण्डेक्स' और 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया' तथा डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का 'हिन्दू सिविलिजेशन'।

२. ऋग्वेद, ३।३७।९

३. ऋग्वेद, ८।९।२—'पंचमनुषान्'; ऋग्वेद, २।२।१० और ३।५३।१६—'पंचकृष्टिषु'; ऋग्वेद, १।७।९—'पञ्चक्षितीनाम्'; ऋग्वेद, ५।८६।२ और ९।१०१।९—'पञ्चचर्षणयः'।

४. निरुक्त, ३।८ (यास्काचार्य)

५. ऋग्वेद, ६।६१।११-१२

६. ऋग्वेद, ८।३५।१६–१८

७. ऋग्वेद, १०।९०।१२ 'पुरुष-सूक्त'।

८. अम्बट्ठ-सुत्त, ३

अम्बट्ठ ने उत्तर दिया—"पायगा। ब्राह्मण स्थालि-पाक, यज्ञ या पहुनई में उसे साथ खिलायेंगे, उसे वेद पढ़ायेंगे, ब्राह्मणी से उसका विवाह भी होगा।"

इसके बाद फिर बुद्धदेव ने प्रश्न किया—क्या क्षत्रिय उसे क्षत्रिय-अभिषेक से अभिषिक्त करेंगे? अम्बट्ठ ने जवाब दिया—"नहीं, क्योंकि माता की ओर से वह ठीक नहीं है।"

यहाँ यह विचारणीय है कि शब्द 'सहवास' आया है, विवाह नहीं। बिना विवाह किये भी सहवास होता है। यदि क्षत्रिय-कुमार किसी ब्राह्मण-कन्या के साथ सहवास करे और उससे पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो उसे ब्राह्मण-समाज इसलिए स्वीकार कर लेगा कि उस जारज-पुत्र के शरीर में श्रेष्ठ जाति (क्षत्रिय) का वीर्य है और क्षत्रिय इसलिए उस जारज-पुत्र को स्वीकार नहीं करेगा कि उसके शरीर में हीन जाति (ब्राह्मण) का रज है!!!

आगे चलकर बुद्धदेव कहते हैं—जब (कोई क्षत्रिय) वह क्षत्रियों में परम नीचता को प्राप्त हो (हो जाय), तब भी (वह) क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है। ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी यह गाथा कही है।

एक महापतित क्षत्रिय भी ब्राह्मण से इसलिए श्रेष्ठ है कि वह क्षत्रिय है—ऐसा मत बुद्धदेव का था। ऐसी दशा में ब्राह्मण और क्षत्रिय का वह सम्बन्ध कैसे कायम रह सकता था, जिसका वर्णन वेदों, रामायण और महाभारत तक में हम पाते हैं। किसी को हीन, पतित बताकर उससे सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हाँ, तो हम देखते हैं कि वैदिक युग में 'वर्ण' अस्तित्व में आ चुके थे। ऋग्वेद में उनकी निन्दा की गई है, जो क्षत्रिय होने का गलत दावा करते थे[१]। ब्राह्मण रणभूमि में क्षत्रियों के साथ जाते थे। विश्वामित्र और वसिष्ठ के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख मिलता है। पुरोहित तो राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र में जाता ही था। सैन्यबल के कारण राजनीतिक प्रभुता भी क्षत्रिय-वर्ग के ही हाथों में थी—सारा समाज इस वर्ग का लोहा मानता था। ब्राह्मण ज्ञान का धनी था, तो क्षत्रिय तलवार का। देश को दोनों की आवश्यकता समान रूप से थी—ज्ञान की भी और तलवार की भी। 'विश्'—वैश्य-वर्ग भी अस्तित्व में आया। 'विश्' शब्द का अर्थ 'बैठना' होता है। कभी इस शब्द से पूरे समूह का बोध होता था। जब आर्य एक-एक जगह गाँव बनाकर बसने लगे, तो वह गाँव 'विश्' कहलाने लगा। गाँव का मुखिया 'विशष्पति' कहा जाता था। बस्ती शब्द के अर्थ में यह शब्द बसनेवालों का, अर्थात् जनता का बोधक हो गया। ऋग्वेद के मन्त्रों में पहले ब्राह्मणों के लिए बल की प्रार्थना की गई है[२], फिर क्षत्रियों के लिए और तब विश् के लिए वही प्रार्थना है। ऋग्वेद के पहले ९ मण्डलों में एक बार भी 'वैश्य' शब्द नहीं आया, केवल 'विश्' का ही प्रयोग हम पाते हैं। विश् एक ऐसा वर्ग था, जो खेती, पशुपालन, दस्तकारी आदि व्यवसाय करता था। यही वर्ग विश्-समुदाय बन गया, जो आगे चलकर 'वैश्य' कहा जाने लगा। वर्ग तो सभी समाज में बनते हैं—

---

१. ऋग्वेद, ७।१०४।१३

२. ऋग्वेद, ८।३५।१७-१८

कुछ कायम रह जाते हैं और कुछ समाप्त हो जाते हैं। पुराने जमाने में भारत के बाहर बहुत-से देशों में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ग बनने का प्रमाण मिलता है। ईरान में भी भारत के ढंग का वर्गीकरण हुआ था। तत्कालीन सुधारक राजा 'यिम' ने चार वर्ग बनाये थे[1]। पुराने बैबिलोन, एसीरिया, मिस्र आदि में भी वर्ग बने थे; पर वे टिक न सके; क्योंकि उनकी नींव मजबूत न थी। जहाँ तक धार्मिक जीवन, ज्ञान, शिक्षा आदि का सम्बन्ध था, ब्राह्मण पूर्ण स्वतन्त्र था। किन्तु, व्यावहारिक जीवन की बातों में वह क्षत्रिय राजा के अधिकार और न्याय को सिर झुकाकर मानता था—कभी चुनौती नहीं देता था। वैश्य जो सम्पत्ति रखता था जमीन रखता था या व्यापार-वाणिज्य करता था, वह इसी शर्त पर कि वह रक्षा करने के बदले में क्षत्रिय को कर दे। भू-स्वामी राजा (क्षत्रिय) थे और कृषक वैश्य। शूद्र का काम था सेवा करना। समाज में उसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान था[2]; किन्तु ऊपरवाले तीनों वर्णों से वह छोटा माना जाता था।

धन्धों और पेशों की बड़ी उन्नति हुई थी। इसकी सूची लम्बी[3] है, किन्तु संक्षेप में हम वर्णन करते हैं—

१. मछुए, धीवर, कैवर्त्त	(कीनाश)
२. खेत बोनेवाले	(वप)
३. धोबी	(वासः पल्पूली)
४. मणिआर	(मणिकार)
५. बेत का काम करनेवाले	(विदलकारी)
६. रस्सी बाँटनेवाले	(रज्जुसर्ज)
७. धनुष्कार, रथकार, लोहा गलानेवाले	(अयस्ताप)
८. सोनार	(हिरण्यकार)
९. कुम्हार	(कुलाल)
१०. बनरखा	(वनप)
११. जंगली आग बुझानेवाले	(दावप)
१२. पेशेवर नट[4]	(वंशनर्त्तिन्)
१३. नाविक[5]	(नावाज)
१४. वणिक व्यापार[6]	(वाणिज्य)
१५. कर्ज लगानेवाला[7]	(कुसीदी)

आदि—आदि।

---

१. देखिए—फिरदौसी-कृत 'शाहनामा', १।१३२
२. शतपथ, कां० १३, प्र० ४, अध्याय ६, ब्रा० २।१०
३. वाजसनेयी संहिता, ३०।७
४. यजुर्वेद, ३०।२१
५. शतपथ, कां० २, प्र० ३, अ० ३, ब्रा० ३।१५
६. शतपथ, १६।४।११
७. शतपथ, कां० १३, प्र० ३, अ० ४, ब्रा० ३।११

कई स्थानों पर प्रधान व्यापारी (श्रेष्ठी) का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः वह श्रेणी का मुखिया हो और 'श्रैष्ठ्य' शब्द श्रेणी के प्रधान-पद के विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। जो हो, वैदिक युग में व्यापार का गठन हो गया था, तभी यह 'श्रैष्ठ्य' पद बना। हीरा, सोना, काँसा, लोहा, ताँबा, सीसा, राँगा (त्रपु) आदि का प्रयोग और व्यवसाय भी होने लगा था। चाँदी-सोने के गहने भी बनने लगे थे[1]।

वैदिक युग के इस वर्णन की तस्वीर जातक-युग की तस्वीर से मिलती है। हम बतलाना चाहेंगे कि वैदिक युग के समाज का जैसा रूप था, वैसा ही रूप जातक-युग के समाज का भी था। युगान्तर-काल भी वैदिक युग के समाज के गठन को उदरस्थ नहीं कर सका, वह गठन ही कुछ इतना मजबूत था कि काल-प्रवाह का आघात उसने सफलता-पूर्वक सहा।

'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों में से 'सुत्तनिपात' एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थ है। 'सुत्तनिपात' के ही दो सूत्र सम्राट् अशोक ने 'भाब्रू'-शिलालेख में खुदवाये थे। शिलालेख के ५ सूत्र 'त्रिपिटक' के दूसरे स्थानों के हैं; मगर दो (मुनि-गाथा और उपतिसपसिने) सूत्र सुत्तनिपात से ही लिये गये हैं। इस ग्रन्थ में एक 'धनिय-सुत्त' है, जो तत्कालीन (जातक-कालीन) समाज का अत्यन्त सौम्य चित्र उपस्थित करता है। धनिय गोप 'मही नदी' के तट पर अत्यन्त सन्तुष्ट अवस्था में रह रहा है। उसने जो कुछ कहा है, वही यहाँ उपस्थित कर रहे हैं—

पक्कोदनो दुद्धखीरोऽहमस्मि अनुतीरे महिमा समानवासो।
छन्ना कुटि गिनि अथ चे पत्थयसी पवस्स देव ॥१॥
अंधकमकसा न विज्जरे कच्छेरूळ्हतिणे चरन्ति गावो।
वुट्ठिंऽपि सहेय्युं आगतं अथ चे...... ॥३॥
गोपी मम अस्सवा अलोला दीघरतं संवासिया पनामा।
तस्सा न सुणामि किंचि पापं अथ चे...... ॥५॥
अत्तवेतनभतोऽहमस्मि पुत्ताच मे समामिया अरोगा।
तेसं न सुणामि किंचि पापं अथ चे...... ॥७॥
अत्थि वसा अत्थि धेनुपा गोधरणियो पवेणियोऽपि अत्थि।
उसमोऽपि गवंपती च अत्थि अथ चे...... ॥९॥
खीलानिखाता असंयवेधी दामा भुंजमया नवा सुसंठाना।
न हि सक्खिन्ति धेनुपाऽपि छेत्तं अथ चे......[2] ॥११॥

धनिय गोप कहता है—"भात पक चुका, दूध भी दुह लिया, अपने प्रियजनों (स्वजनों) के साथ मही नदी के तट पर रह रहा हूँ, घर छाया हुआ है, आग भी सुलगा ली है। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।

"मक्खी-मच्छरों का यहाँ नाम भी नहीं है, कछार में घास है, गायें सानन्द चरती हैं, पानी भी पड़े तो परवा नहीं। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।

---

१. यजुर्वेद, १८।१३; अथर्व, ११।३; शतपथ, कां० ५, प्र० ३, अ० ४, ब्रा० १।२; यजु०, १९।८०
२. सुत्तनिपात—धनियगोप सुत्त, २

"मेरी ग्वालिन भी आज्ञाकारिणी और भोली-भाली (अलोला) है, वह मेरी चिर-संगिनी है, उसके विषय में कभी कोई बुरी बात सुनने में भी नहीं आई। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।

"मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ (किसी का मजदूर नहीं) मेरी सन्तानें अनुकूल और स्वस्थ हैं, उनके विषय में कभी कोई शिकायत नहीं सुनता। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।

"मेरे बैल जवान हैं, बछड़े हैं और गाभिन तथा तरुण गायें भी हैं, इनके बीच में वृषभराज भी सुशोभित हैं। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।

"खूँटे मजबूत गड़े हैं, मूँज के पगहे नये और खूब बटे हुए हैं, बैल उन्हें तोड़ नहीं सकते। हे देव, चाहो तो खूब बरसो।"

इस 'धनिय-सुत्त' में कई बातें ऐसी हैं, जो विचारणीय हैं। एक सुन्दर सद्‌गृहस्थ का इससे अधिक लुभावना चित्र दूसरा हो भी नहीं सकता। अन्न, दूध, स्वजनों का साथ, छाया हुआ घर, मक्खी-मच्छरों का अभाव, कछार में घास, भोली-भाली, आज्ञाकारिणी, निर्दोष और चिरसंगिनी पत्नी आदि सुख ऐसे हैं, जिनसे अधिक सुख स्वर्ग में भी शायद ही होगा।

श्रम नहीं करने से गृहस्थी चौपट हो जाती है। जातक-युग में 'श्रम' को गौरवपूर्ण स्थान मिला था, श्रम नहीं करनेवाले की प्रतिष्ठा नहीं होती थी, निकम्मापन दोष था।[1] गृहस्थी जिन अवगुणों के चलते बर्बाद हो जाती है, उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

घरा नानीहमावस्स।
घरा नादिन्नदण्डस्स परेसं अनिकुब्बतो[2]॥

नित्य श्रम नहीं करनेवाले की गृहस्थी नहीं चलती...दण्डत्यागी की गृहस्थी भी नहीं चलती। जो श्रम नहीं करे, इतना शान्त या कमजोर मनवाला हो कि दण्ड न दे सके, शासन नहीं कर सके, तो गृहस्थी नहीं चल सकती। गृहस्थों के सम्बन्ध में कहा है[3]—

[१] इध गहपतियो! दुस्सीलो सीलविपन्नो पमादाधिकरणं महतिं भोजनानिं निगच्छति। अयं पठमो आदीनवो दुस्सीलस्स सीलविपत्तिया।

[२] पुन च परं गहपतियो! दुस्सीलस्स सीलविप्पन्नस्स पापको कित्ति सद्दो अब्भुग्गच्छति। अयं दुतियो आदीनवो दुस्सीलस्स सील-विपत्तिया।

[३] पुन च परं गहपतियो! दुस्सीलो सीलविपन्नो यं यदेव परिसं उपसंकमति यदि खत्तिय-परिसं, यदि ब्राह्मण-परिसं, यदि गहपति-परिसं, यदि समण-परिसं अविसारदो उपसंकमति, मंकुभूतो। अयं ततियो आदीनवो दुस्सीलस्स सील-विपत्तिया।

१. चुल्लसेट्ठि-जातक—४।
२. वच्छनख जातक—२३५।
३. महापरिनिब्बान सुत्त, ३४

[४] पुन च परं गहपतियो ! दुस्सीलो सीलविपन्नो संमुल्हो कालं करोति। अयं चतुत्थो आदीनवो दुस्सीलस्स सील-विपत्तिया।

[५] पुन च परं गहपतियो ! दुस्सीलो सीलविपन्नो कायस्स भेदा परं मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उपपज्जति। अयं पञ्चमो आदीनवो दुस्सीलस्स सील-विपत्तिया। इमे खो गहपतियो ! पंच आदीनवा दुस्सीलस्स सीलविपत्तिया।

भगवान् बुद्ध कहते हैं—हे गृहपतियो, दुराचरण के पाँच बुरे परिणाम होते हैं—(१) दुराचारी आलस्य के कारण अपने बहुत-से भोगों को गँवा बैठता है, (२) निन्दा होती है, (३) दुराचारी (आचारभ्रष्ट व्यक्ति) किसी परिषद् (जहाँ श्रेष्ठ पुरुष बैठे हों) में जाता है, तो प्रतिभा-रहित मूक होकर ही जाता है (उसकी बुद्धि और वाणी—दोनों पंगु हो जाती हैं) (४) मूढ़ रटकर मरता है और (५) मरने के बाद भी सुगति प्राप्त नहीं होती।

ठीक इसके विपरीत सदाचारी परिश्रमी होता है। परिणाम-स्वरूप धन, यश, विद्या, सुख, शान्ति सभी दैवी सम्पदाएँ उसे प्राप्त होती हैं। किसी सभा में या श्रेष्ठजनों के सामने जाता है, तो हतप्रभ नहीं होता, उसकी बुद्धि और वाणी अनुकूल वातावरण देखकर अधिक तीव्र हो जाती है, वह अग्र-स्थान प्राप्त करता है—वह सत्य का प्रकाश प्राप्त करता है, मूढ़ की तरह नहीं मरता और मरने के बाद सुगति भी प्राप्त कर लेता है।

यह उपदेश बुद्धदेव ने गृहस्थों को दिया था, अतः गृहस्थों के लिए उपयोगी है। जातक-युग का समाज 'शील' पर कितना ज्यादा जोर देता था, यह पहले हमने देख लिया है।

दया-धर्म को भी शील की तरह जातक-युग में आदर दिया जाता था। एक चाण्डाल की कथा[1] है। इस चाण्डाल ने एक ब्राह्मण विद्यार्थी को हरा दिया। चाण्डाल की शर्त यह थी कि उत्तर नहीं देने पर मेरी टाँगों के बीच से होकर तुम्हें निकलना पड़ेगा। जातक-युग में शील-रहित ब्राह्मण शीलवान् चाण्डाल के सामने सिर झुकाता था। यह परिपाटी वैदिक भारत की थी।

'जाजलि' एक चाण्डाल था, जिसने महर्षि विश्वामित्र को उपदेश दिया था[2]। ऐसे और भी चाण्डाल मिलते हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों से आदर पाया था।

हाँ, दया-धर्म की बात हम कह रहे थे। चाण्डाल के उपदेश देने पर जब ब्राह्मण विद्यार्थी नाराज हुआ, तो आचार्य ने कहा—

मा तात कुज्झि नहीं तात कोधो
बहुम्पि ते अदिट्ठं अस्सुतञ्च,
माता-पिता दिसता सेतकेतु
आचरिवमाहु दिसतं पसत्था॥
अगरिनो अन्नदपाणवत्थदा
अवहायिका तम्पि दिसं वदन्ति
एसो दिसा परमा सेतकेतु
यं पत्वा दुक्खी सुखिनो भवन्ति

१. सेतकेतु जातक—३७७।
२. महाभारत।

क्रोध मत करो, क्रोध करना अच्छा नहीं है तात ! ऐसा बहुत कुछ है, जिसे न तो तुमने देखा है और न सुना है (देखना अनुभव है, सुनना ज्ञान है—संसार में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जिन्हें न तो तुमने अनुभव से जाना है और न ज्ञान से—न कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से)। हे श्वेतकेतु, माता-पिता पूर्व दिशा (वत्) हैं, आचार्य, श्रेष्ठजन को दक्षिण दिशा (वत्) मानो......हे श्वेतकेतु, इन सभी दिशाओं से परम श्रेष्ठ वह दिशा है, जिसे प्राप्त कर दुःखीजन सुखी होते हैं।

सभी दानों से 'अभय-दान' श्रेष्ठ माना गया है। दुःखीजन को, आर्त्तों को जो अभय-दान दे, वह महादानी है। जिसने दया-धर्म को स्वीकार किया है, उसी के लिए यह सम्भव है कि वह 'अभय-दान' दे।

आर्य-विचारकों ने उसे ही त्रैलोक्य-विजयी माना है, जिसमें तीन गुण हों, सत्य-भक्ति, दया-धर्म और काम-क्रोधादि का सम्यक् दमन—

सत्यमेव व्रतं यस्य दयादीनेषु सर्वदा।
काम-क्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितम्[1] ॥

इसके बाद कहा है—

अभयः सर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्[2] ।

सभी दानों से अभय-दान की महिमा आर्य-ग्रन्थों में सबसे अधिक गाई गई है। जातक-युग में भी अभय-दान की प्रतिष्ठा थी।

जातक-युग में ऐसे समाज को घृणा से देखा जाता था, जहाँ शान्त (श्रेष्ठ) पुरुषों का आदर-सम्मान न हो। ऐसे समाज या गाँव में बसना भी गुनाह माना जाता था।

अमानना यत्थसिया सन्तानं वा विमानना।
हीन सम्मानना वापि न तत्थ वसतिं वसे[3] ॥

जहाँ शान्त पुरुषों का (श्रेष्ठ पुरुषों का) मान न हो (मान का न होना ही अपमान है) तथा हीन व्यक्ति जहाँ पूजित हों, वहाँ कदापि न बसे।

आलसी से भी घोर घृणा की जाती थी। आलसी समाज का वह अंग होता है, जिसमें कोढ़ पैदा हो गया है या लकवा मार गया है। डरपोक से, कायर से भी नफरत की जाती थी—

यत्थालसो च दक्खो च सूरो भीरू च पूजिया।
न तत्थ सन्तो निवसन्ति........................ ॥

जहाँ विशेषता की कद्र न हो और आलसी, कुशल (दक्ष), बहादुर और कायर समान रूप से पूजित हों, ऐसे अविचारपूर्ण (गाँव या समाज) का त्याग कर दे;

---

१. महानिर्वाणतंत्र।

२. पद्मपुराण।

३. नेरुजातक—३७९।

वहाँ नहीं बसे। गिरे हुए लोगों में दो प्रकार के लोग गिनाये गये हैं—आलसी[1] और कायर! समाज में आलसी और कायर के लिए कोई स्थान न था। जहाँ गदाइयों को भी कर्मठों और बहादुरों-जैसा ही सम्मान प्राप्त हो या दोनों एक ही जैसे समझे जायँ, जिस समाज की विवेक-बुद्धि नष्ट हो चुकी हो, वह आलसी और कर्मठ, कायर और वीर का भेद नहीं जानता हो, वह समाज श्रेष्ठ पुरुषों के रहने योग्य नहीं है—ऐसा विचार जातक-युग का था। ऐसे समाज को पतनोन्मुख समाज भी कहना चाहिए, यदि वह समाज उन्नति की ओर अग्रसर होनेवाला होता, तो उसे कर्मठों और वीरों की आवश्यकता होती, वह ऐसों का पूजक होता। ऐसा समाज जो कर्मठ और आलसी, वीर और कायर के बीच का प्रभेद नहीं जानता, विनाश के गर्त में गिर रहा है। ऐसे समाज में रहने से अपना भी सत्यानाश होगा। एक बात और। ऐसे अविवेकी समाज में श्रेष्ठ पुरुषों की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि प्रकृति गुणों का विकास वहीं करती है, जहाँ उसकी आवश्यकता हो या उसके उपयुक्त वातावरण हो। आग में फूल नहीं खिल सकते। एक गाथा बहुत ही सुन्दर है। लक्ष्मी स्वयम् कहती है कि मैं किस प्रकार के लोगों के निकट रहना पसन्द करती हूँ—

खुदं पिपासं अभिभुय्य सब्बं
रत्तिन्दितं यो सततं नियुत्तो,
कालागतञ्च न हापेति अत्थं
सो मे मनापो निवसे वतम्हि[2] ॥

जो गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, दंश, सर्प सबकी परवा न करते हुए काल के आने पर भी (जीवन के अन्तिम क्षण तक) अपने अर्थ का त्याग नहीं करता (कर्म में लगा रहता है, उद्देश्य की सिद्धि में तत्पर रहता है), वैसा व्यक्ति मुझे प्रिय है—मैं ऐसे (कर्मवीर) के साथ रहना पसन्द करती हूँ। यह गाथा बतलाती है कि कैसे व्यक्ति श्री-सम्पदा के अधिकारी बन सकते हैं। जो आलस्य-रहित और अपनी धुन का पक्का हो, वही लक्ष्मी या सौभाग्य का प्यारा कहा जायगा। ठीक इसके विपरीत सुख कहाँ, श्री कहाँ, सम्पदा कहाँ ?[3]

जातक-युग का समाज कर्मवीरता का आदर करता था, वह जानता था कि समाज की उन्नति ऐसे लोगों से नहीं हो सकती, जो कर्म करना नहीं जानते और गुणों के धारण करने की क्षमता नहीं रखते। चुल्ल सेट्ठिजातक में एक गाथा है, जिसमें यह कहा गया है कि एक मरी चुहिया प्राप्त करके एक कुशल व्यक्ति धनी बन गया। उसकी पहली पूँजी एक मरी चुहिया थी।

इतना ही नहीं; ऐसे व्यक्तियों का भी जातक-युग के समाज में मान था;

---

१. धम्मपद, ११२—'यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दल्हं ॥'
और सिंगाल-सुत्त—१८।

२. सिरिकालकण्णि—३८२।

३. धम्मपद, २८०

जो बात के धनी हों।[1] वही कहें, जो कर सकें। केवल बातों का ढेर लगानेवाले व्यक्ति से समाज का हित नहीं होता—ऐसे व्यक्तियों पर विश्वास रखने से धोखा होता है—

यं हि कयिरा तं हि वदे यं न कयिरा न तं वदे।
अकरोन्तं भासमानं परिजानन्ति पण्डिता॥

वही करे, वही कहे, जो न करे उसकी आशा कभी न दे। ऐसे व्यक्ति को पण्डित (ज्ञानी, अनुभवी) पहचान लेते हैं, जो केवल कहता है, करता-धरता कुछ भी नहीं। जातक-युग का समाज ऐसे लोगों से भी सावधान रहता था, जो इधर की बात उधर करते रहते थे।

ते जना सुखमेधन्ति नरा सग्गगतारिव।
ये वाचं सन्धिभेदस्स नावबोधन्ति सारथि[2]!

जो फूट डालनेवाली चुगलखोरी से भरी बातों को सुनी-अनसुनी कर देते हैं, वे स्वर्ग में बसनेवालों की तरह सुखी रहते हैं। वाणी का, जीभ का सबसे गन्दा उपयोग है—चुगलखोरी करना, ऐसा व्यक्ति समाज का महावैरी माना जाता था—चोर, डकैत, खूनी से भी बुरा। वह मित्र-रूप में शत्रु है, जो घर फोड़ देता है। ऐसे स्वभाव के व्यक्ति से सावधान रहने और उसकी बातों पर ध्यान न देने की बात बार-बार जातक-कथाओं में दुहराई गई है। समाज के इन जहरीले कीटाणुओं से सावधान रहने की सीख जातक-युग में बार-बार दी जाती थी। समाज के गठन को कायम रखने के लिए यह जरूरी था कि समाज-विरोधी तत्त्वों को पनपने से रोका जाय, अन्यथा ये भीतर-भीतर ही घुन का काम करेंगे।

वैदिक समाज की तरह जातक-युग का समाज भी सतत जागरूक नजर आता है—वह अपने भीतर फैलनेवाले दोषों को टिकने नहीं देता, झाड़-बुहार कर साफ कर देता है। जातक-युग का समाज ऐसे व्यक्तियों का साथ वर्जित मानता था—

हलिद्दरागं कपिचित्तं पुरिसं रागविरागिनं।
तादिसं तात, मा सेवि निम्मनुस्सम्पिचेसिया[3]॥

जो हल्दी के रंग की तरह अस्थिर (उड़ जानेवाला) हो, जिसका चित्त बन्दर के चित्त की तरह चंचल हो, जो तुरन्त रागी (दोस्त, अपना, प्रिय) और तुरन्त विरागी (उदासीन, प्रतिकूल) बन जाय, ऐसे व्यक्ति का साथ कभी न करना।

इस नीति-वाक्य के अनुसार चंचल स्वभाव का व्यक्ति दूर से ही प्रणाम कर लेने योग्य है। जिस परिवार या समाज में इस तरह के सदस्य होंगे, वह तुरन्त ही डूब जायगा। चंचल-चित्त मनुष्यों के साथ रहना अकेला रहने से भी बुरा माना जाता था। वैदिक ऋषि[4] मानव के उत्थान का एक क्रम उपस्थित करते हैं—

---

१. आसङ्क जातक—३८०।

२. सन्धिभेद जातक—३४९।

३. अरञ्ञ जातक—३४८।

४. छान्दोग्योपनिषद्, ७।८।१

यदा वै बली भवति। अथ उत्था ता भवति। उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति। परिचरन् उपसत्ता भवति। उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, बोद्धा भवति, कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति॥

बलवान् होने पर मनुष्य उठ खड़ा होता है, सेवा-धर्म ग्रहण करता है, सेवा-धर्म से उसके भीतर शान्ति भर जाती है, तब स्थिर-मति द्रष्टा बनता है, श्रोता बनता है, मनन करता है, समझता है। इसके बाद सम्यक् कर्म-कर्त्ता बनता है, विज्ञान प्राप्त करता है, (प्रत्यक्ष) और परोक्ष अनुभूति प्राप्त करता है, सत्य का साक्षात्कार प्राप्त करता है। यहाँ बली का तात्पर्य शारीरिक शक्ति से नहीं है; बल्कि आत्मशक्ति और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने से है। यहाँ 'बल' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में है।

जातक-युग में भी आध्यात्मिक बल प्राप्त करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था—आसुरी बल को बुरा माना जाता था। जिसने धर्म का (सत्य का) त्याग कर दिया—पाप का (असत्य का) रास्ता पकड़ा, उस परलोक की चिन्ता से रहित व्यक्ति के लिए ऐसा कौन-सा भयानक कर्म है, जो वह न कर सके।

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं[1]॥

जिसके लिए बीती बातों को सोचना ही धर्म है, जो मृषावादी है, जो जानवर की तरह केवल भोजन, नींद, भय, मैथुन और क्रोध में ही रात-दिन डूबा रहता है तथा जो परलोक के प्रति उदासीन है, ऐसे व्यक्ति के लिए संसार में ऐसा कोई कुकर्म नहीं, जो वह न कर डाले। उस समय ऐसे ही लोग पूजा के अधिकारी माने जाते थे, जिन्होंने दैवी सम्पदा का संचय किया है। फिर भी समाज बड़ा था और सभी आचार-विचार के लोग तो थे ही; किन्तु आसुरी सम्पदा-प्राप्त व्यक्तियों का समाज में विशेष आदर नहीं था।

जातक-युग में जुआ, पर-स्त्री, शराब, नृत्य-गीत, दिन को सोना, असमय की सेवा, बुरे मित्रों की कुसंगति और बहुत कंजूसी इन विषयों को बुरा माना जाता था—

अक्खित्थियो वारुणी नच्चगीतं
दिवा सोप्पं पारिचरिया अकाले।
पापा च मित्ता सुकदरियता च,
एते च ठाना सुरिसं धंसयन्ति[2]॥

राजगृह में सिगाल-गृहपति-पुत्र को भगवान् बुद्ध ने गृहस्थ-धर्म का उपदेश देते हुए यह गाथा कही थी—

निकम्मे आदमियों से समाज की उन्नति नहीं हो सकती। निकम्मापन (केवल बातूनी) को 'शत्रु' कहा गया है[3]—

१. धम्मपद, १७३
२. सिंगाल सुत्त, ७
३. सिंगाल सुत्त, २१

१. अतीतेन पटि सन्थरति।
२. अनागतेन पटिसन्थरति।
३. निरत्थकेन सङ्गण्हाति।
४. पच्चुप्पन्नेसु किच्चेसु व्यसनं दस्सेति।

भूतकालिक वस्तु की तारीफ करता है, भविष्य की तारीफ करता है, व्यर्थ बातों की प्रशंसा करता है, वर्त्तमान के काम में विपत्ति (संकट, झंझट, कठिनाई) देखता है—ऐसे बात बनानेवाले शत्रु हैं, मित्र नहीं। ये कुछ भी करना नहीं चाहते। बीते दिनों की याद करके रोते हैं, भविष्य के हवाई किले बनाते हैं; किन्तु सामने जो काम है, उसके विषय में तरह-तरह के भय और आपत्तियाँ देखते और दिखलाते हैं।

जातक-युग ठोस कर्मवीर और दोष-रहित व्यक्तियों का आदर करता था। यों तो धरती से स्वर्ग की सदा अधिक महिमा रही है; किन्तु जातक में एक कथा ऐसी भी आई है कि शक्र के आग्रह करने पर भी, बोधिसत्त्व ने मातलि के लाये हुए रथ पर चढ़ने से इनकार कर दिया और कहा कि मैं मनुष्यलोक में ही जाकर बहुत पुण्य करूँगा। मैं समानता का बर्ताव करूँगा, संयम से काम लूँगा, जिससे आदमी सुखी होता है—पश्चात्ताप नहीं करता। अपना किया हुआ पुण्य ही मेरा परम्परागत धन है—

संकतानि पुञ्ञानि तं मे आवेणियं धनं ॥१२॥
सोहं गन्त्वा मनुस्सेसु काहामि कुसलं बहुं।
दानेन समचरियाय संयमेन दमेन च,
यं कत्वा सुखितो होति न च पच्छानुतप्पति[१] ॥

संसार में रहने का उद्देश्य क्या है? बोधिसत्त्व ने तीन बातें बतलाई हैं—पुण्य (लोकोपकार, जन-सेवा), समानता का व्यवहार (किसी का शोषण नहीं, किसी के प्रति घृणा या द्वेष नहीं, उपेक्षा और अन्याय नहीं) और संयम का जीवन। शरीर, वाणी और मन का नपा-तुला सम्यक् व्यवहार ही संयम है। जो १० पारमिताएँ बतलाई गई हैं, वे संयम हैं। पारमिता का अर्थ होता है—पूर्णता। वे १० पारमिताएँ ये हैं—

(१) दान पारमिता, (२) शील पारमिता, (३) निष्काम पारमिता, (४) प्रज्ञा पारमिता, (५) वीर्य पारमिता, (६) शांति पारमिता, (७) सत्य पारमिता, (८) अधिष्ठान पारमिता, (९) मैत्री पारमिता और (१०) उपेक्षा पारमिता।

जातक-युग में भौतिक सिद्धि को भी इतनी बुलन्दी तक पहुँचाने का जोर दिया जाता था कि अनायास ही आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त हो जाय। गृहस्थ और गृहत्यागी—दोनों करीब-करीब एक ही पथ के पथिक थे—मुक्ति-पथ[२]। गृहत्यागी का जीवन यों तो बहुत-से कठोर बन्धनों में बँधा होता था; किन्तु गृहस्थ तो और भी सँकरे रास्ते से आगे बढ़ता था। सब कुछ करता हुआ भी कुछ न करे, यह अनासक्त योग गृहस्थों

१. साधीन जातक—४९४।
२. शतपथ ब्राह्मण, ११,१,२,१२; ऋग्वेद, १,११०,४ (सायणभाष्य द्रष्टव्य)।

के लिए था । गृहस्थी बुरी चीज न थी, यदि उसका निर्वाह पूर्ण संयम और ज्ञान-पूर्वक किया जाय । यद्यपि गृहत्यागी और गृहस्थ दोनों के दो रास्ते हैं; किन्तु मुकाम तो एक ही है । आर्य-संस्कृति के उपःकाल से भी पूर्व धर्म की सर्वप्रमुख केन्द्रवर्त्ती भावना का विकास, संयम तथा तप में मानव-श्रद्धा का उद्‌घोष किया गया है । जब मानव अपनी सीमाओं का त्याग करके अपने जीवन को दैवी गुणों से (देवत्व से) सम्पन्न बना लेता है, तभी उसे सिद्ध मान लिया जाता है । सृष्टि-व्यापार के मूल में स्थित भौतिक प्रेरणा का यथार्थ अवबोध जीवन में आत्मोपलब्धि का प्रथम सोपान माना गया है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह के रूप में यह विधान सृष्टि के नैतिक विधान का पोषण करता है और मानव को साधन तथा साध्य की पवित्रता स्थिर रखने की पूर्त्ति में सजग रखता है । मानव के अन्दर छिपा दिव्य तत्त्व वह आधारभूत प्रेरणा है, जो उसे प्रकाश, प्रेम, आनन्द, मुक्ति, शान्ति और आत्मोसर्ग के लिए बेचैन करती रहती है । मानव का चरम-लक्ष्य देवत्व है और उसके बाद पूर्णता या कैवल्य । मानवता जब अपना चरम-विकास करती है, तब वह धरती से ऊपर उठती हुई स्वर्ग पर भी छा जाती है और फिर तत्काल ही विश्वमय हो जाती है । आर्य-संस्कृति का लक्ष्य महान् है—वह भौतिक सभ्यता नहीं, तात्त्विक और शाश्वत संस्कृति है ।

वैदिक ऋषियों ने जिस समाज की नींव डाली थी, उसका आधार क्या था और किन सिद्धान्तों के आधार पर समाज की इमारत खड़ी की गई थी, यह हम संक्षेप में निवेदन कर चुके हैं । भगवान् बुद्ध के बतलाये सिद्धान्तों का असर जातक-युग के समाज-निर्माण में अवश्य हुआ होगा । भगवान् बुद्ध ने जीवन को नीचे से ऊपर तक देखा, समझा और उसपर प्रकाश डाला । जातक-युग के विचारकों ने जीवन को बुद्धदेव के फैलाये हुए प्रकाश में देखा था । किन्तु, बुद्धदेव के सिद्धान्त परम्परागत प्रकाशों से प्रभावित थे या नहीं; यह सोचना है ।

वैदिक वाङ्मय को गहराई से देखने पर पता चलता है कि कई युगों का रंग उस पर चढ़ा है, जो अलग-अलग झलकता है । जिस तरह किसी दीवार पर प्रत्येक सौ साल के बाद चूने का पलस्तर कर दिया जाय, तो तोड़ने से यह साफ-साफ मालूम हो जायगा कि एक पलस्तर पर दूसरा पलस्तर लगाया गया है । वैदिक युग में सर्वत्र मैदान-ही-मैदान था—दीवार पहले-पहल उसी युग में खड़ी की गई, जो आज तक खड़ी है । युग के स्वामी आते गये और उसपर अपना-अपना रंग चढ़ाते गये; किन्तु दीवार जो थी, वही रह गई और आज तक किसी-न-किसी रूप में खड़ी है । सही बात यह है कि 'बात' वही पुरानी थी । एक ने एक तरह से कही, दूसरे ने दूसरी तरह से समझाई । हम दो उदाहरण देंगे । जिस 'बात' को अथर्व[1] के ऋषि ने कहा है, उसी को बुद्धदेव[2] ने भी अपने ढंग से दुहराया है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधन्तः सधुराश्चरन्तः ।

---

१. अथर्व (पैप्पलाद-संहिता), ५।१९

२. सुत्तनिपात, २१; (किंसील-सुत्त) बुद्धवचन ।

अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात
समग्रास्य साध्रीचीनात् ॥ ५ ॥

श्रेष्ठत्व को अधिकृत करते हुए हार्दिक प्रेम-पूर्वक एक साथ मिलकर रहो। बिलग न हो। एक दूसरे को प्रसन्न रखो। एक साथ मिलकर भारी बोझा खींचो। मीठे वचन बोलो और अपने प्रियजनों से मिल-जुल कर रहो।

धम्मारामो धम्मरतो धम्मेठितो धम्मविनिच्छयञ्ञू।
नेवाचरे धम्मसन्दोसवदं तच्छेहि नीयेथ सुभाषिते हि ॥

धर्म में रमते हुए धर्मरत हो, धर्म में स्थित हो, धार्मिक विनिश्चय को जानते हुए धर्म को दूषित करनेवाली चर्चा में मत लगो—सत्य सदुपदेशों में समय व्यतीत करो।

अथर्व के वचन और बुद्ध-वचन में कितना साम्य है, यह स्पष्ट है। हमें कहना है कि विचार वही है, विचारक बदलते रहे हैं। युग-युग में नया कहा जानेवाला ज्ञान या विचार पुरातन ही है, नया नहीं।

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वं अनुज्ञाता स्वयम्भुवा[१] ॥

पूर्व युग की समाप्ति पर गुप्त हुए वेद (ज्ञान) इतिहासों के समेत, इस युग में ज्ञानी ऋषियों ने तपस्या से प्राप्त किये। ये ऋषि तीन प्रकार के होते हैं—मन्त्रद्रष्टा, मन्त्रकृत् और मन्त्रपति। मन्त्रद्रष्टा पद निरुक्त में आया है। तैत्तिरीय[२] में मन्त्रकृत् और मन्त्रपति का उल्लेख मिलता है। मन्त्र का अर्थ है 'मनन करने योग्य ज्ञान का तत्त्व'[३]।

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्
व्यूच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये
अपरिषु पश्यान्[४] ॥

इस मन्त्र का अन्वय इस प्रकार होगा—

ये मर्त्यासः व्युच्छन्तीं पूर्वतरां उषसं अपश्यन्,
ते ईयुः। अस्माभिः नु प्रतिचक्ष्या अभूत् उ।
अपरिषु ये पश्यान् ते आ उ यन्ति।

जिन मानवों ने प्रकाश करनेवाली प्राचीन उषाओं को देखा था, वे चले गये। हमने तो यह उषा देखी (हम भी उसी तरह चले जायँगे)। आनेवाली उषाओं

---

१. ऋग्वेद, १।१०९।२—'स्तोमं जनयामि नव्यम्'
ऋग्वेद, ६।८।५—'युगे युगे विदथं गृहणद्भ्यो
रयिं यशसं धेहि नव्यसीम् ॥'

२. तैत्तिरीय, ४।१

३. ऋग्वेद (मेधातिथि-दर्शन) में पं० सातवलेकर का फुट-नोट देखें।

४. ऋग्वेद, मं० १ (कुत्स ऋषि का उषा-प्रकरण)

को जो देखेंगे, वे भी उसी प्रकार चले जायँगे। इस जगह उषा ज्ञान के प्रकाश ही के अर्थ में आई है। भगवान् बुद्ध भी एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे, जिन्होंने पूर्वयुग के ऋषियों की तरह 'उषा' को देखा और चले गये। यह ज्ञान-विज्ञान की उषा थी—भौतिक उषा नहीं।

वैदिक युग के विचारकों ने समाज का जैसा रूप दिया था उसी रूप को जातक-युग ने भी स्वीकार किया। न तो वेदकाल के ऋषियों ने भौतिक उन्नति को समाज का आधार माना था और न जातक-युग के विचारकों ने। वेद-काल के ऋषियों ने गृहस्थाश्रम को, यदि उसका पालन सम्यक् रूप से किया जाय तो, आध्यात्मिक मुक्ति का कारण माना था और जातक-युग ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया। न तो वेदकाल के ऋषियों ने गृस्थाश्रम को हेय दृष्टि से देखा और न जातक-युग के विचारकों ने ही ऐसा कोई स्पष्ट मत दिया। आखिर सारा-का-सारा देश गृहत्यागी, संन्यासी बन भी तो नहीं सकता। पंचशील[1] के सिद्धान्त विशेषतः गृहस्थों के लिए कहे गये थे[2]। इनका पालन भिक्षुओं के लिए भी अनिवार्य था; बल्कि भिक्षुओं के लिए इनके अतिरिक्त और भी पाँच शील[3] थे।

यह विचार करने की बात है कि वैदिक युग का समाज और जातक-युग का समाज—दोनों आसुरी सम्पदा से दूर रहने और दैवी-सम्पदा के अर्जन करने के लिए उत्साहित करते हैं। हमने यह माना कि 'समता' का युग तो बहुत पहले समाप्त हो चुका था और सम्पत्ति-संचय तथा शोषण का युग अस्तित्व में आ गया था; किन्तु जैसे ही 'सोना' का शासन स्थापित हुआ, विचारकों ने उसकी भयानकता को भाँप लिया और त्याग का नारा देना आरम्भ कर दिया। विचारकों को समझते देर नहीं लगी कि बढ़ते हुए भौतिकवाद या पूँजीवाद पर जोरदार प्रहार न किया गया तो धरती टिक न सकेगी, मानव एक दूसरे का शत्रु बन जायगा और समाज समाप्त हो जायगा। धन एकत्र हो रहा था, उसकी महिमा बढ़ रही थी और उसका विष फैल रहा था। इसके चलते त्रास बढ़ रहा था तथा शोषण और उत्पीड़न भी जोर पकड़ रहा था। ऐसे समय में त्यागियों और तपस्वियों ने त्रस्त मानव को अभय-दान दिया और उसे बतलाया कि 'त्याग करो'—आवश्यकता कम करो। न केवल धन का त्याग, बल्कि सभी तरह की बुराइयों का त्याग करो। यह धरती नाशवान् है, भोग नाशवान् है। इस चक्कर में रहोगे तो समूल नष्ट हो जाओगे। इस शरीर का शरीरी कोई और है, वह नित्य है। उसका कल्याण करो, मोक्ष प्राप्त करो, आध्यात्मिक आनन्द की खोज करो, भौतिक सुख को ठोकरें मारो। ये सारी बातें बढ़ते हुए पूँजीवाद के विरोध में ही कही गई थीं, पूँजीवाद का विरोध तलवार से नहीं 'सत्य' से किया गया, ज्ञान और विज्ञान से किया गया। बुद्धदेव भी वही कहते रहे, जो पूर्वकाल के ऋषि कह गये थे। जातक-युग

---

१. हिंसा, चोरी, काममिथ्याचार, मिथ्या-भाषण और मदिरा—इन पाँचों से विरति का नाम पञ्चशील है।

२. धम्मिक सुत्त, सुत्तनिपात —१९।२३

३. अकाल-भोजन, नृत्य-गीत-वाद्य, माल्यगन्धविलेपन, तोशक-तकिये पर शयन और सोना-चाँदी का ग्रहण—इन पाँचों से विरक्ति।

का समाज यद्यपि सम्पन्न समाज था, करोड़पतियों और अरबपतियों का समाज था, तथापि समाज की नींव सोने पर और भोग पर नहीं थी। वैदिक समाज की नींव जिस 'ऋत' और सत्य[१] पर थी, जातक-कालीन समाज की नींव भी उसी ऋत और सत्य पर टिकी रही। पूँजीवाद के बढ़ते हुए बल ने यह भय पैदा कर दिया था कि कहीं समाज की नींव खिसक कर दूर न हट जाय—हमारे सन्तों ने जोर लगा कर समाज की नींव को ऋत और सत्य से हटने नहीं दिया। यह एक बहुत बड़ी बात थी। भगवान् बुद्ध ने और दूसरे सन्तों ने भी पूरा जोर लगा कर जीवन-भर संघर्ष किया और समाज की नींव को हिलने नहीं दिया। पूँजीवाद की जड़ कमजोर करने में भारत के सन्तों को बहुत-कुछ करना पड़ा। वे न केवल सोने के जाल में फँसे, मानव को सजग भी करते रहे; और मानवता को सोने के अम्बार के नीचे कुचल कर मरने से भी बचाते रहे। किन्तु इस काम के लिए मान्य गुरु के उपदेशों की भी जरूरत थी, जिसका वेदों में हम नीति-वाक्यों और उपदेश-वाक्यों के रूप में अभाव पाते हैं। जब पूँजीवाद भयानक रूप से भड़क उठा और गुणों का त्याग करके मानव दोनों हाथों से सोना बटोरने लगा, तब संतों ने नीति-वाक्यों और उपदेशों की ओर ध्यान दिया। वे कहने लगे—'यह मत करो, वह मत करो, पाप से बचो, पापी को युग-युगान्त कष्ट भोगना पड़ता है, अपने को देखो, पहचानो, समझो—तुम सत्य-स्वरूप हो।' जातक-युग में बुद्धदेव की वाणी ने पूँजीवाद और उससे उत्पन्न होनेवाले जहर को निष्प्राण-सा कर दिया था—भोगों की ओर से मुड़ कर समाज सत्य के प्रकाश की ओर चल पड़ा था[२]।

आरोग्य सबसे बड़ा लाभ है, सन्तुष्टि सबसे बड़ा धन है, विश्वास सबसे बड़ा अपना बिरादर है और निर्वाण सबसे चरम सुख है।

जाति-भेद

वैदिक युग से ही यहाँ जाति-भेद किसी-न-किसी रूप में रहा है। किन्तु यह जाति-भेद पृथक्ता का नहीं, आन्तरिक एकता का ही समर्थन करता है। भारत की सभी जातियाँ स्पष्टतः सांस्कृतिक इकाई के रूप में रही हैं, जिसका सामान्य इतिहास, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति है। इन सभी चीजों से ऊपर धर्म ने तो सबको कस कर एकत्र कर रखा था—जैसे बहुत-से खरों को बाँट कर मजबूत रस्सा बनता है। विनसेंट स्मिथ ने लिखा है—"निःसन्देह भारत में एक आधारभूत आन्तरिक एकता है। यह एकता भौगोलिक पृथक्ता या राजनीतिक श्रेष्ठता से पैदा होनेवाली एकता से कहीं गम्भीर है। यह एकता असंख्य परस्परविरोधी रक्त, रंग, भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज तथा सम्प्रदाय के घेरे से ऊपर उठी हुई है[३]।" इसका मूल कारण है—धर्म के प्रति भारत की आस्था, श्रद्धा और विश्वास। अगर हम धर्म-विश्वास को आस्था या आध्यात्मिक निष्ठा के रूप में लें, तो धर्म एक प्रकार का

---

१. ऋग्वेद, १।३६।५; ७।४०।६; १।१५२।२; ५।६३।१; ७।६६।१३; ७।६६।१०; ४।२५।४३

२. धम्मपद, २०४—'आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती निब्बानं परमं सुखं ॥८॥'

३. 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया' (१९१९) की भूमिका, पृष्ठ १५

विश्वास या अन्तर्दृष्टि है। जिन विश्वासों से आत्मा का आध्यात्मिक जीवन बढ़ता हो तथा उसकी उन्नति होती हो, तो वास्तविक जगत् की स्वभाव के नियम के अनुरूप होना ही चाहिए; क्योंकि वास्तविक जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करना उसका ध्येय होता है[1]। वेदों के मनन से यह स्पष्ट होता है कि ऋषियों के साक्षात्कृत अनुभवों का ही वह संग्रह है। डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार—"उनमें (वेदों में) जितना अधिक जीवन प्रतिबिम्बित होता है, उतना मतवाद का आग्रह नहीं है। उसमें सुदृढ़ तत्त्वचिन्तन से युक्त आत्मा की आध्यात्मिक अनुभूतियों का विवरण है। वेद इसीलिए प्रमाण माने जाते हैं कि वे धार्मिक क्षेत्र के विशेषज्ञों की अनुभूतियाँ प्रकट करते हैं। वेदों में उल्लिखित बातें यदि आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से गृहीत न होतीं, तो वे हमारे विश्वास के अधिकारी नहीं होते[2]।"

डॉ० राधाकृष्णन् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्वास आत्मा की अन्तर्दृष्टि है—वह प्राण-शक्ति है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक भावों का ग्रहण उसी तरह होता है, जिस तरह शारीरिक इन्द्रियों से भौतिक पदार्थों का। भारत ने धर्म को जीवन और अनुभव के रूप में स्वीकार किया तथा उस पर विश्वास भी किया। हमने कहा कि धर्म एक-मात्र अन्तःकरण की विशिष्ट प्रवृत्ति है, यद्यपि वह बौद्धिक विचारों, ललित रुचियों और चारित्रिक सम्पदाओं से युक्त रहा है। यही कारण है कि धार्मिक अनुभूति को भारत ने स्वतः प्रमाण माना है। धार्मिक द्रष्टाओं ने अपने आन्तरिक विश्वासों को इस तरह प्रमाणित किया है कि युग की विचार-धारा को वह तृप्त कर सके।

यही कारण है कि हजारों-हजार वर्षों से भारत प्रत्यक्ष विविधा के रहते हुए भी आन्तरिक एकता के पाश में बँधा हुआ है, जिस पर विनसेंट स्मिथ ने आश्चर्य प्रकट किया है। भौतिक अनेकरूपता ने भारत को आध्यात्मिक एकता के बन्धन में बाँध कर स्थिर कर दिया है। व्यवहारविच्छिन्न शास्त्रीय विचार और कर्मकांड को भारत ने धर्म के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया, यह स्मरण रखने योग्य बात है। जो आध्यात्मिक परम्पराएँ यहाँ स्थिर की गईं, वे इतनी मजबूत सिद्ध हुईं कि युगों के उलट-फेर का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा। जिस समाज ने अपनी परम्परा को पवित्र और श्रेष्ठ माना है, उसने अतुलनीय शक्ति और स्थायित्व प्राप्त किया है। यह स्पष्ट है कि पवित्रता से मंडित रहने के कारण वैदिक परम्परा से हमारी संस्कृति का विकास होता गया और सभ्यता की अविच्छिन्नता निश्चित बनी रही।

डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है कि—"जीवित परम्परा का प्रभाव हमारी भीतरी शक्तियों पर पड़ता है। उससे हमारे चरित्र में मानवीय गुणों का विकास होता है और हम एक ऊँचे धरातल पर पहुँचते हैं। इसके कारण हर पीढ़ी की सभी बातें एक विशेष ढाँचे में ढलती हैं। जिससे प्रत्येक सांस्कृतिक रूप का अपना अस्तित्व होता है और उसके प्रति अनुराग की भावना बनी रहती है[3]।"

१. तैत्तिरीय आरण्यक, १-२

२. 'हिन्दू व्यूज ऑफ् लाइफ'।

३. आक्सफोर्ड के 'मेन्चेस्टर कॉलेज' में दिये गये एक भाषण से।

परम्परा को तात्पर्यवती होना चाहिए और तात्पर्यवती परम्परा का ही प्रत्यक्ष से अधिक महत्त्व हो सकता है। रुचि परम्पराओं का नहीं। तात्पर्यवती परम्परा श्रुति है।

तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती न श्रुतिमात्रम्[१] ॥

हमारे यहाँ जाति-भेद कभी साम्प्रदायिकता के रूप में नहीं रहा। व्यक्तिगत रूप से कुछ लोग नहीं; बल्कि समूचे-के-समूचे कबीले आर्यों के धर्म में आत्मसात् कर लिये गये थे[२]।

सर हरबर्ट रिजले ने लिखा है—'हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक रहनेवाले हिन्दुओं में एक आन्तरिक लगाव पाया जाता है[३]।'

आखिर यह लगाव का आधार क्या है—यदि भारत में विविधता को जीवन में प्रमुख स्थान दिया जाता, तो वह छिन्न-भिन्न हो जाता। धर्म ने हमें भीतर से एक साँचे में ऐसा ढाल दिया है, जो आज तक बिखर न सका। एक समान लक्ष्य के लिए कार्य करते हुए भारत के भिन्न-भिन्न मानव-समुदाय ने एक में संगठित रखनेवाली एकता की सजीव भावना को युगों से बचा रखा है, इसीलिए वर्ग-संघर्ष-जैसा कोई रोग अपने यहाँ नहीं फैला और न आन्तरिक एकता का ही बन्धन टूटा। हमारा धर्म गतिशील रहा है, स्थावर नहीं; वह क्रिया रहा है, फल नहीं। उसे बढ़ती हुई एक परम्परा कह सकते हैं, निर्धारित तत्त्व नहीं। इन सारी बातों पर गहराई से ध्यान देने पर यह सिद्ध हो जाता है कि युगों से जो सारा भारत एकता के सूत्र में बँधा है, वह बन्धन भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। वैदिक युग से लेकर जातक-युग तक इस एकता को हम पाते हैं और उसके बाद भी।

वर्ण-व्यवस्था

डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार—'मानव-समुदाय में पाई जानेवाली अनन्त पृथक्ताओं को स्वीकार करना ही वर्ण-व्यवस्था है[४]।' गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से पाई जानेवाली जो पृथक्ताएँ मानव-समाज में थीं, उन पृथक्ताओं का सम्मान करते हुए सभी खण्डों को एक में जोड़ने का जो प्रयास वैदिक युग के आचार्यों और ऋषियों ने किया था, वह तब भी स्तुत्य था और आज भी वन्दनीय है। एकता का अर्थ एकरूपता तो नहीं है। वर्ण-व्यवस्था इसी एकता को कायम रखती है, जिस एकता के बन्धनों में अनेकरूपता भी कायम है। सामाजिक परम्पराओं और वंशानुगत सहजात गुणों के कारण विभिन्न जातियों में स्पष्ट रूप से अलग-अलग ढंग के स्वभाव, प्रवृत्ति आदि का विकास होता है—इन सारी पृथक्ताओं को, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व भी होता है, नष्ट करके सबको एक ही साँचे में ढालना बिलकुल ही गलत प्रयास है।

वैदिक युग से जातक-युग तक

१. भामती, १, १, १

२. पंचविंश ब्राह्मण, १७।१-४; बौधायन, १७।२४-६; कात्यायन, २२।४; लाट्यायन ८।६; द्रष्टव्य—'तांड्यब्राह्मण' में 'व्रात्यस्तोम' नामक प्राचीन पद्धति।

३. 'दि पिपुल ऑफ् इण्डिया' (१९१५)

४. 'हिन्दू व्यूज ऑफ् लाइफ'।

ऋषियों ने इस सत्य को समझा और वर्ण-व्यवस्था के नाम पर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, जिसने सैकड़ों-हजारों आचार-विचार-संस्कारवाली जातियों को मोटे तौर पर केवल चार या पाँच भागों में रख दिया। सैकड़ों-हजारों टुकड़ों को जोड़ कर केवल चार टुकड़ों में रखा और इस बात का ध्यान रखा कि किसी भी टुकड़े के विश्वास और रीति-रिवाज पर आघात न होने पावे। कोई भी जाति अपने विश्वास, रीति-रिवाज या परम्पराओं से इतनी चिपकी होती है कि वह मर जाना स्वीकार कर लेगी, किन्तु अपने विश्वास, रीति-रिवाज या परम्पराओं पर आघात करने न देगी। जिन सही या गलत सिद्धान्तों की नींव पर वह जाति टिकी होती है, उन सिद्धान्तों के प्रति उसकी रागात्मकता या तर्कहीनता का लगाव रहता है, जो उपयुक्त है। उस जाति को यह भय भी रहता है कि—जो हमारे सिद्धान्तों पर प्रहार करता है, वह हमें जड़-मूल से नष्ट कर देना चाहता है; अतः हमारा शत्रु है। जिस वातावरण में जिस जाति को साँस लेने का अभ्यास है, उसके फेफड़ों की बनावट उसी वातावरण के योग्य हो जाती है। वर्ण-व्यवस्था के भीतर बहुत-सी जातियों का संगठन हो जाता है; और किसी भी जाति के पुराने सिद्धान्त पर आघात भी नहीं होता। सभी जातियाँ अपनी-अपनी पृथक्ता कायम रखती हुई वर्ण-व्यवस्था के बन्धन में आ जाती हैं; किसी को कुछ गँवाना नहीं पड़ता। प्रत्येक जाति एक विराट् परिवार का सदस्य बन जाती है। यह कैसा चमत्कारपूर्ण संगठन है। बेलेनटीन चिरोल ने कहा है—"हिन्दू-धर्म के नरम और सूक्ष्म तत्त्वों ने प्रागैतिहासिक युग में ही असंख्य विभिन्न जातियों के सर्वथा विपरीत विश्वासों और रीति-रिवाजों को एक साथ मिला कर व्यापक रूप दिया है। यह रूप इतना लचीला है कि इसमें भारत के अधिकांश मूल निवासियों को भी स्थान प्राप्त है और यह इतना कठोर भी है कि हिन्दू-आर्यों का प्रभुत्व बना हुआ है[१]।"

वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक पक्ष मानवी संगठन का फल है—ऐसा विद्वानों का मत है। वास्तविक विभेद और आदर्श एकता को ध्यान में रख कर समाज को व्यवस्थित रखने का प्रयत्न वर्ण-व्यवस्था के रूप में किया गया था। इसके द्वारा, मानव-समाज जो विभिन्न अंगों की एक पूर्ण इकाई है, स्वभावतः ये अंग एक-दूसरे पर आश्रित है। प्रत्येक अंग अपने विशेष कार्य को पूरा करता हुआ शेष अंगों को अपना-अपना काम पूरा करने को प्रेरित ही नहीं करता; बल्कि क्षमता भी प्रदान करता है। वर्ण-व्यवस्था के चार भाग हैं—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक वर्ग, सैनिक और राजनीतिक वर्ग, वणिक् और विकसित कमकरों का वर्ग। हर समुदाय इसके लिए स्वतन्त्र है कि वह अपने नियमों और परम्पराओं का, विना दूसरे समुदाय के हस्तक्षेप के पालन करे। गुरु की पवित्रता, योद्धाओं की वीरता, व्यापारियों की ईमानदारी और कमकरों का धैर्य तथा शक्ति, कार्य-कुशलता—सब-के-सब सामाजिक उन्नति में बराबर हिस्सा लेते हैं, फिर भी प्रत्येक की अपने-आप में पूर्णता है।

वर्ण-व्यवस्था के नियमों के द्वारा समाज के अलग-अलग समुदायों में जो सामंजस्य स्थापित किया गया था, उसने न केवल भारत को जिलाये रखा; बल्कि उसे

१. 'इण्डिया : ओल्ड एण्ड न्यू' (१९२१) पृ० ४२।४३

ऊपर भी उठाया, उसके आन्तरिक गुणों को मरने से बचाया और समाज में अचलता नहीं आने दिया। आर्थिक पहलू को जीवन में उच्च स्थान देने से क्रमशः चरित्र का ह्रास हो जाता है, अतः वर्ण-व्यवस्था की नींव आध्यात्मिक थी, भौतिक नहीं।

डॉ० राधाकृष्णन् ने साफ शब्दों में कहा है—'समाज की व्यवस्था का आधार होना चाहिए आध्यात्मिक-स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता और आर्थिक बन्धुत्व[१] !'

स्वतन्त्रता आध्यात्मिक होनी चाहिए—इस बात पर ध्यान दीजिए। मनुष्य के अन्दर जो आध्यात्मिक तत्त्व निहित है वह उसे प्राकृतिक सीमा के अन्दर स्वतन्त्रता प्रदान करता है, अतः स्वतन्त्रता आध्यात्मिक होनी ही चाहिए। यह समझना उचित नहीं है कि मानव अपनी सहज वृत्तियों का यन्त्र-मात्र है। उसकी अन्तरात्मा उन सभी स्वाभाविक शक्तियों पर अधिकार जमा लेती है जो उसे बन्धन में रखने का प्रयास करती है। यह स्पष्ट है कि सारा वैदिक वाङ्मय केवल धार्मिक विश्वासों पर नहीं बल्कि जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि पर जोर देता है। वर्ण-व्यवस्था पर विचार करते समय इन बातों को अपने सामने रखना उचित होगा। विद्वानों का ऐसा मत है कि हमारा धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, जिसके प्रकाश में हमने वर्ण-विभाग किया था। बल्कि यह ऐसे लोगों का मातृ-मण्डल है, जो सत् नियमों के प्रति श्रद्धा रखते थे और उनको शुद्ध बुद्धि से मानते थे और निष्ठापूर्वक सत्य की खोज में तत्पर रहते थे। सत् कार्य करना ही धर्म है[२]—यही वह धर्म है जिसे 'अविरोधी धर्म' कहा गया है।[३] हमारी अन्तर्दृष्टि सत्य है तो सत् कार्य स्वयम् होगा—सत्य की प्रवृत्ति सत् कार्य के अतिरिक्त अन्यत्र हो भी तो नहीं सकती।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णों की चर्चा आई है और उनका मुख्य गुण भी कहा गया है, जो इस प्रकार है—

ब्राह्मण—शतपथ	**१।९।३।१६**	**'ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति।'**
,, —शतपथ	**४।६।६।५**	
क्षत्रिय—ऐतरेय	**८।६**	**—बलवान हो।**
,, —शतपथ	**१३।१।५६**	
वैश्य—ऐतरेय	**८।२६**	**—व्यापार करे, राष्ट्र को उन्नत बनावे।**
शूद्र—शतपथ	**१३।६।२।१०**	**—श्रम का साक्षात् रूप है, जिसपर राष्ट्र टिका हुआ है।**

१. 'हिन्दू व्यूज ऑफ् लाइफ'।

२. शतपथ, ३।४२।८
तांड्यब्राह्मण, १८/२।१९—'ऋतेनैवं स्वर्ग लोकं गमयति'।

३. महाभारत, शान्ति०

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के मतानुसार—"...सामाजिक-संगठन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार बना हुआ था, जिसे अस्पष्ट, विस्तृत तथा जटिल स्वरूपवाले हिन्दू-धर्म की सर्वोत्तम परिभाषा कहा जा सकता है[१]।"

खानपान[२] के लिए और विवाह-शादी के लिए भी कुछ नियम थे, जिनका पालन कड़ाई से किया जाता था। वर्ण की शुद्धि विवाह एवं भोजन और अस्पृश्य वस्तु के स्पर्श-वर्जन पर निर्भर था। भिन्न जाति के साथ विवाह और अन्तरजातीय भोजन निषेध था। आपत्-धर्म की भी व्यवस्था थी। ब्राह्मण (द्विज) जो ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था का पालन नहीं करता था, वह पतित माना जाता था—ऐसे पतित द्विज के साथ किसी तरह का भी व्यवहार रखना, उसे शिक्षा देना या यज्ञ आदि शुभ कर्मों में बुलाना वर्जित था। पतित द्विज का अनुकरण करना भी मना था[३]। केवल वर्णों का ही विभाजन नहीं था, बल्कि आयु में आश्रम का भी विभाजन किया गया था। इसी के अनुसार आश्रम चार थे—

ब्रह्मचर्याश्रम (शिक्षा-काल)
गृहस्थाश्रम (स्नातक होने पर)
वाणप्रस्थाश्रम (वृद्धता के शुरू होने पर) और
संन्यासाश्रम (मोक्ष-मार्ग, सर्वस्व त्याग)।

मनुष्य की आयु उस समय १०० वर्षों की मान ली गई थी, अतः चारों आश्रमों के लिए पचीस-पचीस वर्षों की अवधि थी। बिना आश्रम के केवल वर्ण प्राण-हीन शरीर माना जाता था। हिन्दू-धर्म संक्षेप में वर्णाश्रम-धर्म ही है—यह इसका व्यवहारिक रूप है। आश्रम की प्रथा सभी वर्णों को ऐक्य की ओर खींचती थी और समाज के जीवन को चार आश्रमों में बाँट कर अत्यन्त मजबूत कर देती थी। प्रत्येक आश्रम का काम था—अपने सदस्यों के मानसिक स्तर को अधिक-से-अधिक ऊपर उठा देना और संगठित कर देना। प्रथमाश्रम समाज को योग्य सदस्य देता था[४]। रेमजे मैकडोनल्ड ने लिखा है कि—'इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष और हिन्दू-धर्म का परस्पर शरीर और आत्मा की तरह घनिष्ठ सम्बन्ध है।'

वर्ण-व्यवस्था को मान कर ही हमारे यहाँ युगों से विभिन्न जातीय संस्कारों से युक्त मानव-समुदाय एक साथ घुल-मिल कर रह रहा है और अपने-अपने संस्कार और अपनी-अपनी परम्पराओं की रक्षा कर रहा है—उसे किसी तरह की भी दिक्कत नहीं मालूम होती। सच्ची बात तो यह है कि 'उच्चता की कसौटी निर्मल-चरित्र है न कि जाति (वर्ण) या पांडित्य[५]।' वस्तुतः उच्चता या श्रेष्ठता तो 'शील' से होती थी, वर्ण या विद्वत्ता से नहीं। महाभारत[६] में यह साफ-साफ कहा गया है कि

१. 'हिन्दू सिविलिजेशन'।
२. आपस्तम्ब, १।६।१८।१
३. पारस्कर गृह्यसूत्र, २।५।४० आदि।
४. 'दि फंडामेण्टल यूनिटी ऑफ् इण्डिया' (लौंग मैन्स, लन्दन)
५. महाभारत, वाणपर्व, अध्याय ३१४ और अध्याय २१६ भी पठनीय हैं।
६. वनपर्व, अ० १८२ (मनुस्मृति ४—२३४, २२५ द्रष्टव्य)

इतनी.........संकरता पैदा हो गई है कि जाति का नियम ही व्यर्थ हो गया है। हमें मुख्य स्थान शील को देना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने 'शील' को ही सबसे अधिक महत्त्व देकर 'वर्ण' को व्यर्थ सिद्ध किया था। बड़े-बड़े ऋषि, जिनकी पूजा ब्राह्मण करते थे, वर्णसंकर और मिश्रित जाति के थे। वसिष्ठ की माता वेश्या थी, व्यास का जन्म धीवर-लड़की के गर्भ से हुआ था और पाराशर चाण्डाल-कन्या की संतान थे[1]। फिर भी, इन्होंने परम-पद प्राप्त किया। सभी श्रद्धापूर्वक इनकी पूजा-वन्दना करते थे—

गणिकागर्भसंभूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्॥
जातो व्यासस्तु कैवर्त्यः श्वपाक्यस्तु पराशरः।
बहवोऽन्येपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः॥

प्राचीन युग में वर्णव्यवस्था की नींव जिस धरती और सिद्धान्तों पर दी गई थी, वे (धरती और सिद्धान्त) जातक-युग में भी कायम रहे। जातक-युग में भी वर्ण-व्यवस्था का वही रूप था, जो उससे पूर्व काल में था। हाँ, बुद्ध के समय में सबसे ज्यादा जोर 'शील' पर दिया जाता था। वैदिक युग के ऋषियों ने भी शील को महत्त्व दिया था। आर्य-संस्कृति का प्राण 'शील' है। शील के सहारे नर नारायण बन सकता है, शीलविमुख होने से समाज के धक्के और नरक दोनों मिलते हैं।

आनन्द ने भगवान् बुद्ध से पूछा था—'फूलों की महक हवा के साथ ही फैलती है—हवा की विपरीत दिशा में क्यों नहीं जाती?' बुद्धदेव ने कहा—'सत्पुरुष सभी दिशाओं को सुवास से भर देता है। सभी फूलों की महक से शील की सुगन्ध उत्तम है।'

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ विस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो॥

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगर मल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति[2]॥

आगे भगवान् कहते हैं—'शीलवालों की जो सुगन्ध फैलती है, वह देवताओं (देवलोक) में भी फैल जाती है'—

अप्पमत्तो अयं गन्धो या यं तगरचन्दनी।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो[3]॥

जातक-युग की वर्ण-व्यवस्था का आधार भी 'शील' था। ब्राह्मण हो या क्षत्रिय,

---

१. महाभारत।
२. धम्मपद, ५४-५५
३. धम्मपद, ५६

यदि वह शीलवान् नहीं हुआ, तो उसे ब्राह्मण या क्षत्रिय मानने में समाज आनाकानी करता था।

ब्राह्मण के सम्बन्ध में बुद्धदेव की धारणा बहुत ही स्पष्ट है। वे कहते हैं—'माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं मानता और जो 'भो-वादी' (जातक-युग में एक ब्राह्मण दूसरे का 'भो' कह कर सम्बोधन करता था) तथा संग्रही है (धन जोड़ता है), उसे भी मैं ब्राह्मण नहीं मानता। मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही और सर्वत्यागी है—

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं।
'भोवादि' नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[1] ॥

आगे कहा है—जो सारे बन्धनों को काट कर (तृष्णा से) नहीं डरता, उस (रागादि के) संग और आसक्ति से विरत को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[2] ॥

जो मन में किसी प्रकार भी क्रोध या प्रतिहिंसा के भाव न आने दे और गाली, वध और बन्धन को विकार-रहित चित्त से सह ले, उसे बुद्धदेव ब्राह्मण कहते थे। ऐसे को ब्राह्मण कहते थे क्षमा-बल ही जिसकी बल-सेना का सेनापति हो।

अक्कोसं वधबन्धञ्च अदुट्ठो था तितिक्खति।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[3] ॥

स्पष्ट हुआ कि वे ब्राह्मण-वर्ण को स्वीकार करते थे, किन्तु इस वर्ण में उन गुणों को देखना चाहते थे, जिन गुणों के कारण यह वर्ण पूजनीय माना जाता था। महाभारत (सभापर्व) में राजसूय यज्ञ का वर्णन आया है। उसमें कहा गया है कि यज्ञ-मण्डप में कोई भी सदस्य (ब्राह्मण) ऐसा न था, जो वेद के छहो अंगों का ज्ञाता, बहुश्रुत शीलव्रत, अध्यापक, पाप-रहित, क्षमाशील और सामर्थ्यशील न हो—

नाषडङ्गविद्यासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नापापो नाक्षमो द्विजः ॥

आगे कहा है—

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा।

यह स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मण वर्ण का होने से ही किसी को उस महापुण्य कार्य में हाथ बँटाने का अधिकार न था—वे ब्राह्मण तो हों ही, साथ ही विद्वान्, पाप-रहित, क्षमाशील, शील-व्रत धारण करनेवाले तथा सामर्थ्यवान् भी हों। बुद्धदेव ने यदि ब्राह्मणों में ब्राह्मणोचित गुणों की खोज की, तो कोई अनुचित नहीं किया। उन्होंने तो प्राचीन ऋषियों के ही मत का प्रतिपादन किया।

१. धम्मपद, ३९६
२. धम्मपद, ३९७
३. धम्मपद, ३९९

एक वर्ण में बहुत-से व्यक्ति होते थे। वे सभी अपने वर्ण-धर्म का पालन पूर्ण रीति से करते थे। ऐसे व्यक्तियों का समूह वर्ण के रूप में गठित होकर एक विराट् मानव का रूप ग्रहण करता था। प्रत्येक व्यक्ति का गुण समष्टि के रूप में प्रकाशमान होता था। हजारों-लाखों त्यागी, तपस्वी, विद्वान् ब्राह्मणों का समूह 'ब्राह्मण-वर्ण' के रूप में गठित था और प्रत्येक ब्राह्मण का गुण वर्ण के संगठन के भीतर 'वर्ण' का गुण था और कहा जाता था कि—यह वर्ण ऐसा है। यही बात क्षत्रिय या वैश्य-वर्ण के सम्बन्ध में भी थी।

जातक-युग में जन्म से जाति को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता था—जातिगत गुण की प्रधानता थी। वैदिक युग से महाभारत-युग तक वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ स्थिर की गई थीं, उन्हीं मान्यताओं पर विशेष जोर जातक-युग में दिया जाता था। भगवान् बुद्ध ने भी कोई नई कसौटी वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में नहीं रखी, पुरानी कसौटी को ही स्वीकार कर लिया। हाँ, बुद्धदेव वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कड़े हो गये थे—वे समझौता नहीं चाहते थे। उनका यह कड़ा रुख निश्चय ही उस युग के वर्ण-व्यवस्था माननेवालों के लिए मँहगा पड़ा होगा। भगवान् बुद्ध का यह स्पष्ट विचार था कि यदि वर्ण-व्यवस्था को रहना है, तो वह अपने गुणों की पूर्णता को प्राप्त करे और उसी धरती पर रहे, जिस धरती पर आर्य-ऋषियों ने उसे टिका दिया था। यदि वह ऐसा नहीं कर सकती, तो उसे रहने का कोई अधिकार नहीं। वे यह नहीं कहते थे कि ब्राह्मण मिटा दिये जायँ या समाज इस वर्ण को निकाल बाहर करे। वे यह कहते थे कि ब्राह्मण सच्चे अर्थों में ब्राह्मण बने और जो सच्चे अर्थों में ब्राह्मण नहीं हैं, उन्हें मैं ब्राह्मण नहीं मानता। जन्म से ब्राह्मण न होने पर भी कर्म से ब्राह्मण बन जानेवाले ऋषियों के उदाहरण दिये जा चुके हैं।

वर्ण-व्यवस्था जब एक बार कायम हो गई, तो उसके चारों ओर लोहे की दीवारें कायम कर दी गईं। न कोई उसके भीतर घुस सकता था और न उससे बाहर निकल सकता था। इसी कारण जन्म से वर्ण का श्रीगणेश हुआ। भगवान् बुद्ध ने देखा कि इस घेरे के कारण गुणों का लोप होता जा रहा है। जो जन्म से ब्राह्मण बन चुका है, वह कर्म से ब्राह्मण बनने का प्रयास नहीं करता। इसलिए, उसे यह भय बना बना रहे कि यदि हम कर्म से ब्राह्मण बने रहने का प्रयास नहीं करेंगे, तो हम चांडाल-वर्ग में भी धकेल दिये जा सकते हैं। इसी तरह चांडाल-वर्ग का कोई व्यक्ति शीलवान् बनने के कारण ब्राह्मण-वर्ण में भी आ सकता है। यदि ऐसी बात हो जाय, तो किसी भी वर्ग में अचलता पैदा नहीं होगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों के प्रति उदासीन नहीं रहेगा। किसी भी कर्म में निश्चिन्त होकर मानव भीतर से पथरा जाता है और उसके गुणों की बाढ़ रुक जाती है।

भगवान् बुद्ध ने 'जन्म से जाति' की दीवार पर प्रहार करके वर्ण-व्यवस्था का विरोध या गला नहीं घोंटा, बल्कि उन्होंने इस वर्ण-व्यवस्था के भीतर की ऊमस और अचलता को समाप्त कर देना चाहा। महाकात्यायन ने मथुरा के राजा अवन्ति-पुत्र से

कहा था[१]—'चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चोरी-हिंसा आदि कुकर्म भी कर सकते हैं और साथ ही नरक भी भोग सकते हैं। इस तरह चारों वर्ण सम हो जाते हैं। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र सेंध मारे, गाँव लूटे, चोरी या व्यभिचार करे तो तुम (बिना वर्ण-भेद के) उसे दंड दोगे या नहीं' ?

राजा ने कहा—'अवश्य ! पहले उसकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संज्ञा थी; मगर अपराध करने के बाद उसकी वह संज्ञा अन्तर्हित हो गई—अब उसकी संज्ञा 'अपराधी' है। मैं उसे दंड दूँगा।'

महाकात्यायन ने कहा—'ऐसा होने पर चारों वर्ण बराबर हो जाते हैं। यदि शूद्र कल्याणधर्मा हो, शीलग्रहण करे (शीलवान् हो), तो तुम उसके साथ कैसा व्यवहार करोगे' ?

राजा ने उत्तर दिया—'उसकी शूद्र-संज्ञा अन्तर्हित हो गई, अब श्रमण ही उसकी संज्ञा है'।

इस वार्त्तालाप से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कोई भी वर्ण यदि उत्तम गुणों को धारण करता है, तो ऊपर उठ जाता है। यदि वह अपने ही वर्ण के गुणों को धारण किये रहता है, तो अपने ही वर्ण में रहता है। शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और ब्राह्मण शूद्र क्या चांडाल, वृषल भी बन सकता है। यहाँ एक बात मार्के की है। महाकात्यायन ने शूद्र को केश, दाढ़ी मुँड़वा कर प्रव्रजित होकर, कल्याण-धर्म ग्रहण करने की बात कही है—'प्रव्रजित होने पर—संन्यास ले लेने पर आज भी कोई वर्ण चारों वर्णों की पूजा पाता है। हम किसी साधु या संन्यासी की जाति कहाँ पूछते हैं —गैरिक वस्त्र पहने देखकर प्रणाम करते हैं, आदर करते हैं, वह चाहे ब्राह्मण हो या चांडाल'। महाकात्यायन के कथनानुसार प्रव्रजित होने पर ऐसा हो सकता है। यह वर्ण-व्यवस्था की व्यर्थता सिद्ध करना नहीं हुआ, बल्कि प्रव्रज्या की ओर आकृष्ट करना है। जो निम्न वर्ण का हो और उच्च वर्ण से पूजा-वन्दना प्राप्त करने को इच्छुक हो, तो उसके लिए एक रास्ता खुला—केश-दाढ़ी मुँड़वा कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना और वर्णत्व के बन्धन से मुक्त होकर सभी वर्णों से आदर, पूजा और वन्दना प्राप्त करना !

आश्वलायन[२] नामक एक परम विद्वान् ब्राह्मण के नेतृत्व में ब्राह्मणों का एक समूह, बुद्धदेव के निकट गया। उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिंडक के आराम-जेतवन में ठहरे हुए थे।

यह कहने पर कि सभी वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, भगवान् बुद्ध कहते हैं—"क्या ब्राह्मण ही वैर-रहित, द्वेष-रहित, मैत्री-चित्त की भावना कर सकता है, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं ? क्या ब्राह्मण ही मंगल (स्वस्ति) स्नान-चूर्ण लेकर स्नान करने जा सकता है, मैल धो सकता है दूसरे वर्ण नहीं !" आगे चल कर बुद्धदेव कहते हैं—"यदि

१. माधुरिय सुत्तन्त, ८४ (मज्झिमनिकाय २।४।४)

२. अस्सलायण सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय–२।५।३) और कण्णत्थलक सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय–२।४।१०)

...क्षत्रिय राजा नाना जाति के सौ पुरुष एकत्र करे और कहे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, शाल, सरल, चन्दन या पद्म-काष्ठ की उत्तरारणि लेकर आग उत्पन्न करें; निषाद, बसोर (बँसफोर = डोम) रथकार, पुक्कस, जाति के लोगों से कहें कि कुत्ते के पानी पीने की काठ कठेली, या सूअर के पानी पीने की काठ की कठेली, धोबी की कठेली या रेंड आदि निम्न-कोटि की लकड़ियों से आग उत्पन्न करें, तो क्या मानते हो कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के द्वारा काठ से उत्पन्न की हुई आग ही अर्चिष्मान् (लौ-वाली) होगी। उसी आग से आग का काम लिया जा सकता है और अन्त्यज जाति ने जो आग उत्पन्न की है, वह क्या अर्चिष्मान् , वर्णवान् और प्रभास्वर (तेजोमय) नहीं होगी? क्या उस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकता?"

तात्पर्य यह हुआ कि गुण जहाँ से भी प्राप्त हो—वह चाहे किसी जाति का हो, उसका (गुण का) आदर भी समान रूप से होगा।

श्रावस्ती[1] के अनाथपिंडक के जेतवन में रहते समय भगवान् बुद्ध ने फासुकारि ब्राह्मण को उपदेश देते हुए कहा था—"न तो उच्च कुलीनता को अच्छी बतलाता हूँ और न बुरी, न मैं उच्च वर्ण को अच्छा कहता हूँ और न बुरा, न मैं बहु-धन-धान्यसम्पन्न को भला कहता हूँ और न बुरा। ब्राह्मण ऊँचे कुलवाला भी हिंसक, चोर, काम-मिथ्याचारी, झूठा, चुगलखोर, परुषभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी, और झूठी धारणावाला होता है।......

"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्ण मैत्री-चित्त की भावना कर सकते हैं।"

यह भगवान् बुद्ध का वचन है। उन्होंने बार-बार यही कहा है कि वर्ण-विभाग के अनुसार गुणों का विभाग नहीं है। होना भी नहीं चाहिए। कोई भी वर्ण किसी प्रकार का भी गुण धारण कर सकता है। यदि चारों वर्णों में बुराइयाँ विना वर्ण-भेद के एक तरह से फैल सकती हैं—बुराइयों का, दोषों का वर्णानुक्रम से विभाग नहीं किया गया, तो गुणों का बँटवारा क्यों माना जाय? शूद्र भी उन गुणों को धारण कर सकता है जिन्हें ब्राह्मण धारण करते हैं। अमुक-अमुक प्रकार के गुण अमुक वर्ण के लिए ही सुरक्षित रहे, यह बात मानने योग्य नहीं है।

महाभारत में भी देखा जाता है कि युयुत्सु वेश्या-पुत्र था; घटोत्कच हिडिम्बा राक्षसी के पेट से पैदा हुआ था; द्रोण, कृपाचार्य आदि ब्राह्मण थे; कर्ण तथाकथित सूतपुत्र था—ये सभी महारथी और आदरणीय थे, जिन्होंने क्षत्रिय-धर्म ग्रहण किया था। कहाँ, इन्हें हथियार उठाने से रोका गया। विदुर दासी-पुत्र होकर भी धृतराष्ट्र को उपदेश देते थे—वे दुर्योधन की परिषद् के एक सदस्य थे। किसने दासी-पुत्र कह कर उन्हें तत्व-ज्ञानी बनने से रोका।

इच्छामंगल[2] में भगवान् बुद्ध जब थे, तब उनकी सेवा में विद्वान् और धनी

१. फासुकारि सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय—२।५।६)
२. वासट्ठ सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय—२।५।८)।

ब्राह्मणों का एक एक छोटा-सा मंडल उपस्थित हुआ। सवाल था—'जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से'। बुद्ध ने कहा—"प्राणियों की जातियों में एक-दूसरे से जाति-भेद है। वृक्ष, कीट, पतंग में जैसा जाति का कोई पृथक् लिंग है, वैसा मनुष्य के शरीर में यह (भेदक लिंग) नहीं मिलता। मनुष्यों में भेद केवल संज्ञा में है। मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता है, वह कृषक है—ब्राह्मण नहीं। शिल्प से जीविका चलानेवाला शिल्पी है, व्यापार करनेवाला वणिक्, चोरी करनेवाला चोर, शस्त्र धारण करके पेट चलानेवाला सैनिक, पुरोहिती से जीनेवाला पुरोहित और ग्राम, राष्ट्र का उपयोग करनेवाला राजा है। माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं ब्राह्मण नहीं कहता। मैं उसे ब्राह्मण मानता हूँ जो अपरिग्रही है तथा सारे संयोजनों (बन्धनों) को काट कर, निर्भय और संग-आसक्ति से अलग रहता है।"

इसके बाद बुद्ध ने २९ से ५३ तक के श्लोकों में 'ब्राह्मण किसे कहना चाहिए', यह बतलाया है

वेदकालीन भारत में वर्ण-विभाग भी जन्म के आधार पर नहीं किया गया था और उसी सिद्धान्त को बुद्धदेव ने भी दुहराया—'मनुष्य में (भेद) केवल संज्ञा है।' इससे किसको इनकार हो सकता है। साँप और छिपकली में जो भेद है, वह तो लिंग का है और मनुष्य-मनुष्य में जो भेद है, वह संज्ञा का है। यही मत प्राचीन आर्य-ऋषियों का भी था। जातक-युग में 'जन्म से जाति' मानने के विरोध में विचार फैल रहे थे और 'कर्म से जाति' मानने की बात कही और सुनी जाती थी। जो हो, किन्तु जातक-कथाओं से ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि एक वर्ण अपने गुणों के कारण दूसरे वर्ण में चला गया हो, जैसे क्षत्रिय ब्राह्मण बन गया हो या शूद्र क्षत्रिय मान लिया गया हो। आज से २५०० साल पहले भी 'जन्म से जाति' मानने की बात इतनी गहराई तक उतर गई थी कि इस सिद्धान्त को मानते हुए भी कि 'कर्म से जाति' बनती है, 'जन्म से जाति' मानने की धारणा को कोई छोड़ न सका। यदि एक शूद्र या व्रात्य वेद-वेदांग में पारंगत हो जाय और शील-युक्त भी हो, तो शूद्र या व्रात्य रहते हुए उसे वह स्थान धार्मिक कार्यों में मिलना असंभव है, जो ब्राह्मण को मिला हुआ है। ब्राह्मणों के साथ धर्म का गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है—वैदिक युग से आज तक। जातक-युग में भी वर्ण-व्यवस्था थी और पूर्वकाल-जैसी थी—घोर-विरोध के बावजूद भी वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ 'कुल' का पूरा खयाल रखा जाता था। यह एक बड़ी जबरदस्त बात थी, जिसका खयाल आज हम नहीं रखते। स्वयं भगवान् बुद्ध सभी वर्णों से क्षत्रिय वर्ण को श्रेष्ठ मानते थे और जब भी अवसर आया, उन्होंने क्षत्रियों में भी शाक्य-वंश को प्रधानता दी, जिसमें वे स्वयं थे। एक कथा[१] बहुत ही विचित्र है। भगवान् बुद्ध ने शाक्य-वंश की निन्दा करनेवाले को खूब लथेड़ा। अम्बट्ठ माणवक नामक एक निखिल-वेद-वेदांग-शास्त्र-पुराण-निष्णात व्यक्ति ने बातचीत के सिलसिले में कहा—"हे गौतम, शाक्य-जाति चंड है, शूद्र है, बकवादी और नीच (इभ्य) भी है; क्योंकि वह ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते।"

---

१. अम्बट्ठ सुत्त (दीघनिकाय—१।३)

इसके बाद अम्बट्ठ ने उदाहरण देकर अपने कथन को सिद्ध करना चाहा—"एक समय मैं अपने आचार्य ब्राह्मण पौष्करसाति के किसी काम से कपिलवस्तु गया। जहाँ शाक्यों का संथागार (प्रजातन्त्र-भवन) था, वहाँ भी पहुँचा। बहुत से शाक्य तथा शाक्य-कुमार ऊँचे-ऊँचे आसनों पर, एक दूसरे को उँगली गड़ाते हँस रहे थे, खेल रहे थे—मानों मुझे देख कर ही हँस रहे थे। किसी ने भी मुझे आसन पर बैठने को नहीं कहा...शाक्य ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करते।"

शाक्यों पर किये गये आक्षेप को सुनकर बुद्ध ने अम्बट्ठ से उसका गोत्र पूछा। अम्बट्ठ ने कार्ष्णायन-गोत्र बतलाया। बुद्धदेव ने कहा—अम्बट्ठ, तुम्हारे पुराने नाम-गोत्र के अनुसार शाक्य आर्य (स्वामी) होते हैं और तुम शाक्यों के दासी-पुत्र हो। और कार्ष्णायन गोत्रवालों की उत्पत्ति की कथा कही, जिससे साबित हो गया कि कार्ष्णायन गोत्रवाले शाक्यों के दासी-पुत्र हैं। इस तरह बुद्ध शाक्य-कुल को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और उसकी उच्चता का उन्हें पूर्ण अभिमान था। कुछ भी हो, जातक-युग में 'कुल' पर भी कुछ कम ध्यान नहीं दिया जाता था। यदि कुल-गौरव को प्रधानता नहीं दी जाती, तो कार्ष्णायन गोत्रवाले माणवक अम्बट्ठ को शाक्यों का दासी-पुत्र क्यों कहा जाता।

जातक की एक गाथा[१] में एक गीदड़ एक सिंहिनी-किशोरी पर मोहित हो गया। सिंह-बालिका ने सोचा—'यह चौपायों में सबसे निचले दर्जे का प्राणी है, वैसे ही, जैसे चाण्डाल। हम उत्तम राजकुल के हैं...इत्यादि। इस गाथा में कुल की ओर इशारा है। इसमें गीदड़ की उपमा चांडाल से दी गई है। यह उपमा गहराई से ध्यान देने योग्य है। जैसा कि पहले (वासेट्ठ सुत्तन्त २।५।८) कहा गया है—"पशुओं में लिंग-भेद है, किन्तु मानव में तो संज्ञा-भेद है, फिर लिंग-भेद और संज्ञा-भेद को एक कतार में रखना कहाँ तक उचित होगा—इसका उत्तर हमारे पास नहीं है। किन्तु, इतना तो स्पष्ट है कि जातक-युग में 'कुल' पर बहुत ध्यान दिया जाता था।

वैशाली के नाई का एक लड़का किसी लिच्छविकुमारी को रास्ते में जाते देख कर बेहाल हो गया। वह विरह में तड़प-तड़प कर मर गया। उसके बाप ने जब भगवान् बुद्ध से अपने लड़के के मरने की कहानी और वजह बतलाई, तब उन्होंने उस गीदड़ की गाथा कह कर उस नाई को समझा दिया कि—"उपासक, तेरा लड़का केवल अभी अनधिकार इच्छा करके विनाश को प्राप्त नहीं हुआ, पहले भी हुआ था। यहाँ पुरुष के सभी गुणों के रहते हुए भी वह नाई नवयुवक इसी लिए लिच्छविकुमारी को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं था; क्योंकि वह हीन कुल का था—जैसे पशुओं में गीदड़।" जातक-युग में वर्ण-सम्बन्धी नीच-ऊँच के विचारों को वहाँ से हटा कर 'कुल' पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था—वर्ण के महत्त्व का स्थान कुल ने बहुत कुछ ग्रहण कर लिया था। वर्ण तो था ही, यह 'कुल' एक नया संकट सिर उठा रहा था।

एक गाथा में कहा गया है[२]—एक हंस ने कौवी से प्रेम कर लिया। बच्चा

१. सिंगाल जातक—१५२।
२. विनीलक जातक—१६०।

पैदा हुआ, जो न तो हंस जैसा सफेद था और न कौवे-जैसा काला। वह भद्दा नीला वर्ण का हुआ। हंस इस बच्चे को देखने नगर की ओर नित्य जाता था। हंस को अपनी पत्नी से भी दो बच्चे थे। इन बच्चों ने अपने पिता से पूछा—आप कहाँ जाते हैं? उधर नगर है, खतरा है। हंस ने सच्ची बातें बतला दीं, तो दोनों नवयुवक हंसों ने यह निश्चय किया कि कौवी के उस बच्चे को लाकर यहीं रख छोड़ें, ताकि पिता जी उस जारज सन्तान के मोह में फँसकर नगर की ओर जाकर संकट मोल न लेने पावें।

हंस ने अपने बच्चों को स्थान का निर्देश कर दिया, वह मिथिला के पास एक ताल-वृक्ष पर था। दोनों हंस उड़े और कौवी के बच्चे को एक लकड़ी पर बैठाकर लकड़ी के दोनों सिरे पकड़ कर आकाश में उड़ चले। नीचे विदेहराज का रथ जा रहा था। कौवी के बच्चे ने गर्व से कहा—'राजा का रथ चार-चार घोड़े खींच रहे हैं। मैं भी हंस जुते हुए रथ पर बैठा जा रहा हूँ।'

कौवी के बच्चे की यह तीखी बात दोनों पानीदार हंसों को बुरी लगी। पिता का खयाल करके उन्होंने ऊपर से उसे गिराया नहीं, पिता के निकट तक पहुँचा दिया और साथ ही उसके अशिष्ट व्यवहार का इजहार कर दिया। हंस क्रुद्ध हुआ और बोला—'क्या तू मेरे पुत्रों से बढ़ कर है?...अपनी बिसात नहीं जानता? यह यह स्थान तेरे योग्य नहीं है। जहाँ तेरी माँ (कौवी) रहती है, वहीं जा।'

भोजाजानीय घोड़े की एक गाथा जातक में है।[1] यह घोड़ा बहुत ही श्रेष्ठ नस्ल का होता है। इसे 'सैन्धव-कुल' का कहा जाता था। युद्ध में एक योद्धा सवार ने इसे ही पसन्द किया। यह घोड़ा युद्ध में गया और उसके सवार ने छह राजाओं के पकड़ने में शानदार सफलता पाई। यह घोड़ा जब घायल हो गया, तब सवार ने दूसरे घोड़े पर काठी कसने का आदेश दिया। भोजाजानीय घोड़े ने कहा—

अपि पस्सेन सेमानो सल्लेहि सल्लली कतो।
सेय्योव वळवा भोज्जो युञ्ज मञ्ञेव सारथि॥

शल्य से आहत हो जाने के कारण एक करवट सोया हुआ भी भोजाजानीय-अश्व ही (किसी दूसरे घोड़े से) श्रेष्ठ है। इसीलिए सवार, तू मुझ पर ही काठी कस! इस तरह जातक की कई गाथाओं में उच्च-कुल और हीन-कुल की उपमा दी गई है और श्रेष्ठ-कुल की विशेषता बतलाई गई है।

'कुल की श्रेष्ठता' पर जातक-युग में कितना जोर दिया जाता था, हम यही बतलाने का प्रयास कर रहे हैं। भिक्षुओं में भी जो हीन-कुलोत्पन्न होते थे, उन्हें श्रेष्ठ-कुलोत्पन्नों के साथ बराबरी करने पर अपमान सहना पड़ता था—गालियाँ खानी पड़ती थीं। एक कोकाकिल नाम का भिक्षु था[2]। दूसरे बहुश्रुत भिक्षुओं के द्वारा धर्मग्रन्थ बाँचते देखकर उसने बाँचने के लिए सोचा। यह समाचार बुद्धदेव के सामने पहुँचाया गया, तो उन्होंने एक कहानी सुनाकर 'कोकाकिल' को लथेड़ा—

१. भोजाजानीय जातक—२३।
२. सीहकोत्थुक जातक—१८८।

एक शृगाली के साथ सिंह को प्रेम हो गया। फलस्वरूप एक बच्चा पैदा हुआ। उस बच्चे का आकार-प्रकार सिंह का था; पर स्वर था गीदड़ का। सिंह का एक पुत्र सिंहनी के गर्भ से भी था। सिंह-शावक जब क्रीड़ा करते दहाड़ते रमते थे, तब वह जारज सिंह भी दहाड़ने का प्रयास करता था; मगर उसके मुँह से गीदड़-जैसी आवाज निकलती थी। उसकी बोली सुनकर सिंह चुप लगा जाते थे—गीदड़ के साथ स्वर मिलाना सिंहों के लिए अपमान था।

सिंह के शुद्ध पुत्र ने अपने पिता से पूछा—"यह देखने में तो हमारे ही जैसा है, मगर बोलता है दूसरी तरह, इसका क्या कारण है?"

सिंह ने कहा—'यह तेरा भाई शृगाली के पेट से पैदा हुआ है।' फिर उसने अपने जारज पुत्र को बुलाकर डाँटा और कहा—'चुप रहा कर बोलने, से सब जान लेंगे कि तू गीदड़ है।'

मा त्वं नदि राजपुत्त, अप्पसद्दो वने वस।
सरेन खो तं जानेय्युं न हि ते पेत्तिको सरो॥

इस तरह सिंहों की जमात में बोलने की कामना करनेवाला 'कोकाकिल' भिक्षु सिंह न होकर सिंह का जना गीदड़ी का पुत्र था, अतः उसका चुप रहना ही उचित माना गया।

अब इस गाथा पर ध्यान दीजिए। यह गाथा[१] भी उसी अभागे कोकाकिल की है जो स-स्वर सूत्रों पाठ करना चाहता था। शेर की खाल ओढ़ कर खेतों में स्वच्छन्द विचरण करनेवाले गधे की कहानी कहकर बुद्धदेव ने कहा—

नेतं सीहस्स नदितं न व्यग्घस्स न दीपिनो।
पारुतो सीहचम्मेन जम्मो नदति गद्दभो॥

शेर की खाल ओढ़कर यह दुष्ट गधा चिल्लाता है—न यह शेर की आवाज है और न व्याघ्र या चीते की।

इस गाथा से भी यही सिद्ध होता है कि जो हीन-कुल में उत्पन्न हुआ है उसे उत्तम काम करने का अधिकार भी नहीं है; क्योंकि वह उत्तम काम कर ही नहीं सकता।

एक दूसरी गाथा[२] इस प्रकार है—किसी बुढ़िया के यहाँ 'कुण्ड-कुच्छि-सिन्धव' बछेड़ा था। वह श्रेष्ठ जाति का था। बुढ़िया के यहाँ वह रहता मैदानों में चरता और घास-भूसा-जूठन खाता था। घोड़े का एक व्यापारी बहुत-से घोड़ों के साथ आया। जहाँ वह बछेड़ा बँधा रहता था; वहाँ व्यापारी के घोड़े जाने को तैयार नहीं हुए; क्योंकि उन्होंने गन्ध से यह जान लिया कि वहाँ एक सर्वश्रेष्ठ नस्ल का घोड़ा है। हीन नस्ल के घोड़े उस श्रेष्ठ नस्ल के बछेड़े के निकट जाने की हिम्मत नहीं करते थे। बात समझ कर उस व्यापारी ने बछेड़े को बुढ़िया से खरीद लिया। जब व्यापारी ने बछेड़े

१. सीहचम्म जातक—१८९।
२. कुंडककुच्छिसिन्धव जातक—२५४।

को उसका पुराना खाद्य (घास, चावल की कनी आदि) दिया, तो बछेड़े ने नहीं खाया। व्यापारी ने प्रश्न किया—

भुत्वा तिणपरि घासं, भुत्वा आचामकुण्डकं।
एतं ते भोजनं आसि, कस्मादानि न भुञ्जसि ॥

बछेड़े ने जवाब में कहा—

यत्थ पोसं न जानन्ति जातिया विनयेन वा।
पहूतत्थ महाब्रह्मे, अपि आचामकुण्डकं ॥
त्वञ्च खो मं पजानासि यादिसायं हयुत्तमो।
जानन्तो जानमागम्म, न ते भक्खामि कुण्डकं ॥

जहाँ के लोग **जाति** या **गुण** नहीं जानते, उस स्थान में चावल का पसावन ही बहुत है। किन्तु मैं कैसा उत्तम (जाति या नस्ल का) घोड़ा हूँ, यह तुम पर विदित है। अपना बल (गुण) जानता हुआ मैं तुम-जैसे जानकार के साथ आया हूँ, इसलिए ऐसा भोजन मैं नहीं ग्रहण कर सकता (मेरी जाति या नस्ल का खयाल करके मेरा सम्मान करो, भोजन दो, तो खा सकता हूँ, अन्यथा नहीं)। यहाँ भी **'जातिया विनयेन वा'** को प्रधानता दी गई है।

जातक-युग में 'उच्च-कुल-संभूत' को कितना व्यापक अधिकार प्राप्त था, यह इन गाथाओं से स्पष्ट होता है।

हम यहाँ जातक-कथाओं में से कुछ कथाओं को ही उपस्थित कर रहे हैं। दूसरी कथाओं के बीच-बीच में 'कुल' की प्रशंसा और कुलहीन की निन्दा की जो बातें आई हैं, उनका उल्लेख नहीं किया। 'कुल' को यानी कुलीनता को बहुत मान्यता मिली थी। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय ऐसे ही दो प्रमुख वर्ण थे, जिनका अपना इतिहास था—वह चाहे राष्ट्र का हो या कुल का। शेष दो वर्णों का कोई वैसा इतिहास नहीं था। यदि प्राचीन ग्रन्थों में कहीं वैश्य या शूद्र की चर्चा है भी, तो वह उतनी शानदार नहीं है। बुद्धदेव 'कुल' पर जोर तो देते थे; किन्तु यह उन्होंने नहीं स्पष्ट किया कि 'कुलीनता' का आधार क्या है? 'कार्ष्णायन'-गोत्रवाले को शाक्यों का दासी-पुत्र उन्होंने कहा और प्रमाण दिया पौराणिक—मान्धाता के समय का। क्या ऐसा व्यक्ति जो पुराणों के हिसाब से हीन-कुल का हो, बाद में श्रेष्ठत्व ग्रहण नहीं कर सकता? यदि ग्रहण भी करे, तो उसकी श्रेष्ठता को हम इस आधार पर स्वीकार नहीं करें कि उसका 'आदि' गर्हित है। हम तर्क-वाद का आश्रय लेना नहीं चाहते; क्योंकि हम तो एक युग की तस्वीर उपस्थित कर रहे हैं। उस युग में जन्म से वर्ण का खण्डन किया जाता था; किन्तु जन्म से 'कुलीनता' मानी जाती थी। जन्म से वर्ण का विरोध पहले भी किया गया था। यह कहीं भी नहीं माना गया कि जन्म से ब्राह्मण या क्षत्रिय होकर भी जो अपने-अपने वर्ण-सम्बन्धी गुणों और विशेषताओं से हीन हो, उसे भी ब्राह्मण या क्षत्रिय-जैसा ही सम्मान मिले। वह ब्राह्मण या क्षत्रिय है, तो शादी-ब्याह में या जाति के भात-भोज में (यदि वह धर्म से पतित नहीं हुआ हो तो) उसे स्थान मिलेगा; किन्तु जहाँ ब्राह्मण या क्षत्रिय की खोज ब्राह्मणत्व या

क्षत्रियत्व को लेकर होगी, वहाँ ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रिय को कौन पूछेगा, जिसमें उसके वर्ण का विशेष गुण न हो। श्राद्ध, यज्ञ आदि कराना हुआ, तो मूर्ख और पतित ब्राह्मण को कोई नहीं बुला सकता; जहाँ तलवार उठाने की बारी हो, तो वहाँ जनखे, नाच-गान में लगे क्षत्रिय का कौन आह्वान करेगा ?

भारत के गढ़ने में वैदिक युग से आजतक ब्राह्मण और क्षत्रिय इन्हीं दोनों वर्णों का पूरा हाथ रहा है। यदि इन दोनों वर्णों को बाद दे दिया जाय, तो भारत का सारा गौरव, सारा ज्ञान-विज्ञान और इतिहास क्षण-मात्र में ही समाप्त हो जायगा।

ब्राह्मण बनाम क्षत्रिय

इन्हीं दोनों वर्णों ने मिल-जुलकर भारत को स्वर्ग से भी अधिक गौरवशाली बनाया,मानव को ईश्वर की बराबरी में खड़ा होने की प्रेरणा दी, ज्ञान दिया, रास्ता बतलाया। सारा वैदिक वाङ्मय ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्ण के तपस्या-त्याग से प्रकाशमान है। यदि हम अपने अतीत की ओर लौटकर देखते हैं और हृदय में गर्व का अनुभव करते हैं, तो इन्हीं दोनों महान् वर्णों के कारण। अनन्त काल-प्रवाह के एक-एक क्षण पर अपनी महत्ता की मुहर लगानेवाले इन दोनों वर्णों ने कन्धे-से-कन्धा लगाकर आर्यावर्त्त का निर्माण किया था। इन्होंने हमारी जातीयता का इतना सुदृढ़ गढ़ बनाया, जो भयानक-से-भयानक प्रहारों को सहता हुआ भी आजतक खड़ा है। यदि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने भारत की नींव इतनी गहराई पर नहीं दी होती तो हमारा आज कहीं पता भी न होता—जैसे मिस्र आदि देशों की बहुत-सी तेजस्वी जातियाँ मिट गईं। अब उनकी याद दिलाने के लिए 'पिरामिड' और 'ममिआई' मात्र हैं। ईंट-पत्थर और मुर्दों के बल पर वे जातियाँ अपना नाम-भर बचा सकी हैं। ईंट-पत्थरों में उस युग का कोई चिह्न हमारे सामने नहीं है; किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों का जो जय-घोष उस युग में गूँजा था, उसकी ध्वनि-प्रतिध्वनि युगों को पार करती हुई आज भी गूँज रही है—हजारों अमर ग्रन्थों, मन्त्रों, सूत्रों और लाखों श्लोकों में। उस युग का आध्यात्मिक अस्तित्व 'वाणी' के रूप में है और भौतिक अस्तित्व हमारे रूप में है—हम और आप ! हम यह नहीं कह रहे हैं कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त तीसरा कोई वर्ण या वर्ग भारत के निर्माण में नहीं लगा था—सभी थे, बहुत-से वर्ग थे[१]। जनेषु पञ्चसु, पञ्चमानुषान्, पञ्चकृष्टिषु, पञ्चक्षितीनाम्, पञ्चचर्षणीः आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। खैर, कुछ भी हो, किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने न केवल यहाँ प्रधानता का ही उपयोग किया; बल्कि दोनों ने साथ-साथ दिव्य ज्ञान का अर्जन किया और अवसर आने पर दोनों ने साथ-साथ खून भी बहाया।

विदेह, प्रवाहण, जैवलि[२] आश्वतराश्वि[३] (अश्वपति) राजा प्रतर्दन[४], राजा

---

१. ऋग्वेद, ३।३७।९; ८।९।२; २।२।१०; १।७।९; ५।८६।२; ९।१०१।९

२. छान्दोग्योपनिषद्, १।८।१

३. छा० उ०, ५।११

४. कौषीतकि ब्राह्मण-उपनिषद्, ३।१

जानश्रुति,[१] गार्ग्यायणि[२], जानश्रुति द्रौत्रायण[३] (सम्राट्), बृहद्रथ[४] (राजा) काशी-राज अजातशत्रु[५] आदि क्षत्रिय राजा थे; किन्तु इनसे बड़े-बड़े ऋषि ज्ञान-लाभ करते थे। शिलक, दालभ्य, श्वेतकेतु, उद्दालक, महामुनि नारद, सनत्कुमार, उद्दालक-आरुणि, दृप्त-बालाकि गार्ग्य-जैसे (ऋषि, ज्ञानी) ब्राह्मण उनसे तत्त्व का बोध पाते थे। वसिष्ठ, परशुराम, द्रोण, कृपाचार्य-जैसे ब्राह्मणों ने हथियार उठाकर क्षत्रियों को भी सहायता दी थी। क्षत्रिय भी तत्त्वज्ञ और ब्राह्मण भी सिपाही होते थे। इसमें भेद न था। राजा के ब्राह्मण पुरोहित तो राजा के साथ युद्ध में सक्रिय भाग लेते ही थे। इन दोनों वर्णों (द्विजों) ने एक-दूसरे के गुणों को ग्रहण ही नहीं किया; बल्कि उनमें विशेषता पाई। वैदिक युग से आरम्भ करके महाभारत-युग तक यही क्रम रहा और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-वर्ण दूध-पानी की तरह घुला-मिला दिखलाई पड़ता है।

जातक-युग में वह नक्शा बदल गया। एक ऐसी हवा चली कि ब्राह्मण-वर्ण को नीच और पतित कहा जाने लगा तथा क्षत्रिय-वर्ण को सबसे श्रेष्ठ। बौद्ध ग्रन्थों में ब्राह्मणों के प्रति प्रतिहिंसा और घृणा पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई दे रही है। ज्ञात होता है, ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष में ब्राह्मणों की विजय ने क्षत्रियों के मन में प्रतिहिंसा की भयानक अग्नि भड़का दी थी। साथ ही ऐसा भी लगता है कि बौद्ध धर्म का उस समय ब्राह्मणों ने डटकर विरोध किया था। जिसके बदले में ही बौद्धों का ऐसा आक्रोश सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इन सारी बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बुद्ध भी प्रतिहिंसा और ईर्ष्या का सर्वथा त्याग नहीं कर सके थे। ब्राह्मणों के प्रति कितना आक्रोश था, इसके लिए कुछ उदाहरण देखिए—

एक आचार्य-ब्राह्मण श्राद्ध करने के लिए मेष की हत्या करना चाहता है। मेष हँसा फिर रोया—ब्राहण को ज्ञान हो गया[६]। एक ब्राह्मण को कहीं से बैल मिला। उसने बैल को मारकर हवन करना चाहा और मांस को सुस्वादु बनाने के लिए बैल को बाँधकर गाँव में नमक लाने गया[७]। ब्राह्मण गोमांस खाते थे, यह इस गाथा में कहा गया; किन्तु क्षत्रिय के सम्बन्ध में ऐसी बात कहीं भी नहीं आई और न वैश्य या शूद्र के विषय में। क्या जातक-युग में ब्राह्मण ही गो-मांस-भक्षी थे, दूसरे वर्ण नहीं?

एक गाथा[८] इस प्रकार शुरू होती है—"वह एक श्रद्धालु उपासक ब्राह्मण की ब्राह्मणी थी; बहुत दुश्चरित्र पापिन। रात को दुराचार करती थी।...ब्राह्मण घर आता तो (रोग का) बहाना करके लेट जाती। उसके बाहर जाने पर 'जारों' के साथ गुजरती इत्यादि। वह ब्राह्मण बुद्धदेव का भक्त था—'उपासक'। गृहस्थ बौद्ध को

१. छान्दो० उ०, ४।१।२
२. कौ० उप०, १।१
३. छा० उ०, ४।२।३
४. मैत्रायणी उपनिषद्
५. बृहदारण्यक उ०, २।१।१
६. मतकभत्त जातक—१८।
७. नङ्गुट्ठजातक—१४४।
८. कोसिय जातक—१३०।

उपासक कहा जाता है। वह ब्राह्मण तक्षशिला का स्नातक था और वाराणसी का प्रसिद्ध आचार्य भी था। सौ राजधानियों के क्षत्रिय राजकुमार उसके पास पढ़ा करते थे।

एक दूसरे ब्राह्मण की स्त्री भी घोर दुश्चरित्रा थी। ब्राह्मण भी अपनी पत्नी के अनाचार को जानता था। जब ब्राह्मण व्यापार के लिए जाने लगा तो अपने दो पालित पुत्रों को सचेत करता गया—'यदि माता ब्राह्मणी अनाचार करे, तो रोकना।' पालित पुत्रों ने जवाब दिया—'रोक सकेंगे तो रोकेंगे, नहीं तो चुप रहेंगे।' जातक कथा में यह वाक्य है—उसके जाने के दिन से ब्राह्मणी ने अनाचार करना आरंभ किया। (घर में) प्रवेश करनेवालों और बाहर निकलनेवालों की गिनती नहीं रही।

ब्राह्मण का वह घर क्या था, पूरा वेश्यालय !!! उसके धर्मपुत्र भी उदासीन रहकर सब कुछ देखते रहे[1]।

एक गाथा में एक ब्राह्मण चांडाल का जूठा भात खाता है और फिर पछताता है। उसने चांडाल के देने पर यह कहकर भात खाने से इनकार कर दिया था कि—'रे चांडाल, मुझे भात की जरूरत नहीं है।' उसी ब्राह्मण ने भूख लगने पर चांडाल का जूठा भात छीनकर खा लिया[2]।

राध-जातक के अनुसार एक ब्राह्मण ने दो तोते पाले। ब्राह्मणी व्यभिचारिणी थी। ब्राह्मण तोतों को निगाह रखने का आदेश देकर व्यापार के उद्देश्य से कहीं चला गया। मौका मिलते ही ब्राह्मणी ने खुलकर अनाचार करना शुरू कर दिया[3]।

किसी ब्राह्मण की पत्नी दुश्चरित्रा थी। एक नट को उसने घर में बुला लिया। ब्राह्मण बाहर गया था। ब्राह्मणी ने नट को भात-दाल पका कर खिलाया। वह जैसे ही खाने बैठा कि ब्राह्मण आ गया। नट को ब्राह्मणी ने छिपा दिया। ब्राह्मण ने भोजन माँगा, तो नट की जूठी थाली में थोड़ा-सा भात डाल कर ब्राह्मण के आगे धर दिया। ब्राह्मण खाने लगा। एक नट भिखमंगा जो दरवाजे पर बैठा सब कुछ देख रहा था, उसने ब्राह्मण से सारी कथा कह दी[4]।

एक पुरोहित था। राजा ने उसे एक अलंकृत घोड़ा दिया, जिसकी लोगों ने तारीफ की। ब्राह्मण था बहुत ही मूर्ख स्वभाव का। उसकी स्त्री ने मजाक किया कि—अगर तुम भी घोड़े की 'साज' पहन कर दरबार में जाओ, तो तुम्हारी भी तारीफ हो। घोड़े की जो प्रशंसा हो रही है, वह उसके 'साज' के कारण। ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। जब राजा ने उसे समझाया, तो वह अपनी स्त्री पर बहुत बिगड़ा और उसे घर से निकाल बाहर किया और दूसरी ब्राह्मणी लाकर घर बसा लिया[5]। यहाँ ब्राह्मण की मूर्खता की ओर 'जातक' का इशारा है। ब्राह्मण-वर्ण का इससे अधिक पतित रूप और क्या हो सकता है ?

---

१. राध जातक—१४५।

२. सतधम्म जातक—१७९।

३. राध जातक—१९८।

४. उच्छिट्ठभत्त जातक—२१२।

५. रुहक जातक—१९१।

जातक-युग की कथाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय-जैसा ब्राह्मण किसी काल में पतित नहीं थे। जातकों में, ब्राह्मणों के अतिरिक्त, इस तरह का लांछन दूसरे किसी भी वर्ण के प्रति नहीं दिखलाया गया है। आज-जैसे युग में तो बौद्धों की सत्यता, स्वच्छता और प्रतिहिंसा-रहित भावना की चुनौती देनेवाली ये कथाएँ हैं।

अब एक ऐसी गाथा सुनिए, जिसमें यह बतलाया गया है कि एक ब्राह्मणी युवती ने अपने तुरन्त के ब्याहे महापराक्रमी पति का खून डकैत-सरदार के हाथ में तलवार पकड़ा कर करा दिया। ४९ तीरों से ४९ डकैतों को उस पराक्रमी ब्राह्मण ने मार गिराया। ५० वाँ व्यक्ति था—डाकू-सरदार। अब ब्राह्मण के पास तीर न था। उसने डाकू-सरदार को पटक दिया और अपनी स्त्री से तलवार माँगी। स्त्री उस डाकू-सरदार पर मुग्ध हो चुकी थी। उसने तलवार डाकू-सरदार को पकड़ा दी और उस डाकू ने ब्राह्मण पर वार कर दिया। डाकू-सरदार के पूछने पर उस ब्राह्मणी ने कहा—'मैंने तुम पर आसक्त हो अपने कुल-स्वामी को मरवा दिया।' वह डकैत भी ब्राह्मण ही था; क्योंकि उस ब्राह्मणी ने उसे 'ब्राह्मण' कह कर पुकारा था—

सब्बं भण्डं समादाय पारं तिण्णोसि ब्राह्मण[1]!

एक ब्राह्मणी ऐसी थी जिसने अपने पति को भीख माँग कर धन जमा करने के लिए बाहर भेज दिया और खुद अनाचार में लग गई। धन कमाकर ब्राह्मण जब लौटा, तब ब्राह्मणी ने उस धन को अपने उपपति को दे दिया[2]।

एक पुरोहित था किसी राजा का। वह अपने बाग में आनन्द मना रहा था कि एक वेश्या पर लट्टू हो गया। उससे जो पुत्र हुआ, उसका नाम ब्राह्मण ने 'उद्दालक' रखा। यह उद्दालक बड़ा हुआ, तो नकली तपस्वी बन इसने बड़ी लूट-पाट मचाई[3]। एक गाथा एक कृतघ्न ब्राह्मण की भी है, जिसने मित्र (बन्दर) के साथ विश्वास-घात किया था। काशी-ग्राम का एक ब्राह्मण हल जोतता था। उसका एक बैल जंगल में खो गया। वह खोजता हुआ घने वन में चला गया। एक बन्दर उसका सहायक हुआ— रास्ता बतलाने में। जब वह बन्दर सो रहा था, तब उस ब्राह्मण ने उस पर पत्थर उठा कर फेंका। बन्दर ने शाप दिया और ब्राह्मण गलित कोढ़ का शिकार हो गया। यह दशा हुई उस कृतघ्न की[4]।

इस तरह ब्राह्मणों के सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएँ जातकों में हैं, जिनसे इस वर्ण की हीनता ही प्रकट होती है। उस काल में कोई ऐसा दुष्कर्म नहीं था, जो ब्राह्मणों ने नहीं किया हो। किन्तु उस काल में क्षत्रिय-वर्ण के सम्बन्ध में ऐसी गाथा एक भी नहीं है, जिससे उस वर्ण की हीनता प्रकट होती हो। जातकों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि ब्राह्मण-वर्ण बहुत ही गिरा हुआ था। वह युग यद्यपि ब्राह्मण-वर्ण के

---

१. चुल्लधनुग्गह जातक—३७४।

२. सत्तुभस्त जातक—४०२।

३. उद्दालक जातक—४८७।

४. महाकपि जातक—५१६।

लिए बहुत ही भयानक था, फिर भी ऐसे ब्राह्मणों का भी वर्णन आया है, जिन्होंने अपनी तेजस्विता, विद्या और तपस्या के बल पर पूजा पाई थी और आलोचकों से भी आदर पाया था। जिन गाथाओं का यहाँ हवाला दिया गया है वे ब्राह्मणों के सम्बन्ध में ही कही गई हैं। ऐसी भी बहुत-सी गाथाएँ हैं, जिनमें प्रसंगवश ब्राह्मणों की चर्चा आई है और इस वर्ण की हीनता प्रकट की गई है। ब्राह्मणों को जो सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, उसके खिलाफ यह साफ कदम उठाया गया था। जातक-युग में ब्राह्मणों के उस महत्त्व का मूलोच्छेद किया जा रहा था, जो महत्त्व इस वर्ण को वैदिक युग से प्राप्त था और जिसकी रक्षा ब्राह्मण करते आ रहे थे। भारत-सरकार के एक प्रकाशन में यह लिखा हुआ है कि—

'ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध जो आवाज उठाई गई, वह आगे चल कर जैन धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में फलीभूत हुई[1]'।

देखने से तो यही स्पष्ट होता है कि जातक-युग में 'ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित' का ही नहीं, ब्राह्मण-वर्ण के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई थी।

दीर्घनिकाय[2] में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक मौलिक बात कही गई है —"तब वे प्राणी, जो उनमें वर्णवान्, दर्शनीय, प्रासादिक और महाशक्तिशाली थे, उसके पास जाकर बोले—'उचितानुचित का ठीक से अनुशासन करो...हमलोग तुम्हें शालि का भाग देंगे।"

महाजनों द्वारा सम्मत होने से उसीका नाम 'महासम्मत' पड़ा, क्षेत्रों का अधिपति होने के कारण 'क्षत्रिय' और धर्म से दूसरों का रंजन करने के कारण 'राजा' कहा जाने लगा।"

इस तरह क्षत्रिय-वर्ण के बनने की बात कही गई। आगे कहा है—"तब, उन्हीं प्राणियों में किन्हीं-किन्हीं के मन में यह हुआ कि हम प्राणियों में पाप-धर्म प्रादुर्भूत हो गया है...अतः हम पाप का त्याग करें। पाप-धर्म को बहा दिया। इसीलिए 'ब्राह्मण' नाम पड़ा। जो वन में ध्यान करते थे, वे 'ध्यापक' और जो गाँवों के किनारे रह कर ग्रन्थ-रचना करते थे, वे 'अध्यापक' कहे जाने लगे।" इस तरह ब्राह्मण प्रकट हुए—"उन्हीं प्राणियों में कितने मैथुन-कर्म करके तरह-तरह के कामों (उद्योगों) में लग गये; वे वैश्य कहलाये।" शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है—"उन्हीं प्राणियों में बचे जो क्षुद्र-आचारवाले प्राणी थे। क्षुद्र आचार करते रहने के कारण वे 'क्षुद्र' यानी 'शूद्र' बन गये।" चारों वर्णों के निर्माण के सम्बन्ध में बुद्धदेव का यही मत था। आगे चल कर उन्होंने कहा है—'गोत्र लेकर चलनेवाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है।' इस तरह श्रेष्ठत्व क्षत्रिय को दिया गया। उत्पत्ति-क्रम से भी प्राथमिकता क्षत्रिय-वर्ण को ही दी गई है। जातक-युग में 'ब्राह्मण बनाम क्षत्रिय' का यही प्रश्न था। अम्बट्ठ-सुत्त[3] में कहा गयाहै—

१. 'भारत १९५५'—(पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत-सरकार, दिल्ली)
२. अग्गञ्ञ सुत्त (दीघनिकाय ३।४)
३. अम्बट्ठसुत्त (दीघनिकाय १३)

"तब भगवान् बुद्ध ने अम्बष्ठ माणवक से पूछा—

अम्बट्ठ, यदि एक क्षत्रियकुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सहवास करे, उनके सहवास से पुत्र उत्पन्न हो, जो क्षत्रियकुमार से ब्राह्मण-कन्या में पुत्र उत्पन्न होगा, वह ब्राह्मणों में आसन-पानी पावेगा ?

"अम्बट्ठ बोला—पावेगा ! ब्राह्मण उसे श्राद्ध, यज्ञ, पहुनई में साथ खिलावेंगे, वेद भी पढ़ावेंगे, उसे ब्राह्मणी स्त्री से ब्याह भी करा दिया जायगा।

"बुद्धदेव ने फिर प्रश्न किया—और क्षत्रिय उसे क्षत्रिय-अभिषेक करेंगे ?

"अम्बट्ठ—नहीं, क्योंकि माता की ओर से वह ठीक नहीं है।"

इसी तरह का प्रश्नोत्तर ब्राह्मणकुमार का क्षत्रिय-कन्या से सहवास करने पर उत्पन्न होनेवाले पुत्र के सम्बन्ध में है। अम्बट्ठ कहता है कि—"ऐसा लड़का ब्राह्मणों में स्थान पा जायगा क्षत्रियों में नहीं; क्योंकि पिता की ओर से वह ठीक नहीं है।"

अन्त में भगवान् बुद्ध अपनी राय यह कहकर देते हैं कि परम नीचता को प्राप्त है, तब भी क्षत्रिय श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है। ब्रह्मा-सनत्कुमार ने भी यह गाथा कही थी।

राहुल सांकृत्यायन का यह मत है कि अम्बष्ठ-सूत्र विक्रमाब्द से ४५७ साल पुराना है। इसे नवीन रचना कहना भी उचित नहीं है।

इस प्रसंग का एक दूसरा पहलू भी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि जातक-युग में ऐसे भी ब्राह्मण थे, जिनका विरोध करके बौद्ध जी नहीं सकते थे। इसलिए आचार-हीन ब्राह्मणों को लेकर ही बौद्धों ने ब्राह्मण-वर्ण पर हमला किया। वे आचार और शीलयुक्त ब्राह्मण को ही ब्राह्मण-रूप में स्वीकार करते थे। कुकर्मरत ब्राह्मण केवल जाति को आगे करके पूजा प्राप्त करने का यदि प्रयास करता था, तो उसका ऐसा प्रयास बौद्ध निन्दनीय मानते थे, जो आवश्यक था। जहाँ गुणों में श्रेष्ठ और शुद्ध ब्राह्मण मिला, उसका बुद्ध ने सम्मान किया। उन्होंने पतित ब्राह्मण को मानवोचित सम्मान-भर दिया, ब्राह्मणोचित सम्मान नहीं। एक ऐसी कथा भी आई है जब भगवान् ने कुत्तों से ब्राह्मणों का मुकाबला ही नहीं किया, उन्हे कुत्तों से भी हीन बतलाया। उन्होंने कहा कि ये कुत्ते ब्राह्मण-धर्म का पालन करते हैं, ब्राह्मण तो इतना भी नहीं करते[1]।

जातक-युग सुधारों का युग था। महाभारत के बाद—एक महाविनाशक युद्ध के बाद—भारत का भीतरी संगठन चूर-चूर हो चुका था। यदि ऐसी बात न होती, तो बुद्धदेव के अवतार ग्रहण करने का कोई सवाल ही नहीं था। सुधार की अत्यधिक आवश्यकता ही सुधारक को जन्म देती है। भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मणों को चुनौती दी और बार-बार कहा—'अपने को 'ब्राह्मण-धर्म' में प्रतिष्ठित करो, नहीं तो समाप्त हो जाओ।' ब्राह्मणों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था, देश का इस वर्ण पर अशेष विश्वास था, अगाध श्रद्धा थी। इतने बड़े उत्तरदायित्व को निभाने के लिए ब्राह्मण-वर्ण अपनी पात्रता पर आँच नहीं आने देते। ब्राह्मण-धर्म से गिरे हुए ब्राह्मणों के गर्हित आचरण का

१. देखिए—सुनक-सुत्त।

प्रभाव समाज पर पड़ेगा ही और सारा समाज भ्रष्ट हो जायगा। इन सारी बातों से जान पड़ता है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्राह्मणोंका प्रभुत्व समाज पर इतना जमा था कि आचारहीन ब्राह्मण भी समाज पर छाये हुए थे। यही कारण है कि बुद्धदेव ने पतित ब्राह्मणों के प्रभाव से समाज को मुक्त करना चाहा। यदि वे ऐसा प्रयास नहीं करते, तो उन्होंने जिस प्रकाश की ओर समाज को जाने के लिए उत्साहित किया था, उस ओर कोई न जाता।

ब्राह्मण कैसा[1] हो, इस पर बुद्धदेव का दृष्टि-कोण बहुत ही स्पष्ट है। जहाँ कहीं भी अवसर आया है, उन्होंने ब्राह्मण-वर्ण की, उसमें फैली हुई बुराइयों के कारण, कड़ी-से-कड़ी आलोचना की है और यह भी बतलाया है कि ब्राह्मण कैसा होना चाहिए। यों तो ब्राह्मण-कुल से आये ही बुद्ध के धर्मसेनापति महास्थविर सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप आदि बौद्ध थे, जिनके कारण बौद्ध धर्म की जड़ जम सकी। इसके बाद भी बौद्ध धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचानेवाले ब्राह्मण-वर्ण को ही हम पाते हैं, जिनमें मोग्गलिपुत्त तिष्य, महासेन, अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, बुद्धघोष आदि प्रमुख हैं।

कर्म की प्रधानता बतलाते हुए बुद्धदेव ने वसिष्ठ से कहा था[2]—"ब्राह्मण कैसे कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण...हैं? इन्हीं चारों वर्णों में जो भिक्षु, अर्हत्, क्षीणश्राव, ब्रह्मचारी, कृतकृत्य, भारमुक्त, परमार्थ-प्राप्त, भव-बन्धन-मुक्त, ज्ञानी और विमुक्त होता है, वह सभी से बढ़ जाता है, धर्म से ही (धर्म का आचरण करते हुए, शील की रक्षा करते हुए) अधर्म से नहीं।...इस प्रकार जानना चाहिए कि धर्म ही मनुष्य में श्रेष्ठ है।" एक दूसरे सूत्र[3] में बुद्धदेव ने अम्बट्ठ ब्राह्मण को कहा—"अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, भारद्वाज, कश्यप, भृगु—ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि मन्त्र-कर्त्ता, मन्त्र-प्रवक्ता थे...उनके मन्त्रों को आचार्य सहित मैं पढ़ता हूँ—क्या इतने से (इतना कहने से ही) तुम ऋषि या ऋषित्व के मार्ग पर आरूढ कहे जाओगे? यह सम्भव नहीं है।"

बुद्धदेव का यह आक्षेप नहीं है, सत्य का उद्घाटन है। वे शान-शौकत में, भोग-विलास में लिप्त ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं कहते थे, जो वेदाध्ययन आदि तो करता हो, किन्तु प्राचीन ब्राह्मण-धर्म का पालन नहीं करता हो। बुद्ध भगवान् के सामने वैदिक युग के ब्राह्मण-ऋषियों का आदर्श था और वे जातक-युग के ब्राह्मणों को उसी आदर्श-पथ पर चलते देखना चाहते थे।

एक बार बहुत-से धनी-मानी वृद्ध ब्राह्मण बुद्धदेव की सेवा में पहुँचे। उन्होंने उनसे पुराने ब्राह्मण-धर्म के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहा। बुद्ध भगवान् ने कहा—'पुराने ब्राह्मणों की चर्चा के अनुसार चलनेवाले ब्राह्मण इस समय दिखाई नहीं देते।'—

---

१. धम्मपद—(ब्राह्मण-वग्गो २६)
२. अग्गञ्ञ सुत्त (दीघनिकाय—३।४)
३. अम्बट्ठ सुत्त (दीघनिकाय—१।३)

न खो ब्राह्मण सन्दिस्सन्ति एतरहि ब्राह्मण।
पोराणानं ब्राह्मणानं ब्राह्मणधम्मेति[1]॥

इसके बाद बुद्धदेव ने वैदिक-युग के ब्राह्मण-वर्ण का बहुत ही उज्ज्वल चित्र खींचा—

इसयो पुब्बका आसुं सञ्ञतत्ता तपस्सिनो।
पञ्चकाम गुणे हित्वा अत्तदत्थ मचारिसुं॥
न पसू ब्राह्मणानासुं न हिरञ्ञं न धानियं।
सज्झायधन धञ्ञासुं ब्रह्मं निधिमपालयुं॥
यं नेसं भतकं आसि द्वारभत्तं उपट्ठितं।
सद्धायक तमेसानं दातवे तदमञ्ञिसुं॥
नाना रत्तेहि वत्थेहि सयने हावसथेहि च।
फीता जनपदा रट्ठा, ते नमस्सिसु ब्राह्मणे॥
अवज्झा ब्राह्मणा आसुं अजेय्या धम्मरक्खिता।
न ते कोचि निवारेसि कुलद्वारे सु सब्बसो॥

'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी थे। वे पाँच प्रकार के विषय-भोगों का त्याग करके आत्मोन्नति के लिए आचरण करते थे। ब्राह्मणों के पास न पशु (धन) होते थे, न हिरण्य या धान्य। स्वाध्याय ही उनका धन-धान्य था और वे इस श्रेष्ठ निधि की रक्षा करते थे। उनके लिए जो भोजन श्रद्धा से तैयार करके द्वार पर रख जाता था, खोजने पर उसे (उनको) देने योग्य समझते थे (खोजने पर ही ब्राह्मण कहीं भिक्षाटन करता हुआ नजर आता था)। समृद्ध जनपदों तथा राष्ट्रों के लोग अपने प्रकार से विचित्र वस्त्रों, शयनासनों और निवास-स्थानों से उनकी (ब्राह्मणों की) पूजा करते थे। ब्राह्मण निर्दोष, अजेय और धर्म से रक्षित थे। कुल-द्वारों पर कभी कोई उनको रोकता न था—वे जहाँ चाहें, जाते थे।'

इसके बाद बुद्धदेव ने कहा—

ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु सुखमेधित्थऽयं पजा॥

'कोमल, विशालकाय, सुन्दर तथा यशस्वी ब्राह्मण जबतक इन धर्मों से युक्त रहे, तबतक यह प्रजा सुखी रही।'

अपने विषय में बुद्धदेव का वचन है—

न ब्राह्मणो नोम्हि न राजपुत्तो,
न वेस्सायनो उद कोचि नोम्हि।
गोत्तं परिञ्ञाय पुथुज्जनानं
अकिंचनो मन्त चरामि लोके[2]॥

---

१. सुत्तनिपात—(१९—ब्राह्मणधम्मिकसुत्तं)।
२. सुत्तनिपात (सुन्दरिक भारद्वाजसुत्तं—३०)

मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न राजपुत्र या न वैश्य या और कोई। साधारण लोगों के गोत्र को अच्छी तरह जानकर ही मैं विचार-पूर्वक अकिंचन-भाव से संसार में विचरण करता हूँ।

मा जातिं पुच्छ चरणं न पुच्छ
कट्ठा हवे जायति जातवेदो।
नीचा कुलीनोपि मुनि धितीमा
आजनियो होति हिरीनिसेधो॥

जाति के विषय में न पूछो, आचरण के विषय में पूछो। लकड़ी से आग पैदा होती है। (इसी प्रकार) नीच कुल में पैदा होकर भी मुनि धृतिमान्, उत्तम और पाप-लज्जा से संयत होते हैं।

जातक-युग में आचरण और शील पर जोर दिया जाता था। शीलवान् और आचारवान् का आदर होता था। जाति या वर्ण जानने का प्रयास नहीं किया जाता था। पाँच प्रकार के ब्राह्मणों[1] का वर्णन भी बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है—ब्रह्मसम, देवसम, मर्याद, संभिन्नमर्याद और चांडालब्राह्मण। प्रथम दो प्रकार के ब्राह्मण ऋषि-तुल्य होते थे, तीसरा और चौथा गृहस्थ और पाँचवाँ चांडाल माने जाते थे। बुद्धदेव ने कहा है—'जो करणीय-अकरणीय सभी कामों से पेट चलाता है, वह ब्राह्मण चांडाल-ब्राह्मण है।'

सुन्दरिक भारद्वाज[2] से बुद्धदेव ने कहा—'लकड़ी जला कर (यज्ञ या हवन करके) शुद्धि (आत्मशुद्धि) मत मानो। यह बाहरी चीज है (अतः मिथ्याचार है)। कुशल पंडित उसे (बाह्य-मिथ्याचार को) शुद्धि नहीं मानते। वही शुद्धि है जो भीतर की शुद्धि है। मैं लकड़ी जलाना छोड़कर भीतर की ज्योति जलाता हूँ। आत्मा का दमन करने पर ज्योति की प्राप्ति होती है। ब्रह्म की प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है।'

हम इसे कर्म-कांड का खंडन भले ही कह लें; किन्तु यदि भीतर का पाप—मल—नहीं धो सके, तो बाहर के यज्ञ-जप विडम्बना-मात्र हैं। बुद्धदेव चाहते थे कि ब्राह्मण-वर्ण जो मिथ्या-संस्कारों के वशीभूत होकर स्वयम् तो डूब ही रहा है, समाज को भी नष्ट कर रहा है—ऐसा न हो। यही उनका ब्राह्मण-विरोध था। ब्राह्मणत्व-हीन कोरे ब्राह्मण का सम्मान करना उन्हें कतई पसन्द न था।

जातक-युग[3] में निम्नांकित दस कर्म करनेवाले ब्राह्मण हीन समझे जाते थे—

१. वैद्य (दवा बेचनेवाला) और ओझाई करनेवाला।
२. संदेश-वाहक, रथ हाँकनेवाला, मुनादी-पीटनेवाला।
३. 'कर' उगाहनेवाला (राजा की ओर से)।
४. बाल-नाखून बढ़ाकर, गंदा रूप बनाकर भीख माँगनेवाला।
५. हरड़-आँवला, लकड़ी, टोकरियाँ अदि बेचनेवाला।

---

१. दोणसुत्त।
२. सुन्दरिक भारद्वाजसुत्त (सुत्तनिपात, महावग्ग-३)
३. दसब्राह्मण जातक—४९५।

६. खेती-गृहस्थी करनेवाला, लड़कियों का व्यापार करनेवाला।

७. गाँव का पुरोहित, जो बैलों को बधिया भी बनाता था।

८. अस्त्र-धारी, पैसा लेकर काफिले को जंगलों के पास पहुँचानेवाला।

९. जंगलों में रहनेवाला, पर जाल में कबूतर आदि पंछी फँसानेवाला।

१०. यज्ञ के समय मंच के नीचे लेट जानेवाला (मंच के ऊपर बैठ कर राजा स्नान करता था और दक्षिणा के लोभ से ब्राह्मण यह कर्म भी करते थे)।

यह स्मरण रखना चाहिए कि आज भी 'महापात्र' वृषोत्सर्ग-श्राद्ध के अवसर पर बैल को त्रिशूल और चक्र से दाग कर साँड़ बनाते हैं। बंगाल में आज तक वैद्य उपाधिधारी ब्राह्मण ब्राह्मण-कर्म में नहीं बुलाये जाते—जिनका खान्दानी पेशा होता है चिकित्सा!

बोधिसत्त्व ने ब्राह्मणों को प्रणाम करने की भी चर्चा की है—

ये ब्राह्मणा वेदगु[1] सब्ब धम्मे
ते मे नमो ते च मं पालयन्तु।
नमत्थु बुद्धानं नमत्थु बोधिया
नमो विमुत्तानं नमो विमुत्तिया[2] ॥

जो ब्राह्मण सभी धर्मों का ज्ञाता है—पारंगत है, उन्हें मेरा नमस्कार है, वे मेरी रक्षा करें। बुद्धों को नमस्कार है। बोधि को नमस्कार है। विमुक्तों को नमस्कार है। विमुक्ति को नमस्कार है।

यहाँ बोधिसत्त्व ने स्वयं 'वेदगु' ब्राह्मण की वन्दना की है। ब्राह्मणों से न केवल पांडित्य की माँग की जाती थी; बल्कि उन्हें उच्चतम आध्यात्मिक गुणों से भी युक्त होना चाहिए था।

जातक-युग में बौद्धों की ओर से ब्राह्मण-वर्ण का घोर विरोध किया जाता था; किन्तु विरोध का कारण क्या था, यह हमने स्पष्ट करने का यथाशक्ति प्रयास किया है। हमने दोनों तरह के चित्रों को आपके सामने रखा है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि ब्राह्मण-वर्ण के लिए जो 'कसौटी' निश्चित की गई थी, वह बहुत ही कठोर थी—उस पर शायद ही कोई खरा उतरता और अपने को ब्राह्मण कहने का साहस करता। आखिर ब्राह्मण भी तो मानव ही थे—उदारता का हकदार वे क्यों नहीं माने गये? उनके सामने महाकठोर शर्तें रख दी गईं। सबसे मजेदार बात तो यह है कि वे शर्तें उन्हीं के (ब्राह्मणों के) पूर्वजों के मान्य ग्रन्थों से निकाली गई थीं। ब्राह्मण उन शर्तों का विरोध भी करते तो कैसे, उन्हें गलत या निर्दयतापूर्ण कहने का साहस भी उनमें न था। यहाँ हम व्यास का एक वचन देकर इस प्रसंग का अन्त करते हैं—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
स तु कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

ब्राह्मण का यह शरीर छोटे—क्षुद्र कार्यों के लिए नहीं है। यह तो जीवन में घोर तप और शरीरपात होने पर कैवल्य-प्राप्ति—मुक्ति के लिए है।

---

१. 'वेदगु' का अर्थ है—जो वेद के पार गये (वेद-पारंगत) या जो वेद के द्वारा पार गये।

२. मोर जातक—१५९।

जातक-युग में प्राचीन ब्राह्मण-भिक्षुओं के बताये हुए बहुत-से नियमों का पालन बौद्ध-भिक्षु भी करते थे। जैसे कपड़े से छानकर पानी पीना[1]। 'ब्राह्मण' नाम श्रमणों ने भी धारण किया था—वे भी 'समन-ब्राह्मण' कहे जाते थे। स्वयं बुद्धदेव ने एक बार अपने को ब्राह्मण कहा था[2]। भिक्षुओं के श्रमण-ब्राह्मण कहे जाने का उल्लेख भी मिलता है[3]।

यद्यपि जातक-युग में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव से ब्राह्मण-धर्म और वर्ण का पूरा अपमान हुआ, तथापि ब्राह्मणों की तपस्विता की नींव इतनी गहरी थी कि वह बौद्धों के हमले से बिलकुल उखड़ न सकी। जनता में अब भी ब्राह्मणों का प्रभाव था और ब्राह्मण-धर्म के प्रति आदर भी था। यही कारण रहा कि ब्राह्मणों का जो सही या गलत तिरस्कार जातक-युग में हुआ, आगे चलकर उसकी प्रतिक्रिया भयानक रूप में हुई। महान् सम्राट् अशोक के कुछ समय बाद आन्ध्र और कलिंग-राज्य मौर्य-साम्राज्य के घेरे के बाहर हो गये। मौर्यवंश का अन्तिम राजा था बृहद्रथ, जो भीरु स्वभाव का था। इसी बृहद्रथ के समय में कलिंग के राजा 'खारवेल' ने मगध पर चढ़ाई कर दी थी[4] और बृहद्रथ को पैरों पर गिरवाया था। उसकी हस्तिसेना ने मौर्यों के 'सुगांगेय' प्रासाद को घेर लिया था। बृहद्रथ के दाँत दिखाने पर और पैरों पर गिरने पर बहुत-से रत्नों की भेंट लेकर खारवेल वापस लौटा। अशोक द्वारा कलिंग-विजय का बदला खारवेल ने अच्छी तरह चुकाया। नन्दिवर्द्धन जिस जैन सुवर्ण-मूर्त्ति को, कलिंग जीत कर, पाटलिपुत्र ले आया था, उसे खारवेल इस बार पुनः कलिंग ले गया। इतना ही नहीं, मिनान्दर यवन भी बृहद्रथ की राजधानी पर चढ़ आया था और उसने अयोध्या और मध्यमिका को ले लिया था। इन्हीं सभी कारणों से मौर्य-साम्राज्य की जनता भीरु बृहद्रथ से ऊब गई थी और उसकी भर्त्सना करती थी। मौका देखकर उसके सेनापति पुष्यमित्र ने ईस्वी पूर्व १८४ में उसे मार कर साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। यहीं मौर्य-साम्राज्य का अन्त हो गया। पुष्यमित्र ने एक नये राजवंश की नींव डाली, जिसे शुंग-वंश के नाम से इतिहासकार याद करते हैं। आजकल के बिहार, तिरहुत, उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश में शुंग-वंश का राज्य फैला हुआ था। मौर्यों से पहले ही पाटलिपुत्र राजधानी बन चुका था। पुष्यमित्र ने भी पाटलिपुत्र को ही राजधानी बनाया। मौर्य-साम्राज्य को समाप्त कर पुष्यमित्र ने मिनान्दर का पीछा किया और गंगा की घाटी में उसे कहीं उसने मार गिराया। मिनान्दर की राजधानी स्यालकोट तक पहुँच कर कब्जा जमा लिया। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ भी किया[5] और बड़े जोरों में ब्राह्मण-धर्म का विस्तार आरंभ किया। अश्वमेध-यज्ञ यह बतलाता है कि बौद्ध

---

१. 'जैकोनी-कृत' 'प्राचीन-पुस्तक-माला' की भूमिका, पृ० ३२।३०

२. 'अम्बट्ठ-सुत्त' में अम्बट्ठ के प्रति बुद्ध-वचन।

३. 'डायलॉग्स' २।१६५

४. देखिए—खारवेल का शिलालेख, जो कटक से १९ मील की दूरी पर 'उदयगिरि पहाड़ी' की 'हाथी-गुम्फा' में खुदा हुआ है।

५. पतञ्जलि—'इह पुष्यमित्रं याजयामः।' Indian Antiquary; *1872*; p. 300.

युग से आरंभ करके पुष्यमित्र के पहले तक ब्राह्मण धर्म तथा ब्राह्मणों का जो ह्रास हुआ था, वह फिर लहरा उठा, नहीं तो अश्वमेध-यज्ञ की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

बुद्धदेव ने यज्ञ का घोर विरोध किया था; मगर उनके बाद—कुछ ही सौ वर्ष बीतते-न-बीतते ब्राह्मण-वर्ग फिर उठ खड़ा हुआ और यज्ञादि कर्म पूर्ववत् होने लगे। हो सकता है, जनता का गहरा समर्थन प्राप्त करने के लिए ही पुष्यमित्र ने ब्राह्मणों का पल्ला पकड़ा हो, फिर भी वह सफल हो गया। 'ब्राह्मणों के उद्धारक' के रूप में जनता ने उसका साथ दिया। इससे पता चलता है कि ब्राह्मणों के प्रति जनता के हृदय में गहरा 'मोह' था और ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित धर्म के प्रति श्रद्धा भी थी। यही बात रही कि पुष्यमित्र ने जनता की दबी हुई 'प्राचीन धर्म-भावना' और ब्राह्मण-वर्ण को उभारा और जाग्रत किया।

भिक्षु-वर्ग

यों तो जातक-कालीन भारत में सभी वर्गों की चर्चा है; किन्तु ब्राह्मण-वर्ग और भिक्षु-वर्ग को ही प्रमुखता पाते हम देखते हैं। ब्राह्मण-वर्ण पर भिक्षु-वर्ग छा गया था या हावी होता जा रहा था। वैदिक युग में ऋषि थे जो वनों में आश्रम बना कर रहते थे और देव-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ में ही समय व्यतीत नहीं करते थे; बल्कि राष्ट्र का निर्माण-कार्य भी उन्हीं के द्वारा होता था। वे अपने आश्रम में ब्रह्मचारियों को रखते थे और उनका चरित्र निर्माण करके, ज्ञान से पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में भेज देते थे। स्वयम् ऋषियों में से अधिकांश परिवारवाले थे, जिनके पास स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि थे। हाँ, वे संग्रही नहीं थे, ब्राह्मणधर्म का पालन करते हुए भौतिक सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति का अशेष सुख लाभ करते थे। वह आर्य-जाति का अभ्युदय-काल था—इमारतें खड़ी की जा रही थीं। निर्माण-काल में नेताओं की कड़ी परीक्षा होती है और इस परीक्षा में वेद-काल के ऋषियों ने अद्भुत सफलता पाई। ऋषियों ने सब-कुछ दिये—ज्ञान, विज्ञान, भगवान्, ब्रह्म, मुक्ति, मोक्ष, स्वर्ग, नरक, कला, संस्कार, सभ्यता, नीति और राज्य—

साम्राज्यं, भौज्यं, स्वाराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्यं, महाराज्यं,
आधिपत्यमयं, समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वयुषः।
आन्ताद् आपरार्धात् पृथिवै समुद्रपर्यान्ताया एकराड् इति।
—ऐतरेय ब्राह्मण, अ० ८॥

स्वर्ग और धरती, देवता और मानव का उन्होंने सम्बन्ध जोड़ा और मानव को बतलाया कि तू पूर्ण है।

वैदिक युग में हम गाँव-गाँव घूमने वाले गृहत्यागी भिक्षुओं को कहीं नहीं पाते। न हम उनकी जमात या गिरोह ही पाते हैं। ऋषि-वर्ग अपनी महती तपस्या में लगा

हुआ रहता था।[१] राजा, धनी सभी उनके योग्य सुख-सुविधाओं की व्यवस्था में प्रमाद-रहित होकर लगे रहते थे। एक-एक ऋषि एक-एक विश्वविद्यालय से भी महान् था। विश्वविद्यालय का काम केवल ज्ञान फैलाना है, निर्माण करना नहीं। किन्तु वैदिक ऋषि मंत्र-द्रष्टा भी थे और मंत्र-वक्ता भी। वे चिन्तन की गहराई में उतर कर अपौरुषेय ज्ञान-रत्न खोज कर लाते भी थे और उसका प्रकाश घर-घर फैलाते भी थे। उनकी साधना और तपस्या सबके हित के लिए थी। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में आश्रमों के सम्बन्ध में भी चर्चा की है। किसी विद्वान्[२] के मतानुसार पाणिनि ७वीं सदी ईसवी-पूर्व से पहले थे। मैकडोनल्ड[३] ने उन्हें ३५० वर्ष ईसवी-पूर्व माना है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी[४] ने ५०० वर्ष ईसवी-पूर्व पाणिनि को माना है, बुद्धदेव के महापरिनिर्वाण के ४४ वर्ष बाद। सम्भव है, वे बुद्धदेव के समकालीन भी हों—४४ वर्ष इतने पुराने इतिहास के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। पाणिनि के अनुसार जो चार आश्रम हैं, वे हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस। गृहस्थाश्रम के बाद भिक्षु-आश्रम आता है। बौद्ध धर्म में वाणप्रस्थ-आश्रम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता—सीधे भिक्षु बनने की बात है। गृहस्थी (२० वर्ष की अवस्था के बाद[५]) त्याग करके सीधे भिक्षु बन जाने की प्रेरणा बौद्ध धर्म देता है। पाणिनि में भिक्षु और श्रमणक शब्दों का जो प्रयोग आया है, उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है—ऐसा पूर्वाचार्यों का और विद्वानों का मत है। श्रमणक और भिक्षुओं के वर्षावास का उल्लेख बौधायन ने भी किया है। वर्षावास को पाली में 'वस्सो' कहा जाता था। उसमें भिक्षु के जल छानने के वस्त्र का भी उल्लेख[६] है।

बौधायन ने यह स्पष्ट किया है कि नैष्ठिक, विधुर, अनपत्य गृहस्थ, सततिवर्ष से अधिक आयुवाले, जिनके पुत्र गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, संन्यास लेकर चतुर्थाश्रम में प्रवेश करते थे[७]।

"सत्य[८] और अनृत, सुख और दुःख, वेद, इहलोक और परलोक का त्याग कर देनेवाले—केवल आत्मा की जिज्ञासा के लिए—को संन्यासी या परिव्राजक कहा जाता था। अवैध रीति[९] से भी लोग गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासी या परिव्राजक बन जाया करते थे। संन्यासी या परिव्राजक कब, किस अवस्था में बनना चाहिए, इसका भी नियम था[१०]।

१. ऋग्वेद १०।१०९।४ आदि
२. गोल्डस्टूकर।
३. इण्डियाज पास्ट, पृ० १३६
४. 'हिन्दू-सिविलिजेशन'।
५. चुल्लसेट्ठि जातक, ४
६. बौधायन २।६।११
७. बौधायन २।१०।१७
८. बौधायन २।९।२१।१३
९. आपस्तम्ब १।१८।३१
१०. यतिधर्म-निर्णय

जातक-युग[1] में ऐसा नियम था कि २० वर्ष से कम उम्रवाले व्यक्ति के माता-पिता की आज्ञा के बिना उसे भिक्षु नहीं बनाया जाता था। वैशाली के सुदिन्न अलन्द-पुत्त भिक्षु-धर्म की दीक्षा लेने भगवान् के पास आया; किन्तु भगवान् बुद्ध ने तबतक उसे दीक्षा नहीं दी, जबतक उसने अपने मात-पिता का आदेश नहीं प्राप्त कर लिया।

भिक्षु-संघ का संगठन जनतांत्रिक पद्धति के अनुसार हुआ था। बुद्धदेव स्वयम् क्षत्रिय थे और राजघराने के थे। उनकी आँखों के सामने राज्य का संगठन था। उसी आधार पर उन्होंने भिक्षु-संघ का संगठन किया। अनागरिक भिक्षुओं के बीच एक 'जनतंत्र' का उदय हुआ था, जिस जनतंत्र के पास न धन था, न सेना थी, न राजधानी थी और न कोई राजनीति थी। एक विधान ही उनका सब-कुछ था। संसार के इतिहास में ऐसे विचित्र जनतंत्र की कहीं चर्चा नहीं मिलती, जिसमें सर्वस्वत्यागी भिक्षु ही भिक्षु हों और भिक्षा ही जिनका धन हो तथा युक्ति ही जिनका लक्ष्य हो। चरित्र-बल ही उस जनतंत्र (संघ) का बल था। दान में अतुल सम्पत्ति मिलती थी। लिच्छवियों[2] ने बुद्ध-संघ को अपने दान से भर दिया था। श्रावस्ती का अनाथ पिण्डक श्रेष्ठी संघ को निरंतर दान करता रहा और अन्त में अपना पेट भरने के लिए भी मुहताज हो गया। संघ को दान देने के लिए उस समय उसने एक बगीचा खरीदा; पर उस बगीचे को खरीदने में उसे इतनी अशर्फियाँ देनी पड़ीं, जितनी कि उस सारे बगीचे में बिछाई जा सकीं। कितना दान संघ को मिला, यह यहाँ बतलाना कठिन है—संक्षेप में आप यही मान लें कि धन-रत्न-स्वर्णगऊ से भरा-पूरा भारत था और भारत की दानवृत्ति, त्यागवृत्ति सर्वविदित है।

बौद्ध-संघों का संगठन पूर्ण जनतान्त्रिक तो था ही, जनतंत्र की सारी विशेषताएँ भी उनमें थीं। वे सार्वजनिक अधिवेशनों या सभाओं में पारस्परिक वाद-विवाद से कार्याकार्य का निर्णय करके शासन चलाते थे।[3]

भिक्षु-संघ की बैठकें संथागार या उद्यान (बाग) में होती थीं। एक 'आसनपञ्ञापक' होता था, जो १० वर्षों का अनुभवप्राप्त भिक्षु होता था। ज्येष्ठानुक्रम से (यानी भिक्षु बनने की तिथि के हिसाब से बड़े-छोटे की गणना की जाती थी) आसन लगता था[4]। चटाई या बिना किनारी के सादे आसन होते थे।[5] यहीं बैठकर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श कर लेने के बाद भिक्षु-संघ अपना अन्तिम निर्णय देता था, जो सबके लिए मान्य होता था। संघ-पूर्त्ति की उपस्थिति कम-से-कम १० थी—१० भिक्षुओं का 'कोरम' माना जाता था[6]। सीमान्त-प्रदेशों में, जहाँ भिक्षुओं की संख्या कम थी,

---

१. गोयोग पिप्पलाख सुत्त

२. सेनार्ट, महावस्तु १।२९५–९; ३०० विनय 'प्राचीन-पुस्तक माला', पृ० ४०८

३. देखिए—(क) डॉ० दत्त-कृत—'अर्लि बुद्धिस्ट मोनाकिज्म' (लंदन-संस्करण); (ख) जायसवाल-कृत—'हिन्दू पॉलिटी' और (ग) सरकार-कृत—'पोलिटिकल इन्स्टीटयूशन्स ऑफ हिन्दूज'।

४. चुल्लवग्ग—१२।२।७

५. चुल्लवग्ग—१२।१।१

६. महावग्ग १।२।७।२२

१० भिक्षु बटोरने में बड़ी कठिनाई[1] होती थी। ऐसे स्थानों के लिए 'कोरम' घटा कर पाँच कर दिया गया था[2]।

जबतक संघ का कोरम पूरा नहीं होता था, संघ की सारी कार्यवाही अनियमित मानी जाती थी—ऐसा नियम भी था[3]। 'अकम्मं न करणीयं' कहकर उस निर्णय पर अमल नहीं किया जाता था, जो अपूर्ण संघ की बैठक में किया जाता था। अनुपस्थिति संघ-सदस्यों की सम्मति संघ को मान्य नहीं होती थी[4]।

इस संगठन से स्पष्ट होता है कि भिक्षु बनाकर माँगने-खाने के लिए छोड़ नहीं दिया जाता था। भिक्षुओं का एक पूर्ण संगठित संघ भी था जो भिक्षु-जनतंत्र पर शासन करता था। प्रस्ताव के द्वारा जो बहुमत से निर्णय होता था, वही माना जाता था और प्रस्ताव की मूल शब्दावली को 'कर्मवाचा' कहते थे[5]। मतदान भी होता था[6]। संघ की कार्यवाही लिपि-बद्ध भी की जाती थी[7]।

संगठित बौद्ध-संघों का प्रभाव उस युग की राजनीति पर भी कुछ कम न था। डॉ० राधाकुमुद मुकुर्जी के विचारानुसार बौद्धधर्म ब्राह्मणधर्म या वैदिकधर्म-रूपी एतद्देशीय संस्कृति की शाखाओं के रूप में ही उदय हुआ।[8] ऐसे और इसी संगठित-भिक्षु-संघ का दबाव ब्राह्मणवर्ण पर पड़ा। जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में ब्राह्मणधर्म के कितने ही प्राचीन भिक्षु-सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है; किन्तु संस्थापित संघों के रूप में उनके सामुदायिक अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। करीब ६२ दार्शनिक मतों का उल्लेख मिलता है[9]।

आजीवक[10], निगंठ, मुण्ड सावक, जटिलक, परिव्राजक, मगण्डिक, अविरुद्धक, गोतमक, देवधम्मिका आदि बहुत-से सम्प्रदायों का पता चलता है। जो हो, भिक्षुओं का सम्प्रदाय इस तरह फैलने लगा था कि लोग विचलित हो उठे थे और यह कहने लग गये थे कि 'बुद्ध[11] तो सन्तति का अभाव, वैधव्य और कुटुम्बों का नाश करने के लिए ही धरती पर आये हैं।' एक-एक आचार्य अपने सभी शिष्यों के साथ बुद्ध भगवान् की सेवा में जाकर भिक्खु बन जाते थे। जब राजगृह के निकट उपतिस्स

---

१. महावग्ग (विनयपिटक ५।३।२।२७)
२. महावग्ग (विनयपिटक ५।३।२।२७)
३. महावग्ग ९।३।२
४. चुल्लवग्ग ११।१।१०
५. महावग्ग ९।३।१
६. चुल्लवग्ग ४।१४
७. महावग्ग १९।१४; जयसवाल-कृत 'हिन्दू पॉलिटी', ११२
८. 'हिन्दू-सिविलिजेशन'
९. ब्रह्मजाल-सुत्त और (जैन) सूत्र-कृतांग २।२।७९
१०. अंगुत्तर-निकाय।
११. धम्मपद-अट्ठकथा १।८८।९०

ग्राम के ब्राह्मण ग्रामणी, सारिपुत्त, मोग्गलान और सुपीय ने भिक्षु-धर्म स्वीकार कर लिया तो पास-पड़ोस में तहलका मच गया। भिक्षुओं का सर्वत्र सम्मान भी होता था। पात्र-चीवर धारण कर लेने के बाद वह सम्मान का अधिकारी माना जाता था। राजा का दास भी यदि भिक्षु बनकर काषाय चीवर पहन ले......तो राजा उसके लिए भी सम्मानित स्वागत......की व्यवस्था करता था[१]।

उस समय दास-प्रथा थी। अतः ऐसा नियम था कि अपने स्वामी के यहाँ से भागे हुए दास को भिक्षु नहीं बनाया जायगा। हाँ, जिसे स्वामी ने मुक्त कर दिया हो, उसको संघ में स्थान दिया जाता था[२]। बुद्धदेव जहाँ भी आमन्त्रित होते थे, अपने संघ के साथ। उस समय इस संघ में ५०० भिक्षुओं के होने का उल्लेख मिलता है और कहीं-कहीं १,२५० भिक्षुओं का भी उल्लेख है।

भिक्षुणी-संघ

अब भिक्षुणी-संघ पर हम ध्यान दें, जिनका अस्तित्व जातक-युग में था। बुद्धदेव की मौसी और विमाता गौतमी के साथ बुद्धदेव की सौतेली बहन नन्दा तथा पत्नी यशोधरा (भद्दा कच्चामा) आदि पाँच सौ भिक्षुणियाँ संघ में प्रविष्ट हुईं। 'थेरी-गाथा' में १२ भिक्षुणीयों का बहुत ही कवित्व-पूर्ण वर्णन मिलता है। सम्राट् बिम्बसार की पत्नी खेमा (क्षेमा) भी संघ में आई। धम्मदीना नाम की एक भिक्षुणी ने पूरे सुत्त (सूत्र) की रचना कर दी थी[३]। हम यहाँ प्रमुख भिक्षुणियों का उल्लेख कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी भिक्षुणियाँ थीं। संघ में भिक्षुणियों की जमात ऐसी बढ़ी कि भारत का गाँव-गाँव इनसे परिचित हो गया। इन भिक्षुणियों के ज्ञान, विचार, शील आदि किसी भी सिद्धभिक्षु से कम न थे। उनका सर्वत्र सम्मान था और बुद्धदेव भी उनके प्रति बहुत ही ममता के भाव रखते थे।

बौद्ध-ग्रन्थों और सूत्रों से यह पता चलता है कि भिक्षुओं को तलवार की धार पर चलना पड़ता था। ऐसे-ऐसे कठोर नियमों को निभाना पड़ता था कि उनके भीतर का सारा रस जलकर खाक हो जाता था। आठ पाराजिका धर्म पर ध्यान दीजिए—

१—मैथुन; २—चोरी; ३—मनुष्य-हत्या; ४—दिव्यशक्ति का दावा; ५—कामाशक्ति के कार्य (किसी पुरुष के जानु के नीचे के भाग को हराना, संघर्षण, ग्रहण, स्पर्श या दबाने का आनन्द ले तो वह 'ऊर्ध्वजानुमंडलिका' पाराजिका होती है); ६—जिसे संघ से निकाल दिया गया तो उसका अनुगमन; ७—कामाशक्ति से पुरुष का स्पर्श और ८—जो ऐसे दोषोंवाली भिक्षुणी को जानते हुए भी न उसे टोके और न संघ में रिपोर्ट ही करे, वह भी दोषी है।

दो शब्द और भी आये हैं—'तलघातक' (कृत्रिम मैथुन) और 'जतुमहक' (लाख का बना हुआ मैथुन-साधन) शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि कुछ भिक्षु-

---

१. डाटालॉग्स ७७

२. विनय-पिटक और प्राचीन पुस्तकमाला १।१९९

३. मज्झिम निकाय—१।५।४ (४४—चूल वेदल्ल सुत्तन्त)

णियों में ऐसा दोष था, जिससे बचने के लिए यह नियम बना[1]। नाचना-गाना, शरीर पीटकर रोना और लहसुन खाना बिलकुल वर्जित था। स्त्रियों के चरित्र के सम्बन्ध में बुद्धदेव की जैसी धारणा थी, उसको देखते हुए भिक्षुणियों के लिए जिन भयानक बन्धनों की व्यवस्था उन्होंने की थी, वे 'कठोर' नहीं कहे जा सकते। मानव अपने भीतर की सहजात प्रवृत्तियों का अन्त नहीं कर सकता, उन्हें किसी हद तक दबा सकता है। उनसे समझौता करके काम चला सकता है; किन्तु पहले काषाय वस्त्र धारण करने के नियम पर ही हम ध्यान दें। कहा है—

अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति॥
यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति[2]॥

'जो अपने मन को स्वच्छ नहीं कर सका, वह काषाय वस्त्र धारण नहीं कर सकता है। जो सत्य और संयम से रहित है, वह व्यक्ति काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।'

'जिसने अपने मन के मल को दूर कर दिया है; सो सदाचारी, सत्य और संयम से युक्त है, वही काषाय वस्त्र धारण करने का अधिकारी है।'

राग, द्वेष, मूढ़ता, भ्रक्ष, प्लास (दूसरे गुणी के साथ अपनी तुलना करना—'मैं उस-जैसा या उससे अच्छा हूँ'), ईर्ष्या, मात्सर्य्य, माया, शठता, अकड़, स्पर्धा, अतिमान, मद, प्रमाद, सभी अकुशल धर्मों को, सभी दुश्चरित्रों को (बौद्ध मतानुसार) संसार के डेढ़ हजार बन्धन-क्लेशों को, मन, वचन, काया और कर्म से समाप्त कर दे, वही काषाय पहने।

इन बन्धनों को देखने से यही पता चलता है, कि अकेले बुद्धदेव ही काषाय धारण करने के पात्र थे, दूसरा कोई नहीं। अब देखिए कि किस आकार-व्यवहारका व्यक्ति भिक्षु बनाया जाता था—

अल्लं सुक्खञ्च भुञ्जन्तो, न बाड़्हं सुहितो सिया।
अनूदरो, मिताहारो, सतो, भिक्खू परिब्बजे॥
चत्तारो पञ्च आलोपे अभुत्वा उदकं पिवे।
अलं फासुविहाराय पहितत्तस्स भिक्खुनो[3]॥

'रूखा-सूखा खानेवाला हो, बहुत खानेवाला न हो, पेट निकला हुआ न हो, परिमित भोजन करनेवाला और स्मृतिमान् हो, वही भिक्खु प्रव्रजित होवे।'

'चार-पाँच कौर कम खाकर ही पानी पीकर पेट भर डाले। आत्म-संयमी भिक्खु को सुख से जीने के लिए इतना ही काफी है।'

---

१. विशेष जानकारी के लिए—'विनय-पिटक' के भिक्खुनी-पतिमोक्ख —(२) का 'संघादिसेस' (९-२५) देखिए।

२. धम्मपद (यमक वग्गो—९-१०)

३. सक जातक—२५५

अब काषाय वस्त्रवाले नियमों को इन नियमों के साथ जोड़ दीजिए और देखिए कि क्या चित्र सामने आता है।

चार प्रकार के श्रमण होते थे[1]—

मग्गजिनो मग्गदेसको च मग्गे जीवति यो च मग्ग दूसी ॥

मार्ग-जिन, मार्ग-देशक, मार्गजीवी और मार्ग-दूषक। ये चार प्रकार के श्रमण हैं। अब बुद्धदेव इन चार प्रकार के भिक्षुओं का विस्तृत परिचय देते हैं—

मार्गजिन—शंकाओं से रहित, दुःख-मुक्त, निर्वाण में अभिरत, लालसा-रहित, देवों तथा मनुष्यों का नेता।

मार्गदेशक—जो मुनि इस संसार में परमार्थ को परमार्थ जानकर उस धर्म का उपदेश देता है, व्याख्या करता है, राग-रहित, शंकाओं को दूर करनेवाला।

मार्गजीवी—जो सुदेशित धर्मपद के अनुसार संयमित और स्मृतिमान हो, मार्ग पर चलकर जीता है। अनवद्य (धर्म) पथ पर चलता है।

मार्ग-दूषक—

छदनं कत्वान सुब्बतानं
पक्खन्दि कुलदूसको पगब्भो।
मायावी असञ्ञतो पलापो
पतिरूपेन चरं स मग्गदूसी[2]।

जो सुव्रतों का वेश धारण करके मौके की ताक में लगा रहता है, जो कुल-दूषक, प्रगल्भी, मायावी, असंयमी और प्रलापी है; (किन्तु) साधुओं का रूप धारण कर के विचरण करता है, वह मार्ग-दूषक है।

भिक्षुओं को कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं होना चाहिए[3], इसपर इतना विचार किया गया है कि यदि सबका संग्रह किया जाय तो अलग से एक ग्रन्थ बन जायगा। सभी नियमों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि साँस लेने के लिए भी जगह नहीं छोड़ी गई थी और चारों ओर से ऐसा अवरोध कर दिया गया था कि उसके भीतर भिक्षु कैसे जीवित रहते थे, यह अचरज की बात मालूम होती है।

जब बुद्धदेव का महापरिनिर्वाण हो गया, तब महाकाश्यप ५०० भिक्षुओं के संघ के साथ पावा और कुसीनारा के बीच के रास्ते से जा रहे थे। उन्हें जब यह पता चला कि बुद्धदेव का शरीर नहीं रहा, तब संघ के भिक्षु रोदन-क्रन्दन करने लगे। उस समय सुभद्र नाम का एक भिक्षु भी वहाँ था। वह बोल उठा[4]—

अलं आवुसो, मा सोचित्थ मा परिवेदित्थ।
सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन उपद्रुता च,
होम—इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पति, ति।

---

१. चुन्द सुत्तं (सुत्तनिपात—५)
२. सुत्तनिपात (चुन्दसुत्तं—५।७)
३. धम्मपद—(भिक्खु वग्ग) द्रष्टव्य
४. महापरिनिब्बान सुत्तम्—२७३

इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तंकरिस्साम।
यं न इच्छिस्साम न तं करिस्साम, ति।

'मत रोओ आवुसो, मत सोचो। हम सुमुक्त हो गये (छुटकारा पा गये)। उस महाश्रमण से हम पीड़ित रहा करते थे—यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे, जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे।'

उस भिक्षु के इस कठोर वचन का प्रतिवाद संघ के ४९९ भिक्षुओं में से किसी ने भी किया हो और उसे किसी तरह का दण्ड भी दिया हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता। कठोर नियमों का, मन पर बहुत जोर देकर पालन करते रहने से निश्चय ही उसकी दो प्रतिक्रियाएँ पैदा होती हैं—मन का विद्रोही हो जाना या भीतर-ही-भीतर पथरा जाना। यदि अनियन्त्रित आजादी अराजकता पैदा करती है, तो कठोर नियन्त्रण अचलता पैदा करता है या विनाशक विद्रोह की आग भड़का देता है।

जातक-युग में हम भिक्षुओं में दोनों प्रतिक्रियाओं को उतरते हुए देखते हैं—अचलता भी और विद्रोह भी। हजारों-लाखों या करोड़ की संख्या में मानव कमर बाँधकर ऋषि, मुनि, त्यागी, तपस्वी नहीं बन सकता। बहुत-से गुण ऐसे होते हैं जो व्यक्तिगत कहे जा सकते हैं। उन गुणों को फैलाकर समूहगत बनाने का प्रयास बुद्धदेव-जैसे पूर्ण बलवान व्यक्ति ही कर सकता है। संघ के अनेक भिक्षु बुद्ध के नियमों का ठीक से पालन नहीं करते थे। वे नाना अनाचारों में भी फँस गये थे। कुछ उदाहरण देखिए।

हम देखते हैं कि जातक-युग के कुछ भिक्षु अपने इहलोक के जीवन से इतना ऊब उठे थे कि वे मर जाना सुखद मानते थे[1]। बौद्धधर्म ने मानव-जीवन के प्रति ऐसी वितृष्णा फैलाई, जिससे भिक्षुओं को अपने जीवन से मृत्यु ही प्यारी हो गई। भगवान बुद्ध १५ दिन के लिए वैशाली में एकान्त-ध्यान करने लगे। वहाँ खास-खास भिक्षु ही जा सकते थे, सभी नहीं। उस समय भिक्षुओं में एक अजीब पागलपन का रोग फैल गया। वे अपने शरीर से घृणा करने लगे। एक व्यक्ति था कसाई—मृगलिंडिक समण-कुत्तक। कुछ भिक्षु उसके पास पहुँचे और कहने लगे—'अच्छा, यदि तुम हमें जान से मार दो, यह पात्र चीवर तुम्हारा होगा।'

उस समण-कुत्तक ने भिक्षुओं का खून करना शुरू कर दिया। जब वह अपनी खून से सनी तलवार 'वग्गुमुदा' नदी में धोने गया तब उसके मन में अपने कर्म के प्रति नफरत पैदा हुई। तब मार-लोक के किसी शैतान ने प्रकट होकर उसे बढ़ावा दिया—'तूने बहुत पुण्य कमाया, जो अ-तीर्णों को पार उतार दिया।'

वह एक विहार से दूसरे विहार में घूमने लगा। कितने सौ या हजार भिक्षुओं का वध, उनकी इच्छा से, उसने किया, इसका कोई ठिकाना नहीं।

जब आधा मास समाप्त होने पर बुद्धदेव पधारे, तब उन्होंने आनन्द से पूछा—'भिक्षु-संघ बहुत कम हो गया, क्या बात है?'

१. पाराजिक—३

इस प्रसंग में कहा यह गया है कि शरीर से घृणा होने के कारण ही और सहज ही निर्वाण प्राप्त कर लेने की इच्छा से झुंड-के-झुंड भिक्षुओं ने प्राण गँवाये। बात कुछ भी हो, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि वे अपने निश्चित 'वर्त्तमान' से ऊबकर ही अनिश्चित 'भविष्य' की ओर दौड़ पड़े।

एक दूसरी गाथा यह बतलाती है कि वैशाली में बुद्ध भगवान् के पास, वर्षावास समाप्त करके, इधर-उधर से, बहुत-से भिक्षु आये। उनमें कुछ तो दुबले, रुक्ष, दुर्वर्ण, पीले और ठठरी-मात्र वाले थे; किन्तु, कुछ काफी तगड़े, लाल वर्णवाले और रोबीले भी थे। कारण का पता लगाने पर बुद्ध को मालूम हुआ कि वर्षावास करते समय कुछ भिक्षुओं ने सोचा कि भीख माँगकर गुज़र करने से अच्छा है कि गृहस्थों की सेवा करके पेट चलाया जाय। किसी ने किसी गृहस्थ की खेती सँभाली, तो कोई दूत का काम करने लगा[१]। कितने ऐसे भी थे जिन्होंने अपना पेशा 'तारीफ' करना अपनाया। वे गृहस्थों की ठकुरसुहाती करते चलते थे। परिणाम यह हुआ कि गृहस्थों ने उन्हें बढ़िया-बढ़िया भोजन दिया और वे खूब मोटे-तगड़े हो गये। जो भिक्षु इस पेशे को नहीं अपना सके, वे सूखकर ठूँठ बन गये[२]। कभी-कभी भिक्षु शराब भी पीते थे और मस्त होकर घूमते थे।

कौशाम्बी[३] में एक बार जब भगवान् बुद्ध थे, तब वहाँ एक परमतेजस्वी स्थविर थे जिनका नाम 'सागत' था। नगर-निवासियों के यह आग्रह करने पर कि 'हम क्या सेवा करें', भिक्षुओं ने कहा—'कबूतरी-शराब' का प्रबन्ध करो। शराब का प्रबन्ध हो गया और दूसरे दिन स्थविर 'सागत' के साथ सभी भिक्षुओं ने शराब पीकर आनन्द मनाया और सड़कों पर लुढ़कने लगे। बुद्धदेव ने स्वयं स्थविर 'सागत' को खुली सड़क पर से उठवाकर निवास-स्थान पर पहुँचवाया। वह इतना नशे में था कि बुद्धदेव की ओर टाँगें फैलाकर लेटा रहा। उसी गाथा की अतीत कथा में आया है कि एक बार किसी राजा ने भिक्षुओं को शराब पिलाकर पागल बना दिया था। जब वे होश में आकर अपने आचार्य के पास गये, तब कहा—

अपायिम्ह अनच्चिम्ह अगायिम्ह रुदिम्ह च।
विसञ्ञकरणिं पीत्वा दिट्ठा ना हुम्ह वानरा॥

शराब पीकर नाचे, गाये और रोये भी। प्रसन्नता इतनी ही है कि इस बेहोश बना देनेवाली चीज को पीकर भी हम बन्दर नहीं बन गये (आदमी ही बने रहे)।

बुरे भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया जाता था[४]। पापेच्छ, पापाचार, पाप-

---

१. पता चलता है कि 'डाक' पहुँचाने का काम कुछ लोग पेशा के रूप में करते थे। उनका काम था—यहाँ से वहाँ संवाद पहुँचाना, जवाब ला देना। अपनी 'डाक-व्यवस्था' जनता खुद करती थी। राज्य से उसका कोई सरोकार न था।

२. बुद्धचर्या—उत्तम मनुष्य-धर्म—४, पाराजिका

३. अपायिम्ह-वग्ग—सुरापान जातक—८१

४. सुत्तनिपात—(धम्मचरियसुत्तं—१८)

संगति, पाप-विचार तथा पाप का संगति करनेवाला भिक्षु कचरे की तरह निकाल बाहर किया जाता था—

यं एवरूपं जानाथ भिक्खवो गेहनिस्सितं।
पापिच्छं पापसङ्कप्पं पापचार गोचरं ॥७॥
सब्बे समग्गा हुत्वान अत्तिनिब्बिज्जयाथ नं।
कारण्डवं निद्धमथ कसम्बुं अपकस्सथ ॥८॥

जो हो, इन सबके बावजूद यह मानना पड़ेगा कि भिक्षु-संघ का संगठन बहुत दृढ़ था। सच्चे जनतंत्रीय सिद्धान्तों की छोटी-छोटी बातों का भी कड़ाई से पालन किया जाता था। पालि-ग्रन्थों में धार्मिक संघों के इन विषयों का आदि से अन्त तक वर्णन उपलब्ध है। उसमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि यदि कोई उपसम्पदा ग्रहण करना चाहे, तो उसके लिए भी प्रस्ताव किया जाता था। संघ के सामने तीन बार प्रस्तावक अपना प्रस्ताव सुना देता था। यदि संघ चुप रहा तो प्रस्तावक अन्त में कहता था— 'अब तीसरी बार भी मैं अपना प्रस्ताव संघ के सामने रख चुका। संघ मौन है, अतः मैं समझता हूँ कि मेरी प्रार्थना मंजूर कर ली गई **(खमति सङ्घस्य, तस्मातुण्ही, एवं मेतं धारयामीति[1])**। इस तरह भिक्षु-संगठन को हम मजबूत जनतन्त्रीय सिद्धान्तों पर गठित एक ठोस संगठन कह सकते हैं; किन्तु समय की गति बहुत बलवान होती है। यह संगठन बुद्धदेव के जाते ही कमजोर हो गया और अनेक आघातों को सहता हुआ कालक्रम में धराशायी हो गया। जातक[2] में एक गाथा आई है, जिसमें यह कहा गया है कि दूसरों को उपदेश देनेवाली चिड़िया खुद रथ के चक्के के नीचे आ गई और पिस गई। कुछ यही हाल भिक्षु-संगठन का भी हुआ।

जातक-युग में स्त्रियों का स्थान

हम यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं कि जातक-युग में स्त्रियों का क्या स्थान था। वैदिकयुग का भारत स्त्रियों को बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखता था; किन्तु जातक-युग में यह तस्वीर ही बदल गई, यह दुर्भाग्य की बात है। जातक-कथाओं में स्त्रियों का एक-से-एक गन्दा चित्र आया है। कहीं-कहीं प्रशंसा भी की गई है; मगर वह प्रशंसा दाल में नमक बराबर भी नहीं है।

दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, अदिति, ऊषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होत्रा, सिनीवाली, श्रद्धा, पृश्नि आदि देवियों का वर्णन वैदिक वाङ्मय में बार-बार आया है। केवल ऋग्वेद में अदिति का उल्लेख ८० बार किया गया है। अदिति को 'सर्वतातिम्' (सर्वग्राहिणी) भी कहा है[3]। विश्वजन्या[4] नाम भी अदिति का आया है। अदिति की

---

१. महावग्ग १।५।५।४
२. अनुसासिक जातक ११५
३. ऋग्वेद १०।१००।१
४. ऋग्वेद ७।१०।४

प्रार्थना करते हुए कहा गया है—'यह हमें पापों से बचावे[१]।' अदिति से 'तेज' के लिए भी प्रार्थना की गई है[२]। यह तो हुई देवियों की बात। ऊषा की स्तुति में बहुत-से मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद में ही ३०० बार ऊषा का उल्लेख मिलता है। पृश्नि[३] देवी मरुतों की माता हैं, जो सोमरस दूहनेवाली भी हैं। वनदेवी को 'अरण्यानि' कहा जाता था[४]। इस तरह हमारे भीतर स्त्री-जाति के प्रति आदर के भाव पैदा कराना ऋषियों का उद्देश्य था। दिव्य शक्ति-धारिणी, मातृरूपिणी देवियों का वर्णन अपनी ब्रह्मचर्यावस्था में पढ़कर विद्यार्थी जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब उसके भीतर देवियों के प्रति श्रद्धा के ही भाव प्रज्वलित होते थे, घृणा के नहीं। आश्रम के जीवन में जिस संस्कार को विद्यार्थी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता था, वह संस्कार उसके जीवन को अपने साँचे में ढाल देता था। वेदों में जो देवियाँ आई हैं, वे महाशक्तिशालिनी और दिव्य थीं, हेय नहीं। वन्दना और पूजा की वे अधिकारिणी थीं, तिरस्कार की नहीं। हमारे ऋषि जानते थे कि ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि समाप्त करके विद्यार्थी जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा तब पत्नी के रूप में एक देवी उसे प्राप्त होगी। अतः पहले से ही उस विद्यार्थी के हृदय में देवियों के प्रति उच्च भाव होने चाहिए ताकि जीवन सुखमय बन सके।

आर्यों का सिद्धान्त था—**गृहणी गृहमुच्यते**। घर और परिवार की सारी सुन्दरता गृहिणी से ही थी। वृद्धावस्था तक नारी का प्रभुत्त्व अपने घर पर रहता था[५]। उसे कोई चुनौती नहीं दे सकता था। नारी ऐसी होती थी जो पशु-धन की रक्षा करती थी[६] और वीर-प्रसवनी बनती थी। स्त्रियों[७] में शिक्षा का भी पूरा प्रचार था; किन्तु वे आश्रम में रहकर नहीं, पिता के घर में रहकर पढ़ती थीं। वेदाध्ययन भी करती थीं और 'मन्त्रद्रष्टाऋषि' का पद भी कोई-कोई प्राप्त करती थी। अगस्त्य ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा ने भी एक सूक्त बनाया था[८]। ऋग्वेद के ८ वें मंडल के ९०वें सूक्त की रचना करनेवाली अत्रि ऋषि की पुत्री अपाला थी। प्रथम मंडल के १२६ वें सूक्त के ७ वें मंत्र की रचना करनेवाली रोमशा या लोमशा थी। विश्वावरा ने भी पंचम मंडल के २८वें सूक्त की रचना की थी। 'सूर्या' नाम की एक ब्रह्मवादिनी ऋषिका ने दशममंडल के ८५वें सूक्त की रचना की थी। छान-बीन करने से ऐसी बहुत-सी ब्रह्मवादिनी और विदुषी नारियों का पता चलता है, जिन्होंने सूक्तों को रचा था।

---

१. ऋग्वेद, १०।३६।३

२. ऋग्वेद, ७।८२।१०

३. ऋग्वेद ८।७।१०—सायणाचार्य ने 'पृश्नि' का अर्थ पृथिवी किया है। निघंटु में 'आकाश' है, निरुक्त के टीकाकार मि० रीथ ने 'मेघ' कहा है। ऋग्वेद के फ्रेंच टीकाकार लांलोआ ने भी 'मेघ' अर्थ किया।

४. ऋग्वेद, १०।१४६।६

५. ऋग्वेद, १०।८५।२७

६. ऋग्वेद, १०।८५। ४४

७. ऋग्वेद, मंडल १० के ३९ और ४० सूक्तों की सृष्टि काक्षीवती घोषा नाम की ब्रह्मवादिनी नारी ने की थी। द्रष्टव्य—मंत्र १०।३९। ६; १०।३९।७ और १०।४०।१०

८. ऋग्वेद, १।१७९

अगस्त्य के पुरोहित खेल ऋषि की पत्नी 'विश्वला' अपने पति के साथ युद्ध में भी गई थी। उनकी जाँघ टूट गई थी, जिसकी चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने की थी[१]। मुद्‌ग-लानी शत्रुओं से लड़कर १ हजार गायें जीतकर लाई थी। दास-नायुचि ने स्त्री-सेना खड़ी की थी और वृत्रासुर की माता 'दानु' को इन्द्र ने युद्ध में मारा था।

स्त्रियाँ पुरुषों की जीवन-सहचरी थीं, न कि वामा-दामा, श्यामा ! जो स्त्रियाँ ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती थीं, वे वेदाध्ययन करती थीं।[२] अवस्था प्राप्त होने पर जो विवाह कर लेती थीं, वे वेद-पाठ नहीं कर पाती थीं।

यम-स्मृति के अनुसार स्त्रियाँ अपने पिता, चाचा या भाई से ही पढ़ती थीं, दूसरों से नहीं—

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयत्परः ॥

घर में—पति-गृह में जाकर भी भी आर्य-देवियाँ महारानी का पद पाती थीं, न कि दासी या बाँदी का—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥[३]

(वधू) तुम स्वसुर, सास, ननद और देवरों की महारानी बनो, सबके ऊपर प्रभुत्व करो।

पुत्र (औरस) की प्राप्ति के लिए बार-बार अग्नि से प्रार्थना की जाती थी[४]। अन्य जात या अनौरस पुत्र से आर्य दूर भागते थे[५]।

वैदिकयुग में लज्जाहीनता स्त्रियों के लिए भयानक दुर्गुण माना जाता था। उन्हें शरीर को ढाँप कर रखने का आदेश था और संयत ढंग से रहने की सीख दी जाती थी।

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कश-प्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ[६]।

तुम्हारी दृष्टि नीचे की ओर हो, ऊपर की ओर नहीं। पैरों को मोड़कर रखा करो। तुम्हारे कश और प्लक (कमर के निम्न भाग) कोई देखने न पावे।

वैदिकयुग की स्त्रियों के लिए सबसे सुखद बात थी पति की प्रियपात्री बनना और इसके लिए प्रार्थना की जाती थी—

---

१. ऋग्वेद, १।११२। १० और १।११८।८
२. वीर मित्रोदय, 'संस्कार-प्रकाश'; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१–८; और हारीत० २१। २०।२३ द्रष्टव्य
३. ऋग्वेद, १०।८५।४६; अथर्व०–१४।१।६४; १४।१।४३ और १४।१।४४
४. ऋग्वेद, ७।१।२१
५. ऋग्वेद, ७।४।७
६. ऋग्वेद, ८।३३।१९

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन[१] ॥

'यह वधू शोभन कल्याणवाली है। सभी आशीर्वादकर्त्ता आवें और देखें। स्वामी की इस प्रियपात्री को आशीर्वाद देकर सब अपने-अपने स्थान को विदा हों।

यह कितना सुन्दर मन्त्र है—मन मुदित हो जाता है।'

वैदिक युग में स्त्रियाँ संगीत और नृत्य भी जानती थीं[२]। कुमारियों को अपने मनोनुकूल पति चुनने की भी स्वतन्त्रता थी और जब चाहे विवाह करने की भी स्वतन्त्रता थी।

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्[३]।

वे घर के सब काम करती थीं। गाय दूहना कन्या का काम था[४]। इसीलिए उसे 'दुहिता' कहा जाता था। कपड़े बुनना भी उनका ही काम था[५]। माता-पिता की सेवा भी करती थीं[६]।

जीवन-भर अविवाहिता रहनेवाली कुमारी को पिता के धन में हिस्सा मिलता था[७], जो उचित न्याय था।

इस तरह हम देखते हैं कि वैदिकभारत में नारी-जाति का महत्त्वपूर्ण स्थान था और राष्ट्र-निर्माण के कार्य में उनका पूर्ण योग रहता था। उन्हें इस योग्य बनाया जाता था कि नारी-शक्ति का विकास हो और वह राष्ट्र के काम आ सके।

वैदिकयुग के बाद भारत का मानव-समाज किस-किस रास्ते से मुड़ता-गुजरता जातक-युग तक आया, इसका सिलसिलेवार वर्णन करना सहज नहीं है। जबतक ऐसा हम नहीं करते, आपको यह नहीं बतला सकेंगे कि वैदिकयुग का समाज जातक-युग तक पहुँचते-पहुँचते कितना और कैसे बदल गया और किन कारणों, घटनाओं और परिस्थितियों ने उसपर अपना असर डालकर उसके रूप में परिवर्त्तन ला दिया। जो हो, किन्तु वैदिकयुग की नारी-जाति पर एक धुँधला-सा प्रकाश डालकर हठात् जातक-युग में हम प्रवेश करते हैं। इतिहास को उसके क्रम से अध्ययन करनेवाले विद्वानों को इससे तोष नहीं मिलेगा, यह हम महसूस करते हैं। केवल दो युगों के दो चित्र हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। यदि एक-एक कड़ी का स्पर्श करते हुए नीचे उतरते तो आपको यह समझने का मसाला देते कि वैदिकयुग का नारी-समाज जातक-युग में पहुँचते-पहुँचते इतना कैसे गिर गया। किन्तु विषय की गम्भीरता की बहुत बड़ी बाधा हमें रोकती है।

१. ऋग्वेद १०।८५।३३
२. ऋग्वेद १।९२।४—ऊषा को नर्त्तकी से उपमा दी गई है।
३. ऋग्वेद १०।२७।१२
४. ऋग्वेद १।१३५।८
५. ऋग्वेद २।३।६; २।३८।४
६. ऋग्वेद १।१९१।१४
७. ऋग्वेद २।१७।७

जातक-युग में राजा, सेना, व्यापारी, दरबारी, पण्डित, त्यागी, चोर, डाकू, भूत-प्रेत सभी कुछ थे और स्त्रियाँ भी थीं।

वाराणसी के किसी आचार्य के यहाँ एक शिष्य पढ़ता था[१]। वह अपनी पत्नी का दोष देखकर कई दिनों तक व्याकुल रहा और पढ़ने नहीं गया। उसके आचार्य ने जब गैरहाजिरी का कारण पूछा तब उसने सब कुछ प्रकट कर दिया। आचार्य ने कहा—

यथा नदी च पन्थो च पाणागारं सभा पपा।
एवं लोकित्थियो नाम नासं कुज्झन्ति पण्डिता॥

'जैसे नदी, पथ, शराबखाने, धर्मशालाएँ, प्याऊ (पनशाला) आदि सबके लिए होते हैं, वैसे लोक में स्त्रियाँ भी सबके लिए होती हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति (यह सब जान लेने के बाद) उनके विषय में क्रोध नहीं करते।'

बुद्धदेव ने इस गाथा के अन्त में कहा—'वह आचार्य मैं ही था।' अतः हमें इस मत को बुद्धदेव का ही मत मानना चाहिए।

स्त्री को 'सार्वजनिक उपभोग की वस्तु' (कुआँ, तालाब, बाग, प्याऊ की तरह) मानकर जातक-युग के नेता ने यह प्रमाणित कर दिया कि वे समाज को लौटाकर आदिम युग में ले जाने के इच्छुक थे, जहाँ सभी मानवमात्र थे और पेट भरना और मर जाना यही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था।

महाभारत में ही एक कथा राजा पाण्डु की है[२]। उन्होंने अपनी पत्नी कुन्ती से उदाहरण के साथ कहा था कि प्राचीन काल में इस प्रकार के पति-पत्नी का जोड़ा नहीं होता था, जो एक पति और एक पत्नी तक ही सीमित रहे।

स्त्री को सार्वजनिक उपभोग की वस्तु करार दे देना, जातक-युग की एक अजीब-सी बात कही जा सकती है जबकि समाज बहुत अधिक ऊपर उठ चुका था। आदिम युग के तरीके पूर्णता-प्राप्तसमाज में कैसे बरते जा सकते हैं, यह रहस्य हमारी समझ में नहीं आता।

जातक-युग में स्त्री को गिरवी भी रख देते थे[३]। जेत-वन में एक भिक्षु को उद्विग्न-चित्त देखकर बुद्धदेव ने कहा[४]—'स्त्री असभ्य होती है, अकृतज्ञ होती है। पूर्व-समय में दानव-राक्षस द्वारा निगलकर अपनी कोख में छिपाने पर भी स्त्री पर निगरानी नहीं रखी जा सकी।'

इसी गाथा में आगे कहा गया है कि राक्षस ने, जो अपनी स्त्री को बक्स में बन्द करके निगल जाता था और कोख में सुरक्षित रखता था; किन्तु वहाँ भी वह स्त्री एक मायावी विद्याधर को अपने साथ रखती थी और अन्त में यह चोरी एक तपस्वी के द्वारा प्रकट हो गई। कहा—

१. अनभिरत जातक—६५
२. महाभारत (आदि०, अध्याय १२२, श्लोक ३-४; ९-१४)
३. जातक—६।५२१; थेरी-गाथा (७२-ऋषिदासी—४४४)
४. समुग्ग जातक—४३६

सुरक्खितं मे ति कथंनु विस्ससे
अनेकचित्तासु न हत्थि रक्खना।
एता हि पाताल-पपात-सन्निभा
एत्थप्पमत्तो व्यसनं निगच्छति॥

'ऐसा समझकर कि मैंने (अपनी स्त्री को) सुरक्षित रखा है, कभी विश्वास न करे। जिनकी बुद्धि बहुत ही चंचल है, जो अनेक चित्तवाली (स्त्री) है, उसकी (अनाचार करवाने से) रक्षा नहीं की जा सकती। यह (पहाड़ से) पाताल में गिरनेवाले झरने के सदृश है (प्रपात का निरंतर पतन ही होता है, वह बराबर नीचे की ओर ही गिरता जाता है। ऊपर उठना उसके लिए असंभव है, गिरना ही उसका गुण-धर्म है)। इनके प्रति प्रमादी होनेवाला दुःखी होता है।' स्त्री-चरित्र के सम्बन्ध में जातक-युग की यही धारणा थी।

एक ऐसी रानी का उल्लेख मिलता है, जिसने ६४ नौकरों के साथ अनुचित-सम्बन्ध किया[१]। दूसरी गाथा में कहा गया है कि 'कठिनाई से सन्तुष्ट की जानेवाली स्त्रियों पर क्रोध करना ऐसा ही है, जैसे कोई धुले हुए कपड़ों पर लगनेवाले मैल पर क्रोध करे या खाये हुए सुअन्न के मल बन जाने पर क्रोध करे कि ऐसा क्यों हो गया।'[२]

जैसे साफ कपड़ों का मैला होना स्वाभाविक है, खाये हुए अन्न का पचकर विष्ठा बन जाना स्वाभाविक है, उसी तरह स्त्री-जाति का अनाचार करना स्वाभाविक है।

जातक-युग में स्त्री-चरित्र के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा थी और स्त्रियाँ समाज का एक गलित अंग-जैसी थीं। यह स्पष्ट है कि स्त्री-जाति अपनी प्रतिष्ठा गँवाकर बहुत ही हीन-स्थिति में पहुँच गई थी। इसका दायित्व भिक्षु-सम्प्रदाय के सीमाहीन फैलाव पर भी है। सिंहल में 'त्रिपिटक' और उसकी अट्ठकथाएँ पाली वाङ्मय में हैं। उसमें 'महावंस' और 'दीपवंस' का अपना स्थान है। उठलू गैगर के मतानुसार "भारत का शायद ही कोई दूसरा प्रदेश ऐसा है, जिसका इतिहास इतना सुरक्षित है जितना 'दीपवंस' और 'महावंस' (नामक दो ग्रन्थों) के रूप में सिंहल का।" इसी महावंस में बुद्धश्रावकों की संस्था की एक प्रामाणिक सूची है। हारीति यक्षिणी और ५०० पुत्रों के साथ पाडक नामक यक्ष ने श्रोतापत्ति फल प्राप्त किया। हिमालय प्रदेश के ८४ हजार 'नाग' (नाग-वंश के), कश्मीर और गन्धार के ८० हजार, महिष्मंडल (खानदेश) के ४० + ४० = अस्सी हजार, वनवास देश (मैसूर) के ६३५ हजार, उपरान्त देश (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश) के केवल ८० हजार क्षत्रिय और इससे भी अधिक स्त्रियाँ, महाराष्ट्र के १३ हजार, यवनों के देश के १० हजार, मज्झिम ऋषि ने हिमालय-प्रदेश में जाकर और दूसरे चार स्थविरों के साथ ५ लाख, स्वर्णभूमि (लोअर बर्मा) के ३,५०० राजकुमारों और १,५०० कुमारियों ने प्रव्रज्या भी ली।[३] यह गिनती

१. बन्धनमोक्ख जातक—१२०

२. धम्मद्ध जातक—२२०

३. महावंस (नाना देश प्रचार); परिच्छेद १२; श्लोक १८ से ५४ तक द्रष्टव्य।

कुछ कम नहीं है। लगभग १२ लाख भिक्षु द्वितीय धर्म-संगीति में जमा हुए थे, जो बुद्ध-महानिर्वाण के १०० साल बाद हुई थी। इस बाढ़ को स्त्री-जाति रोक सकती थी, किन्तु उसे तो कहीं का रहने नहीं दिया गया था। बाँध तोड़ दिया गया था और जीवन तथा गृहस्थी के विरोध में जेहाद बोल दिया गया था। सचमुच भारत में एक अजीब स्थिति पैदा हो गई थी। जातक-युग में गृहत्यागी भिक्षुओं के लिए स्त्री की छाया अग्राह्य थी[१]। किन्तु भिक्षुओं को स्त्री-मोह से मुक्त कराने के लिए स्त्रियों के विरोध में में जो कुछ कहा जाता था, उसका भयानक असर गृहस्थ-समाज के मस्तिष्क पर भी पड़ता था। स्वयं स्त्रियों में भी हीनभावना का उदय हो जाना कोई बड़ी बात न थी। रात-दिन अपनी निन्दा सुनते-सुनते कोई भी हीन भावना का शिकार बन सकता है, और जबकि निन्दा करनेवाला कोई और नहीं, बुद्धदेव-जैसा देवतात्मा युग-पुरुष हो।

एक स्त्री की[२] गाथा है, जिसकी जान उसके पति ने बचाई थी और पत्नी के साथ भागकर वन में रहना उसने कुशल समझा था। हाथ-पैर-नाक-कान कटा एक चोर, जिसे किसी ने बोरे में बन्द करके गंगा में डाल दिया था, रोता-चिल्लाता बह रहा था। उस स्त्री के पति ने उस चोर का उद्धार किया और सेवा करके उसके जख्मों को आराम कर दिया। उसकी स्त्री उस चोर पर मुग्ध होकर अनाचार में फँस गई। बात यहीं तक नहीं रुकी। उस स्त्री ने सोचा कि यदि उसका पति मार डाला जाय, तो वह उस लुंज चोर के साथ आराम से रहे। उस स्त्री ने एक दिन पूजा के बहाने पहाड़ पर अपने पति के साथ जाकर ऊपर से उसे धकेल दिया। भाग्य से वह बेचारा किसी झाड़ी में उलझकर बच गया, मरा नहीं। यह स्त्री-जाति की भयानक अनाचार-प्रवृत्ति का एक ततोधिक भयानक वर्णन है। गाथा का अन्त इस प्रकार होता है; स्त्री का पति कहता है—

अयमेव सा अहमपि सो अनञ्ञो
अयमेव सो हत्थच्छिन्नो अनञ्ञो।
यमाह कोमारपती ममन्ति
वज्झित्थियो नत्थि इत्थीसु सच्चं॥
इमञ्च जम्मं मुसलेन हन्त्वा
लुद्दं छवं परदारूपसेविं।
इम्मिसा च नं पापपतिब्बताय
जीवन्तिया छिन्दथ कण्णनासं॥

'यही वह (स्त्री) है, मैं भी वही हूँ, यह हाथ-पैर कटा भी वही है—दूसरा नहीं, जिसे यह (मेरी स्त्री) 'कोमारपति' कहती है! स्त्रियाँ वध करने योग्य हैं। उनमें सत्य नहीं होता।

इस नीच, लोभी, मृत-सदृश, पराई स्त्री का सेवन करनेवाले को मूसल से

१. महापरिनिब्बानसुत्त—१९०
२. चुल्लपदुम जातक—१९३

(कूटकर) मार डालो और इस पाप-पति का सेवन करनेवाली के जीते-जी नाक-कान काट लो।'

किसी राजा के रनवास को एक अमात्य ने दूषित कर दिया[1]। राजा को इसका पता चला तो उसने दूसरे पण्डित अमात्य से पूछा—'पर्वत की गोद में एक सुरम्य तालाब है। सिंह ने पानी पीने के लिए उसे सुरक्षित रखा है—यह जानते हुए गीदड़ ने उस तालाब में मुँह कैसे डाल दिया?' पण्डित अमात्य को सारी कथा मालूम थी। वह बोला—

पिवन्ति वे महराज, सापदानि महानदिं।
न तेन अनदी होति समस्सु यदि ते पिया॥

'महाराज, महानदी में सभी प्राणी जल पीते हैं, उससे नदी अनदी नहीं होती है। यदि वह आपकी प्रिया है, तो क्षमा करें।'

अंगुत्तर-निकाय (तिकनिपात) में एक गाथा है। बुद्धदेव ने कहा है—स्त्रियाँ तीन चीजों से अतृप्त ही मर जाती हैं—मैथुन, बच्चे पैदा करना और बनाव-शृंगार।

एक राजा अपनी लड़की को रात-दिन अपने पहरे में रखता था, फिर भी वह अपने ममेरे भाई के साथ चकमा देकर भाग गई। राजा का पहरा बेकार गया। राजा क्या करता, लाचार अपने भांजे को बुलाकर उसने अपनी लड़की का विधिवत् ब्याह करा दिया[2]। राजा कहता है—

यं एता उपसेवन्ति छन्दसा वा धनेन वा।
जातवेदो व संठानं, खिप्पं अनुदहन्ति नं॥

'जिस पुरुष से भी (स्त्रियाँ) संग करती हैं, चाहे राग से, चाहे धन से, उसे आग की तरह शीघ्र ही जला डालती हैं।'

स्त्री-जाति का एक-से-एक जघन्य चित्र हम जातक-युग में देखते हैं। स्त्री-चरित्र की बुराई यहाँ तक दिखलाई गई है कि एक सौतेली माँ अपने सौतेले पुत्र के साथ अनाचार करने के लिए व्यग्र हो गई[3]। दूसरी गाथा इस प्रकार है[4]—'एक वृद्ध आचार्य की माता थी—अतिवृद्धा और अन्धी। आचार्य के एक विद्यार्थी पर वह अन्धी मुग्ध हो गई, जो वृद्धा के पैर दबाया करता था। उसने अपने एकमात्र पुत्र का केवल इसीलिए वध कर देना चाहा ताकि निश्चिन्ततापूर्वक वह उस नौजवान विद्यार्थी के साथ (पत्नी की तरह) रह सके।

आचार्य ने ही अपने उस विद्यार्थी को स्त्री-चरित्र का ज्ञान देने के लिए अपनी अतिवृद्धा और अन्धी माता के पैर दबाने और उसके रूप-रंग की प्रशंसा करने का आदेश दिया था। जातकों में आमतौर से स्त्रियों को असाध्वी कहा गया है और यह भय प्रकट किया गया है कि दीप-शिखा की तरह स्त्रियाँ सबको जला डालती हैं।'

---

१. पब्बनूपत्थर जातक—१९५
२. मुदुपाणी जातक—२६२
३. महापदुम जातक—४७२
४. असातमन्त जातक—६१

असा लोकित्थियो नाम वेला तासं न विज्जति।
सारत्ता च पगब्भा च सिखी सब्बघसो यथा॥
× × ×
तासु यो विस्ससे पोसो सो नरेसु नराधमो॥

'जो मनुष्य स्त्रियों का विश्वास करे, वह नराधम है।'

'वेला तासं न विज्जति' का भावार्थ है—स्त्रियों के काम-विकल होने पर संयम, मर्यादा और सन्तुष्टि की कोई सीमा नहीं रह जाती। यह श्लोक भी 'असातमन्त जातक' का ही है।

स्त्रियों के दुर्गुणों के सम्बन्ध में ढेरों उदाहरण बौद्ध-ग्रन्थों में भरे-पड़े हैं। जातक-युग में स्त्री-जाति का कोई गौरवपूर्ण स्थान न था और न उनका कोई विश्वास ही करता था। हाँ, कहीं-कहीं स्त्री-जाति की प्रशंसा भी कर दी गई है; किन्तु वह अत्यन्त थोड़ी है। यह समझ में नहीं आता कि जातक-युग में स्त्री-जाति का ऐसा हाल कैसे हो गया। हाँ, भिक्षु-धर्म का प्रसार होने के कारण स्त्री-निन्दा की जाती थी; किन्तु निन्दा पराकाष्ठा तक पहुँचा दी गई है। स्त्री-समाज चुप था, उसमें प्रतिवाद करने का बल न था। उसपर भयानक-से-भयानक प्रहार महाबलवान हाथों से हुए। समाज में स्त्री-जाति के विरोध में घोर घृणा पैदा करा दी गई। गरीब स्त्री-जाति अपमान, घृणा, अविश्वास और तिरस्कार के अथाह गर्त में ढकेल दी गई, जो बहुत ही भयावनी स्थिति थी।

जब स्त्रियों के प्रति व्यापक रूप से अविश्वास और असम्मान की भावना फैला दी गई, तब उनका समाज में क्या स्थान रह गया, यह यहाँ बतलाने की आवश्यकता अब नहीं रही। जातक-युग में सबके लिए दया, क्षमा और अपनापन की बात कही और सुनी जाती थी; किन्तु एक अभागी स्त्री-जाति ही ऐसी थी, जिसे अथाह अपमान का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। जातक-काल में आम धारणा थी[1]—

सब्बा नदी वङ्कगता सब्बे कट्ठमया वना।
सब्बित्थियो करे पापं लभमाना निवातके॥

'सभी नदियाँ टेढ़ी हैं, सभी वनों में लकड़ी है, मौका मिल जाने पर सभी स्त्रियाँ पाप-कर्म करती हैं।'

एक पुरोहित की स्त्री सात-सात ड्योढ़ियों के भीतर रहती थी। उसपर कड़ा पहरा था। घर का कूड़ा भी विना देखे बाहर नहीं फेंका जाता था। यह देखा जाता था कि उसमें कोई पुरुष छिपा न हो। फिर भी उसकी स्त्री बाज नहीं आई।

चोरीनं बहुबुद्धीनं यासु सच्चं सुदुल्लभं।
थीनं भावो दुराजानो मच्छस्सेवोदके गतं॥
मुसा तासं यथा सच्चं सच्चं तासं यथा मुसा।
गावो बहुतिणस्सेव ओमसन्ति वरं वरं॥

१. अंडभूत जातक—६२

चोरियो कठिना हेता वाला चपल सक्खरा।
न ता किञ्चि न जानन्ति यं मनुस्सेसु वञ्चनं॥

(स्त्रियाँ) चोर हैं, अतिबुद्धि हैं, जिनमें सत्य का मिलना असंभव है।—जल में गई मछली के (पद-चिह्न की तरह) जिनके भाव (मनोविकार) दुर्ज्ञेय हैं, उनके लिए झूठ सत्य है, सत्य झूठ है। गायें जिस तरह चारा के लिए काफी घास रहने पर भी इधर-उधर मुँह डालती हैं (इस खेत से उस खेत में), उसी तरह (स्त्रियाँ) नये-नये पुरुषों के पास जाती ही रहती हैं। चोर, कठोर या सर्पिणी-जैसी हिंस्र, चपलता में कंकड़-जैसी (जो इधर-से-उधर लुढ़कता-फिरता है) मनुष्यों को धोखा देने की कोई कला ऐसी नहीं, जिसे ये न जानती हों। यह भी 'अंडभूतजातक' में ही है। इससे अधिक अपमान की बात स्त्रियों के विषय में और क्या कही जा सकती है। इन वाक्यों का प्रचार जातक-युग में घर-घर था।

जातक-कथाओं से ऐसा बोध होता है कि 'पर्दा-प्रथा' २५०० या इससे भी अधिक साल की पुरानी है। 'अंडभूतजातक' के पुरोहित का महल ही सख्त पहरे में रहता था। स्त्रियों के चरित्र के सम्बन्ध में जैसा घोर अविश्वास पैदा कराया गया था, उसका भी एक ही परिणाम हो सकता था और वह था कठोर नियंत्रण (पर्दा)। स्वयम् बुद्धदेव ने 'अंडभूतजातक' में कहा है—"स्त्रियाँ सँभाल कर नहीं रखी जा सकतीं।"

तासु को जातु विस्से॥

स्त्रियों के प्रति अविश्वास इतना बढ़ गया था कि प्रतिष्ठित व्यक्ति किसी गर्भवती स्त्री को अपने संरक्षण में रखते थे। यदि उसके गर्भ से कन्या हुई तो उसे बहुत सँभाल कर पालते थे और वयः प्राप्त होने पर उससे ही विवाह करते थे। यह सब इसलिए होता था कि जिस स्त्री को पत्नी-पद दिया जा रहा है, वह 'पूर्ण-पवित्र' मिले।

जातक-युग में न तो पत्नी के लिए पति के मन में कुछ भी प्रेम या सम्मान का स्थान था और न पत्नी के हृदय में पति के लिए।[1] एक स्त्री राजा से कहती है—

उच्छंगे देव, मे पुत्तो, पथे धावन्तिया पति

"पुत्र तो गोद में है, पति रास्ते-रास्ते सुलभ हैं।" पति इतना सुलभ हो गया था और स्त्रियाँ भी पति प्राप्त करना बायें हाथ का खेल मानती थीं। जान पड़ता है कि पति और पत्नी का नाता केवल यौन-मात्र रह गया था, जो अत्यन्त हेय सम्बन्ध है। गृह, परिवार, कुटुंब, समाज और राष्ट्र के विकास में स्त्री-शक्ति का कोई महत्त्वपूर्ण हिस्सा नहीं रह गया था। गृहस्थी और परिवार का संगठन जरूर टूट गया होगा। स्त्री-जाति के प्रति व्यापक अविश्वास पैदा होने का कितना भयानक परिणाम प्रकट हुआ होगा, यह सोचकर रोमांच हो जाता है। माता, बहन, कन्या सबके चरित्र के प्रति अविश्वास। फिर अपने प्रति भी अविश्वास कि हम 'शुद्ध हैं या 'जारज' ! इसके बाद जो पत्नी है, जाया है, गृहिणी और जीवन-सहचरी है, उसके चरित्र के प्रति भी

१. उच्छंग जातक—६७।

घृणा और अविश्वास। जहाँ रहें, वहीं विकल, कि घर में 'अनाचार' हो रहा होगा। रात-दिन एक ही चिन्ता, हृदय को दग्ध करनेवाली एक ही बात! व्यग्र होकर लोग घर छोड़कर भागते होंगे और प्रव्रज्या लेकर 'आत्मोद्धार' में लग जाते होंगे। जो घर-गृहस्थी में लगे रहे, उनकी मनोदशा कैसी रही होगी, यह हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सभी ने यह विना तर्क और प्रमाण के मान लिया था कि स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती ही हैं।

बुद्धदेव ने सात प्रकार की भार्या मानी है[1]—वधक-भार्या, चोर-भार्या, आर्य्या-भार्या, माता भार्या, भगिनी-भार्या, सखी-भार्या और दासी-भार्या—ये सात हैं। इनमें पहली है वधक-भार्या। कहा है—

पदुट्ठचित्ता अहितानुकम्पिनी
अञ्ञेसुरत्ता अतिमञ्ञते पतिं।
धनेन कीतस्स वधाय उस्सुका
या एवरूपा पुरिसस्स भरिया
वधका च भरिया ति च सा पवुच्चति॥

जो दुष्ट चित्तवाली, अहित करनेवाली, दया-रहित, दूसरों को चाहनेवाली और अपने पति का तिरस्कार करनेवाली, जो धन से खरीदे गये हैं (दासियों और दासों) उनको मारने के लिए उत्सुक रहनेवाली है, उसे **वधक-भार्या** कहते हैं।

इसके बाद—चोर-भार्या है। जो पति का धन चुरा लेती है, वह **चोर-भार्या** है।

आलसी, अधिक खानेवाली, क्रूर स्वभाव की और कटुभाषिणी **आर्य्या-भार्या** है।

सदा दया रखनेवाली, माता की तरह पति की रक्षा करनेवाली, पति की कमाई की रक्षा करनेवाली **माता-भार्या** है। गौरवशीला, लज्जाशीला, पति के वश में रहनेवाली भार्या **भगिनी-भार्या** कही जाती है।

मार और दंड सहनेवाली, क्रोध को पी जानेवाली और शान्त स्वभाववाली को **दासी भार्या** कहा जाता है।

सखी भार्या वह है, जो कुल-शीलवाली, पतिव्रता हो और पति को देखते ही इस प्रकार प्रसन्न हो, जैसे बहुत दिनों का बिछुड़ा कोई सखा मिला हो।

दुर्भाग्यवश जातक-युग में वधक, चोर और आर्य्या हम घर-घर देखते हैं। शायद ही कहीं-कहीं माता, भगिनी, साथी और दासी (भार्या) नजर आती है। शायद प्रथम तीन प्रकार की पत्नियों का ही अधिक वर्णन किया गया है। स्त्री-जाति के विरुद्ध मन में वितृष्णा पैदा कराने के लिए ही ऐसा किया गया हो। 'थेरी-गाथा' से यह स्पष्ट होता है कि ऐसी भी स्त्रियाँ थीं, जिनका चरित्र बहुत ही उज्ज्वल और प्रकाशमान था। वे भिक्षुणियाँ थीं, जिन्होंने योग का त्याग करके आत्मोद्धार का रास्ता पकड़ा था। उनकी स्थिति ही बदल गई थी। वे साधारण स्त्रियों की श्रेणी में

१. सुजाता जातक—२६९।

नहीं आतीं। यही कारण है कि हमने 'थेरी-गाथा' की देवियों का यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया। हम सामान्य स्त्रियों के सम्बन्ध में ही लिख रहे हैं।

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि जातक-युग में स्त्रियों का स्थान वैदिक युग की स्त्रियों से बहुत ही निम्न था और समाज में उनका न तो विश्वास था और न आदर। बिना स्त्रियों का भी यदि प्रजा-रक्षा के कोई उपाय निकल जाता तो जातक-युग स्त्री-जाति को जड़ से ही समाप्त कर डालता। पुरुष के लिए स्त्री अनिवार्य है और इसी अनिवार्यता ने स्त्री-जाति को बचा रखा।

परिवार का गठन आदि

अब हम वैदिक युग का थोड़ा-सा आभास देते हैं। आदि युग का वर्णन करते हुए भीष्म[1] ने कहा है—

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।

'वे (आदि युग के लोग) कुल और जाति में समान थे। यह समानता विभिन्न परिस्थितियों की रगड़ में पड़कर 'वर्णों' में बदल गई। विकास की किसी विशेष अवस्था में वर्णों का उदय हुआ। आर्यों के समाज को अग्नि के आविष्कार और पशु-धन की वृद्धि में कुछ समय लगा होगा। विनिमय के विकास, श्रम-विभाजन, वर्णों की रचना, सामाजिक गठन आदि परिवर्त्तन, एक के बाद दूसरे सामने आये। सामाजिक संगठनों के अन्य परिवर्त्तनों तक पहुँचने में काफी विलम्ब नहीं हुआ होगा। तेजी से परिवर्त्तन-चक्र घूमा होगा, ऐसा अनुमान होता है। आदिम साम्य-संघ भी बहुत तेजी से बदला, बदलता गया, नये साँचे में ढलता गया।

गण-संगठन (कुलत्व) अथवा जन-संगठन में भेद नहीं है। 'जन' धातु का अर्थ उत्पन्न होना है। आर्थिक तथा यौन-सम्बन्धी दोनों संगठनों को व्यक्त करने के लिए यह एक ही धातु है।

"आर्यों[2] के प्राचीन संगठन का आधार कौटुम्बिक सम्बन्ध था, इसी संगठन के परिवर्त्तित आधार पर सब राष्ट्रों का जन्म हुआ।"

माता-पिता और सन्तान से परिवार बनता है। माता का अर्थ होता है—जीवन दान देनेवाली और गृह-प्रबन्ध करनेवाली। पिता का अर्थ है—रक्षा करना, पालन-पोषण और संरक्षण करना। दुहिता का अर्थ है—घर के पशु का दूध दूहनेवाली। इसी तरह पुत्र का अर्थ है—अपने पूर्वजों की सद्गति का प्रयत्न करना। इस प्रकार परिवार में माता, पिता, दुहिता और पुत्र का विशेष महत्त्व है[3]।

इस परिवार के लिए गृह की आवश्यकता होती है, अतः गृह का निर्माण भी हुआ। 'गृहपति' शब्द का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों के लिए होता था।

१. महाभारत, शान्ति०, अ० १०७, श्लो० ३०।

२. विशेष जानकारी के लिए एंगेल्स का "परिवार की उत्पत्ति" पढ़ें।

३. डाँगे—'भारत', अ० ५।

आर्य रक्त-सम्बन्ध स्थापित करके, स्त्री, सन्तान आदि के साथ ग्राम बसाकर रहें। 'ग्राम' शब्द का अर्थ ही होता है—गृह-समूह। मार्क्स ने कहा है–निवासियों की संख्या और उसकी सघनता समाज में श्रम-विभाजन की आवश्यक शर्तें हैं[१]।

अन्य शिल्पों की तरह हमारे देश में वास्तु-शिल्प भी अत्यन्त प्राचीन है। 'भारत के प्राचीनकाल में प्रायः लकड़ी और मिट्टी के मकान थे[२]।' महाभारत-युग तक मिट्टी के ही मकानों का वर्णन मिलता है। पाण्डवों के लिए जो लाक्षा-गृह बनाया गया था, वह भी मिट्टी का ही बना हुआ था। उसकी दीवारों में भड़क उठनेवाले दाहक पदार्थ भर दिये गये थे[३]। आर्य ईंटें पकाना भी जानते थे। 'अग्नि इस्टक' शब्द का प्रयोग बार-बार वैदिक साहित्य में मिलता है। वे सरल जीवन व्यतीत करने के अभ्यासी थे, अतः ईंट-पत्थरों में अधिक दिमाग नहीं खपाते थे। आर्यों ने दिखाऊ सभ्यता से अधिक ठोस संस्कृति की ओर ही ध्यान दिया था। इन मंत्रों[४] को देखिए—

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वति॥

× × × ×

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये॥

तृणों से छाई हुई और तोरण-बन्दनवारों से अलंकृत हे शाला! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देनेवाली है और लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी-सी जमीन में खड़ी है। जो शाला दो छप्परोंवाली, चार छप्परोंवाली, छः छप्परोंवाली और आठ छप्परोंवाली बनाई जाती है, उस प्रतिष्ठा बचानेवाली शाला (घर) में जठराग्नि तथा गर्भ के समान निवास करता हूँ।

माता के गर्भ से घर की उपमा देनेवाली आर्य-जाति का घर सुख-शान्ति से भरा हुआ था, किन्तु वह था–तृणों से छाया हुआ। ऐसी शालाओं के वर्णन में एक ऋचा है–

[५]उर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥

हे शाला! उपजाऊ और पानीवाली भूमि पर छोटी-सी निर्वाह योग्य बनाई गई तू अपने ग्रहणकर्त्ता (निवासी) को मत मारना।

ऊसर और विना पानीवाली भूमि पर आर्य घर नहीं बनाते हैं। ऊसर जमीन पर बनाया हुआ घर शुभ फल देनेवाला नहीं होता; क्योंकि वह धरती वंध्या या मृत

१. कैपिटल, भा० १, पृ० ३४५ डोना-टोर द्वारा सम्पादित।
२. महाभारत-मीमांसा (चिन्तामणि विनायक वैद्य), पृ० ३७५।
३. तत्रैव।
४. अथर्व, (क्रमशः) ९।३।१७ और ९।३।२१
५. अथर्व, ९।३।१६।

होती है। उसमें जीवनी शक्ति का अभाव होता है। आर्य अपना घर सोच-समझकर ही बनाते थे। अब देखिए घर के भीतर की शोभा[1]—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखल सुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥१॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलू० ॥२॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलू० ॥३॥
यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव। उलू० ॥४॥
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिति दुन्दुभिः ॥

"जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे-ऊपर चलता है, जहाँ दो जंघाओं के बीच में सिलबट्टा चलता है, जहाँ की स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना-पकाना जानती हैं, जहाँ मथानी की रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर-घर में ऊखल और मूसल चलता है, वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय की दुन्दुभी।" इस वैदिक युग के घर में अन्न, दूध, घी, मक्खन, तक्र सब कुछ है और गृहदेवियाँ अन्नपूर्णा बनकर घर की श्री-सम्पन्नता की वृद्धि कर रही हैं—न चिन्ता है और न कशमकश ! अब गृहलक्ष्मी से वैदिक युग का गृहपति कहता है[2]—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥

"हे स्त्री, तू दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धाराओं से पीनेवालों (अतिथियों) को तृप्त कर और वापी, कूप, तड़ाग तथा दान आदि की सब प्रकार से रक्षा कर !"

यह मंत्र घर की देवियों को पूर्ण अधिकार देता है—वापी, कूप, तड़ाग तथा दान आदि की रक्षा करने का भार देवियों पर था। वापी, कूप, तड़ाग लाभ और सेवा के लिए हैं और दान-परम्परा की रक्षा भी होनी ही चाहिए, जिससे उस परिवार में जो शुभ कर्म होते आये हैं, वे जारी रहें। इनके नष्ट हो जाने से तथा दानादि शुभ कर्मों के बन्द हो जाने से उस परिवार का यश नष्ट हो जायगा, निन्दा भी होगी। लोग यही समझेंगे कि या तो यह परिवार असमर्थ हो गया या वंश-गौरव का इसने हनन कर दिया ! ब्याह के बाद कन्या जिस घर की स्वामिनी बनकर जाय, उस घर की कुल-मर्यादा, कुल-परम्परा आदि की रक्षा करने का भार ही उसपर नहीं है; बल्कि यश और गुणों की वृद्धि करते रहना भी उसका परम धर्म है। आर्य जिस 'राष्ट्र' को अस्तित्व में लाये थे, उसमें आर्य-ललनाओं का महत्त्वपूर्ण योग था। वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का श्रेष्ठ महत्त्व है। ऋषियों का वचन है कि किसी का विरोध मत करो और पुत्र-पौत्रादि के साथ हँसते-खेलते हुए गृहस्थाश्रम में रहो[3]—घर को आदर्श बनाओ।

---

१. ऋग्वेद, १।२८।१-५।
२. अथर्व, ३।१२।८
३. ऋग्वेद, १०।८५।४२

निश्चय ही वैदिक युग का घर डरावना और दुःखों का जंजाल न था। घर से छलांग मारकर वन की ओर दौड़ लगानेवालों का भी प्रायः अभाव ही था। परिवार, कुटुम्ब और समाज का गठन—गुणों के आधार पर—बहुत ही दृढ़ था।

पत्नी और पति—दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करते थे कि संसार की समस्त शक्तियाँ हम दोनों को जानें और हम दोनों का हृदय जल के समान शान्त—शीतल—हो, हम दोनों की प्राण-शक्ति, धारणा-शक्ति और उपदेश-शक्ति परस्पर कल्याणकारी हो।

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ[१]॥

वैदिक समाज में अतिथियों का आदर होता था। दान का भी कुछ कम महत्त्व न था। कहा है—"विद्वान् और व्रतधारी अतिथि राजा के यहाँ आवे, तो राजा के लिए उचित है कि उस अतिथि को अपने से अधिक श्रेष्ठ माने। इससे न तो क्षत्रिय-कुल में राजा दोषी होता है और न राष्ट्र।

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत तथा क्षत्राय न वृश्चते तथा
राष्ट्राय न वृश्चते॥[२]

जिस घर में व्रतशील और विद्वान् अतिथि आ जाय उस घर का गृहपति या गृहस्वामिनी उठकर उनका आदर करे और कहे—'आप कहाँ से पधारे हैं। स्वागत है। यह जल है और कहिए आपकी क्या सेवा की जाय?'

यद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं
व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा
ते वशस्तथास्तु
व्रात्य यथा ते निकामस्तथा स्त्विति॥

गरीबों और भूखों को बिना खिलाये खुद खा लेनेवाले गृहस्थ को शाप दिया गया है[३]—तुम्हें सुख देनेवाला मित्र नहीं मिलेगा। वही भोजन पवित्र भोजन है, जो दुर्बल याचक की सेवा करने के बाद बच जाता है। दान करनेवालों के पास अन्न की कमी नहीं होती और कुअवसर पर सच्चे सहायक मित्र मिल जाते हैं। वैदिक युग के ऋषियों का यह वचन धरती पर स्वर्ग उतारने की क्षमता रखता है। सबके लिए सबके हृदय में ममता हो, तो फिर स्वर्ग में क्या धरा है!

वैदिक युग के पति-पत्नी शुभ कार्यों में एक साथ लगते थे। एक मन-प्राण होकर पत्नी और पति का भले कामों में योग देने की परिपाटी वैदिक युग में थी। कहा

---

१. ऋग्वेद, १०।८५।४७

२. अथर्ववेद, का० १५।१०-११

३. ऋग्वेद, १०।११७

है कि जो दम्पती एक साथ शुभ कार्यों में लग जाते हैं और नित्य प्रार्थना करते हैं, वे देवता हैं, देवतावत् पवित्र और आदरणीय हैं। ऐसे दम्पती के लिए कहा गया है—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः
देवासो नित्ययाशिरा[1]।
स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ॥
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः[2] ॥

"हे दम्पती, तुम दोनों सुखदायक घर में सुख से रहो—जागते हुए, हँसी-खुशी के साथ, प्रेम से आनन्द मनाते हुए सुन्दर सुपुत्रों और सुन्दर गृहस्थीवाले होकर प्रकाश-युक्त बहुत-से प्रातःकालों को देखो—बहुत दिनों तक जीवित रहो।"

परिवार में स्त्री और पुरुष (दम्पती) ही तो नहीं रहते; बच्चे, भाई, माता, पिता, बहन सभी होते हैं। सबको मिलाकर परिवार बनता है। सबके साथ मधुर और शान्त व्यवहार होना चाहिए[3]। मन और वाणी दोनों मधुर हों, व्रत और मर्यादा का पालन करते हुए आपस में प्रेम-भरा भद्र व्यवहार करें, तब न गृहस्थी सुखदायक रहेगी[4]।

वैदिक युग के परिवार में माता का सबसे ऊँचा स्थान था। युवती माता पुत्र को अपने गर्भ में धारण करती है (स्वयम् कष्ट सहकर शिशु का पालन-पोषण करती है)। अपने तुल्य पिता पर यह भार नहीं डालती, न उसके बल को क्षीण होने देती है।

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ[5] ॥

वैदिक युग का गृहस्थ प्रार्थना करता था[6]—हे सौम्य पिता, पितामह, प्रपितामह, मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ। मुझे समस्त देवगण पवित्र करें। मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करे, समस्त पंचभूत और अग्नि मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः।
पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा।
पुनन्तु मा पितामहा पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥३७॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥३९॥

---

१. ऋग्वेद, ८।३१।५
२. अथर्व, १४।२।४३
३. पैप्पलाद-संहिता ३।२६ (३ से ६ तक द्रष्टव्य)
४. अथर्व, ३।३०।
५. ऋग्वेद, ५।२।१
६. यजुर्वेद, १९।

माता, पिता, जातिवाले, नौकर, दास आदि पशुओं के लिए प्रार्थना करते थे[1]—"सब सुखी रहें। आत्मीय जन, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, पत्नी, पितामही, माता और स्नेही उन सबको वैदिक युग का गृहस्थ आदरपूर्वक (एक साथ सुख से रहने के लिए) बुलाता था। वह मिल-जुलकर सुख भोगने के लिए तत्पर नजर आता है, अकेले नहीं।"

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्वपतिः।
ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयममितो जनः ॥ऋ०॥
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥अ०॥

इसके बाद मित्रों का स्मरण किया जाता है। कहा गया है[2]—"मित्र के साथ और यश से सभी आनन्दित होते हैं। मित्र धन देकर समाज की बुराइयों को मिटाता है और सबका हितकारी होता है। इसके अतिरिक्त घर, गुरुजन, पत्नी, बाल-बच्चे, अतिथि और मित्र के साथ ही सर्वप्रियता की भी आवश्यकता है। यदि अपने ही लोगों में चिपके रह गये तो जीवन संकीर्णता-दोष से भर जायगा और उसकी सुन्दरता तथा उपयोगिता भी नष्ट हो जायगी।" वैदिक समाज का गृहस्थ प्रार्थना करता है—

प्रियं मा कृणु देवेसु प्रियं राजासु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥[3]

"मुझे ब्राह्मणों, क्षत्रियों (या देवता और राजा), वैश्यों और शूद्रों में प्रिय बनाइए।"

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजासु नस्कृधि।
उचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेति रुचा रुचम्[4] ॥

"ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में मेरी रुचि हो तथा (ऐसी) रुचि में मेरी रुचि।"

वैदिक युग का गृहस्थ स्वयम् सुख-शान्ति का त्याग करता है। स्वजन, पुरजन, मित्र और पूरे राष्ट्र की सुख-शान्ति में अपना योग देता है। जो उसके पूर्वज मर गये हैं, उनके लिए भी घी, दूध, अन्न और मधुर फलों की भेंट चढ़ाता है[5]। अग्नि, देवता, गुरु सबकी तृप्ति के लिए वह प्रयत्नशील है और सबकी तृप्ति में ही अपनी तृप्ति पाता है। उसका परिवार विश्वव्यापी है। धरती से स्वर्ग तक, उसके कर्तव्य का क्षितिज अनन्त है, जितना विस्तृत आकाश है, उतना ही बड़ा।

वेद-कालीन परिवार का यदि गहरा अध्ययन किया जाय तो आत्मगौरव का बोध होता है, हृदय उत्साह से भर जाता है। वैदिक समाज इतना भरा-पूरा और सौम्य

१. ऋग्वेद, ७।५५।५ और अथर्व ९।५।३०
२. ऋग्वेद, १०।७१।१० और १०।११७।४
३. अथर्व, १९।६२।१
४. यजु०, १८।४८
५. यजु० २।३४, १९।४५, १८।६४; अथर्व० १९।५५।६

नजर आता है कि आज के युग में रहते हुए विश्वास नहीं होता कि वैसा समाज भी हो सकता, है जिसका वर्णन वैदिक वाङ्मय में है। उस युग में श्रम-गौरव था, श्रम करनेवाला हीन नहीं माना जाता था तथा ऐसा जान पड़ता था कि एक सूत्र में वेद-काल के सभी समाज मनकों की तरह पिरोये हुए हों। कहीं 'दरार' या छेद नजर नहीं आता। समाज सब ओर से गटा हुआ था। तुलनात्मक दृष्टि से देखने के लिए ही हमने वेदकालीन परिवार या गृहस्थी का आभास यहाँ उपस्थित किया है।

जातक-युग में भी बस्तियों की बनावट वैदिक युग की बस्तियों-जैसी थी। छप्परों से ढकी हुई कच्ची दीवारें होती थीं। एक, दो, चार या जितना बड़ा घर हुआ, उतने ही छप्पर होते थे। गृह-कुलों के समुदाय की संज्ञा ग्राम थी। जातक-कथाओं से पता चलता है कि एक गाँव में ३० से १००० कुल तक होते थे। गाँव के घर अलग-अलग होते थे[१]। गाँव के चारों ओर दीवारें होती थीं या लट्ठों का घेरा—एक ओर ग्राम होता था[२]। इसके बाद कृषि-भूमि या ग्राम-क्षेत्र तो होता ही था। जंगली जानवरों और पंछियों से रक्षा का भी प्रबन्ध था[३]। जंगलों को साफ करके खेती योग्य नई भूमि बढ़ाने का भी प्रबन्ध था[४]। गाँवों के लोग सुखी थे। पशुधन की भी कमी न थी। कला की भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी। १८ प्रकार के शिल्पों का उल्लेख जातकों में मिलता है। वड्ढकि, कर्मार, चर्मकार, चित्रकार आदि शिल्पज्ञों के नाम भी हैं[५]। लोहार[६], रथ बनानेवाले, रँदनेवाले (तच्छक) और खरादी (भ्रमकार) भी थे[७]। **"दारुं नमन्ति तच्छका"** ऐसा उल्लेख मिलता है। स्फटिक, हाथी-दाँत का काम आदि का भी उल्लेख मिलता है[८]। विशेष शिल्पों में लगे हुए लोगों के लिए अलग-अलग गाँव थे[९]।

शिल्प जब उन्नति कर गया तो व्यवसाय भी बढ़ा। लोग अपनी चीजों की बिक्री करने यहाँ से वहाँ जाने लगे। जातक-युग के उद्योग-व्यापार के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए राइज डेविड्स—'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'—(पृ० १९८); कनकसभाई पिल्ले—'तामिल्स एट्टीन हण्ड्रेड इयर्स एगो' और डॉ० राधा-कुमुद मुकुर्जी—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन शिपिङ्ग एण्ड मैरीटाइम ऐक्टिविटी' देखना आवश्यक है। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से पता चलता है कि जातक-युग में उद्योग-व्यापार निखार पर था। उद्योग की वृद्धि के कारण नगरों का भी विकास हो गया था।

१. मिलिन्दपन्ह, ४७
२. जातक, १।२३९ ; २।७३। १३५ और ३।९; सूत्र-कृतांग—२।२ (१३)
३. जातक, १।२१, ५ ; १।१४३।१५४ ; २।११० ; ४।२७७
४. जातक, २।३५७
५. जातक, १। २६७, ३।१४ ; ४।४११ ; ६।२२
६. जातक, ४।२०७
७. जातक, १।२०१ ; ४।३०३ ; मिलिन्द०, ३३०, ३४५; मज्झिम०, १।५६, ३९६ ; ३ । १४४ ; धम्मपदगाथा ८०
८. जातक, १।४७९
९. जातक, ३।३७६ ; ३।२८१ ; ६।७१; थेरीगाथा अट्ठकथा, २२० आदि-आदि।

बुद्ध-निर्वाण के समय छः बड़े नगरों का उल्लेख है[१], जिनमें सावत्थी, चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी और काशी प्रसिद्ध थे। नगरों का जीवन निश्चय ही राग-रंग से ओत-प्रोत था[२]। वेश्याओं का नाच भी होता था[३]। रंगीन तबीयत के नवयुवक वनों में जाकर नर्त्तकियों के साथ आनन्द भी मनाते थे[४]।

शहर का जीवन जब आनन्द-विलास से भर गया तब शहर के रहनेवाले देहाती जीवन से घृणा करने लगे[५]। कथा इस प्रकार है कि एक दास नगर छोड़कर गाँव की ओर बसने गया। उसने कहा—"देहाती बड़े गँवार होते हैं, न इनका भोजन अच्छा है और न ये करीने से कपड़े पहनना ही जानते हैं। फूल-माला आदि सुगन्ध की भी इन्हें कोई तमीज नहीं है।" यह वर्णन बतलाता है कि व्यवसाय-वाणिज्य के विकास ने नगरों को अस्तित्व दिया, वहाँ ऐश-मौज की जिन्दगी पैदा हुई और उस समय भी गाँवों तथा शहरों के बीच में एक गहरी खाई पैदा हो गई थी। ज्ञात होता है कि वैदिक युग के जो सुन्दर गाँव थे, वे जातक-काल में नहीं रहे और न वहाँ के निवासी ही वैसे खुशहाल रह गये थे। नगरों ने गाँवों की आत्मा का शोषण करना आरम्भ कर दिया था। आराम-आनन्द में मानव फँसता जा रहा था[६]। आज की तरह ही परिवार का गठन भी ढीला पड़ गया था। पूँजीवाद ज्यों-ज्यों अपने को दृढ़ करता है, मानव के उत्तम गुणों का उसी अनुपात में ह्रास होता जाता है[७]। जातकयुग में धन की महत्ता बढ़ गई थी और मानवता का मूल्य गिर गया था। फिर वैदिक युगवाले परिवार का कहाँ पता चल सकता था। नाते-रिश्ते तो थे, किन्तु वैदिककालीन अपनापन न था, आत्मीयता न थी, स्नेह न था। नोच-खसोट और थाती हड़पने की घटनाएँ भी होती ही रहती थीं[८]; क्योंकि धन का महत्त्व बढ़ गया था और मानवता के आधार पर जो सम्बन्ध कायम था, वह क्षतिग्रस्त हो चुका था। 'सोने की बर्षा' करने की ओर जातक-युग के लोगों का अधिक ध्यान था[९]। धन का महत्त्व और धन-संग्रह करने की

---

१. डेविड्स, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' १, पृ० २०१

२. बुद्धघोस–'धम्मपद टीका', १।१६३

३. ,, ,, ,, १७।१

४. ,, ,, ,, ५।७

५. जातक, १।४५२

५. शहरों में सुन्दर घर और आराम के सामान भी थे—सोफा (आसन्दी), कुर्सियाँ, दरी, कम्बल, तकिये, फर्श, मशहरी, रूमाल, उगालदान सब-कुछ—चुल्लवग्ग—६।४।८, ६।३।७, ६।४।१०, ६।३।१०, ६।३।८, ६।२।२, ६।१३।२, ६।१४।१ आदि; विनय—३।१०५—११०, २९७; महावग्ग, ५।१०। २—३, ८।१८ आदि-आदि।

७. सच्चंकिर जातक, ७३—एक सेठ ४० करोड़ की सम्पत्ति मिट्टी में दबाकर मर गया था।

८. सेरिवाणिज जातक, ३; पुण्णपाति जातक, ५३; भेरिवाद जातक, ५९; खरस्सा जातक, ७९; कुहक जातक, ८९; सिगाल जातक, ११३; असम्पदान जातक, १३१; कूट वाणिज जातक, २१८; खुरप्प जातक, २६५; मच्छुदान जातक, २८८।

९. वेदब्भ जातक, ४८।

आकांक्षा इतनी बढ़ गई थी कि लोग एक-दूसरे से अलग हो गये थे[1] —धनाकांक्षियों में आत्मीयता नहीं होती। अस्सी करोड़, बत्तीस करोड़ की सम्पत्तिवालों की चर्चा बार-बार जातकों में आई है।

हम जातक-युग के धन-वैभव का वर्णन इसीलिए कर रहे हैं कि इस बढ़े हुए धन-वैभव ने जातक-युग के परिवार की सारी सुन्दरता को नष्ट कर दिया था। 'सुत्तनिपात' के 'धनिय गोप' के वर्णन को बाद दे देने पर हम कहीं भी सन्तुष्ट परिवार का हरा-भरा चित्र जातक-कथाओं में नहीं पाते। लोभी, लालची, डाकू, परस्व-हरण करनेवाले ही जातक-युग में अधिक नजर आते हैं। गाँवों का महत्त्व नष्ट हो जाना, शहरों का उदय, व्यापार-उद्योग के साथ ही निजी सम्पत्ति का विकास—इन सारी बातों पर विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि जातक-युग की अवस्था आर्थिक दृष्टि से भले ही उत्तम हो; किन्तु जिस सुख-शान्ति का लुभावना वर्णन हमें वैदिक साहित्य में, वैदिक युग के परिवार या समाज का, मिलता है, उसका जातक-युग में पूर्णतः अभाव था।

ग्राम-लक्ष्मी 'जन-पद-कल्याणी' बन चुकी थी और जनता धन का दास बनकर, घर के स्वर्ग को जड़ से मिटाकर, मरने के बाद प्राप्त होनेवाले ऐसे स्वर्ग की चिन्ता करने लग गई थी, जिसका 'आँखों देखा वर्णन' आज तक किसी ने भी नहीं किया। वह स्वर्ग केवल कल्पना पर आधारित रहा है; किन्तु घर के भीतर का वह स्वर्ग जो जीवन में 'सत्य, शिव और सुन्दर' की विभा फैला देता है, जातक-युग में समाप्त हो चुका था। घर के भीतरवाले स्वर्ग का, व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की प्रवृत्ति ने गला घोंटा। उस युग के उपदेशकों ने भी ऐसी घृणा फैलाई कि 'घर के भीतरवाला स्वर्ग' मिट्टी में मिल गया। हम बुद्धदेव के उपदेशों को दोष नहीं देते; किन्तु यह कहने को बाध्य हैं कि टूटकर गिरनेवाले परिवार को सँभाला नहीं गया; बल्कि उसे और भी बिखेर दिया गया। मुक्ति-पथ के अधिकांश पथिक न घर के रहे, और न घाट के। उनका घर भी नष्ट हो गया और मुक्ति भी उनसे दूर ही रही।

हमने कहा है कि धन के बढ़ते हुए महत्त्व के खिलाफ भी, जातक-युग में त्याग और तपस्या का नारा बुलन्द करके विद्रोह किया गया था। सुख-भोग में फँसा हुआ मानव अपने दिव्य गुणों से बहुत पीछे हट गया था और उसकी स्थिति बर्बरता-प्रधान हो चुकी थी। त्याग और तपस्या की भावना फैलाकर मानव को गिरने से रोका गया और धन के राक्षसी प्रभाव से उसकी रक्षा की गई। अच्छा होता, यदि समाज का पुनर्गठन मानवता के आधार पर किया जाता—परिवार का स्तर ऊँचा होता और समाज भी दृढ़ होता।

वाणिज्य-व्यवसाय

अब हम वाणिज्य-व्यवसाय पर ध्यान दें और पहले वैदिक युग को अपने

१. दरीमुख जातक, ३७८

सामने रखें। वैदिक युग में कृषि-कर्म को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। ऋषि उपदेश देते थे कि खेती करने का अभ्यास करो[१]।

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व।

अश्विन ने हल के द्वारा खेती करने की क्रिया का आविष्कार किया था[२]।

'दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः॥'
'यवं वृकेणाश्विन वपन्तेषं दुहन्ता मानुषाय दस्रा॥'

पृथु राजा ने कृषि-कर्म के लिए अनुपयुक्त भूमि को जोतकर समतल और उपजाऊ बनाया। धरती का नाम ही उस राजा के नाम पर रख दिया गया—पृथ्वी! कृषि का विकास करनेवाले पृथु का वर्णन पुराणों में भी मिलता है[३]।

वेदों में कृषि से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ प्रधान शब्द ये हैं—अप्नस्वती (उपजाऊ जमीन), आर्तना[४] (पड़ती), लांगल या सीर (हल), फाल (फार), सुमातित्सरु[५] (हल की चिकनी मूठ), ईषा (हल का एक अंश), वरत्रा (बैलों को हल में लगाने की रस्सी), कीमाश (हलवाहा), अष्ट्र, तोद या तोभ (पैना—वह डंडा जिससे हलवाहा बैलों को चलाता है।), करीष (गाय का गोबर, जो खाद के काम में आता था।), कटनी और दात्र[६] (हँसुआ) तथा खल[७] (खलिहान)।

'शतपथ'-ब्राह्मण में केवल चार शब्दों में ही कृषि की सारी बातें कह दी गई हैं—कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) और मर्दन (माँडना)। उस काल में अनाज[८] बोने का समय निश्चित था। तिल और दालवाले अनाज की बोआई का समय शीत ऋतु था[९]। कीड़ों का भी खतरा रहता था। अथर्व में कीड़ों के कुछ नाम मिलते हैं—**उपक्वस, जम्य** आदि। एक बार ऐसा भी हुआ था कि टिड्डियों ने समस्त कुरुजनपद को तबाह कर दिया था[१०]।

यह संतोष है कि वैदिक युग से आरम्भ करके जातक-युग तक और जातक-युग से आज तक हमारा कृषि-कर्म एक ही ढंग से चल रहा है। वैदिक युग का किसान प्रार्थना करता था[११]—

---

१. ऋग्वेद, १०।३४।७
२. ,, ८।२२।६ और ऋग्वेद ११।११७।२१
३. श्रीमद्भागवत, स्क० ४, अ० १६—२३
४. ऋग्वेद, १।१२७।६
५. अथर्व०, ३।१७।३
६. ऋग्वेद, १०।१०१।३ और ८।७८।१०
७. ऋग्वेद, १०।४८।७
८. तैत्तिरीय संहिता, ७।२।१०।२
९. कौषीतकि ब्राह्मण, २१।३
१०. छान्द०, १।१०।१
११. ऋग्वेद, ४।६७।७—९

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः
शुनाशीरा शुनमस्मासु धत्त ॥

कृषि के बाद व्यापार की दृष्टि से पशु-पालन का स्थान था। ब्राह्मणों के लिए गो-पालन का प्रथम स्थान था। यज्ञों में ऋत्विजों को नकद न देकर दक्षिणा में गऊ देते थे। दक्षिणा के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग बार-बार किया गया है[1]। सिक्कों का वैसा प्रचलन न होने के कारण पदार्थों का मूल्य गऊ के ही रूप में चुकाया जाता था[2]।

वैदिक आर्यों के लिए पशु-धन की महत्ता बहुत अधिक थी। इसके बाद दूसरा युग आरम्भ होता है, जब कला-कौशल की स्थापना हुई। हम कुछ वैदिक शब्द यहाँ उपस्थित करते हैं, जो वाणिज्य-व्यवसाय और कला-कौशल का परिचय देते हैं।

तक्षन्—बढ़ई
कर्मार—लोहार
विषक्—वैद्य
रथकार—रथ बनानेवाले
कारु—स्तोत्र बनानेवाले
कुलाल—कुम्हार
कैवर्त्त—मल्लाह
तन्तुवाय या वाय—बुनकर

विभिन्न प्रकार के पेशा करनेवालों का वर्णन भी वेदों में है। एक ऋषि कहता है[3]– बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है, वैद्य रोगी को ढूँढ़ता है, ऋत्विक् यज्ञ में सोमरस निकालनेवाले यजमान को और कर्मार धनाढ्य की खोज में लगा रहता है। मैं स्वयम् स्तोत्र बनानेवाला कवि (कारु) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता (उपलप्रक्षिणी) पिसिहारिन हैं। हमारे विचार नाना प्रकार के हैं। हम अपनी अभीष्ट वस्तुओं की खोज में उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार (बच्चे) गायों की।

कारु रहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव
तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परिश्रव ।

स्वयम् कवि (कारु), पिता वैद्य, माता पिसिहारिन—सबका पेशा एक दूसरे से भिन्न है। स्वयम् ऋग्वेद का ऋषि और उसका पिता वैद्य तथा माता चक्की चलानेवाली।

---

१. कठ, १।१।२।
२. ऋग्वेद, ३।२४।१०, ४।२४।१० और ८।१।५
३. ऋग्वेद, ९।११२।३

मंत्रद्रष्टा ऋषि की माता पिसिहारिन—आज के विचार से एक विचित्र बात है ; किन्तु सत्य यह है कि वैदिक युग में श्रम की प्रतिष्ठा थी। किसी प्रकार का भी श्रम करके—जाँगर चला कर—कमानेवाला व्यक्ति हीन नहीं माना जाता था। हीन माना जाता था बैठकर राष्ट्र का अन्न नष्ट करनेवाला। जातक-कथाओं से भी यह पता चलता है कि आलसी को बहुत ही हीन दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी बात यह है कि वैदिक युग में अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार काम करने के लिए सभी प्रस्तुत रहते थे, कोई किसी का भार बनकर रहना अपना अपमान समझता था। बेटा कवि है, ऋषि है, तो पति वैद्य है, फिर वह ब्राह्मणी क्या बैठकर आलसी जीवन व्यतीत करे ? वह अपनी शक्ति का उपयोग चक्की चलाकर करती है, पिसिहारिन का पेशा करती है। पूरा-का-पूरा परिवार धन्धे में लगा हुआ है। यह एक ऊँचे दर्जे का आदर्श है। राष्ट्र-निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग होना ही चाहिए। यदि एक व्यक्ति भी बैठकर अपनी शक्ति को अपने ही भीतर नष्ट होने देता है, तो यह राष्ट्र की क्षति है और उस व्यक्ति से बढ़कर राष्ट्र का अहित करनेवाला दूसरा कौन होगा, जो अपनी शक्ति को चुरा कर रखता है और उससे राष्ट्र को लाभ उठाने का अवसर जान-बूझकर नहीं देता। सूती और ऊनी वस्त्रों का व्यवसाय विशेष रूप में वैदिक युग में होता था। चरखा, खड्डी, पूनी, जुलाहे आदि का वर्णन वैदिक साहित्य में इस तरह जगह-जगह पर मिलता है कि उसका संग्रह करना क्या है, एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना है।

परुष्णी नदी के किनारे का प्रदेश बढ़िया ऊनी वस्त्र तैयार करने के लिए प्रसिद्ध था। सिन्धु प्रदेश[1] सुन्दर पानीदार घोड़े, मजबूत रथ तथा ऊनी वस्त्र तैयार करने के लिए विश्वविश्रुत था।

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्मयी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥

गान्धार भी नरम और चिकने ऊन के लिए चारों ओर प्रसिद्ध था।[2] सप्तसिन्धव-प्रदेश सूत और ऊन के व्यवसाय के लिए विख्यात था और यह प्रदेश चमक उठा था।

सर्वाहमस्मि रोमसा गान्धारीणामिवाविका

वस्त्र (दूर्श), चादर (पवस्त) तथा चमड़ा (चर्म) के खरीदने का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में मिलता है[3]।

व्यापार में शर्तों का बड़ा महत्त्व था। खरीदने और बेचनेवाले के बीच में जो शर्तबन्दी हो जाती थी, उसका उल्लंघन कभी नहीं किया जाता था[4]।

भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतं अकानिषं पुनर्यम्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्॥

१. ऋग्वेद, १०।७५।८
२. ऋग्वेद, १।१२६।७
३. अथर्व, ४।७।६
४. ऋग्वेद, ४।२४।९

मूल्य के शुल्क के लिए 'वस्न' शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्थल-व्यवसाय बधिया बैल, घोड़े, ऊँट, गधे, कुत्ते और भैंसों की सहायता से होते थे[१]। कुत्तों पर भी माल ढोया जाता था। कुत्ते विशाल आकार के होते थे। आज भी बर्फीले प्रदेशों में कुत्ते स्लेज-गाड़ी खींचते हैं।

समुद्री व्यापार भी होता था[२]। रत्नों में सबसे सुलभ और दुर्लभ रत्न मोती है। समुद्र में डुबकियाँ मारकर गोताखोर ही मोती निकालते हैं, जिन्हें इस काम की शिक्षा मिली होती है। वैदिक युग के व्यापारी मोती का भी व्यापार करते थे। वेदों में मोती के लिए 'कृशन' शब्द आया[३] है—

अभिवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं जयतो बृहन्तम् ॥

घोड़ों को भी मोतियों से अलंकृत किया जाता था। मोतियों से सजे हुए घोड़े को 'कृशनावन्त' कहते थे[४]। मोती पैदा करनेवाली सीपी या शंख का भी उल्लेख मिलता है। इसे 'शंखः कृशनः' कहते थे[५]। और भी बहुत तरह के व्यापार थे। सिक्का भी था[६], किन्तु उसका प्रयोग कम ही होता था—शायद नगरों तक ही वह सीमित था। गाँवों में सिक्कों की जरूरत ही नहीं पड़ती थी।

सोना तौलने की बाँट को 'हिरण्य शतमानं' कहा जाता था। व्यापारियों के सामूहिक संगठन (कुलाः = व्यवहृद समूहाः) भी था। यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक युग जनतान्त्रिक युग था। वे संगठन के महत्त्व को जानते थे; क्योंकि आर्य अपने को संगठित करके ही फूले-फले थे और उन्होंने सुख-समृद्धि पाई थी। शिल्प और वाणिज्य साझेदारी के आधार पर भी किया जाता था, इसे 'सम्भूय समुत्थान'[७] कहते थे। जिस विधान के अनुसार ऐसे संगठन चलते थे, उसे 'समम'[८] कहते थे।

कुशल शिल्पियों के यहाँ माता-पिता की अनुमति से शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाता था और निश्चित अवधि के भीतर ज्ञान प्राप्त कर लेता था। सबसे मार्के की बात यह थी कि शिल्पी गुरु अपने शिक्षार्थियों से अनुचित आर्थिक लाभ नहीं उठाता था—शिक्षार्थियों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं को बेचकर या अपने काम में लगाकर लाभ नहीं उठाया जाता था। सीखे हुए कुशल कारीगरों के सहयोग से वैदिक युग का व्यापार कुछ कम न था। यातायात की असुविधाएँ थीं तथा व्यापार के द्वारा शोषण करने के

१. ऋग्वेद ८।४६।३०; १।१०४; १।३९।९; ८।४६।२८; और ८।१२।८ द्रष्टव्य।
२. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना द्वारा प्रकाशित तथा डॉ० मोतीचन्द्र-लिखित 'सार्थवाह' पुस्तक पढ़िए।
३. ऋग्वेद, १।३५।४
४. ऋग्वेद, १।१२६।४
५. अथर्व, ४।१।१,३
६. ऋग्वेद, ५।१९।३; पंचविंश ब्राह्मण १७।१।१४; अथर्व २०।१२७।३; शतपथ १०।४।१।१; गोपथ १।३।६ और पुनः ऋग्वेद १।११६।२ द्रष्टव्य।
७. नारद-स्मृति ३।१–६
८. देखिए—'व्यापार-मयूख' और 'नारद-स्मृति', १०।२

तरीकों का भी आविष्कार नहीं हुआ था। लोग उचित मूल्य पर जीवनोपयोगी वस्तुओं का खरीदना-बेचना करते थे—धन-संग्रह करके दरिद्रता और भुखमरी के विस्तार के लिए व्यापार नहीं होता था—वह युग ही दूसरा था। व्यापारियों के संगठन के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं। ऐसी भी समितियाँ थीं, जो बढ़िया माल में पुराने माल को मिलाकर बेचने से रोक-थाम करती थीं[१]। ऐसी समितियों का वर्णन भी मिलता है, जो अपराधों को रोकती थीं और अपराधी को दण्ड देती थीं[२]।

वैदिक युग की अपेक्षा जातक-युग में व्यवसाय-वाणिज्य ने काफी जोर पकड़ा था। जिस अनाथपिण्डक ने बुद्धदेव को एक बहुत ही कीमती बाग दिया था, उसी के सकट-सार्थ दक्षिण-पूर्व की ओर सावत्थी से राजगृह तक आते-जाते रहते थे—३०० मील का रास्ता वे तय करते थे[३]। इतना ही नहीं, प्रत्यन्त देशों में गन्धार की ओर भी जाते थे[४]। पहाड़ों के नीचे से होते हुए कुसीनारा वे जाते थे। रास्ते में १२ पड़ाव पड़ते थे, जिनमें वैशाली भी एक पड़ाव था। नदी पार तो केवल पाटलिपुत्र में ही करना पड़ता था। बुद्धदेव अपनी अन्तिम यात्रा में इसी रास्ते से कुसीनारा तक गये थे[५]। दूसरा रास्ता जो व्यापार की सुविधा के लिए था वह सावत्थी से दक्षिण-पच्छिम की ओर पतिट्ठान (पैटण) तक चला जाता था। इस रास्ते में छह पड़ाव थे[६]।

जल-पथ का वर्णन हम छोड़ रहे हैं[७]। पथों का वर्णन जातक-कथाओं में बार-बार आता है।

पच्छिम की ओर सिन्ध तक का रास्ता[८] भी उपयोगी था, सोवीर उसके समुद्रपत्तन एवं रोरुव तक जाता था[९]। स्थल-मार्ग से भी सार्थ जाते थे[१०]। राजपूताने का मरुस्थल पार करके भी व्यापारी आगे बढ़ते थे। धूप की गर्मी से बचने के लिए रात की यात्रा की जाती थी और ताराओं को देखकर रास्ते का अन्दाज लगाया जाता था[११]। समुद्र के रास्ते से बावेरु (बेबिलन) तक व्यापारी यात्रा करते थे। ऐसा पथ भी था, जो मध्य एशिया के साथ पच्छिम को मिलाता था—यह स्थल-पथ था। इस मार्ग में तक्षशिला पड़ता था और साकेत, सावत्थी वाराणसी और राजगृह-जैसे

---

१ स्ट्रैबो, १९।१, ३५-३६; प्लिनी ६।२२—बहुत-से ग्रीक लेखकों ने भी इस बात को दुहराया है।

२. कृष्ण यजुर्वेद, २।२।१ ; २।६।१ ; अथर्व, ६।१।११७—१९। छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।१; शतपथ, १३।१।१।४७; वाजसेनीय संहिता, ३०।५

३. जातक, १।९२ ; ३४८

४. जातक, १।३७७ आदि।

५. दीघ २; सुत्तंत १६, ८१ आदि द्रष्टव्य

६. सुत्तनिपात, १०११—१०१३

७. देखिए डॉ० राधाकुमुद की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग' और 'सार्थवाह' (डॉ० मोतीचन्द्र)

८. जातक, १।१२४, १७८; १८१; २।३१, २८७ आदि।

९. विमानवत्तु, टीका ३३६; जातक, ३।४७०; दीघनिकाय, २।२३५; दिव्यावदान, ५४४ आदि।

१०. जातक १।९८ आदि।—

११. जातक, १।१०७

महानगर पड़ते थे[1]। पाणिनि ने इस पथ को उत्तरापथ कहा है[2]। यह रास्ता काफी चालू था, अतः कोई खतरा न था। व्यापारी और दूसरे लोग आराम से आते-जाते रहते थे। बहुत-से विद्यार्थी मध्यदेश से चलकर शिक्षा के लिए तक्षशिला जाते रहते थे—विना सैनिक सहायता के ही[3]।

वणिक्-पथ का जाल-सा सारे देश में बुना हुआ था और प्रयास ऐसा किया जाता था कि बड़ी-बड़ी नदियों को बार-बार लाँघना न पड़े—माल चढ़ाना, उतारना और फिर चढ़ाना कष्टदायक होता है।

वैदिक युग में महानगरों की स्थापना शायद नहीं हुई थी। गाँव पूर्ण थे, स्वावलम्बी और खुशहाल थे। वैदिक युग के गाँव क्या गाँव की प्रत्येक कुटी अपने-आपमें पूर्ण थी। वह युग 'गाँवों के स्वराज' का था और सचमुच गाँवों में स्वराज्य था भी; किन्तु जातक-युग के गाँव आजकल के भारतीय गाँवों के नजदीक पहुँच रहे थे। बड़े-बड़े नगर अस्तित्व में आ गये थे। यूनानी लेखकों के अनुसार केवल मल्लोई-अक्सिड्रैकेई (मालक-क्षुद्रक) तथा अन्य गण-राज्यों की अधीनता में (पंजाब के शेष भाग में) ५०० नगरों का होना सिद्ध होता है। सारे भारत की बात अलग रही। जैसा कि हम निवेदन कर चुके हैं, नगरों और गाँवों के बीच में विभाजक खाई भी पैदा हो चुकी थी। गाँवों के प्राणों का शोषण करके ही नगर अपना विस्तार करते हैं—वे बने-बनाये आकाश से तो टपकते नहीं। पूँजीवाद की वृद्धि ज्यों-ज्यों होती है, गाँव क्षीण होते जाते हैं और नगर फैलने लगते हैं। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में नगरों और नगरों के जगमगाते हुए बाजार के अस्तित्व का पता नहीं चलता। जातक-युग में बाजार थे[4], किन्तु ये बाजार नगर-द्वार के बाहर थे, जिसे 'भव-मज्झक' कहा जाता था। भरहुत-स्तूप के शिलालेख पर इसका उल्लेख मिलता है। इस जातक का नाम 'भवमज्झकीय' लिखा है।

शहर के भीतर ही बाजार होते थे, जहाँ तरह-तरह की चीजों की खरीद-बिक्री होती थी–बाण, सवारी (रथ आदि), कपड़े, परचूनी सामान, तेल, अन्न, साग-पात, रत्न, सोना, चाँदी और गहने आदि[5]। शराब, मांस, अस्त्र, विष दासों की खरीद-बिक्री करना भद्र लोगों के बीच बहुत ही बुरा माना जाता था। भद्र व्यक्ति इन चीजों का सौदा नहीं करते थे[6]।

जातक-युग में फाटके का सौदा भी होता था और इसके लिए अलग बाजार था—फाटका-बाजार[7]। जब व्यापार इतना बढ़ गया था तब चोरी-बेईमानी भी बढ़

१. विनय (टैक्स), २।१७४; महावग्ग, ८।१।६
२. पाणिनी, ५।१।७७
३. जातक, २।२७७ और डा० राधाकुमुद की पुस्तिका 'जातक में प्राचीन भारतीय शिक्षा' देखिए।
४. थेरगाथा (अँगरेजी-संस्करण), पृ० १६६; जातक, ४।४४५, ३।४९, ५।४५८, १।३६१, ६।३३०।
५. थेरगाथा (अनुवाद) २४ ; जातक, २।२६७, ४।४८८, ६।९८; चुल्लवग्ग, १०।१०।४; विनय० ४।२५०; विनय टैक्स्ट, ३।३४३ ; जातक, ४।२२३ आदि।
६. अंगुत्तर, ३।२०८
७. जातक, १।१२१

गई थी। २ सौ से ४ सौ प्रतिशत लाभ लेनेवाले व्यापारी भी जातक-युग में नजर आते हैं। इस तरह लूट भी खुलेआम होती थी[१]। दूसरों को व्यापार के नाम पर लूटकर मनमाने नफा बटोरने की चलन भी चल पड़ी थी, यदि ऐसा नहीं होता, तो ३२ और ८० करोड़ जोड़कर रखनेवाले सेठों, महासेठों का वर्णन जातक-कथाओं में कहाँ से आता—वैदिक युग में एक भी लखपती नजर नहीं आता करोड़पती की तो बात ही अलग रही। जातक में एक कथा ऐसी भी आई है, जब २०,००० प्रतिशत लाभ सौदे में रहा। १००० कर्षापण ढुलाई, घटवाई और रक्षक-पुरुषों तथा प्रतिहारों का मुँह मीठा करने में खर्च हुआ था। राज के वे अधिकारी, जो जिन्स का मूल्य-निर्धारण करते थे, अपनी जेबें गरम किया करते थे[२]। सिक्कों की चलन मजे में हो गई थी—'निक्ख' और 'सुवर्ण' दोनों स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। कंस, पाद, मासक, काकणिक काँसे और ताँबे के होते थे। बौद्ध-संघ के लिए नकद धन का प्रयोग वर्जित था। संघ को नकद दान नहीं दिया जा सकता था[३]।

जब विनिमय का माध्यम 'सिक्का' बन गया, तब फिर यह सोचना बेकार है कि लूट और दरिद्रता, शोषक और शोषित, अनाचार और अविचार का प्रसार न हुआ होगा। जातक-युग में सिक्कों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, मानव-समाज विनाश और नरक की ओर प्रस्थान कर चुका था, यह सिद्ध है।

अपनी स्त्री और बच्चे को भी गिरवीं रखकर कर्ज लेनेवाले जातक-युग में थे[४]। ऐसे महाजन भी थे, जो किसी गरीब की पत्नी और बच्चे को गिरवीं रखकर कर्ज देते थे। महाजनों के उत्पीड़नों से अपने महाजन के सामने ही नदी में डूबकर कर्जदार के मर जाने का भी उल्लेख मिलता है[५]।

अभागे कर्जदारों के लिए कहीं स्थान न था। यदि वह भिक्षु बनकर महाजन के उत्पीड़नों से बचना चाहे, तो वहाँ भी उसका प्रवेश वर्जित था[६]। स्त्री और बच्चों को गिरवीं रखकर कर्ज देनेवाले महाजनों से रक्षा कौन कर सकता है? ग्राह के दातों फँसे हुए अभागे जीव को खींचकर बाहर निकालना संभव है क्या?

अधिक-से-अधिक धन कमाने की राक्षसी कामना का जन्म जातक-युग में हो चुका था और उसका पालन-पोषण भी उस युग में सम्यक् रीति से हुआ था। मानवता का खून पीकर वह बढ़ी और जवान भी जातक-युग में हो गई—इसका प्रमाण तो यही है कि स्त्री-बच्चों को गिरवीं रखकर पैसेवाले कर्ज लगाते थे, गरीब, चिन्ताग्रस्त, प्रतिष्ठा या प्राण बचाने के लिए अपनी स्त्री और बच्चों तक को महाजन की चाकरी करने के लिए भेजकर कर्ज लेते थे।

---

१. जातक, १।१०९, ४।२
२. जातक, १।१२४ ; थेरगाथा (अनु०) २५, २१२
३. विनय, ३।२३७ ; २।९४
४. थेरीगाथा, ४४४
५. जातक, ४।२५६
६. विनय, १।७६ ; महावग्ग, १।४६

पेशे का नियन्त्रण सोलहों आने जाति से होता था—ऐसा नियम जातक-युग में न था[१]। वैदिक युग का यह संस्कार जातक-युग में हम देखते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी वर्ण सभी तरह के पेशे करते थे। ब्राह्मण देवता तो बहेलिया (मृगया), गाड़ीवानी, चौकीदारी और सँपेरे का पेशा भी करते थे। जुलाहा धनुर्धर बन गया। जरूरत पड़ने पर या आपत्ति के समय सभी सब तरह के पेशे को अपना लेते थे—कोई आपत्ति न थी। पशु-धन की भी कमी न थी। कृषि की उन्नति का प्रमाण गोधन है[२]। अश्वकों के देश से २,३०,००० उत्तम जाति के बैल सिकन्दर लूटकर ले गया था। उसने इन्हें मैसिडन भेज दिया था। तक्षशिला से उसने ३००० तगड़े बैल, १० हजार भेंड़ और राजा सौभूति से युद्ध में काम आनेवाले कुत्ते उसने लिये। क्षुद्रकों ने पालतू शेर-चीते और कितने हाथी-घोड़े दिये, पता नहीं है। वह कहानी ईसा-पूर्व ३२५ या इसी के आस-पास की है, यानी आज से २२८१ साल पूर्व की। यह स्मरण रखना चाहिए कि आज से लगभग २५०० साल पूर्व बुद्धदेव हुए थे।

जातक-कथाओं में डाकुओं का वर्णन भी बहुत मिलता[३] है। धन की जब कमी नहीं रही, तो लूटनेवाले भी आये, जो शायद अनियन्त्रित शोषण के चलते डाके डालने को बाध्य कर दिये गये थे। वैदिक युग में दस्यु या अनार्य पशुओं की चोरी करते थे। आर्य तमाम फैलते जा रहे थे और अनार्यों की हालत खराब होती जा रही थी। उनका—अनार्यों का—आर्यों का पशु आदि चुराना शुद्ध डकैती नहीं कहा जा सकता। वह तो प्रतिरोध था—आर्यों को भगाने के लिए एक प्रयास था; किन्तु जातक-युग में एक ऐसा गाँव भी था, जो सारा-का-सारा डाकुओं से आबाद था। वहाँ ५०० डाकू घर बनाकर रहते थे। ऐसे डाकू तो कभी-कभी काफिलों और पूरे-के-पूरे गाँव को ही लूट लेते थे। धन के साथ स्त्रियों को भी पकड़कर ले जाते थे। वाणिज्य-व्यवसाय के वर्णन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु इतना सोचने का आधार तो हमें मिल ही जाता है कि वाणिज्य-व्यवसाय का पल्ला पकड़कर कुछ लोग अपरिमित धन जमा कर लेते थे और कुछ लोग इतने दरिद्र हो जाते थे कि उन्हें अपनी स्त्री-संतान तक को मालदार सूदखोरों के यहाँ बन्धक रखना पड़ता था। धनी और गरीब के बीच में जो अन्तर आ गया था, वह असाधारण था। चोर-डाकू इसी बीच की शून्य-रेखा में जन्म लेते हैं। जातक-युग में दोनों तरह के लुटेरों का वर्णन है—कुछ तो दुकानदारी के द्वारा लूटपाट मचाते थे और कुछ गिरोह बाँधकर रात को लूटते थे। यह विचित्र स्थिति थी!

उस युग में उद्योगी ऐसे थे जो एक मरे हुए चूहे से व्यापार आरम्भ करके महाधनवान् तक बन जाते थे[४]। पाँच-पाँच के झुण्ड में व्यापारियों को इधर-से-उधर जाने

१. जातक, ५।२९०—३; २।८७; ४।१६९; ५।४१२; २।१६५; ३।२९३; ५।२२; ४।७१; ५।१२७; २।६७; १।२० आदि-आदि।

२. डॉ० राधाकुमुद की पुस्तक 'हिन्दू-सिविलिजेशन' द्रष्टव्य।

३. सत्तिगुम्ब जातक।

४. चुल्लसेट्ठि जातक ४।

का उल्लेख भी मिलता है[१]। भारत के कौए और मोर तक को दूसरे देश में जाकर ५०० और १००० कार्षापण में व्यापारी बेच देते थे–व्यापार का यह हाल था। बावेरु-राष्ट्र में कौआ और मोर बेचे जाते थे–यह बावेरु 'बेबीलोन' था।[२] यह कहानी ईसा-पूर्व ५०० साल की है; क्योंकि भारत और बावेरु का व्यापार ई०-पू० ४८० में बन्द हो गया था।

भारत की वस्तुएँ, जैसे नीम, इमली की लकड़ी, मलमल, मिस्र की ममिआइयों में लिपटी मिली हैं। 'तनू-खामन' की समाधि की खुदाई हुई थी, जिसमें भारत की बनी बहुत-सी चीजें मिली थीं। तनू-खामन मिस्र का सम्राट् था। ईसा के लगभग ४६० वर्ष पूर्व यह व्यवसाय उरूज पर था। सुप्रसिद्ध एथेंस नगर भारतीय वस्तुओं से भरा हुआ था। समस्त व्यापार का मुख्य केन्द्र 'शूरपारक' (सोपारा) और भरु-कच्छ (भरूच)-नामक कोंकण के दो प्रसिद्ध पत्तन थे। व्यापार की दृष्टि से जातक-युग स्वर्ण-युग था; किन्तु यहाँ गरीबी भी बढ़ती जाती थी।

उपर्युक्त सभी बातों के बावजूद, ग्रीक लेखकों ने भारत का जो भी वर्णन किया था, वह निश्चय ही लुभावना था और सब कुछ मिलाकर देखने से पता चलता है कि जातक-युग का भारत अच्छा ही था। अशोक के शिलालेखों, बौद्ध ग्रन्थों और ग्रीक लेखकों[३] की रचनाओं से भारत का एक सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है।

आहार आदि

हो सकता है कि प्रारम्भिक युग में आर्यों का भोजन मांस रहा हो। यह भी हो सकता है कि अन्न या फल के अभाव में इधर-उधर घूमते हुए आर्यों ने मांस पर अपने को कायम रखा हो; किन्तु वैदिक साहित्य पर विचारपूर्वक ध्यान देने से यह प्रमाणित नहीं होता कि उस युग में बिना पशु-भेद के मांस खाया जाता था और पशुओं की हत्या करके यज्ञ किया जाता था, खासकर गो-वध करके। दूध, घी, दही, मट्ठा, मधु, अन्न, फल, सोमरस आदि सौम्य चीजों को ही हम आर्यों की खुराक मानते हैं। गऊ को वेदों में 'अहन्या' कहा है, जिसका अर्थ होता है— 'नहीं मारने योग्य'। यदि यज्ञ के लिए वध्य होती तो 'अहन्या' नाम उसे क्यों दिया जाता ?

आयुर्वेद का सिद्धान्त है **अहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** तथा मनु ने कहा है–**आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति**। आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है और सत्त्व की शुद्धि से स्मृति निश्चल होती है। आलस्य तथा अन्न-दोष से मृत्यु नजदीक आ जाती है। जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है। सात्त्विक विचार के लिए सात्त्विक आहार का क्या महत्त्व है, यह आर्य अच्छी तरह

---

१. वण्णुपथ जातक—२; बालाहस्स जातक—१९६; खुरप्प जातक—२६५।

२. बावेरू जातक—३३९।

३. डायोडोरस, २।४०-४१; एरियन, ११-१२; स्ट्रैबो, ५।१, ४६–४९, ५८—६०; प्लिनी, ६।२२ आदि।

जानते थे। वे शान्ति के उपासक थे, उनका धर्म शान्ति की सीख देता था, अतः वे सात्त्विक आहार पर ही रहते थे और कभी भी उत्तेजनावर्धक आहार (आपद्धर्म को बाद देकर) स्वीकार नहीं करते थे।[1]

घी, दूध, अन्नरस (मिश्री) पके हुए, परिश्रुति (टपके हुए) फल और शुद्ध-साफ जल को ही महत्त्व दिया जाता था।

उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिश्रुतम्[2]

ऐसा आदेश वेद देता है। मनुष्य-आहार के चार प्रकार हैं—दो पशुओं से प्राप्त होते हैं, दो धरती से। दूध और मांस पशुओं से और अन्न तथा फल धरती हमें देती है। उपनिषद् के विचार से—

अद्यतेऽपि च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते

प्राणिमात्र का, विशेषतः मनुष्य का, आहार अन्न ही है। अन्न शब्द 'अद भक्षणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है जो खाया जाय, वह अन्न है। पिशाचों या राक्षसों का अन्न 'मांस' है, ऐसा मनु का वचन है। फलों का भी बहुत महत्त्व है। वृक्ष काटना—फलवाले वृक्षों का नष्ट करना—वैदिक युग में बहुत बड़ा अपराध था; क्योंकि वृक्षों से मनुष्य को उत्तम भोजन प्राप्त होता है[3]—**बह्वन्नमकृषीवलम्**।

दूध भी वैदिक युग का प्रिय आहार था[4]।—

एतद्वै पय एव अन्नं मनुष्याणाम्।

जो मोक्षमार्गी थे, शान्त-चित्त से रहना चाहते थे और मन तथा शरीर को विकार-रहित रखना चाहते थे, उनके लिए फल सर्वोत्तम भोजन माना गया है[5]—

स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय।

रामायण-युग[6] में भी मांस-भक्षण की उतनी चलन न थी। गुहराज के आतिथ्य करने पर भगवान् राम ने कहा था—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥

'मैं कुशाचीर पहने हुए, तापस भेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल-मूल खाकर ही रहता हूँ।'

इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि जो तपस्वी होता था, मुनि-धर्म ग्रहण करता था, उसके लिए अन्न तक वर्जित था, 'मांस' की बात ही अलग रही।

१. गीता (…आहाराः सात्त्विकप्रियाः)।
२. वा० यजु०, २।३४
३. ऋग्वेद, १०।१४६।६
४. शतपथ ब्राह्मण, २।५।१६
५. ऋग्वेद, १०।१४६।५; वाजसनेय०, १९।२२; पुनः ऋग्वेद, १६।१६४।२०
६. वाल्मीकि०, अयोध्या०, ५०।४४

लक्ष्मण और माता सीता ने भी यही कहा[1]—'हम फल-मूल खाकर रहते हैं या रहेंगे।'

फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः—आदि।

पहले तो उतनी खेती भी नहीं होती थी और आर्य फल-मूल पर ही रहते थे। अन्न तो यज्ञ शेष पुरोडास ही के नाम पर खाया जाता था। खेती बढ़ी और वन-सम्पदा का ह्रास हुआ। व्यापार की वृद्धि ने भी फलों को बटोरना और बेचना शुरू किया। शायद जंगल ठीके पर भी दिये जाते हों—लकड़ी, सूखे पत्ते और फलों के लिए। पर यह सब बाद में हुआ।

दूध, घी और दही का भोजन ही वैदिक युग का महत्त्वपूर्ण भोजन था[2]। मालपूए का भी वर्णन वेदों में है[3]। जौ का सत्तू पीसा जाता था, फिर उसे घी में अच्छी तरह भूनकर उसमें दही मिलाते थे—हमें 'करम्भ'[4] कहते थे। सोमरस का वर्णन तो स्थान-स्थान पर मिलता है। यह सोमलता कीकटों के देश में होती थी[5]। शायद कीकटों का देश यह 'मगध' ही था!

हाँ, कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत[6] में कहा है कि जिन देशों में जौ और गेहूँ विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग वहीं बसेंगे।

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नस्तथैव च।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥

इसमें यह नहीं कहा गया कि जहाँ जंगलों में पशु और वृक्षों पर पंछी या जल में जलचर अधिक होंगे, वहाँ लोग आश्रय ग्रहण करेंगे। यदि हम शारीरिक बनावट पर गौर करें तोभी यही सिद्ध होता है कि अपने प्रारम्भिक युग से मानव फल-भक्षी ही रहा है। मांस-भक्षी जीवों का मेदा छोटा होता है। अँतड़ियाँ ३ से ५ गुनी तक लम्बी होती हैं। फल-भक्षी जीवों का मेदा मांस-भक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है तथा उनकी अँतड़ियाँ भी उनके शरीर से १० से १२ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं।

अब मनुष्य पर गौर करें। सिर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक १॥ से २॥ फुट तक; मनुष्य की लम्बाई होती है और मनुष्य की अँतड़ियाँ लम्बी होती हैं १६ से २८ तक अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेकर रीढ़ के छोर तक) की लम्बाई से १० से १२ गुना तक अधिक। इस दृष्टि से फल-भक्षी पशुओं से मनुष्य की समता बैठती है।

प्राचीन (वैदिक युग) भोजन में जौ की रोटी और चावल की प्रधानता थी,

---

१. वाल्मीकि०, अयोध्या, ५०; ३१।२६ और २७।१६ द्रष्टव्य।
२. ऋग्वेद, १।१०९।३; १।१३४; ८।२९
३. ऋग्वेद, १०।४५।९—'अपूपं घृतवन्तम्'।
४. ऋग्वेद, १।१८७।९-१०
५. ऋग्वेद, ३।५३।४
६. महाभारत, वन०, अ० १९०।

लोग सत्तू भी खाते थे। जौ की रोटी के सम्बन्ध में बार-बार उल्लेख मिलता है[1]। 'अपूप' हमारा चिरपरिचित पूआ था। दही-चावल 'दध्योदन', मूँग की खिचड़ी 'मुद्गौधन' और दधि-मिश्रित सोम को 'दध्याशीर' कहते थे। मट्ठा 'मन्था' कहा जाता था और पिघले हुए मक्खन का नाम था 'आयुत'। घी की भी चर्चा मिलती है और जगह-जगह[2]। मधु तो प्रसिद्ध था ही।

मांस-भक्षण का भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है; किन्तु उसे प्रधानता नहीं दी गई। आदि-युग हिम-प्रधान था और भयानक सर्दी में रहते हुए आर्य यदि मांस खाते भी हों तो उसे परिस्थितिवश खाया जाना ही हम मानेंगे।

वर्ष की सूचना देने के लिए ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में 'हिम' शब्द का प्रयोग किया गया है[3]।

तद्वो यामि द्रविणं सद्य उतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरमि।
इदं सु मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमः॥

वर्ष का नाम ही 'शरद्' था[4]।

'पश्येम शरदः शतम्।'
'अदीनः स्याम शरदः शतम्।'

सर्दी के कारण वे (आर्य) कभी मांस भी खाते रहे होंगे; किन्तु जब वे शीत-प्रधान भाग से हटकर सुन्दर वातावरण में चले आये, तब उन्होंने मांस-भक्षण की ओर से मन हटा लिया; क्योंकि मांस खाना उनके लिए स्वाभाविक नहीं था।

मधु के साथ ईख का भी वर्णन मिलता है[5]। वे नमक (लवण) भी व्यवहार में लाते थे[6]। अन्न आर्यों का प्रधान भोजन था, इसका प्रमाण हमें मिलता है। अगस्त्य ऋषि कहते हैं[7]—

त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम्।
अकारि चारु केतुना तवाहिम वसाऽवधीत्॥

'हे अन्न, तुम्हीं में देवताओं का मन स्थित है—बड़े-बड़े देवताओं का। तुम्हारे ही केतु के नीचे शोभन कार्यों का सम्पादन किया गया है। तुम्हारी सहायता से उन्होंने (इन्द्र ने) सर्प को मारा है।'

अन्न सुख देनेवाला है **(मयोभूः)**, द्वेष-रहित **(अद्विषेषण्य)** भी अन्न ही है। सुखोत्पादक और अद्वितीय मित्र भी अन्न ही है **(सखा सुशेवो अद्वयाः)**। अन्न की महिमा वेदों में बार-बार गाई गई है। मांस की वैसी महत्ता नजर नहीं आती।

१. ऋग्वेद, ४।२४।५
२. ऐतरेय, १।३, यथा—आज्यं देवानां सुरभि, मनुष्याणामायुत पितॄणां नवनीतं गर्भाणाम्॥
३. ऋग्वेद, १।६४।१०; २।१।११; ५।५४।१५* आदि।
४. यजुर्वेद, ३६।२४
५. ऋग्वेद, ९।८६।१८; अथर्व, १।३४।५; मैत्रायणी, ४।२।९
६. अथर्व, ७।७६।१; शतपथ, ५।२।१।१६; छान्दोग्य, ४।१७।७ और बृहदारण्यक, २।४।१२।
७. ऋग्वेद, १।१८७।७

यह हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि आर्य मुख्य रूप से मांस खाते थे। जब धरती उन्हें अन्न, फूल, फल, कन्द देने लगी, गायें दूध, घी, मक्खन, दही, तक्र देने लगीं, ईख से मधुर रस और मधुमक्खियों से वे मधु प्राप्त करने लगे, तो फिर मांस का कहाँ स्थान रह जाता है। सात्विक आर्य असात्विक आहार-विहार-विचार आदि से दूर रहना यदि नहीं चाहते, तो वे आसुरी वृत्ति धारण करके कट मरते और ऐसा प्राणमय साहित्य का कभी सर्जन भी नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त सौम्य-चिन्तन की चरम सीमा तक पहुँचकर वेदकाल के ऋषियों ने जिस तत्त्व को वाणी के द्वारा बोधगम्य बनाया है, वह सिद्ध करता है कि उनका आहार और जीवन—दोनों अत्यन्त सौम्य रहे होंगे। उत्तेजनावर्धक आहार-व्यवहार से आसुरी वृत्ति को ही उत्तेजना मिलती है। ऋषियों ने कहा है—'तुम्हारे दुग्धादि पेय समान हों, अन्न का बँटवारा समान हो, जिस प्रकार रथ-चक्र की नाभि के चारों ओर आरे एक समान होते हैं, उसी प्रकार तुम सब लोग एक समान होकर यज्ञ (श्रेष्ठ कर्म) करो।[1]

दूध और अन्न के ही समान रूप से बँटवारे का वर्णन इन मन्त्रों में है, मांस का नहीं। सबको दूध मिले और सबको अन्न प्राप्त हो। यह स्पष्ट होता है कि दूध का वितरण होता था और सबको दूध दिया जाता था। आर्यों ने दूध का महत्त्व जान लिया था। यह अत्यन्त मूल्यवान् पेय पदार्थ है, अतः प्रत्येक को जीवन धारण करने के लिए आवश्यकतानुसार प्रत्येक दिन दूध तो चाहिए ही। इसी बात को ध्यान में रखकर आर्यों के संघ ने इस कार्य को अपने हाथों में ले लिया था। दूध और अन्न समान रूप से, जिसको जितनी जरूरत हो, दिया जाता था।

भोजन के तीन प्रधान काम हैं—बल प्रदान करना, शरीर को बनाना और उसकी वृद्धि करना तथा आभ्यन्तरिक अवस्था और प्रक्रियाओं को जीवन कायम रखने के लिए नियन्त्रित करना। अन्न को 'कैलोरी' में परिवर्तित कर दें तो प्रति व्यक्ति २८०० 'कैलोरी' शरीर को सशक्त रखने के लिए चाहिए। 'कैलोरी' की कमी होने से भयानक-से-भयानक रोग पकड़ लेता है और आदमी बेकार हो जाता है।

यदि एक व्यक्ति[2]—

अन्न	२०	औंस
दाल	३	,,
तरकारियाँ (मूल-कन्द)		
हरी पत्तियाँ आदि	१२	,,
फल	२	,,
दूध	८	,,
चीनी	२	,,
तेल	२	,,

१. अथर्व, ३।३०।६; यजु०, १९।४६; ऋग्वेद, १०।१९१।३

*समानी प्रपासह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह युनिज्म।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

२. 'संयुक्तराष्ट्र कान्फरेंस' की भोजन-सम्बन्धी रिपोर्ट—१९४५ ई०।

शाकाहार ग्रहण करता है तो जीवनोपयोगी सभी तत्त्व उसे मिलते रहते हैं। दूध कम-से-कम ८ औंस नित्य तो चाहिए ही। यह संतुलित आहार (शाकाहार) का वर्णन है। 'संयुक्तराष्ट्र' की भोजन-सम्बन्धी कान्फरेंस ने फलाहार के सम्बन्ध में यह तालिका पेश की थी। आर्यों के भोजन में ये सारी चीजें थीं—अन्न, फल, शाक-सब्जी, दूध, घी, दही, मट्ठा, मधु, ईख का रस आदि। दूध और अन्न का महत्त्व समझकर सबको संघ की ओर से ही बाँटा जाता था, जिससे जन-स्वास्थ्य नीचे न गिरने पावे। वे पेट भरने के लिए नहीं खाते थे। उन्हें ज्ञात था कि श्रमशक्ति का ह्रास हो जाने से विकास का कार्य धीरे-धीरे होगा और देश की उन्नति नहीं हो सकेगी। अन्न, फल, मधु, दूध, घी आदि का महत्त्व वैदिक ऋषि जानते थे और खूब जानते थे। अतः इन खाद्य-पदार्थों की स्तुतियों में मन्त्र कहे गये हैं, इनकी वन्दना देवताओं की तरह की गई है। अन्न और मधु के लिए तो इतने मन्त्र वेदों में आये हैं कि पढ़ते ही बनता है। दूध के लिए गो को माता, धरित्री आदि कहा गया है। अन्न और फल देनेवाली धरती का भी गुण जी भरकर गाया गया है। वन को देवी माना गया है। इसके लिए एक अलग अरण्यानी-सूक्त[1] ही है, जो अत्यन्त कवित्त्वपूर्ण है।

उत गाव इवादन्त्यूत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति॥३॥

'इस विपिन में कहीं गायें चरती हैं और कहीं लता-गुल्म आदि के भवन दिखाई देते हैं। संध्या-काल वन से कितने ही शकट (गाड़ियाँ) निकलते हैं।'

गामङ्गैष आह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते॥४॥

'एक व्यक्ति गाय को बुलाता है, एक लकड़ी काट रहा है, अरण्यानी में जो रहता है, वह रात-दिन शब्द सुनता है।'

अरण्यानी सूक्त के दो नमूने हैं। दोनों में गायों का वर्णन है। अन्न के साथ दूध-घी आदि गोरस का अत्यन्त महत्त्व माना जाता था। शरीर के लिए इससे बढ़कर पोषक खाद्य दूसरा है भी नहीं। वन-रक्षा पर पूरा जोर इसीलिए दिया जाता था कि वर्षा का सम्बन्ध जंगलों से है[2]।

वेदकाल के ऋषि जंगलों का महत्त्व जानते थे[3]; क्योंकि फल-मूल पशुओं के लिए चरागाह, लकड़ी आदि तो वनों से मिलते ही थे, गौओं के लिए भी वनों का महत्त्व था—फल-दूध दोनों वनों से उपलब्ध होते थे। जो शुद्ध, संतुलित और सौम्य आहार प्राप्त करना चाहता है, वह 'सहारा'-जैसे रेगिस्तान में बस नहीं सकता। आर्य हरी-भरी भूमि की ओर आकर्षित होते थे—उनकी धरती शस्य-श्यामला, सजला, सुफला होती थी, जहाँ उन्हें घटस्तनी गायें, अमृतरस-पूर्णफल, मधु, जीवनदाता अन्न और

---

१. ऋग्वेद, १०।१४६वें सूक्त ६ मन्त्र द्रष्टव्य।
२. Harmsworth : 'History of the World', p. 33.
३. ऋग्वेद, १।२४।७

शान्ति की कमी नहीं रहती थी। मांस आर्यों का कभी भी प्रिय आहार नहीं रहा और न वे पशु-हत्या ही करते रहे। यज्ञों में मांस की आहुति की बड़ी चर्चा सुनने में आती है ; किन्तु दो मंत्र यहाँ हम उपस्थित करते हैं—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जात वेदा देवोभ्यो हव्यं वहतु प्रजानम्[1] ॥

'मैं मांस खानेवाली अग्नि (चिताग्नि) को दूर करता हूँ। वह पाप ढोनेवाली है, इसलिए यमराज के घर जाय। यहाँ दूसरी अग्नि जो सब की जानी हुई है और देवताओं के निमित्त हवि ढोनेवाली है, उसी को प्रतिष्ठित करता हूँ।'

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे[2] ॥

'जो मांस भक्षक अग्नि तुम्हारे घरों में प्रवेश करती है, उसको पितृ-यज्ञ के लिए दूर करता हूँ। तुम्हारे घरों में दूसरी अग्नि देखना चाहता हूँ, वही अग्नि उत्तम स्थानों में धर्म को प्राप्त हो।'

चिता से निकालकर आग लाना बुरा माना जाता था ; क्योंकि वह मांस खानेवाली अग्नि है।

यजुर्वेद से यह सिद्ध होता है कि आर्य पशु-हत्या से डरते थे—गाय तो क्या वे भेंड़, बकरी, पंछी तक का वध भी बुरा मानते थे।

पशुन् पाहि, गां मा हिंसीः अजां मा हिंसीः
अविं मा हिंसीः इमं मा हिंसीर्द्विपदां पशुं,
मा हिंसीरेकशफं पशुं, मा हिंस्यत् सर्वभूतानि ॥

यह यजुर्वेद का आदेश है। अथर्व[3] का वचन है—

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं।
वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥

'गाय का यह क्षीर, दधि, घृत ही खाने योग्य है—मांस नहीं।'

वैदिक युग में राक्षस (जंगली-अनार्य) खुलकर मांस खाते थे—नर-मांस, गो-मांस सब कुछ। घोड़े का मांस भी वे खा जाते थे। वे ही मांस-हवन भी करते रहे होंगे। ऐसे राक्षस का सिर कुचल देना आर्य उचित समझते थे[4]।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अध्न्यायाः भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

'जो यातुधान (राक्षस) मनुष्य का, घोड़े का, गाय का मांस खाता है, या दूध चुराता है, उसका सिर कुचल देना चाहिए।'

---

१. ऋग्वेद, १०।१६।९
२. अथर्व, १२।२।७
३. अथर्व, ९।६।९
४. ऋग्वेद, ८।४।१८

गति के लिए अश्व, जीवन के लिए गऊ—इन दोनों वस्तुओं को नष्ट कर देने का मतलब होता था—आर्यों का मूलोच्छेद कर देना। यही कारण है कि आर्य ऐसे राक्षस का सिर कुचल डालना ही उचित समझते थे। अथर्व का कहना है कि मांसाहारी, मद्यप, व्यभिचारी तीनों—एक जैसे पापी हैं, इन्हें मार डालना उचित है—

यथा मांसा यथा सुरा यथाक्षा परिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यते स्त्रियं निहन्यते मनः॥

मांस खानेवाले को वध कर देने का आदेश वेद देता है। जब साधारण रूप से मांस खाना इतना भयानक अपराध माना जाता था, तब यह कैसे मान लिया जाय कि आर्य गाय मार-मार कर यज्ञ करते थे और यज्ञ-भाग खाते भी थे।

अनार्य-म्लेच्छों ने मांस-यज्ञ का आरम्भ किया था और यह पाप आर्यों के सिर मढ़ा गया। 'हेमाद्रि-रामायण' में एक कथा आई है, जिससे यह सिद्ध होता है। अनार्यों (म्लेच्छों) के कुसंग से पतित हुआ एक ब्राह्मण, जिसका नाम पर्वतक था, मरुत् राजा के पुत्र वसु का सहपाठी हुआ और अन्त में वह उसका उपाध्याय भी हो गया। परिणाम यह हुआ कि राजा वसु भी म्लेच्छबुद्धि हो गया। इसी समय देवताओं और ऋषियों में 'अज' शब्द को लेकर विवाद शुरू हुआ। देवता 'अज' शब्द का अर्थ करते थे 'बकरा' और ऋषि कहते थे 'बीज'। राजा वसु पंच माने गये। उस म्लेच्छबुद्धि राजा ने अन्त में देवताओं का पक्ष लिया; क्योंकि पर्वतक के कुसंग से वह ऋषि-विरोधी बन चुका था[१] इसके पूर्व राजा वसु ने भी यज्ञ किया था; किन्तु पशु-वध नहीं किया गया था—

न तत्र पशुघातोऽभृत् स राजैरस्थितोऽभवत्[२]।

किन्तु बाद में राजा वसु ने 'अज' शब्द के झगड़े में देवताओं का पक्ष लिया और 'दाना' के बदले में 'बकरा' अर्थ कर दिया। इससे प्रमाणित होता है कि पूर्वकाल में यज्ञ बिना पशु-वध के ही किया जाता था[३]। बाद में आसुरी-शक्ति जब बलवती हुई, तब पशुओं का खून पानी की तरह बहाया जाने लगा।

ऋग्वेद के अनुसार देवताओं को दूध से तृप्त किया जाता था। यजुर्वेद में घी की आहुतियों का विधान है। अथर्व में मधु की और 'साम' में 'सोम' की आहुतियों का विधान है। इसके बाद चर्बी की आहुतियों का विधान मिलता है। राजा वसु के फतवे के बाद से ही यज्ञ के लिए पशुओं का वध किया जाना शुरू हुआ। चारों वेदों के अनुसार दूध, घी, मधु, सोम की आहुतियों का ही विधान है; किन्तु चर्बी (मेद) का सम्बन्ध उत्तरयुगीय शास्त्रों से है—ब्राह्मण, पुराण, कल्प आदि।

---

१. मत्स्यपुराण, अ० १४३; महाभारत, शान्ति, अ० ३३६; ३३७।१२; ३३७।१३; ३३७।१४

२. महाभारत, शान्ति०, ३३६।१०

३. महाभारत, शा०, अ० ३४०, श्लो० ८२ से ९४ तक द्रष्टव्य।

यद्दचोऽध्यगीषत ताः पय अहुतयो देवानामभवत्। यद्यजूँषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यद्थर्वांगिरसो मध्वाहुतयो यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्[1] ॥

'महाभारत' में यह स्पष्ट कहा गया है—

श्रूयते ही पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः[2] ॥

पूर्वकाल में मद्य-मांस आदि का प्रचार न था। धूर्त्तों, म्लेच्छों और अनार्यों ने इन चीजों को फैलाया—

सुरां मत्स्यान्मुधुमांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्[3] ॥

अर्थ स्पष्ट है। महाभारत में राजाओं की एक लम्बी सूची है, जिसमें प्रसिद्ध ४२ नाम हैं—भगवान् राम का नाम भी है और दिलीप, रघु और हरिश्चन्द्र का नाम भी है। इनके सम्बन्ध में कहा है—

एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्[4] ॥

वैदिक युग का जब अन्त होने लगा, म्लेच्छों और अनार्यों का बल बढ़ने लगा, तब मांस, चर्बी आदि को फैलाया गया। वेद के शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा गया—अपने मतलब के अर्थ निकालने का राक्षसी प्रयत्न भी हुआ।

वैदिक कोष निघंटु से स्पष्ट होता है कि वेद में मेघ को अद्रि, अश्मा, पर्वत, गिरि और उपल भी कहते थे। लोक-व्यवहार में ये शब्द पहाड़ के लिए हैं। वेद में 'सगर' और समुद्र शब्द अन्तरिक्ष के लिए हैं; किन्तु लोक में समुद्र के लिए हैं। वेद में 'गावः' शब्द किरणों के लिए और सुपर्ण शब्द घोड़े तथा किरणों के लिए आया है। गौ और अश्व दोनों शब्द सूर्य-किरणों के वाचक हैं। वैज्ञानिक परिभाषा के कारण भी एक-एक शब्द के कई-कई अर्थ हो जाते हैं। अग्नि को पशु भी एक मन्त्र में कहा गया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्नि अग्निमयजन्त देवाः अग्निः पशुरासीत्तं देवाऽलभन्त[5]।

---

१. तैत्तिरीय, प्र० २, अ० ९, मं० २

२. महाभारत, अनु० ११५।५६

३. महाभारत, शां०, मो० २६५।९–१०

४. महाभारत, अनुशासन, अ० ११५ द्रष्टव्य।

५. यास्काचार्य।

वायु और सूर्य को भी पशु कहा गया है।

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त वायुः पशुरासीत्तेनाजयन्त, सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त[1]।

मनुष्य भी कहीं-कहीं पशु मान लिया गया है—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्[2]॥

प्रजा का पालन करनेवाला (पुरुष) पशु माना गया है—**'कतमः प्रजापतिरिति।'**

प्रजा का पालन करनेवाला कौन है? इस सवाल का जवाब ऋषि देता है—**'पशुरिति!'**

'अजसंज्ञानि बीजानि' के अनुसार अज का अर्थ बीज होता ही है, बकरा नहीं। वेदों में अर्थ-चमत्कार भरा पड़ा है। पशु-बलि का समर्थन भी भ्रम से ही हुआ है।

वैदिक युग में मांस को महत्त्व नहीं दिया जाता था। बाद में असुरों और अनार्यों ने यज्ञादि में पशु-वध आरम्भ किया। इस बात को बुद्धदेव भी स्वीकार करते हैं—

अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा नास्सुगावो हनिंसु ते॥
न पादा न विसाणेन नास्सु हिंसन्ति केनचि।
गावो एळकसमाना सोरता कुंभदूहना।
ता विसाणे गहेत्वान राजा सत्थेन घातयि[3]॥

'पूर्व समय में ब्राह्मण अन्न, बल कान्ति और सुख देनेवाली गौओं की हिंसा नहीं करते थे। किन्तु घड़ों दूध देनेवाली और न सींग से और न लताड़ से और न किसी दूसरे अंग से हिंसा करनेवाली बकरी के समान सीधी गो की हत्या गोमेध यज्ञ के लिए राजा रथपति ने किया।'

अर्थ को लेकर भी महा अनर्थ का सूत्रपात हुआ है। हम कुछ उदाहरण देंगे। पहले गौ शब्द को लीजिए।

चर्म च श्लेष्मा च स्नायु च ज्यापि गौरुच्यते[4]।

'चमड़ा, श्लेष्मा, नसें और धनुष की डोरी को भी गौ कहते हैं।' अब 'वृषभ' शब्द को लीजिए। 'ककड़ासिंगी' एक प्रकार की औषधि होती है। संस्कृत में बैल के लिए जितने शब्द आये हैं, वे सभी ककड़ासिंगी के लिए भी हैं—

---

१. यजुर्वेद, २३।१७
२. यजुर्वेद, अ० ३१
३. सुत्तनिपात, १९ (ब्राह्मणधम्मिकसुत्त) १४ और २६
४. निरुक्त।

ऋषभो गोपतिर्धीरो वृषाणी धूर्धरो वृषः।
ककुद्मान पुंगवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः[१] ॥
शृङ्गी कर्कटशृङ्गी च स्यात् कुलीरविषाणिका।
अजशृङ्गी च रक्ता च कर्कटाख्या च कीर्त्तिता[२] ॥

अब यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जहाँ 'ककड़ासिंगी' को काटने, पकाने या खाने का विधान होगा, वहीं बैल को ही काटना, पकाना और खा डालना भ्रमवश लोग मान सकते हैं।

अनेक प्राणियों के नाम धान की अलग-अलग जाति को दिये गये हैं—

ततः क्रमान् महाव्रीहिः कृष्णव्रीहिर्जतूमुखाः।
कुक्कुटाण्डकपालाख्या पारावतकसूकराः॥
वारकोद्दालकोज्वालचीनशारददर्दुरा[३] ।

यहाँ जतूमुख, कुक्कुटाण्ड (मुर्गी का अंडा), कपाल, पारावत, सूकर, दर्दुर क्या असली रूप में हैं? यदि कहीं ऐसा लिखा मिले कि सूकर, दर्दुर और कुक्कुटाण्ड का हवन करो, तो लोग सूअर, मेढक और मुर्गी के अंडे को लेकर स्वाहा करना आरम्भ कर देंगे!

अजमोदा खराश्वा च मायूरी दीप्यकस्तथा[४] ।

अजमोदा (एक प्रकार की दवा, अजवायन) को अश्व, खर और मयूरी कहते हैं। अजा या अज को दाना और बकरा कहते हैं, यह हम कह चुके हैं, किन्तु इस नाम की एक दवा भी है—

अजा महौषधी ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरा[५] ।

तो हम क्यों न मान लें कि यज्ञ में औषधियों की भी अहुतियाँ दी जाती थीं; मगर नाम के कारण विशेष विचार के लोग सूअर, मेढ़क, गौ, बैल, घोड़ा, गधा, मयूरी सब कुछ स्वाहा करने और यज्ञ-भाग के नाम पर खाने भी लगे।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऐसे नामों की कमी नहीं है, जो पशुओं के हैं; किन्तु हैं वे औषधियों के लिए। कुछ नाम हम उपस्थित करते हैं—

वृषभ	—	**ऋषभकन्द**
श्वान	—	**कुकुरघास, ग्रन्थिपर्ण**
मार्जार	—	**बिल्लीघास, चित्ता**
मयूर	—	**मयूर-शिखा**
सर्प	—	**सर्पिणी बूटी**

१. राजनिघंटु।
२. भावप्रकाश।
३. वाग्भट।
४. भावप्रकाश।
५. सुश्रुत।

अश्व	—	अश्वगन्धा
अज	—	अजमोदा
नकुल	—	नाकुली बूटी
मत्स्य	—	मत्स्याक्षी
मूषक	—	मूषाकर्णी
गो	—	गौलोमी
गोलोचन	—	गोरोचन
खर	—	खरपर्णिनी
वाराह	—	वाराहीकन्द
महिष	—	गुग्गुलु
कुक्कुट	—	शाल्मलीवृक्ष
नर	—	सौगन्धिक तृण
पशु	—	मोथा
अस्थि	—	गुठली
मांस	—	गूदा, जटामासी
चर्म	—	बोकला (छिलका)
स्नायु	—	रेशा
नख	—	नखबूटी
मेद	—	मेदा (गुद्दा)
हृद(य)	—	दारचीनी
पेशी	—	जटामासी
रुधिर	—	केसर

यह तो सोचने और समझने की बात है। यदि कहीं लिखा मिले कि 'अश्व' का आसव पीना चाहिए, तो घोड़े की शराब बना कर पीने का फतवा देना शैतान का काम है, मनुष्य का नहीं। 'अश्वगन्धारिष्ट' ही पीना चाहिए। एक स्थान पर आया है—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः[1]॥

'जो नित्य गोमांस खाता है, शराब पीता है, वही कुलीन है, दूसरे लोग कुलघाती हैं।'

इस श्लोक को सामने रख कर गोमांस-भक्षण और मदिरा-पान कोई कुलीन बनने के लिए करने लगे, तो क्या होगा। सच्ची बात तो यह है कि अन्धविश्वासियों को धूर्तों ने इस पथ पर दौड़ाया भी और तरह-तरह के अनाचारों को 'धर्म' कह कर फैलाया गया। 'हठयोगप्रदीपिका' में आगे चल कर लिखा है—

१. हठयोगप्रदीपिका।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥

योग की एक क्रिया है—जीभ को उलट कर तालू में प्रवेश कराना—इसी क्रिया को गोमांस-भक्षण कहा गया है। भगवान् बुद्ध की जीभ इतनी लम्बी थी कि वे उससे ललाट का स्पर्श कर लेते थे। जीभ को उलट कर तालू में प्रवेश कराने से अमृत-लाभ होता है। कहा है, ऊपर ब्रह्मरन्ध्र से अमृत की एकाध बूँद टपकती है। जीभ से उसी अमृत की बूँद को योगी प्राप्त करते हैं—यह अमृत की बूँद प्राप्त करना हुआ शराब पीना। वेद में भी धान को धेनु कहा है।

एनीर्धाना हरिणी श्येनी रस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै[1] ॥

यहाँ धान धेनु (गऊ) है और तिल बछड़ा। कहा है—'हरिणी, श्येनी, रस्या, कृष्णा और रोहिणी आदि धान ही धेनु हैं। इनके तिल रूपी बछड़े हमें बल दें।

तिल-चावल की आहुतियाँ न देकर बछड़े और गऊ की हत्या करके यदि आहुतियाँ दी जाती थीं, तो इस घोर नृशंस व्यापार का आधार क्या है? असुरों और अनार्यों का वेदों के अर्थ का अनर्थ करना—और क्या!

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः[2] ॥

+ + + + + +

श्याममयोऽस्यमांसानि लोहितमस्य लोहितम्[3] ॥

'चावल के कण ही अश्व हैं, चावल ही गौ है, भूसी मशक है, चावलों का श्याम भाग मांस है, लाल अंश रुधिर है।

आटा लोम, पानी मिलाने पर चर्म, गूँधा जाने पर मांस, तपाया जाने पर अस्थि, घी डालने पर मज्जा—ऐसा उल्लेख भी मिलता है[4]। हम कहाँ तक गिनावें। हम यही स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं कि वैदिक आर्य मांस से बराबर दूर रहते थे। यज्ञ में भी पशु-वध वर्जित था।

मांसपाक प्रतिषेधश्च तद्वत्[5]।

अकाल पड़ने पर 'स्पर्श-यज्ञ'[6] का विधान था। यह यज्ञ इस तरह होता था कि पशुओं का स्पर्श करके उन्हें यह कह कर बन्धन-मुक्त कर देते थे कि—जहाँ मन चाहे जाकर पेट भरो, हम तुम्हारे लिए चारा जुटाने में असमर्थ हो गये।

---

१. अथर्व, १८।३।४
२. अथर्व, ११।३।५
३. अथर्व, ११।३।७
४. शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण २।६।९ द्रष्टव्य।
५. मीमांसा, १२।२।२; १०।३।६५ और १०।७।१५ द्रष्टव्य।
६. महाभारत, अनुशासन-पर्व द्रष्टव्य।

यहाँ भी पशु-हत्या का विरोध ही है। अकाल पड़ने पर मनुष्य भी भूखों मरते हैं। यदि वे मांसाहारी होते, तो अपने ढोरों को मार-मार कर खा जाते या कसाईखानों में बेच कर अन्न खरीद लेते। ऐसा कोई विधान नहीं मिलता। निश्चय ही आर्यों का भोजन अन्न, दूध, घी, मिसरी आदि हैं और यक्ष, राक्षस, पिशाचों का अन्न मांस है[1]। 'मधुपर्क' के सम्बन्ध में कहा है—

मधुपर्कं दधिमधुघृतमपि हितं कांस्ये कांस्येन।

तीन भाग दधि, एक भाग मधु, एक भाग घृत काँसे के पात्र में रखने से मधुपर्क बन जाता है। यह बात गलत है कि मधुपर्क में खून या चर्बी का योग होता था।

'गोहनोऽतिथिः' ऐसा उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि वैदिक युग में अतिथि के लिए गाय मारी जाती थी। यह भी बेपर की उड़ान है। पाणिनि ने इसके लिए एक सूत्र ही बना डाला है—

दाशगोहनौ सम्प्रदाने।

'हन्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। अतः 'गोहन'—पद का अर्थ हुआ दान। प्राप्ति में इसका अर्थ हमने किया, जिस अतिथि को गौ दी गई, वही गोहन है। श्रीमद्भागवत[2] में कहा है कि ब्रह्मा के पुत्र तो देव, दानव, गुह्यक सभी हैं; अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार सबने वेदों का अर्थ किया है।

हमने यहाँ यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि वैदिक आर्य मांसाहार नहीं करते थे और न पशुवध ही उन्हें पसन्द था। आर्य स्वभाव और संस्कृति जीव-वध के विरोधी हैं। यदि मांस-भक्षण आदि भयानक बातें आर्यों के साथ जुड़ भी गईं, तो बाद में, जब अनार्यों और म्लेच्छों ने उनके भीतर प्रवेश करके अपना प्रभाव फैलाना शुरू कर दिया था। वैदिक युग का आर्य-जीवन अत्यन्त शुद्ध और आदर्श जीवन था—पापरहित जीवन। गिरावट के समय किसी भी जाति में विकार पैदा हो ही जाता है। यह स्पष्ट है कि दूसरी बहुत-सी बातों में वैदिक युग में समानता रखते हुए भी खान-पान के मामले में जातक-युग बिलकुल ही भिन्न है।

जिन अनार्यों और म्लेच्छों ने वैदिक युग के अन्त में अनाचार फैलाया था, उनका वह अनाचार रामायण-युग और महाभारत-युग में उतना पनप न सका; क्योंकि भगवान् राम और कृष्ण-जैसे मर्यादापुरुषोत्तमों के प्रभाव ने बहुत-कुछ काम किया। महाभारत-युद्ध ने एक ही बार झाड़-बुहार कर श्रेष्ठ पुरुषों को किनारे लगा दिया। एक भी ऐसा व्यक्तित्व—कृष्ण के बाद और बुद्ध के पहले—नजर नहीं आता, जिसका प्रकाश घर-घर फैले और जिसकी वाणी पूरे आकाश में गूँजे।

महान् व्यक्तित्व का अभाव किसी भी देश के लिए घातक होता है। जन-प्रवाह तो जल-प्रवाह की तरह नीचे की ओर ही जाता है, ऊपर नहीं चढ़ता। व्यक्ति ही ऐसा बलवान् होता है, जो हिमालय की चोटी से गिरती हुई नदी को उलट कर फिर से

---

१. चरक, चि०, ८।१४९.

२. श्रीमद्भागवत, ११।१४।७

हिमालय की चोटी पर चढ़ा देता है। भगवान् कृष्ण तथा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों के जाने के बाद मैदान खाली हो गया और उस वर्ग को अनाचार फैलाने की पूरी आजादी मिल गई, जिसके अस्तित्व का प्रमाण वैदिक युग के निढाल के दिनों में मिला है, वैदिक युग के संध्या-काल में छाया-मूर्त्तियों की तरह जिसे हम इधर-उधर से झाँकते देखते हैं। हिंसा, मांस-भक्षण तथा पवित्र यज्ञों को कसाईखाना के रूप में बदल डालने का पाप जिस म्लेच्छ और अनार्य-वर्ग ने किया था; वह वर्ग कृष्ण के बाद विशेष सक्रिय हो गया और बुद्धदेव का रास्ता इसी वर्ग के फैलाये हुए अनाचारों से पड़ा। दूसरी बात यह भी है कि आरंभ से ही आर्यों ने उदारतापूर्वक तरह-तरह के संस्कारवाले वर्गों को अपने भीतर लाना शुरू कर दिया था।[1] जो पच सके, वे तो पच गये; किन्तु बाद में आर्यों की निर्बलता के समय जो वर्ग आर्यों के द्वारा स्वीकार किये गये थे, वे पूरी तरह घुलमिल नहीं सके। आर्यों की पाचन-क्षमता जीर्ण हो चुकी थी। वे ही अनाचार फैलाने के काम में लग गये। अपने साथ ऐसे वर्ग जितनी बुराइयाँ ले आये थे, यदि आर्यों की शक्ति पहले-जैसी होती, तो वे पच जातीं; किन्तु भाग्य का खेल ही कुछ और था। उन वर्गों ने अपने पूर्व के कुसंस्कारों को आर्यों के 'घर' में फैलाया और उस घर को, जो देव-मन्दिर की तरह पवित्र था, गंदा बना डाला। खान-पान और यजनादि में अनार्यता का प्रवेश इसी कारण से हुआ। ऐसी जातियाँ भी थीं, जो देवताओं में श्रद्धा नहीं रखती थीं (ऋग्वेद ८।७०।११)—अब्राह्मन् (ऋ० ४।१६।९), जो वेदों को नहीं मानते थे; अयज्वन् (८।७०।११), यज्ञ नहीं करनेवाले; अव्रत (ऋ० १।५१।८; ६।१४।३; ९।४१।२ आदि), व्रत नहीं रखनेवाले तथा विचित्र रस्म-रिवाज का पालन करनेवाले भी थे (८।७०।११)। सारा गड़बड़घोटाला आगे चलकर इन्हीं वर्गों ने किया।

जातक-युग में साधारणतः खान-पान वैदिक युग जैसा ही था; किन्तु मांस-भक्षण पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। यज्ञ में पशु-वध भी खुल कर होने लग गया था। वैदिक युग में छुआछूत का विचार न था—सब एक-जैसे थे। जातक-युग में छूतछात भी नजर आती है—खास तौर पर खान-पान में। एक ऐसे क्षत्रिय का भी वर्णन मिलता है, जो अपनी दासी से उत्पन्न कन्या के साथ खाने से इन्कार करता है। इस बात को लेकर काफी माथापच्ची की जाती है। अन्त में यही फैसला होता है कि पिता की जाति के अनुसार सन्तान की जाति है।[2] कहीं-कहीं क्षत्रिय और ब्राह्मण एक पाँत में भी खाते हैं।[3]

ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सहभोज तब बन्द हो गया, जब खुले आम उन्हें आलसी, स्वार्थी, घमण्डी, द्वेषी, कामी, मूर्ख, पाजी और नीच जाति का कहा जाने

---

१. 'पञ्च जनाः' (ऋग्वेद, ३।३७।९); यास्काचार्य (निरुक्त ३।८) ने गन्धर्व, देवता, पितर, असुर तथा राक्षस को भी पञ्चजनाः में माना है। आर्यों ने असुरों और राक्षसों तक को स्वीकार कर लिया था, दूसरे अनार्यों की बात ही अलग रही। —ले०

२. जातक, ४।१४४

३. जातक, २।३१९–२०

लगा[1]। वर्ण-भेद के रहते खान-पान (पिण्ड-पात) का रहना स्वाभाविक ही है और जातक-युग में आज की तरह ही खान-पान के मामले में बिलगाव था। क्षत्रिय अपने को ब्राह्मण-वर्ण से श्रेष्ठ मानते थे, फिर खान-पान के मामले में उनका कठोर रहना कोई अचरज की बात नहीं है। जात-पाँत की कठोरता का पता जातक-कथाओं से चलता है। दो धनी लड़कियाँ कहीं जा रही थीं। दो चांडाल नजर आ गये। यात्रा अपवित्र हो गई, अतः वे लौट आईं, नहीं गईं। लोग चाण्डालों पर बहुत बिगड़े और उन्हें पीटा भी[2]। जब छूत-अछूत का यह हाल था, तो फिर भोजन और पाँत में भी प्रतिबन्धों का रहना वाजिब ही समझें।

भोजन में यवागू-भात का वर्णन जातक-कथाओं में जगह-जगह है। यह 'यवागू' पाणिनि[3] में भी आया है। भाष्य के अनुसार 'यवागू-द्रव' भोजन था। यह लपसी जैसी चीज थी[4]। साल्व जनपद (जो अलवर से बीकानेर तक फैला हुआ था) के लोग यवागू बड़े चाव से खाते थे। पाणिनि ने इसे **'गोयवाग्वोश्च'** साल्विका-यवागू कहा है[5]। यवागू-भात जातक-युग का 'पनिऔटा-भात' है। मगध और बंगाल में आज तक यवागू-भात खाते हैं। रात को भात पकाकर उसमें पानी डाल देते हैं और सवेरे सरसों का तेल, इमली की खटाई, पकी मिर्च और नमक मिलाकर खाते हैं। रात के बचे भात को प्रायः स्त्रियाँ सवेरे इसी तरह खाती हैं और मजदूरी करने के लिए जानेवाले पुरुष भी भोर को यवागू-भात खाकर ही चले जाते हैं। पाणिनि ने यवागू कई प्रकार का बतलाया है। जैसे—उष्णिका-यवागू (५।२।७१), नखंपचा-यवागू (३।२।३४) आदि। चरक में यवागू २८ प्रकार का है[6]। सुश्रुत ३ प्रकार के यवागू का उल्लेख करता है[7]। जो हो, हम जातक में यवागू-भात की प्रधानता पाते हैं।[8] खाजा (खज्जक) और पूआ (पूप) भी खाया जाता था। पूआ वैदिक युग में भी खाया जाता था[9]। कहा है—

यस्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।

पूआ खाने की इच्छा एक कंजूस को सताने लगी—ऐसी कथा जातक में है। पूआ (अपूप) पाणिनि[10] में भी है। पूआ जातक-युग का प्रिय मिष्टान्न था।[11] चावल से

१. सम्भव जातक—५।२५७; जुण्ह जातक—४।९६। इसके बाद देखें जातक—१।४२५; ४।४८४, तेविज्जसुत्त आदि।
२. चित्तसंभूत जातक और जातक, ४।३७८; ४।३८८
३. पाणिनि, ४।२।१३६
४. पाणिनि, ७।३।६९
५. पाणिनि, ४।२।१३६
६. चरक, सूत्रस्थान, अ० २
७. सुश्रुत, सूत्र, अ० ४६
८. विसवन्त जातक—६९।
९. ऋग्वेद, १०।४५।६
१०. पाणिनि, ५।१।४
११. महाउम्मग जातक।

तीन तरह के भोजन बनाये जाते थे—'यवागू, पूप, भक्त !' कुल्माष भी खाया जाता था—यह गरीबों का भोजन था। यह निम्नकोटि का भोजन माना गया है[१]। यह कुल्माष खट्टी लपसी था[२]। जो भी हो; पर यह था गरीबों का भोजन। जातक में इसे 'कुम्माष' कहा गया है[३]।

सुक्खाय अलोनिकाय च कुम्मास पिण्डिय।

गरीब (रूखा-सूखा विना चिकनई या गुड़ के) इसे खाते थे[४]। वैदिक आर्य 'सत्तू'[५] खाना पसन्द करते थे[६] और जातक-युग में भी सत्तू था[७]। एक ब्राह्मण दूर देश जाने लगा, तो उसकी स्त्री ने पाथेय दिया, जो सत्तू था। 'तिलोदक'[८] नाम का एक खाद्य होता था, जिसे लोग बहुत चाव से खाते थे। एक स्त्री सुफैद वस्त्र पहन कर, जिसके बाल भी भींगे थे, हाँड़ी में तिल-चावल धो रही थी। तिल पिसे हुए थे। पूछने पर वह स्त्री बोली कि—'यह श्राद्ध के लिए है।' प्रश्नकर्त्ता ने सोचा—यह तिल-चावल किसके लिए होगा। इससे यही स्पष्ट होता है कि तिल-चावल को एक साथ पका कर खाया भी जाता था। यदि तिलोदन केवल श्राद्ध के ही काम में आता, तो देखनेवालों के मन में यह सवाल ही नहीं पैदा होता कि—यह किसके लिए होगा।

मसाले का भी जातक युग में प्रचार था[९]। तेल-नमक के साथ पिप्पली नाम का कोई मसाला काम में लाया जाता था।

तेलं लोणञ्च मे अत्थि पहूतं मय्ह पिप्फली॥

'मेरे पास तेल, नमक पिप्पली आदि मसाले भी हैं।' हलदी आदि का नाम भी जातक-कथाओं में आया है। 'खाजा' हमारा सुपरिचित मिष्टान्न है। जातक-युग में खाजा एक महत्त्वपूर्ण मिष्टान्न माना जाता था। एक राजा ऋषियों को यवागू और खज्जक (खाजा) खिलाया करता था[१०]।

आम के रस को अमरस कहा जाता है। तरीका यह है कि पके मीठे आम का रस निकालकर और उसमें दूध मिलाकर अमरस तैयार किया जाता है। 'जातक' में अमरस की भी चर्चा है। एक राजा अपने हाथ से आम के छिलके उतारकर, आम के रस में

---

१. निरुक्त, १।४
२. वैदिक इंडेक्स देखें।
३. कुम्मासपिण्ड जातक—४१५।
४. छान्दोग्यो०, १।१०।२
५. कात्यायन श्रौत, ५।८।१२—'मन्थः क्षीरसंयुतो धानः सक्तुः।'
६. ऋग्वेद, १०।७१।२
७. सत्तुभस्त जातक—४०२।
८. कच्चानिक जातक—४१७।
९. गोध जातक—३२५।
१०. ब्रह्माच्छत्त जातक—३३६।

शक्कर मिलाकर स्थविर को पिलाता है[1]। इससे उदर-वायु शान्त हो जाती है, ऐसा कहा है।

जातक की कथाओं का विशेष सम्बन्ध मगध से है—यों तो दूसरी जगहों की भी चर्चा है। मगध में धान अधिक होता है और पहले भी होता था। यही कारण है कि यहाँ का प्रधान भोजन चावल है और पहले भी था। जातक-कथाओं में रोटी या आँटे से बने भोज्य-पदार्थों का वर्णन कम है। यवागू-भात का स्थान-स्थान पर वर्णन है। फल का भी वर्णन मिलता है। जामुन और आम का ही उल्लेख सर्वत्र है। 'लीची' शायद उस युग में नहीं होती थी, यह बाद में यहाँ आई। आम और जामुन के साथ केले का भी उल्लेख मिलता है। बिहार में—विशेषतः मुजफ्फरपुर (वैशाली) की ओर—आम, लीची और केले की भरमार है। यदि लीची होती, तो जातक-कथाओं में उसे भी स्थान पाने का गौरव जरूर प्राप्त होता। हाँ, शकरकन्द जरूर था। शकरकन्द के गूदे का 'हलवा' या किसी तरह की कोई चीज बनती थी। जब बुद्धदेव अपने अन्तिम यात्रा-पथ पर थे, तो 'पावा' में चुन्द सोनार ने उन्हें 'शूकर-मार्दव' खिलाया था[2]।

'अट्ठकथा' के अनुसार यह 'शूकर-मार्दव' सूअर का मांस या शकरकन्द का पाक—दोनों में से एक था। हमने इसे शकरकन्द का पाक माना है[3]। पहले कह आये हैं कि फल की गुद्दी को भी 'मेदा' कहा जाता है। शूकर-कन्द प्रधान रूप से सूअरों का आहार रहा होगा। शूकर शब्द को हटा कर शकर-कन्द रखा गया। सम्भव है, यह नाम मुसलमानों के आने पर पड़ा या मुसलमानों ने ही इस शूकर-कन्द को शकर-कन्द बना दिया—मजहबी एतराज के कारण!

जातक-युग में मांस खाना कोई बड़ी बात न थी। खुले आम सभी मांस खाते थे—गृहस्थ, श्रमण, भिक्षु भी! भिक्षुओं को भिक्षा में मांस मिलता था। तपस्या करनेवाले 'गोह' पकड़कर और उसे आग में पकाकर खाते थे। अजीब तमाशा था! नगरों के बाहर खाने-पीने की सामग्री की दूकानें होती थीं। मांस की दूकानों का भी उल्लेख मिलता है[4]। सावत्थी के नगर-द्वार पर मछुए मछलियाँ बेचा करते थे। नगर की सफाई या मक्खियों के भय से मांस-मछली की दूकानें शहर के बाहर ही रहती थीं। कसाई-खाने 'सूना-गृह' भी होते ही थे। वाराणसी नगर के बाहर चौरास्ते पर मृग-मांस की दूकानें थीं[5]। हरिण का मांस शायद विशेष रूप से पसन्द किया जाता था, अतः उसके लिए अलग दूकान थी। दूसरे पशुओं के मांस के साथ मृग-मांस की बिक्री नहीं होती थी। शराब की दूकानें भी नगर के बाहर ही रहती थीं।[6] मांसाहार ने जैसे-जैसे अपना महत्त्व स्थापित किया, उसका व्यापार भी चमक उठा।

१. अब्भन्तर जातक—२८१।
२. महापरिनिब्बान सुत्त, १३६
३. उदान अट्ठकथा, १।३९९
४. थेरगाथा (अँगरेजी-अनुवाद), १६६
५. जातक—५।४।८; ६।६२।
६. वारुणी जातक—४७; पुण्णपाति जातक—५३

एक-एक गाड़ी मांस लादकर लोग बाहर से नगर की ओर आते थे और लकड़ी-काठ की तरह मांस बेचा करते थे[१]।

शिकारी[२] और चिड़ीमार[३] भी जंगलों में छाये रहते थे। ये वृक्षों पर चढ़कर शिकार करते थे और जाल भी फैलाते थे। बटेर आदि पंछी जालों में फँसाये जाते थे और उनका भक्षण होता था।

कबूतर खानेवाले भी थे। कबूतर एक प्यारा तथा निर्दोष पक्षी होता है, जो मनुष्य के संसर्ग में रहना पसन्द करता है; किन्तु मांस खानेवाले इन्हें भी चट कर डालते थे। एक जटिल (जटाधारी) साधु जंगल में रहता था[४]। प्रत्यन्त ग्रामवासी भक्तों ने उसे पकाकर कबूतर का मांस दिया। मांस खाकर बाबाजी प्रसन्न हुए। उसकी गुफा के पास कबूतरों का बसेरा था। जटिल ने चावल, घी, दही, जीरा और मिर्च मँगाकर रखा और कबूतरों के शिकार करने की धुन में लग गया।

मुर्गे का मांस भी खाया जाता था[५]। भात के साथ मुर्गे का मांस लोग खाते थे, 'मुर्ग-मोसल्लम' बनाना शायद नहीं जानते थे। मुर्गे भी पाले जाते थे। एक सेठ ने मुर्गा पाल रखा था और एक ब्राह्मण यह कहकर उससे मुर्गा माँगने गया कि—मैं पाँच सौ विद्यार्थियों को मन्त्र (=वेद) पढ़ाता हूँ। समय पर नहीं बोलनेवाला एक मुर्गा हमारे पास है, जिससे कष्ट होता है। यह मुर्गा समय पर बोलता है, मुझे दे दो[६]।

मुर्गा का उपयोग भोर की सूचना देने के लिए भी होता था और इसे खाया भी जाता था। ब्राह्मण और वैश्य भी मुर्गा पालते थे, चाहे उद्देश्य खाना हो या उसके द्वारा समय का ज्ञान प्राप्त करना।

सूअर का मांस भी खाते थे[७]। घर में यदि ब्याह-शादी होने का अवसर आया, तो पहले से सूअर पालकर रखा जाता था और उसे खूब खिलाकर मोटा बनाया जाता था। उत्सव के अवसर पर उसका मांस पकाकर सब खाते थे। निश्चय ही सूअर का मांस विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था। यदि ऐसी बात न होती, तो उत्सव के अवसर पर क्यों सूअर का मांस मित्रों और रिश्तेदारों को चखाया जाता।

भात और मांस खाना तो साधारण बात थी। दूसरों की बात अलग रही, तपस्वी तक मांस और शालि (चावल) का भात बहुत चाव से खाते थे[८]। 'कबाब' भी खाया जाता था[९]। एक गीदड़ ब्राह्मण से कहता है—

---

१. मंसजातक—३१५।
२. कुरंगमिग जातक—२१।
३. सम्मोदन जातक—३३।
४. रोमक जातक—२७७।
५. सिरि जातक—२८४।
६. „ „ „
७. सालुक जातक—२८६ और मुनिक जातक—३०।
८. केसव जातक—३४६।
९. सस जातक—३१६।

दुस्स मे खेत्तपालस्स रत्तिभत्तं अपाभतं,
मंस सूला च द्वे गोधा एकञ्च दधिवरकं,
इदं ब्रह्मण मे अत्थि एतं भुत्वा वने वस ॥

खेत की रखवाली करनेवाले का (रात्रि-भोजन के लिए) लाया हुआ भोजन —कवाब की दो सीखें, दो गोह, एक हाँड़ी दही—मेरे पास है। हे ब्राह्मण, इसे खाकर इसी वन में रहो।

कवाब और गोह का मांस भी चलता था तथा मांस के साथ दही खाया जाता था। गोह का मांस भी लोग खाते थे। जंगलों में रहकर तपस्या करनेवाले भी गोह को मारकर पका लेते थे और नमक-हल्दी मिलाकर उसे खा जाते थे।

एक राजपुत्र अपनी पत्नी के साथ कहीं से लौट रहा था। रास्ते में एक शिकारी मिला। दोनों—राजपुत्र और उसकी पत्नी—काफी थक गये थे। शिकारी ने एक पकाई हुई गोह (पाली में 'गोधा' शब्द आया है—'पक्का गोधा') का उपाहार दिया। राजपुत्र ने अपनी स्त्री से कहा कि—'तालाब से जल ले आओ, तब हम गोह को खायँ।' स्त्री तालाब से पानी लाने गई और उधर राजपुत्र पूरी गोह खा गया[१]। वह राजपुत्र वल्कल पहने हुए था और उसके शरीर पर कवच तथा कमर में तलवार भी बँधी थी। गोह का मांस इतना रुचिकर था कि खानेवाले उसमें से किसी को भाग देना नहीं चाहते थे। अपनी पत्नी के पूछने पर राजपुत्र ने कहा—'गोह रस्सी तुड़ाकर भाग गई'। षड्वर्गीय भिक्षु[२] गो-मांस भी खाते थे।

ब्राह्मण भी खुलकर मांस खाते थे[३]। एक ब्राह्मण की कथा में कहा गया है कि वह अपने पितरों का श्राद्ध करना चाहता था और भेड़ का मांस प्राप्त करने के लिए एक भेड़ की हत्या करने का प्रयत्न करता था। बुद्धदेव ने जब देखा कि लोग मांस का श्राद्ध करते हैं तब उन्होंने कहा 'पूर्वकाल में ऐसा नहीं होता था। जम्बूद्वीप (भारत)-वासियों से यह कर्म छुड़वा दिया गया था। अब यह कर्म फिर शुरू हो गया। इसके बाद उन्होंने कहा—

एवं चे सत्ता जनेय्युं दुक्खायं जाति सम्भवो।
न पाणो पाणिनं हञ्ञे पाणघाती हि सोचति ॥

"यदि प्राणी अच्छी तरह जान ले कि जन्म लेना (और मरना—जन्म-मरण का चक्कर) दुःखद होता है, तो फिर कोई किसी की हत्या न करे। जो किसी की हत्या करता है, उसका चिन्ताग्रस्त रहना स्वाभाविक है।"

बुद्धदेव भी मांस खाते थे। एक बार जैन साधुओं ने इस बात का घोर विरोध किया। घटना इस प्रकार है—सिंह सेनापति[४] ने बुद्धदेव को भोजन (भिक्षा) के लिए न्यौता दिया और मांससहित भोजन कराया। जैन साधुओं को जब इसका पता चला,

१. पक्कगोध जातक—३३३।
२. महावग्ग, ४
३. मतकभत्त जातक—१९।
४. तेलोवाद जातक—२४६।

तो उन्होंने यह कह कर भयानक विरोध किया कि—'तथागत जान-बूझ कर अपने लिए बनाये मांस को खाते हैं।' तरीका यह था कि भिक्षु भिक्षा के लिए बाहर जाते थे। भिक्षा में उन्हें जो कुछ (मांस भी) मिल जाता था, स्वीकार कर लेते थे। उनका—भिक्षुओं का तर्क था—"हम माँगते नहीं कि हमें अमुक चीज दो। यदि गृहस्थ मांस पकाता है, तो दोष-पाप उसके सिर पर है। हमारे लिए तो उसने जीव-वध किया नहीं, जो उसका पाप हमारे सिर पड़ेगा।" किन्तु सिंह सेनापति ने बुद्ध को न्यौता दिया और इन्हीं के लिए जीव-हत्या करके मांस बनाया और बुद्धदेव ने यह जानते हुए भी कि हमारे लिए ही जीव-हत्या की गई है, उन्होंने उस मांस को स्वीकार कर लिया। यह तो जान-बूझ कर जीव-हत्या करवाना और मांस खाना हुआ—यही तर्क जैनों का था।

बुद्धदेव ने एक गाथा कही—पूर्व समय में एक ब्राह्मण ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार प्रव्रजित होकर हिमालय में तपस्या करता था। वह नमक-खटाई खाने की इच्छा से वाराणसी पहुँचा। एक गृहस्थ ने उस तपस्वी को न्यौता दिया और थाली में मछली और मांस परोस कर सामने रख दिया। तपस्वी खा गया। वह गृहस्थ बोला—"यह मछली-मांस तुम्हारे ही लिए जीव-वध करके तैयार किया गया है। यह हत्या का पाप केवल हमारे सिर पर नहीं है, तुम पर भी है। वह तपस्वी बोला—

पुत्तदारम्पि चे हन्त्वा देति दानं असञ्ञतो।
भुञ्जमानो पि सप्पञ्ञो न पापेन उपलिप्पति॥

(साधारण मांस की बात अलग रही) यदि पुत्र और पत्नी को मारकर भी असंयमी व्यक्ति दान देता है (किसी को भिक्षा देता है, खिलाता है) तो भी बुद्धिमान् (ज्ञानी) खानेवाले को पाप नहीं लगता।"

स्पष्ट है कि जो व्यक्ति असंयमी है, यह नहीं जानता कि किसको कैसा सत्कार करना चाहिए, वह यदि जीव-हत्या करके ही किसी का सत्कार करता है तो सत्कार करानेवाले का क्या दोष! इसी सूत्र के अनुसार भिक्षु मांस-भक्षण करने में किसी तरह की भी हिचक का अनुभव नहीं करते थे।

मोर का शिकार भी होता था। मोरनी को सिखलाया जाता था कि वह चुटकी बजाने पर बोले और नाचे। मोर मोरनी के लोभ से आते थे और शिकारी के जाल में फँस जाते थे[१]। एक राजा ने मोर को पकड़वाया और मोर के प्रश्न करने पर कि—'तुमने मुझे क्यों फँसवाया'? राजा बोला—'मांस खाने के लिए।'

'प्रत्येक-बुद्ध'[२] वाराणसी-राजा के बाग में ठहर गये। वहाँ सुमंगल माली था। वही उनकी सेवा में लगा दिया गया। प्रत्येक-बुद्ध टहलते हुए किसी झाड़ी के किनारे बैठ गये। माली प्रत्येक-बुद्ध के लिए हरिण का मांस तैयार करना चाहता था। उसने काषायवस्त्रधारी प्रत्येक-बुद्ध को संध्या के झुटपुटे प्रकाश में हरिण समझ कर बाण से मार डाला।

---

१. मोर जातक—१५९।

२. सुमंगल जातक—४२०।

एक निर्ग्रन्थ[1] (जैन) साधु वन में गया। वहाँ पाँच सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे। वह साधु गोह, बछड़ा और गाय मारकर खा गया। आश्रम में गाय थी और उसका एक बछड़ा भी था। पास के ही बिल में गोह रहती थी। उसने सब को खा डाला। जैन मांस तो नहीं खाते, किन्तु जातक में ऐसी ही कथा आई है, जिसका हम उल्लेख कर रहे हैं।

जातक-युग के एक जटिल तपस्वी ने शिकार के लिए शेर पाल रखा था। वह शिकार पकड़ कर तपस्वी के निकट लाता था और दोनों मिलकर खाते थे—शेर और तपस्वी। एक बार ऐसा हुआ कि सूअरों ने संगठन करके उस पालतू शेर और उसके स्वामी तपस्वी, दोनों को मार डाला[2]। जातक-काल में मांस खाने की चाट यहाँ तक बढ़ी कि महासुत सोम राजा नर-भक्षी बन गया। वह अपनी प्रजा को मार-मार कर खा जाता था[3]।

जातक-कथाओं में मांस-भक्षण का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यज्ञ, देवता की पूजा और भिक्षु-सेवा—सभी अवसरों पर मांस का व्यवहार होता था[4]। बैल की हत्या करके यज्ञ करने का भी उल्लेख मिलता है[5]। एक ब्राह्मण था, जो वेदों का परम विद्वान् था। उसने वन में एक कुटिया बनाई। वहाँ अग्नि की स्थापना करके बैल मारकर उसके मांस की आहुति देने का निश्चय उसने किया। कुछ शिकारी आये और ब्राह्मण की अनुपस्थिति में बैल को मारकर खा गये। ब्राह्मण गाँव की ओर नमक लाने गया था। बैल को मार कर वह खाता ही, इसीलिए उसने नमक का जुगाड़ करना वाजिब समझा। अभागे की यह साध भी पूरी नहीं हुई। बैल की हत्या करके अग्नि-पूजा करने की चर्चा कोई विचित्र बात नहीं है। जहाँ फल, मूल, अन्न से भी मांस सस्ता हो और सभी मांस खाते हों, वहाँ बैल, गाय, सूअर, गोह आदि का कोई महत्त्व नहीं है।

ज्ञानपूर्वक मांस खाने में दोष नहीं माना जाता था। जीव-दया या अहिंसा का कोई खयाल न था। भिक्षु, जटिल, जैन, गृहस्थ, राजा, तपस्वी सभी, सभी तरह के मांस खाते थे। स्वयम् बुद्धदेव भी मांस खाते थे। चाहे ज्ञानपूर्वक मांस खायँ या अज्ञानपूर्वक, जीव-हत्या तो होती ही है। यदि भिक्षु यह घोषणा कर देते कि वे मांस स्पर्श नहीं करते, तो भिक्षा में गृहस्थ मांस देते ही नहीं। आज भी बहुत-से लोग मांस खाते हैं, किन्तु भिक्षुक को मांस नहीं देते। मुसलमान यह जानते हैं कि फकीर मांस खाते हैं, अतः वे रोटी-मांस भिक्षा में उन्हें ही देते हैं। उसी तरह जातक-युग के गृहस्थ जानते थे कि भिक्षु-धर्म में भोजन के समय और परिमाण पर बन्धन है; किन्तु 'क्या खाना और नहीं खाना'—इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतः वे मांस भी भिक्षा में

१. तित्तिर जातक—४३८।
२. तच्छसूकर जातक—४९२।
३. महासुतसोम जातक—५३७।
४. सिंगाल जातक—११३।
५. नङ्गुट्ठ जातक—१४४।

दे देते थे और भिक्षु-संघ को न्यौता देकर भी मांस खिलाते थे, जैसा 'तेलोवाद जातक' से पता चलता है। वैदिक युग से इस बात में भी जातक-युग का मेल नहीं बैठता। मुक्त मांसाहार वैदिक युग में न था और जातक-युग में था। यज्ञ का विरोध बुद्धदेव ने किया था और यज्ञार्थ पशु-हत्या का भी उन्होंने कड़ा विरोध किया था; किन्तु जनता को मांस खाने का और मांस-भक्षण के फलस्वरूप होनेवाला पशु-वध का उन्होंने विरोध शायद ही कभी किया हो।

यह जाहिर है कि यज्ञ से ब्राह्मणों का सीधा सम्बन्ध था और उनको लाभ भी यज्ञ से होता था। यज्ञ का अन्त होने से ब्राह्मणों के एक बहुत बड़े व्यवसाय का अन्त हो गया और वे दूसरे-दूसरे पेशों में लग गये। जैनों ने भी ब्राह्मणों का विरोध किया था[1]। जैन और बौद्ध—इन दोनों पाटों के बीच में पड़कर ब्राह्मण पिस गये।

जातक-कथाओं में बैल-गऊ मारनेवाले ब्राह्मण ही हैं। एक भी क्षत्रिय बैल या गऊ का वध पूजा या भोजन के लिए नहीं करता, वैश्य भी नहीं और न शूद्र या चांडाल ही गऊ-हत्या करते हैं। ब्राह्मण ही जातक-युग का 'गोहत्यारा-वर्ण' है !! क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण अछूते हैं—सब मार ब्राह्मण-वर्ण पर ही पड़ी थी।

धर्म और विश्वास

हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यहाँ हम धर्म शब्द को उसके व्यापक अर्थ में नहीं ग्रहण करेंगे। लोकमान्य तिलक ने कहा—"काल की मर्यादा केवल वर्त्तमान काल के ही लिए नहीं होती। ज्यों-ज्यों समय बदलता जाता है,त्यों-त्यों व्यावहारिक धर्म में भी परिवर्त्तन होता जाता है। इसलिए जब प्राचीन समय की किसी बात की योग्यता या अयोग्यता का वर्णन करना हो, तब उस समय के धर्म-अधर्म-सम्बन्धी विश्वास का भी अवश्य विचार करना पड़ता है[2]। लोकमान्य का यह मत अभिनन्दनीय है। कहा भी है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः[3] ॥

'युग-मान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं।'

ऐसा कोई भी आचार नहीं है, जो सर्वदा सब लोगों के लिए समान हितकर हो। यदि एक आचार को स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे श्रेष्ठ नजर आता है, तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है। जैसे—

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्त्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः[4] ॥

---

१. 'कल्पसूत्र'—(भद्रबाहुस्वामी) द्रष्टव्य—जिसमें ब्राह्मणवर्ण को हीनकुलोत्पन्न कहा गया है। —लेखक

२. कर्मयोगशास्त्र—कर्मजिज्ञासा (दूसरा प्रकरण)

३. महाभारत, शान्ति०, २५९।८

४. महा०, शान्ति०, २५९।१७।१८, भीष्म-वचन।

सभी धर्मों की जड़ आचार है और आचारों में भी बहुत भिन्नता हुआ करती है। यही कारण है कि धर्म बहुत सूक्ष्म और चक्कर में डालनेवाला होता है, वह समझ में नहीं आता—

सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नव[1]।

यह तुलाधार का वचन है। महाभारत के सत्यानृत अध्याय[2] में धर्माधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्ण-पर्व में कृष्ण कहते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः[3]॥

धर्म शब्द 'धृ' (=धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चित है कि जिसे सब प्रजा धारण करती है, वही धर्म है।

इसके बाद **'आचारप्रभवो धर्मः'**[4] भी माना गया है। मीमांसकों ने— **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**[5] धर्म की व्याख्या की है। किसी अधिकारी पुरुष का, आप्त पुरुष का यह करो, यह मत करो, **'चोदना'** यानी प्रेरणा है। जबतक इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी, कोई आप्त-पुरुष आदेश देनेवाला नहीं, रास्ता बतलानेवाला नहीं था। सभी अपने मन से जो जी में आया, करते थे; कोई दूसरा उपाय भी न था।

आर्य-ऋषि अन्त में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देते हैं और कहते हैं—

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।

× × × ×

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्[6]॥

श्येन (बाज) ने राजा शिवि से कहा है कि— 'हे सत्यविक्रम, जो धर्म अविरोधी हो, वही धर्म है।'

'परस्परविरुद्ध धर्मों का तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देखकर ही प्रत्येक अवसर पर अपनी बुद्धि के द्वारा सच्चे धर्म और कर्म का फैसला करना चाहिए'[7]।

मानव को स्वभाग्य-निर्णय का अशेष अधिकार आर्य-ऋषियों ने दिया है। सब कुछ बतलाकर अन्त में कह दिया कि "शुद्ध बुद्धि से जैसा उचित समझो, अपने लिए

१. महाभारत, शान्ति०, २६१।३७
२. महाभारत, शान्ति०, १०९।१२
३. महा०, कर्ण०, ६९।५९
४. महा०, अनु०, १०४।१५७
५. जैमिनि-सूत्र, १।१।२
६. महाभारत, वन०, १३१। ११।१२ और मनु०, ९।२९९ द्रष्टव्य।
७. जर्मन दार्शनिक की दो प्रसिद्ध पुस्तकें देखिए—
   1—Critique of Pure Reason
   2—Critique of Practical Reason

रास्ता चुनो, यहाँ शताधिक मार्ग हैं, सब पर श्रेष्ठ पुरुषों के चरण-चिह्न उभरे हुए हैं, किस मार्ग को अच्छा या बुरा कहा जाय। तुम स्वयम् अपनी शान्त और सात्त्विक बुद्धि का सम्यक् रीति से प्रयोग करो और अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि प्राप्त करो।"

वेदों में, दूसरे आप्त आर्य-ग्रन्थों में धर्म के सम्बन्ध में इसी तरह की बातें मिलती हैं। 'ऋत' और 'सत्य' को ही वेदों ने धर्म माना है। ऋत और सत्य की सही-सही पहचान तो बुद्धि (शुद्ध सात्त्विक बुद्धि) से ही की जा सकती है। असात्त्विक और भ्रम-ग्रस्त बुद्धि से न तो 'ऋत' का बोध हो सकता है और न 'सत्य' का। ऋषि का वचन है—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय[1] ॥

"असत्य से सत्य की ओर मुझे प्रेरित करो, अन्धकार से प्रकाश की ओर मुझे प्रेरित करो, मृत्यु से मुझे अमरता (अमृतत्व) की ओर प्रेरित करो।"

इन तीन वाक्यों में ही आर्य-धर्म का पूरा स्वरूप निहित है। असत्य से सत्य की ओर, तम (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान, बोध) की ओर, मृत्यु से अमरता (मोक्ष, निर्वाण) की ओर जाने के लिए प्रार्थना की गई है। तीन कष्ट-पूर्ण स्थितियों (असत्य, तम और मृत्यु) से त्राण पाने के लिए जो प्रयत्न किये जायँगे, वही धर्म है और धर्म का परिणाम है—सत्य, प्रकाश और अमृतत्व! वैदिक आर्यों का धर्म-विचार यही था। वे सत्य, प्रकाश और अमरता के लिए व्याकुल रहते थे। ऋषियों ने उन्हें इन तीनों दिव्य स्थितियों के प्राप्त होने के उपाय बतलाये हैं। सारा आर्य-वाङ्मय प्रमाणस्वरूप आपके सामने उपस्थित है।

अब हम जातक-युग को आपके सामने उपस्थित करते हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—

"उस युग की राजनीति पर वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध-जैसे धार्मिक नेताओं का, जिन्होंने जैन और बौद्ध धर्म की स्थापना की,... प्रभाव था। मौलिक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि ये दोनों धर्म स्वतन्त्र या असम्बद्ध आन्दोलनों के रूप में उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु ब्राह्मण-धर्म या वैदिक धर्म-रूपी एतद्देशीय संस्कृति की शाखाओं के रूप में इनका उदय हुआ। इन्होंने पूर्ववर्त्ती धर्म की कुछ बातों को चुना और अन्य बातों को छोड़कर उन पर ही महत्त्व देते हुए उन्होंने अपने दृष्टिकोण का आधार बनाया। दोनों का संगठन भिक्षु-संघ के रूप में हुआ; अतएव पहले से चले आते हुए जो बहुसंख्यक परिव्राजक-सम्प्रदाय थे, उनमें ही ये दो और बढ़ गये, यद्यपि ये उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए[2]।"

इस उद्धरण के बाद कहने को और कुछ बाकी नहीं रह जाता। बहुत-से

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३।२८
२. 'हिन्दू-सभ्यता' (हिन्दी-संस्करण, १९५५), पृ० २११

बौद्धेतर धर्माचार्य बुद्धदेव के उपदेशों से खिंचकर बौद्ध धर्म में आये। जैन धर्म ने भी अचेलक और आजीवकों से बहुत-कुछ लिया[१]।

'ब्रह्मजाल-सुत्त' के अनुसार बौद्धधर्म के उदय के श्रमणों और ब्राह्मणों के ६२ दार्शनिक मतों या 'दिट्ठियों' का होना सिद्ध होता है[२]। जैन-ग्रन्थों के अनुसार यह संख्या ३६३ है। आजीवक, निग्गंठ, मुण्डसावक, जटिलक[३], परिव्राजक, मगण्डिक, तेडण्डिक[४], अविरुद्धक, गोतमक, देवधम्मिक आदि। दो परिव्राजक-सम्प्रदाय और थे—ब्राह्मण और अञ्ञतिरिथय[५]।

ब्राह्मण परिव्राजक बड़े विद्वान् और वाद-विवाद में अजेय होते थे[६]। पूरणकस्सप, मंखलिगोसाल, अजितकेस कम्बलि, पकुद्ध कच्चायन, निग्गंठ नाथपुत्त, संजय वेलट्ठपुत्त आदि आचार्य थे, जो बहुत प्रभावशाली भी थे[७]। पूरणकस्सप के ८०,००० तो अनुयायी ही थे।

निग्गंठ नाथपुत्त जैन धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर थे। ऐसे भी भिक्षु थे, जो जीविका के लिए, पेट चलाने के लिए भिक्षु बन गये थे। बुद्धदेव ऐसे भिक्षुओं से चिढ़ते थे[८]। इन आचार्यों के अतिरिक्त और भी बहुत-से आचार्य थे, जो अ-बौद्ध थे और वे अपने-अपने मत का प्रचार करते थे। कई ऐसे ब्राह्मण-सम्प्रदाय भी थे, जो वैदिक वाङ्मय का अध्ययन-अध्यापन करते थे। 'चरण' (विद्वत्परिषद्) भी कई थे। इन चरणों में एक-से-एक माने हुए विद्वान् थे[९]। भारद्वाज, पोक्खसाति, वासेट्ठ, जाणुस्सोयि, तोदेय्य आदि आचार्य वेदों के पारंगत विद्वान् थे। बौद्ध ग्रन्थों[१०] से पता चलता है कि बौद्धसंघ (या जैनसंघ) के अतिरिक्त भी बड़े-बड़े 'चरण' थे, जिनमें ब्राह्मण-विद्वानों की कमी न थी। इनके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। श्रमण[११] और ब्राह्मणों के बहुसंख्यक और अनेक प्रकार के सम्प्रदाय थे।

जातक-कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि उस युग का भारत या तो मोक्षमार्गी था, या यक्ष, भूत, पिशाच आदि उपदेवताओं का पूजक। या तो सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति में पहुँचकर लोग तत्त्व-चिन्तन करते थे या अज्ञान के सबसे निचले स्तर पर गिरकर प्रेत-पूजा करते थे। बीच की कोई स्थिति ही नहीं थी। बौद्ध या जैन

१. 'जैन-सूत्र' की भूमिका—(जैकोबी) और 'उवासगदसाओ' (हर्नले) पृष्ठ १०८—१११।
२. सूत्रकृतांग, २।२।७९
३. महावग्ग, १।३८।३
४. महा०, १२।१०
५. अंगुत्तर, ४।३५
६. चुल्लवग्ग, ५।३—२
७. संयुत्त०, १।६९
८. मज्झिम०, १।४८३
९. सुत्तनिपात, ५९४
१०. देखिए—दीघनिकाय, १।१८७; ३१; ३६; १।१७५—७; ४८१।३; ४८३—४९७; ४९७।५०१; ५०१।५१३; ५१३।५२४; अंगुत्तर, २।२९—३९; मज्झिम०, २।१—२२ आदि-आदि।
११. उदान, पृ० ६६—७ (पालि-टेक्स्ट-सोसायटी)

आचार्य शून्य की ओर देखते थे और जनसाधारण यक्षों और प्रेतों के डर से थर-थर काँपता था। बौद्ध भी यक्ष, प्रेत, पिशाच, जल-प्रेत, वृक्ष-देवता आदि के अस्तित्व को मानते थे। स्वयं बुद्धदेव इनका होना स्वीकर करते थे, तो दूसरे की चर्चा हम क्या करें। 'मार' बौद्धयुग का 'शैतान' था, जो बुद्धदेव को सिद्धि-लाभ के समय काफी सता चुका था। चमत्कारों का भी महत्त्व था, जैसे आकाश में उड़ना, अदृश्य हो जाना, सदेह पितृलोक चले जाना और लौट आना, किसी को यमराज और पिशाच दिखला कर डरा देना आदि। यक्ष और प्रेत प्रायः मनुष्यों के बीच में आ जाते थे और उन्हें पीड़ित करते थे। श्मशान में जाकर सिद्धि-लाभ करना या भूत सिद्ध करना आदि गर्हित कर्मों का वर्णन भी जातक-कथाओं में है। जंगलों में रहनेवाले यक्ष एक साथ पाँच-पाँच सौ व्यापारियों को खा डालते थे और यक्षिणी ने तो एक राजा के पूरे परिवार को खा डाला था।

पूजा-उत्सव भी होते थे, मगर यक्षों या प्रेतों की पूजा ही होती थी। नगर के चौरास्तों पर मांस और शराब के पुरवे रात को रख दिये जाते थे और यह आशा की जाती थी कि यक्ष या प्रेत इस पूजा को ग्रहण करेंगे। ऐसी कहानियों से जातक-कथाएँ भरी पड़ी हैं। समझ में नहीं आता कि कट्टर शून्यवादी बौद्ध इतना नीचे कैसे उतर आये और यक्षों और प्रेतों तक के अस्तित्व को उन्होंने विना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया।

जातक-युग में दूसरे प्रेतों से यक्ष अधिक बलवान् थे और उनकी पूजा-अर्चा खूब होती थी। दैत्य भी बड़े ही तीखे होते थे, जो जंगली रास्ते से जानेवालों को मारकर खा डालते थे। एक-एक वन एक-एक नाम से बदनाम था—चोरों का वन, साँपों का वन, भूतों का वन[१]! पाँच प्रकार के वनों[२] का उल्लेख मिलता है—

क—चोर कान्तार,

ख—व्याल-कान्तार,

ग—निरुदक-कान्तार (भूतों का जंगल, शून्य मैदान),

घ—अमनुष्य-कान्तार और

च—अल्पभक्ष-कान्तार।

'भूतों का वन' यह आज के लोग सुनकर हँसेंगे; किन्तु जातक-युग के मानव भूतों के अस्तित्व को मानते थे और बौद्ध भी भूतों के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। इसी जातक (अपण्णक जातक १) में एक कथा है—कुछ व्यापारी बैलगाड़ियों पर सामान लादकर व्यापार के निमित्त जाते थे। रास्ते में भूतों का जंगल या मैदान मिला। एक दैत्य आगे बढ़ा और उसने इशारे से पूछा कि कहाँ जाते हो? रास्ते में पानी नहीं था। दैत्य ने धोखा देकर गाड़ियों पर का संचित जल नष्ट करवा दिया। उसे ज्ञान था कि आगे पानी नहीं है। बैल और आदमी प्यास से मरेंगे, तो हम सब मिलकर खा जायँगे।

१. अपण्णक जातक—१।

२. खुरप्प जातक—२६५।

एक जगह पानी के दैत्य की कथा आई है। जो प्यासा तालाब में उतरता था, उसे वह पकड़ कर खा जाता था। पानी के बाहर उसकी ताकत नहीं चलती थी[१]।

एक यक्ष से एक योद्धा भिड़ गया। उसने जितने अस्त्र चलाये सभी यक्ष के रोयें से चिपक गये। यह यक्ष भी जंगल में रहता था। अन्त में उस योद्धा के साहस पर वह रीझ गया और उसे जीते-जी जाने दिया[२]।

यक्षिणियाँ भी थीं, जो अपने रूप-जाल में पुरुषों को फँसाकर मार डालती थीं और खा जाती थीं[३]। यक्षिणियों का वर्णन कई स्थानों पर आया है। हम आगे इसका उल्लेख करेंगे।

लोग वृक्षों की पूजा इसलिए करते थे कि उस पर के भूत या देवता जो भी हों, प्रसन्न हो जायँ। कुण्डकपूव जातक[४] की कथा है। एक दरिद्र ने रेंड़ के वृक्ष की पूजा की। उस वृक्ष पर एक भूत या देवता रहता था। वह प्रसन्न हो गया और बोला—'तुम धनी होते तो मुझे खाजा खिलाते, गरीब हो इसीलिए पूआ ही सही।' उस भूत ने दरिद्र को बतला दिया कि इस वृक्ष के चारों ओर घड़े में धन गड़ा है। भूत धन भी देते हैं—ऐसा विश्वास जातक-युग के भोले-भाले मनुष्यों में था। धन की महिमा अत्यधिक बढ़ गई थी, सभी धन के लिए बेतरह व्यग्र रहते थे। जब धन की महिमा बढ़ी थी, तो दरिद्रता के साथ ही चोर-बेईमान भी बढ़ गये थे।

मन्त्र-बल से धन-वर्षा करने का भी वर्णन जातक में है[५]। यह धनी बनने का सहल तरीका था। मन्त्र पढ़कर मुर्दे को भी लोग जिलाया करते थे[६]। कुछ विद्यार्थियों ने एक मरे हुए को मन्त्र पढ़कर जिलाया, जो जीवित होते ही उन्हें खा गया। जब भूत-प्रेत थे, तो मन्त्र-तन्त्र भी होंगे ही। तालाब में नागराज भी रहते थे, जो पानी में आग लगा देते थे[७]।

कहीं 'यक्षनगर' भी था[८]। पता नहीं, वह कहाँ था। पाँच सौ व्यापारियों को यक्षिणियाँ लुभा कर यक्षनगर में ले गईं। ढाई सौ व्यापारी तो अपने को खतरे में फँसा जानकर भाग निकले और शेष यक्षिणियों के प्रेम में फँस कर मारे गये। यक्षिणियाँ मारकर उन्हें खा गईं। यक्ष नाराज होकर बड़ा उत्पात करते थे। एक यक्ष बोधिसत्व को मारने दौड़ा, तो स्वयम् शक्र ने (इन्द्र, जिसके वर्णन से वेद भरे पड़े हैं) आकर उनकी रक्षा की[९]। यक्ष कितने दुर्दान्त होते थे, इसका पता इसी से चलता है

१. नलपाण जातक—२०।
२. पंचावुध जातक—५५।
३. तेलपात जातक—९६।
४. कुण्डकपूव जातक—१०९; पलास जातक—३०७; वग्घ जातक—२७२; पुचिमन्द जातक—३११ आदि-आदि।
५. वेदब्भ जातक—४८।
६. सञ्जीव जातक—१५०।
७. घातसन जातक—१३३ और दद्दर जातक—३०४।
८. वालाहस्स जातक—१९६।
९. अयकूट जातक—३४६।

कि स्वयम् शक्र को बोधिसत्त्व की रक्षा के लिए दौड़ना पड़ा। यक्ष को नियमानुसार 'बलि' दी जाती थी। बलि नहीं मिलने से ही वह यक्ष कुपित हुआ और बोधिसत्त्व की जान लेने के लिए दौड़ पड़ा।

कोई-कोई बुद्धिमान् यक्ष की चपेट से बच भी निकलते थे। 'सुतनु' नाम का एक गरीब आदमी था। वह मजदूरी करता था। एक राजा शिकार के लिए कहीं गया। वह थककर एक वृक्ष के नीचे सो गया। उस वृक्ष पर एक यक्ष का घर था। उस यक्ष का नाम था—मखादेव। कुबेर (वेदोंवाले कुबेर) ने उसे यह अधिकार दिया था कि उसके वृक्ष के नीचे सोनेवालों को वह खा जाय। राजा को उसने धर दबोचा। यह प्रतिज्ञा करके राजा ने छुटकारा पाया कि वह प्रत्येक दिन एक आदमी यक्ष को खाने के लिए भेजेगा। जेल का प्रत्येक कैदी वह यक्ष खा गया—राजा नित्य एक-एक कैदी भेजता जाता था। जब जेलों में ताले पड़ गये, तब एक हजार की थैली हाथी पर रखवा कर 'यक्ष के लिए भोजन बननेवाले' की खोज शुरू हुई। यह सुतनु गरीब तो था ही, धन के लिए मरने पर उतारू हो गया। वृद्ध माता सुखी रहे, यही इसका मंशा था। उसने यक्ष को समझा-बुझा कर शान्त किया और अपनी जान बचाई[१]।

यक्ष-पूजा एक अजीब-सी चीज है। वेदों में यक्ष नहीं हैं। रामायण में भी यक्षों का कोई स्थान नहीं है। महाभारत में यक्ष नजर आते हैं; किन्तु जातक-युग में तो इन्होंने अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था। यक्षनगरी तक का उल्लेख मिलता है।

एक राजा के सिर पर शनीचर चढ़ा, तो उसने एक यक्षिणी को रानी बनाकर फिर पटरानी बना दिया[२]। वह यक्षिणी पहले जिसके पास थी, उसके पाँच आदमियों को मारकर खा चुकी थी। राजा ने एक न माना। यक्षिणी ने पटरानी बनकर राजा से कहा कि मुझे अपनी प्रजा पर शासन करने दो, कह दो कि यह सारी प्रजा तेरी है। राजा ने कहा—'मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। जो राजाज्ञा का उल्लंघन करते हैं, उन्हीं पर मैं शासन करता हूँ। प्रजा तो पूर्ण स्वतन्त्र है।'

यक्षिणी बोली—'तब महल के भीतर जो हैं, उनपर मुझे शासन करने का अधिकार दो।'

राजा ने 'तथास्तु' कहा और एक रात को उस यक्षिणी ने अपने जातिवालों (यक्षों) को बुलाकर महल में रहनेवाले—रानियाँ, राजकुमार, राजकुमारियाँ, राजा, उसके रिश्तेदार, सेवक आदि—सभी लोगों को खा डाला। जो पशु महल के भीतर थे, उसने उनको भी नहीं छोड़ा—कुत्ते, मुर्गे आदि सभी यक्षों के आहार बने।

राक्षसों का भी उल्लेख मिलता है[३]। एक स्त्री कहीं से लौट रही थी। रास्ते में

१. सुतनु जातक—३९८।

२. तेलपत्त जातक—९६।

३. समुग्ग जातक—४३६।

एक राक्षस मिला, जिसने साथवाले रक्षकों को खदेड़ दिया और उस स्त्री के रूप पर मोहित हो जाने के कारण उसे अपनी गुफा में उठा लाया और अपनी पत्नी बनाकर रहने लगा। उसे वह घी, चावल, मत्स्य, मांस, फल सब-कुछ लाकर देता था। वह स्त्री को एक पेटी में बन्द करके उस पेटी को ही निगल जाता था। उसे भय था कि अकेला पाकर वह स्त्री भाग न जाय।

इसका मतलब यह हुआ कि राक्षस या तो मायावी होते थे या २०० या ३०० फुट विशालकाय। ६ फुट लम्बी पेटी को निगलना आसान काम नहीं है।

किन्नरों की चर्चा भी जातक-कथाओं में आई है। स्वयम् बोधिसत्त्व किन्नरी के गर्भ से पैदा हुए थे[१] और 'रजत-पर्वत' पर रहते थे। ये किन्नर बेचारे कमजोर होते थे। वाराणसी के राजा ने चन्दकिन्नर को बाणों से बींध डाला था। उसकी पत्नी पर राजा मोहित हो गया था। इसी गाथा में यह भी है कि चन्दकिन्नर की पत्नी ने राजा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। राजा लौट गया। किन्नरी के विलाप पर शक्र आये और प्रसन्न होकर उन्होंने घायल किन्नर पर अमृत छिड़ककर उसे मरने से बचा लिया।

एक राजा शिकार के लिए गया, तो उसने किन्नरों को देखा[२]! उसने दो किन्नरों को फूट-फूटकर रोते देखा। वह 'गन्धमादन' पर्वत था। किन्नरों की आयु १००० साल की होती थी और उन्हें कभी रोग भी नहीं होता था—हजार साल तक स्वस्थ और जवान! स्वयं किन्नर कहता है—

आयुञ्च नो वस्स सहस्स लुद्द
न चन्तरा पापको अत्थि रोगो।

जो हो, पर मनुष्य किन्नरों को पशु-योनि का जीव मानते थे[३]। किन्नर पशु-योनि के जीव हो सकते हैं; किन्तु एक किन्नरी पर एक राजा जब मुग्ध हो गया था, तब हम यह कैसे मानें कि किन्नरों की शक्ल बन्दरों या किसी दूसरे प्रकार के पशु-जैसी होती थी। किन्नरियाँ बड़ी सुन्दरी होती थीं। किन्नर प्रेमी स्वभाव के होते थे। वे अपनी सुन्दरी पत्नियों के साथ नाचते-गाते, और फूल-माला, चन्दन-अगर, सुवास के वातावरण में स्नेहोन्मत्त रहा करते थे। किसी का अहित करना या यक्षों की तरह नरमांस-भक्षण करना किन्नरों को रुचिकर न था। कोसलराज किन्नरों के साथ पर्वत पर बस गया था—वह राज्य के झगड़ों से अलग हटकर स्नेह और आनन्द के प्रकाश में लीन हो गया था।

✓नागों का भी वर्णन है। नाग सीधे-सादे साँप न थे। वे बड़े तेजस्वी और यक्षों की तरह बलवान् थे[४]। जटिल काश्यप अग्निपूजक था या यज्ञ-अग्निहोत्र करता था। भगवान् बुद्ध ने जटिल काश्यप की यज्ञशाला में रात-भर रहने की इच्छा

१. चन्दकिन्नर जातक—४८५।
२. भल्लाटिय जातक—५०४।
३. " " "
४. महावग्ग, १४

प्रकट की। जटिल बोला—'आप रह सकते हैं; मगर वहाँ एक बड़ा ही चंड (क्रोधी, उग्र) दिव्य शक्तिधारी, आशी-घोर-विष नागराज है।'

बुद्धदेव अग्निशाला में रात-भर के लिए रहने गये। नाग क्रोध से धुआँ उगलने लगा। बुद्धदेव ने भी धुआँ पैदा कर दिया। नाग ने आग पैदा कर दी। बुद्धदेव ने भी यही किया। अन्त में नाग हार गया और उसका सारा तेज बुद्धदेव ने खींच लिया।

नाग मानव-रूप भी धारण करते थे[१]। मणिकण्ठक-नामक नागराज मनुष्य का रूप धारण करके एक तपस्वी के निकट जाता था और बातें करता था। फिर अपना रूप भी धारण कर लेता था। एक दूसरी गाथा में नाग के वैभव का वर्णन है। मगधराज अंगराज से युद्ध में हारकर घोड़े पर भागा[२] और चम्पा नदी के तट पर पहुँचा। उसने सोचा कि 'डूब मरना चाहिए'। वह घोड़े पर चढ़ा हुआ पानी में कूद गया। मगर डूबा नहीं, चम्पेय्य नागराज के सामने पहुँच गया। नागराज चम्पा नदी के भीतर—अथाह जल के भीतर रहता था। नागराज रत्नमण्डप बनवाकर बड़ी भारी मण्डली के बीच में बैठा था।

पर नागराज को गरुड़ और सँपेरों का भी भय था। नागराज का शरीर चाँदी की माला-जैसा और सिर लाल कम्बल की गठरी-जैसा गोल था। नाग कन्याएँ पतिप्राणा और सुन्दरी होती थीं। नागराज के द्वारा व्यापारियों की रक्षा होने की भी चर्चा है[३]। पाँच सौ व्यापारी नौका पर चढ़कर सागर के किसी टापू में व्यापार करने चले। नाव टूट गई। एक व्यापारी बच गया। शेष मच्छों के पेट में चले गये। वह 'करम्बिय-पत्तन' पहुँचा। वहाँ नागराज ने उसकी सेवा की। उस नागराज का नाम था 'पण्डर'। गरुड़राज भी उस व्यक्ति का सत्कार करता था—नाग और गरुड़ एक साथ रहते थे।

शङ्खपाल नागराज 'कर्णपेण' नदी से निकलकर अपने अनुयायियों को उपदेश दिया करता था[४]। वह नागराज बाँबी में भी रहता था और निश्चय ही वह साँप ही था; क्योंकि कुछ शिकारी उस शङ्खपाल को मारकर खाने का प्रयत्न करते देखे गये हैं। उसके फण पर प्रहार करके उसकी हत्या करने का प्रयत्न शिकारी करते हैं। नागों के वर्णन से ऐसा लगता है कि वे साँप न होकर मानवों की एक जाति थी; किन्तु बात ऐसी न थी। नाग साँप थे; किन्तु वे मनुष्य-रूप धारण करते थे, बातें करते थे और मनुष्यों के साथ मित्रता भी निबाहते थे। नाग शील धारण भी करते थे और उपोसथ-व्रत भी करते थे। त्यागी तो ऐसा होते थे कि अपनी चमड़ी और मांस तक दान करने में नहीं हिचकते थे। यह शङ्खपाल नाग ऐसा ही त्यागी-तपस्वी साँप था। शङ्खपाल प्रव्रजित हो गया था। इसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। यह अजीब-सी बात है। देखने से पता चलता है कि इसी तरह के भूतों या जीवों से

१. मणिकण्ठ जातक—२५३।
२. चम्पेय्य जातक—५०६।
३. पण्डर जातक—५१८।
४. सङ्खपाल जातक—५२४।

साँप बहुत ही समझदार और संस्कारवान् होता था। किसी पिशाच, राक्षस, यक्ष या प्रेत की बौद्धधर्म स्वीकार करने की चर्चा नहीं है; किन्तु शङ्खपाल साँप बिल्कुल ही त्यागी और तपस्वी बन गया था।

गरुड़राज का भी उल्लेख मिलता है। गरुड़ भी मानव-रूप धारण करके मनुष्यों के साथ मेल-जोल रखता था। वह जुआ खेलता था और मानवी स्त्रियों से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करता था[१]। एक राजा के महल को एक मानव-रूपधारी गरुड़ ने भ्रष्ट कर दिया था। गरुड़राज भी मायावी था। यह एक दूसरी गाथा है, जब उसने आँधी-तूफान पैदा करके उसकी रानी को भगा लिया। वह राजा के साथ जुआ खेलने आता था और बहुत ही सुन्दर युवक का रूप धारण करके स्त्रियों को मोहित कर लेता था। रानी उस गरुड़राज पर मोहित हो गई थी। बाद में ज्ञान होने पर उसने रानी को लौटा दिया। राजा अपनी रानी पाकर सुखी हो गया[२]।

कभी-कभी राजा की कोई घोषणा सुनने को बड़ी भीड़ इकट्ठी होती थी[३]। इस भीड़ में केवल मनुष्य ही नहीं होते थे—देवता, नाग तथा गरुड़ भी रहते थे। नाग और गरुड़ एक ही साथ भीड़ में जमा हो जाते थे[४]। एक बार ऐसा ही हुआ। एक नाग खड़ा-खड़ा घोषणा सुन रहा था कि गरुड़ ने उसके कन्धे पर हाथ रखा। नाग ने पलटकर देखा और पहचान लिया कि वह उसका वंश-शत्रु गरुड़ है। नाग भागा और गरुड़ ने खदेड़ा। नाग भागता हुआ नदी के किनारे गया और एक तपस्वी के वल्कल में घुस गया। तपस्वी ब्राह्मण बोधिसत्त्व थे। नाग मणि का रूप धारण करके उनके वल्कल में छिप गया। ब्राह्मण की शरण में जाने के कारण गरुड़ ने नाग को पकड़कर खाना उचित नहीं समझा। गरुड़ ब्राह्मण का आदर करता था!

इधूरगानं पवरो पविट्ठो
सलस्स वण्णेन पमोक्खमिच्छं।
ब्रह्मञ्च वण्णं अपचायमानो
बुभुक्खितो नो विसहामि भत्तुं॥

गरुड़ का यह कथन—'**ब्रह्मञ्च वण्णं अपचायमानो**' कि मैं तुम्हारे ब्राह्मण-वर्ण (श्रेष्ठ वर्ण) की पूजा करने के कारण '**बुभुक्खितो नो विसहामि भत्तु**' भूखा रहकर भी तुम्हारे वल्कल में घुसे हुए इस नाग को खा नहीं सकता हूँ—यह प्रमाणित करता है कि जातक-युग का गरुड़ साधारण पक्षी-मात्र नहीं था—देवतात्मा था और विचारवान् था।

पुराणों में नाग और गरुड़ का जैसा वर्णन हमें मिलता है, उसी तरह का वर्णन जातकों में है। कोई अन्तर नहीं है। पुराणों में नाग—साँप भी थे और तरह-तरह के

१. काकाती जातक—३२७।
२. सुसन्धि जातक—३६०।
३. अंगुत्तर निकाय, ११वाँ निपात।
४. उरग जातक—१५४।

रूप भी धारण करते थे। भीम ने नाग-कन्या 'उलूपी' से विवाह भी किया था तथा नागराज का उन्होंने आतिथ्य भी ग्रहण किया था।

जरत्कारु ऋषि ने वासुकि नाग की बहन से ब्याह कर लिया था[१]—यह कथा महाभारत में है। नागों की कितनी जातियाँ होती थीं[२], इसका उल्लेख भी महाभारत में मिलता है। गरुड़-चरित्र भी है[३]।

'महाभारत' के भी गरुड़ और नाग जातक-युग में थे और उसी रूप में थे। पुराणों का, विशेष रूप से महाभारत का, प्रभाव, ऐसे मामलों में—जातक की कथाओं पर पूरी तरह हावी है। लाख प्रयास करके भी भगवान् बुद्ध आर्य-वाङ्मय के और आर्य-संस्कृति तथा मान्यताओं के प्रभाव को मिटा न सके—मिटाना तो दूर रहा, उसी में रँग गये। यक्ष, किन्नर, शक्र (इन्द्र), नाग, गरुड़, देवपुत्र, राक्षस, देवकन्या सब-के-सब जातक-कथाओं में हैं। पूजा, वलिदान, उत्सव आदि के द्वारा इनको तृप्त करने का भी वर्णन बार-बार मिलता है। देखिए—

(१) बकब्रह्म जातक—४०५
(२) कोटि सिम्बलि जातक—४१२
(३) निग्रोध जातक—४४५
(४) मट्ठकुंडली जातक—४४९
(५) बिलारिकोसिय जातक—४५०
(६) महाकण्ट जातक—४६९
(७) चन्दकिन्नर जातक—४८५
(८) भिस जातक—४८८
(९) चम्पेय्य जातक—५०६
(१०) भल्लाटिय जातक—५०४
(११) पण्डर जातक—५१८
(१२) अलम्बुसजातक—५२३
(१३) सङ्खपाल जातक—५२४
(१४) सुधा भोजन जातक—५३५
(१५) तेलपत्तजातक—९६
(१६) धोनसाख जातक—३५३
(१७) समिद्धि जातक—१६७
(१८) केलिसील जातक—२०२
(१९) भद्रघट जातक—२९१
(२०) काकाती जातक—३२७
(२१) सुसन्धि जातक—३६० आदि-आदि।

महाभारत का आस्तीक-पर्व (आदि-पर्व के अन्तर्गत) देखिए।
महाभारत, आदि०, अ० ३५, श्लो० ५ से १६ तक।
महाभारत, आदि०, अ० ३४

पुराणों और महाभारत की कथाएँ भी जातक-कथाओं में हैं और देवी, देवता भूत, यक्ष सब हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वयं भगवान् बुद्ध पुराणों और महाभारत की कथाओं को किसी हद तक मानते थे—गरुड़, नाग, यक्ष, किन्नर, शक्र, राक्षस आदि को तो मानते ही थे, उनकी अलौकिक शक्तियों को भी बिना तर्क के स्वीकार करते थे। जैसे—आकाश में चलना, गायब हो जाना, इच्छानुसार रूप धारण करना, आग प्रकट करना, बदली और तूफान पैदा कर देना, आदि-आदि। स्वयं बुद्धदेव ऐसे चमत्कार यदा-कदा दिखलाकर भक्तों को चकित कर देते थे। दूसरे सिद्ध बौद्ध भी चमत्कार दिखलाया करते थे।

अम्बष्ठ से भगवान् बुद्ध ने कुछ कहलवाना चाहा[१]। वह विद्वान् ब्राह्मण था। चुप रहा। एकाएक उसने देखा कि एक यक्ष, जिसका नाम वज्रपाणि था, आकाश में—उसके सिर पर—दहकता हुआ लोहे का मूसल लिये खड़ा है। वह डर से थर-थर काँपने लगा। भगवान् बुद्ध ने कहा—'कोई तथागत से तीन बार अपने धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर नहीं देगा, तो उसका सिर यहीं सात टुकड़े हो जायगा[२]।'

अपने अन्तिम समय में भगवान् चलते हुए 'ककुत्था' नदी के किनारे पहुँचे[३]। पाँच सौ गाड़ियों के पार होने के कारण छिछली नदी की पतली धाराएँ कीचड़ बन गई थीं। बुद्धदेव प्यासे थे। आनन्द पानी लेने गये और लौट आये। पानी तो था नहीं, कीचड़ जरूर था। बुद्धदेव ने फिर पानी माँगा। इस बार आनन्द गये तो नदी में स्वच्छ धाराएँ बह रही थीं। कीचड़ गायब हो चुका था। आनन्द बोला—**"अब्भूतं वत भो! तथागतस्स महिद्धिकता महानुभावता। अयं हि सा नदिका चक्कच्छिना परित्ता लुलिता आविला सन्दमाना मयि उपसङ्कमन्ते अच्छा विप्पसन्ना अनाविला सन्दती' ति।"**

हम यही कहना चाहते हैं कि जातक-युग में चमत्कारों का विश्वास किया जाता था। बुद्धदेव और दूसरे सिद्ध बौद्ध भी चमत्कार दिखलाया करते थे। जनता चमत्कारों को देखकर प्रभावित होती थी। भूत, यक्ष आदि की पूजा-अर्चा तो घर-घर होती ही थी और सभी चमत्कार भूत, यक्ष आदि से प्रभावित थे। भगवान् की पूजा का कहीं पता नहीं चलता। भगवान् को बाद देकर उनकी जगह पर भूत-प्रेत के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया था। स्वर्ग और नरक का भी वर्णन खूब मिलता है। जातक-युग में केवल भगवान् का बहिष्कार किया गया था; किन्तु भूत-प्रेत और चमत्कार तथा स्वर्ग-नरक और इन्द्र, कुबेर आदि देवताओं से छेड़-छाड़ करने का साहस किसी में न था। न तो बौद्धों में और न तत्कालीन आर्यों में। जब स्वयम् बुद्धदेव यक्ष, प्रेत, स्वर्ग, नरक, इन्द्र, वरुण, गरुड़, नाग और चमत्कारों को स्वीकार करते थे, तब दूसरों की बात ही अलग रही। बुद्धदेव ने चमत्कार दिखलाने का विरोध भी किया है; किन्तु

१. अम्बष्ठसुत्त, २

२. यक्ष को मंत्र जपकर सिद्ध भी किया जाता था, तब वह आज्ञाकारी बनकर काम करता था—जुण्ह जातक—४५६।

३. महानिब्बान सुत्त, १४८

स्वयम् चमत्कार दिखला दिया करते थे। जातक-युग का धर्म क्या था, यह तो सही-सही पता नहीं चलता, पर 'विश्वास' क्या था, यह स्पष्ट है। जनता के ऐसे 'विश्वास' की पुष्टि बुद्धदेव के विचारों से होती थी। उन्होंने ब्राह्मणों की प्रमुखता का केन्द्र और यज्ञ आदि को मिटाना चाहा[1]; किन्तु भूतों और यक्षों से छेड़-छाड़ करना उचित नहीं समझा। भूत-पूजा, यक्ष-पूजा तो सर्वत्र ही होती रही, केवल 'यज्ञ' की अग्नि पर पानी डाल दिया गया।

हम यक्ष और नाग-पूजा पर दो शब्द कहना चाहते हैं। वैदिक देवताओं में यक्ष का कहीं पता नहीं है[2]। वैदिक देवताओं में न तो यक्षों को स्थान मिला है और न नाग को। रामायण-युग में भी यक्ष नजर नहीं आते। महाभारत में यक्ष हैं और नाग भी। महाभारत-युग में यक्षों और नागों की प्रधानता का भी श्रीगणेश हुआ और फिर वह प्रधानता इतनी बढ़ी कि इन दोनों की पूजा-अर्चा घर-घर होने लगी। यक्ष और नाग का पूजन मांस-मदिरा के द्वारा होता था, ऐसा उल्लेख जातक-कथाओं में है। जब मूर्त्ति-युग आया तब यक्षों और नागों की मूर्त्तियाँ बनीं। महाकाय यक्ष और यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं—

(१) परमाव (मथुरा)

(२) यक्ष ,,

(३) बरोदा यक्ष ,,

(४) मथुरा के एक गाँव में मनसा देवी की यक्षिणी मूर्त्ति।

(५) भरतपुर के नोह ग्राम में प्राप्त यक्ष-मूर्त्ति[3]।

(६) पटना की यक्ष-मूर्त्ति तथा और भी यक्ष-मूर्त्तियाँ।

(७) पटना के दीदारगंज में प्राप्त विश्वविख्यात 'चँवरधारिणी' की मूर्त्ति। और भी, यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ हैं।

(८) पवाया, ग्वालियर में उत्कीर्ण मणिभद्र यक्ष।

(९) वेसनगर में यक्ष की विशाल मूर्त्ति।

(१०) शिशुपालगढ़ (भुवनेश्वर, उड़ीसा) की यक्ष-मूर्त्तियाँ।

(११) राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में; बम्बई से प्राप्त यक्ष-मूर्त्ति।

---

१. निङ्गुट्ठ जातक—१४४ और लोमकस्सप जातक—४३३।

२. पाणिनि (अष्टाध्यायी) ने निम्नलिखित वैदिक देवताओं का उल्लेख अपने सूत्रों में किया है—अग्नि (सू० ४।१।३७); इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड (४।१।३९); वृषाकपि (४।१।३७); पूषा, अर्यमा (६।४।१२); त्वष्टा (६।४।११); सूर्य (३।१।११४); वायु (४।२।२७); महेन्द्र, आंनपृ (४।२।२७); सोम (४।२।३०); और नासत्य (६।३।७५)। कुछ जुड़वाँ देवता भी थे—अग्निषोम (४।२।७२); द्यावापृथिवी (४।२।३२); शुनाशीर (४।२।३१)—ग्रह भी देवता माने जाते थे, द्वन्द्व-प्रकरण में रखे गये हैं—'देवता द्वंद्वे च' (२।३।२६)।

३. उत्तरप्रदेशीय 'इतिहास-परिषद्' की पत्रिका, मई १९३३; पृ० ९५

(१२) राजघाट—वाराणसी में प्राप्त त्रिमुख यक्ष-मूर्त्ति (भारत-कला-भवन, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में), पटना (इंडियन-म्यूजियम) की यक्ष-मूर्त्तियों पर—**'भगवा अक्षतनीतिक'** (कुवेर) और **'यक्ष सर्वत्र नन्दी'** के नाम हैं।

भरहुत में मिला हुआ 'सूचिलोम-यक्ष' की मूर्त्ति भी है। इस यक्ष के नाम से एक जातक भी है[1]। यह यक्ष हाथ जोड़कर खड़ा है। एक दूसरी मूर्त्ति यक्षिणी की है। यह भी भरहुत की है। इसका नाम है—सुदर्शना। यह यक्षिणी एक ऐसे जीव पर नाचने की मुद्रा में खड़ी है, जिसका मुँह मगर का, कान हाथी-जैसे, अगले पैर हाथी-जैसे और शरीर का पिछला भाग मछली-जैसा है। यक्षिणी के सिर पर मुरेठा बँधा है और वह बड़ी सुन्दरी है।

प्राचीनकाल में 'राजा' का एक अर्थ यक्ष भी था[2]। रामायण में भी ब्रह्म शब्द यक्ष के अर्थ में आया है[3]। यक्ष को राजा और यक्षेश्वर (कुवेर) को 'राजराज' कहा जाता था[4]। गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण[5] (पालि में—'वेस्सवण') की पूजा का उल्लेख मिलता है—यहाँ भी महाराजा यक्ष ही है, यानी यक्षाधिपति कुवेर। पाणिनि[6] ने जिन पाँच प्रधान यक्षों का उल्लेख किया है, वे शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा हैं। बौद्ध साहित्य में भी यक्षों की सूची मिलती है[7]। सूची में इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्द आलावक आदि नाम हैं—ये साधारण यक्ष नहीं, यक्षराज हैं। इन्द्र और वरुण को भी यक्ष ही माना गया है। पाणिनि-काल में वरुण भी यक्षों में से ही एक था। पाणिनि के पाँच यक्षों में 'अर्यमा यक्ष' बच्चों के जन्म से सम्बन्ध रखता था। इसके प्रभाव से प्रसव आसानी से हो जाता था और जच्चा-बच्चा पर कोई खतरा नहीं आने पाता था[8]। संभव है कि अर्यमा जो वैदिक देवता था, सूत्र-युग और बौद्ध-युग में यक्ष बन गया। इन्द्र, वरुण, सोम, प्रजापति आदि देवताओं का भी गृह्यसूत्रों में यही दशा हुई। इनकी भी पूजा यक्ष मानकर की जाने लगी। बौद्ध-युग में तो ये वैदिक देवता सरासर यक्ष बना डाले गये। यक्षों के नाम पर बच्चे के नाम रखने की भी परिपाटी चल पड़ी थी। बौद्ध साहित्य का सेवल और सीवली नामों का सम्बन्ध शेवल यक्ष से है, जिसका उल्लेख पाणिनि (५।३।८४) ने किया है। 'अर्यमा' यक्ष से सम्बन्ध रखने-वाला एक नाम (भरहुत) आया है—**'अयम'**, जो अर्यमा का ही एक रूप है[9]। 'यखिल' नाम भी पाया जाता है, जो वस्तुतः 'यक्ष-दत्त' है[10]। भरहुत में यह नाम है। 'बच्चों

१. सुचिलोम जातक।
२. महाभारत, शान्ति-पर्व, मोक्षधर्म, १७१।५२ (पूना-संस्करण)
३. रामायण, लंका कां०, ७१।९७—'ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्यः कवचावृतः'।
४. मेघदूत, १।३
५. जातक, ६।२६५
६. पाणिनि, ५।३।८४
७. अटाटीय सुत्त (दीघ निकाय), ३२
८. अथर्व, १।१।१।१—'नारीसुखप्रसवसूक्त'।
९. ल्यूडर्स-इंडेक्स, ८१३
१०. „ „ „ ८६०

के नामकरण' के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए (श्री कणे), 'इंडियन हिस्टरिकल क्वार्टरली' १९३८, पृ० २३३ देखें। आज जैसे देवदत्त, रामप्रसाद आदि नाम इसलिए रखे जाते हैं कि यह बच्चा देवता-प्रदत्त है या राम की कृपा से इसका जन्म हुआ है, उसी तरह जातक-युग में यक्षों से सम्बन्ध रखनेवाले नाम भी रखे जाते थे। इन नामों को अशीर्वाद-सूचक हम कह सकते हैं।

'शेव' वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ होता है—धन या समृद्धि। शेवलयक्ष की भक्ति करने से धन पाने की आशा गृहस्थ करते थे। विशाल तो यक्ष था ही। इसका नाम महाभारत में भी पाया गया है। सभा-पर्व में यक्षों की जो सूची दी गई है, उसमें विशाल भी है[1]।

यक्ष एक महाशक्तिशाली देवता माना जाता था। चरण-परिषद् (विद्यालय की विद्वत्परिषद्) में उपस्थित आचार्य की उपमा यक्ष से दी गई है—

उपेत्याचार्यं परिषदं प्रेक्षेद् यक्षमिव[2] ॥

श्रीमद्भागवत में यक्षों की गणना नरभक्षी राक्षसों से की गई है[3]।

ब्रह्माजी ने जब अपना तमोमय शरीर का त्याग किया, तब उसी से यक्ष और राक्षसों की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर विष्णु, कार्त्तिकेय, शंकर, मकरध्वज, इन्द्र या शक्र—ये सभी देवता यक्ष बना डाले गये थे[4]।

पाणिनि से लगभग २०० साल बाद अशोक ने साफ-साफ उल्लेख किया है—**'अमिसा देवा मिसा कटा।'**

जो देवता पहले अलग थे, वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्धधर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा-पद्धति में घुल-मिलकर एक हो गये[5]।

अथर्व में यक्ष, रामायण में यक्ष—इन दोनों महान् ग्रन्थों में यक्ष की झलक-मात्र है। महाभारत में यक्ष अपनी महिमा के साथ प्रकट हुए, किन्तु जातक-युग में तो वे सर्वत्र फैल गये और 'यक्ष' शब्द की इतनी महिमा बढ़ी कि त्रिदेव भी यक्ष-श्रेणी में गिने जाने लगे[6]। पूजा या उपासना की दृष्टि से जातक-युग को यक्ष-युग कहना ही अधिक उपयुक्त जँचता है। यक्षों के बाद नाग और नाग के बाद शक्र भी जातक-युग में नजर आते हैं।

---

१. महाभारत, सभापर्व, १०।१६

२. द्राह्यायण, गृह्यसूत्र, ३।१।२५ और गोभिल गृ०, ३।४।२८

३. श्रीमद्भागवत, अ० २०, स्क० ३, श्लो० १९, २०, २१ यथा—

'विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम्।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥'

४. महामयूरी-सूची।

५. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (डॉ० वासुदेवशरण), पृ० ३५२

६. अमरकोष में यक्षों को देवताओं के वर्गभेद में माना गया है—
यथा—'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धोभूतोऽमी देवयोनयः' ॥ अमर०, कांड १, श्लो० ११

'नाग' शब्द हमारे लिए पुराना है। पुरानी कथाओं के अनुसार विष्णु का आसन नाग है। पृथिवी शेषनाग के सिर पर टिकी हुई है। शंकर का आभूषण नाग है। कृष्णावतार में भगवान् कृष्ण ने नाग से ग्वालों की रक्षा की थी तथा नाग को नाथा था।[1] ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्रपूजा और नागपूजा की जो महिमा उस युग में सर्वत्र फैल गई थी, उसी का मूलोच्छेद भगवान् कृष्ण ने किया—गोवर्धन उठाकर और नाग नाथकर। जनता की दृष्टि में ये दोनों देवता प्रभावहीन बन गये और कृष्ण की पूजा शुरू हुई।

एक बात और विचारणीय है। नाग तो सर्प था; किन्तु उसकी पत्नियाँ मानवी थीं, जिन्हें व्यासदेव ने साध्वी कहा है—

साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्त्तु—
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः[2] ॥३२॥

उनका हाथ जोड़ना (**कृताञ्जलिपुटाः**) और बाल खोलकर धरती पर लोटना आदि वर्णन यह बतलाता है कि नाग तो फणोंवाला (**तच्चित्रताण्डव-विरुग्णफणातपत्रो**) था, पर नाग-पत्नियाँ सुन्दरी रमणियों के रूप में थीं। यह कल्पना जातक-युग तक ज्यों-की-त्यों आई। अजन्ता[3] में नागराज की एक मूर्त्ति है। नागराज मानव-रूप में है, सिर पर कई फणोंवाले सर्प का छत्र है तथा बगल में अत्यन्त सुन्दरी नाग-कन्या भी है। दोनों मूर्त्तियाँ सिंहासन पर हैं। यह नागराज और नागरानी की संयुक्त मूर्त्ति है। और भी बहुत-सी पुरानी मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनका सम्बन्ध नागों से है, जो नागों की हैं। जातक-कथाओं में नाग भी यक्षों की तरह ही बड़े ही शक्तिशाली देवता के रूप में आये हैं। यह भ्रम हो सकता है कि नाग हाथी को भी कहते हैं[4]। 'नाग' शब्द साँप, सिन्दूर और चांडाल के अर्थ में भी आया है[5]। जो हो; किन्तु जातक-युग का नाग वही नाग था, जिसका वर्णन पुराणों, महाभारत या भागवत में स्थान-स्थान पर मिलता है।

जातक में नाग एक शक्तिशाली देवता थे और मणि, रत्न आदि का खजाना उनके अधिकार में रहता था। नाग रत्नाभूषण पहनकर प्रायः मनुष्यों के पास जाते थे; मगर रहते थे पानी के भीतर ही।

एक नाग किसी तपस्वी के पास जाता था और तपस्वी उससे बार-बार मणि माँगता था[6]। ऊबकर तीसरे दिन नाग ने कहा—

१. श्रीमद्भागवत, अ० १६, स्क० १०
२. „ „ „ „ „ श्लो० ३२
३. अजन्ता गुफ, नं० xix
४. पाणिनि, २।१।६२
५. अमरकोश, कां० १, श्लो० ४—'नागः काद्रवेया ···।'
कां० २, श्लो० ३४—'मतङ्गजो गजो नागः।'
कां० २, श्लो० १०५—'सिन्दूरं नागसम्भवम्।'
कां० ३, श्लो० २१—'गजेऽपि नागमातङ्गा— ।'
६. मणिकंठ जातक—२५३।

तं ते न दस्सं अतियाचकोसि
न चापि ते अस्समं आगमिस्सं ॥

तू अतियाचक है। तुझे (मणि) नहीं दूँगा और न फिर कभी तेरे आश्रम में ही आऊँगा।

चम्पा नदी, जिसका मगध में होना बतलाया जाता है, के तट पर एक नागराज का राज्य भी था। नाग-भवन चम्पा नदी के भीतर था; क्योंकि मगधराज से युद्ध में हारकर अंगराज आत्महत्या करने के विचार से चम्पा नदी में कूद पड़ा। चमत्कार यह हुआ कि वह नदी के गर्भ में स्थित नागराज 'चम्पेय्य' के रत्न-मण्डप में पहुँच गया। हम इस कथा की झलक पहले दे आये हैं।

एक गाथा ऐसी भी आई है, जब आश्रमवासी के निकट एक साथ ही गरुड़राज और नागराज दोनों जाते थे, यद्यपि दोनों भयानक वैरी थे[1]। वह नागराज इतना बलवान् था कि उसे पकड़ने जाकर बहुत-से गरुड़ मारे गये—यानी वह नाग गरुड़ों को मारकर खा जाता था। वह नाग भी साँप ही था। उसने स्वयम् यह कहा है कि हम भारी-भारी पत्थर निगलकर भारी हो जाते हैं। गरुड़ हमारे सिर की तरफ आते हैं, तो हम उनको भँभोंड़ डालते हैं। यदि पूँछ की ओर से हमें उलटा लटकाकर हमारे मुँह से निगले हुए पत्थर निकाल डालें, तो गरुड़ हमारा शिकार कर सकते हैं।

इस गाथा से यह स्पष्ट होता है कि जातक के नाग साँप ही थे, उसी तरह के साँप, जैसे महाभारत और श्रीमद्भागवत के। इसी गाथा में नाग एक विश्वासघाती तपस्वी को शाप देता है और तुरन्त उसका सिर टुकड़े-टुकड़े होकर धरती पर बिखर जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि नाग ऐसे होते थे, जो डँसकर ही नहीं, शाप देकर भी अनहोनी काम कर दिया करते थे।

एक गाथा[2] में शङ्खपाल नागराज का वर्णन है। यह नाग श्रमण-धर्म का पालन करता था और आत्म-वलिदान करके बाँबी के सामने पड़ा रहता था कि जिसका जी चाहे, मेरा चमड़ा या मांस ले जाय। इस नागराज के फण भी था, अतः इसे मानव-रूप में हम नहीं देख सकते। इस नागराज के लम्बे शरीर को आठ स्थानों पर छेदकर आठ आदमी बहँगी पर उठाकर ले चले। यह निश्चय ही विशाल अजगर रहा होगा। यह नागराज भी एक सुन्दर तालाब में रहता था। जातक-युग में यक्ष-पूजा के साथ ही नागपूजा का भी महत्त्व था। उस युग का नाग एक मायावी जीव था, जो तरह-तरह के रूप धारण कर सकता था, सुन्दरी नाग-कन्याओं के साथ रहता था। नाग-नगरी में रत्नादि की कमी उसे नहीं थी। इतना होने पर भी वह साँप-जैसा ही था। उसका मूल आकार साँप-जैसा था, विष था और फण भी था—वह डँसता भी था।[3] एक ब्राह्मण को एक नाग नित्य धन देता था और ब्राह्मण उसे दूध पिलाया

१. पण्डर जातक—५१८।

२. सङ्खपाल जातक—५२४।

३. दद्दर जातक—३०४; उरग जातक—३५४।

करता था[1]। एक नागराज पानी में भी आग लगा देता था[2]। जातक-युग में धन की चाह इतनी बढ़ गई थी कि लोग धन के लिए यक्ष और नाग की पूजा करने लग गये थे। प्रत्येक व्यक्ति चाहता था कि वह किसी देवता की दया से अशेष धन प्राप्त कर ले[3]। यक्ष या कुबेर धन का देवता माना जाता है और नाग भी धनदाता के नाम से ही विख्यात है। मोक्ष या मुक्ति के लिए आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए शायद ही कोई प्रयत्नशील हो। हाँ, जो भिक्षु बन जाते थे, उनकी बात अलग रही। धन-कामना सीमा पार कर चुकी थी, ऐसा प्रमाणित होता है।

नाग-पूजा का एक इतिहास है। कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें नाग साँप के रूप में हैं[4]—दो साँप एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। नागपूजा जातक-युग की देन नहीं है—बौद्धयुग के पहले से ही नागों की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी और सहज विश्वासी भारतीय इस भयानक कीड़े की पूजा में लग गये थे। नागराज, नागकन्या, नागलोक, नाग-देवता आदि की कमनीय कल्पना लोगों ने की थी। कद्रु की कथा प्रसिद्ध है, जो नागमाता थी[5]।

पाणिनि में नाग या कुञ्जर (२।१।६२) आया है। 'नाग' की जगह पर आचार्य ने 'अहि' (४।३।५६) दिया है। यक्षों के लिए पाणिनि ने जितना लिखा है, नाग के लिए उतना नहीं लिखा, यह अचरज की बात मालूम पड़ती है। जो हो, किन्तु जातक-कथाओं से यह सिद्ध होता है कि उस युग में नाग-पूजा की खूब चलन थी। जिस तरह 'यक्ष' शब्द को लेकर नाम गढ़े जाते थे, उसी तरह 'नाग' शब्द को लेकर भी नाम गढ़े जाते थे[6], इससे नागों की प्रधानता ही प्रकट होती है।

शक्र वैदिक देवता हैं, किन्तु जातक-युग में शक्र की भी प्रधानता थी। यक्ष, गरुड़, नाग की तरह शक्र का भी पर्याप्त आदर था। साँची की एक मूर्त्ति में यह दिखलाया गया है कि एक हाथी पर इन्द्र हैं और दूसरे छोटे हाथी पर इन्द्राणी। साँची के दक्षिणी द्वार के पूरब की ओर स्तम्भ पर एक मूर्त्ति है, जिसमें बुद्धदेव को इन्द्रपुरी में दिखलाया गया है। मथुरा के संग्रहालय में एक मूर्त्ति है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि बुद्धदेव की सेवा में इन्द्र आया है[7]। इस मूर्त्ति में यह स्पष्ट है कि बुद्धदेव एक गुफा में बैठे हैं और इन्द्र आया है।

हुएनसांग और फाहियान के लेखों से पता चलता है कि गिरियक (बिहार) की

---

१. विसवन्त जातक—६९।
२. घनासन जातक—१३३।
३. वेदब्भ जातक—४८; कंचनक्खन्ध जातक—५६।
४. गया के विष्णुपद-मन्दिर में ऐसी एक मूर्त्ति है।
५. श्रीमद्भागवत देखिए; पाणिनि, ४।१।७२
६. **'नाग दसक'**—यह राजा (ई० पू० ४७१) था। पुराणों में उल्लिखित राजा दर्शक से इसे पहचान सकते हैं। भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक में भी यह राजा है। **'सुसुनाग'**—सिंहली इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार यह अमात्य था। **'नागसमल'**—यह बुद्धदेव का परिचारक था। यह एक बेकट्ठा और उजड्ड स्वभाव का आदमी था।
७. डॉ० सी० एल्० फेब्री के द्वारा खींचा गया एक फोटो।

पहाड़ी पर इन्द्र आया था और उसने नख से पत्थर पर लिखकर बुद्धदेव से ४२ प्रश्न किये थे। जातक, २०२, ४५०, ४८८, २९१ और ५३५ में शक्र बार-बार आया है।

मनुष्य भी शक्र के रूप में जन्म लेता था[1]। शक्र स्वर्ग का देवता था। इसे हम इन्द्र के नाम से पहचानते हैं। वैदिक देवताओं में इन्द्र और शक्र एक ही हैं। इल्लीस-नामक कृपण का पिता शक्र के रूप में स्वर्ग में पैदा हुआ था। पुण्य करके मनुष्य का इन्द्र-पद प्राप्त करने का वर्णन पुराणों और महाभारत में भी है। इल्लीस का बाप भी इन्द्र (शक्र) बन बैठा। जातक-युग में 'पुण्य का फल इन्द्र-पद' माना जाता था। हम जातक-युग के शक्र को उन्हीं कामों में लगा हुआ पाते हैं, जिन कामों में पुराणों का इन्द्र लगा रहता था—तपस्वी की तपस्या भंग कराना, तपस्या करनेवाले की सचाई की जाँच करना, किसी की उग्र तपस्या से घबरा उठना कि कहीं यह हमारा पद न ले ले आदि!

शक्र का धरती पर आना-जाना बना रहता था, ऐसा वर्णन जातक-कथाओं में मिलता है। पुराणों, रामायण और महाभारत में भी इन्द्र धरती पर आते थे—ऐसा वर्णन है। दूसरे देवताओं से अधिक इन्द्र का धरती से नाता है—वह वर्षा का देवता है। जातक-कथाओं से यह तो पता नहीं लगता कि वह—शक्र (इन्द्र) वर्षा का देवता है[2]; किन्तु पुराणों आदिवाले इन्द्र की तरह वह भी देवराज है, हाथी उसका वाहन है और शक्राणी के साथ रहने से उसके उस स्वभाव का परिचय मिलता है, जिसकी चर्चा पुराणों या महाभारत में है। वह स्त्रियों की निकटता अधिक पसन्द करता है। पुराणों और महाभारतवाला शक्र ही जातक-युग का है; किन्तु वैदिक युग के शक्र से इसका उतना मेल नहीं बैठता। वैदिक युग का शक्र बहुत ही बलवान् है; किन्तु उतना स्त्री-भक्त नहीं है। एक बात यह भी है कि वैदिक वाङ्मय में इन्द्र-शब्द कई अर्थों में आया है।

वैदिक संहिताओं में इन्द्र व्यापक (विभुः) है, विश्वज्ञाता (विश्ववेदाः), सर्वश्रेष्ठ देवता (देवतमः), श्रेष्ठ पिता (पितृतमः), स्वयं तेजशाली (स्वरोचिः), अमर (अमर्त्यः), धर्मविधायक (धर्मकृत्), अच्युत (अनपच्युत) आदि है।

आकाश से भी इन्द्र को अधिक व्यापक प्रभाववाला माना गया है[3]। इन्द्र को इस विस्तीर्ण पृथ्वी का धारण करनेवाला भी वैदिक ऋषि मानते थे[4]। इन्द्र अद्वितीय देवता के रूप में पूजा जाता था[5]। इन्द्र की १५ प्रकार की व्युत्पत्ति यास्काचार्य ने की है। वैदिक युग का इन्द्र आत्मा, ब्रह्म और सर्वदेव था[6]।

---

१. इल्लीस जातक—७८।
२. निरुक्त (यास्काचार्य), १०।१।१९
३. ऋग्वेद, १।५५।१
४. ऋग्वेद, २।१५।२
५. ऋग्वेद, १।५४।८; ६।३०।४; १।८०।१४; १।५१।९; २।१३।१०; ५।३२।११; १।५५।५; ३०।३०।१७; १।५३।८ आदि।
६. ऐतरेयोपनिषद्, ४।३।१४; ५।३ आदि द्रष्टव्य। देखिए—बृहदारण्यक, १।५।१२; मैत्रायिणी०, ६।३३; प्रश्नोपनिषद्, २।९ आदि तथा शतपथ ब्राह्मण, ८।५।३।२; जैमिनीय ब्राह्मण, १।३३।२; गोपथ (उत्तरार्ध), ४।११; कौषीतकि ब्राह्मण, ६।९

पाणिनि की अष्टाध्यायी की टीका में भट्टोजीदीक्षित ने इन्द्रियों का शासक इन्द्र को माना है[१]। वैदिक युग का अत्यन्त प्रभावशाली देवता इन्द्र था। इन्द्र, अग्नि, सोम आदि देवताओं का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। अग्नि का सम्बन्ध यज्ञ से था; अतः जातक-युग में अग्निदेव को ग्रहण नहीं किया गया; क्योंकि बुद्धदेव यज्ञ का घोर विरोध करते थे। फिर भी उन्होंने इन्द्र का ग्रहण कर लिया। वैदिक देवता इन्द्र या शक्र जातक-युग में भी वर्तमान है और उसकी महिमा भी कुछ कम नहीं है; किन्तु बुद्धदेव से कम। जातक-कथाओं में, दूसरे बौद्ध ग्रन्थों में ऐसी कथाओं की कमी नहीं है, जब देवता बुद्धदेव के दर्शनार्थ आते थे। एक बार तो देवता गिरोह बाँधकर बुद्धदेव के सामने उपस्थित हुए थे और मनुष्यों की तरह एक ओर खड़े होकर (ऐसा ही नियम था) और हाथ जोड़कर बुद्धदेव से उन्होंने वार्त्तालाप किया था[२]। उन देवताओं की संख्या ७० हजार तक थी। इन्हीं देवताओं में ६ हजार तो केवल यक्ष ही थे। यक्ष भी देवता ही माने जाते थे। यक्षों के अतिरिक्त १६ हजार दूसरे यक्ष भी थे, जो 'वेस्सामित्त' (विश्वामित्र) पर्वत पर रहते थे। राजगृह का कुम्भीर यक्ष भी आया था, जिसकी सेवा एक लाख यक्ष करते थे। नाग भी आये थे। नागों की गणना भी देवताओं में थी। यमुनावासी धृतराष्ट्र नामक नाग आया था। महानाग ऐरावण, चित्र और सुपर्ण नाग भी आकाश-मार्ग से आये थे। गरुड़ भी आये थे, मगर बुद्धदेव के प्रभाव से गरुड़ ने नागों पर आक्रमण नहीं किया था। असुरों में 'कालक' आया था। वरुण, वारण और सोम का भी आगमन हुआ था। यह स्मरण रहे कि वरुण और सोम वैदिक देवता हैं। चन्द्रमा और सूर्य भी पधारे थे। वह एक देव-महासम्मेलन था। वसु-देवताओं में वासव, शक्र और इन्द्र भी आये। वासव, शक्र और इन्द्र—ये तीनों नाम एक ही देवता के हैं;[३] मगर बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि ये तीन अलग-अलग देवता थे[४]।

ब्रह्मा जो वैदिक देवता थे, वे आये और उनके साथ सदलबल 'मार' भी आ धमका। सभी घबराये, मगर वीतराग भिक्षुओं से हारकर वह अपवित्र सेना भाग गई—हार गई। शक्र को देवेन्द्र[५] कहा जाता था। देवेन्द्र उसे कहा ही जाता है, इन्द्र देवताओं का राजा है। यह इन्द्रशाल गुफा में बुद्धदेव के दर्शनार्थ आया था[६]। मथुरा के संग्रहालय में जो मूर्त्ति इन्द्र का बुद्धदेव की सेवा में आने के सम्बन्ध में है, वह 'पक्कपञ्ह-सुत्त' की गाथा से सम्बन्ध रखती है। 'गुफा में बुद्ध बैठे हैं और इन्द्र आया है'—जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं। पता चलता है कि इन्द्र, सोम, वरुण

१. पाणिनि, ५।२।९३
२. महासनय सुत्त, २।७; इसी सुत्त में यह भी कहा गया है कि बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को दिव्य दृष्टि दी थी; क्योंकि साधारण आँखों से वे अदृश्य देवताओं को देखने में असमर्थ थे। गीता (अ० ११, श्लो० ८) में भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी थी—

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।'

३. देखिए—'अमरकोश', स्वर्ग० १, श्लो० ४३
४. दीघनिकाय, २।७
५. सक्कपन्ह-सुत्त, २।८
६. दीघनिकाय, २।८

आदि सभी वैदिक देवता जातक-युग में भी थे और इनकी पूजा होती थी, गन्धर्व तो प्रमुख स्थान पा गये थे तथा नाग, जल-देवता, पिशाच, वृक्ष-देवता, भूत, राक्षस सभी देवता बन बैठे थे। मनष्कामना पूरी करनेवाले इन उप-देवताओं का बड़ा मान-आदर होता था। इनके अस्तित्व को बुद्ध और बौद्ध दोनों मानते थे। अन्ध श्रद्धालु साधारण जनता की तो बात ही अलग रही। नगर में बड़े पैमाने पर इनकी पूजा होती थी, उत्सव मनाया जाता था, चौरस्ते पर मांस शराब आदि इसलिए रख दिये जाते थे कि भूत-प्रेत-गन्धर्वादि रात के सन्नाटे में आकर पूजा ग्रहण करें, तृप्त हों। वृक्ष की यानी वृक्ष-देवता की पूजा भी होती थी। एक राजा ने यह घोषणा की थी कि वह वृक्ष-देवता की पूजा करेगा और अपराधियों की वलि देगा। डर के मारे अपराधी घबरा गये और राज्य पापों से मुक्त हो गया[1]। जो भी हो, पर यह अनुमान करने का कारण है कि वृक्ष-देवता के प्रीत्यर्थ वलिदान होता था, नरवलि तक लोग देते थे।

यह धारणा थी कि श्मशान में मंत्र-सिद्धि होती है[2] और वहाँ प्रेत भी रहते हैं। एक राजकुमारी का प्रेमी रात को श्मशान से ही उसे उड़ा ले भागा था। श्मशान में जाकर मुर्दे के साथ लेटकर जप-पूजन करके ग्रह-दोष छुड़ाने के लिए राजकुमारी को वहाँ ले जाया गया। जो सिपाही रक्षक थे, वे भूत से इतना डरते थे कि छींक की आवाज सुनते ही वे हिरण हो गये[3]। जातक-युग में भूत-प्रेतों, पिशाचों आदि का भय साधारण जनता में व्यापक रूप से फैल गया था। बौद्धधर्म का प्रचार चाहे जितना भी रहा हो, किन्तु जनसाधारण पुरानी लकीर को पीटती जा रही थी। परिणाम यह हुआ कि बौद्धों के प्रचार से विशुद्ध वैदिक अध्यात्मवाद का अन्त हो गया; किन्तु अज्ञान-वश जो भूत-प्रेत-पूजा थी, वह रह गई। तपस्वी बौद्ध तो विद्वानों पर अपना असर डाल सके; मगर जनसाधारण की पूजा-पाठ की स्थिति अत्यन्त गर्हित हो गई। ब्राह्मणों का प्रभाव समाप्त हो गया और इसका भयानक परिणाम भूत-पूजा के रूप में प्रकट हुआ। सौम्य-पूजन आदि तो बन्द ही हो गये थे, फिर अपने अज्ञानपूर्ण विश्वास के प्रवाह में जनता विना रुकावट के बह चली और मद्य-मांस तथा श्मशान-पूजन की खूब चलन चल गई। बौद्धधर्म इस जन-प्रवाह को रोक न सका; बल्कि उसने भी यक्ष, भूत, प्रेत आदि की महिमा को अंगीकार कर लिया। यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हुई। यदि ब्राह्मणों के धार्मिक महत्त्व को नष्ट न किया जाता, तो आसुरी पूजा-पद्धति इतना जोर नहीं पकड़ती, यह तो स्वयम् सिद्ध है।

तत्कालीन हिन्दू-समाज में दो तरह की धर्म-भावनाएँ प्रचलित थीं। ऊँची श्रेणी तो वैदिक धर्म को या भागवत धर्म को मानकर चलती थी और बिल्कुल नीची श्रेणी भूत-प्रेत की पूजा करती थी। ऊँची श्रेणी ब्राह्मणों के द्वारा शासित होती थी और नीची श्रेणी स्वतन्त्र थी। ऊँची श्रेणी जब ब्राह्मणों से अलग हटा ली गई, तब यह जाहिर है कि वह भी अंकुशरहित होकर नीची श्रेणी की तरह ही भूत-प्रेत का पूजन करने लगी।

---

१. दुम्मेध जातक—५०।

२. कुलचूडामणि-तंत्र, अ० ४, श्लो० ३९ आदि द्रष्टव्य।

३. असिलक्खण जातक—१२६।

इस अर्थ में दोनों श्रेणियाँ एक ही केन्द्र-विन्दु में जाकर मिल गईं। उच्च स्तर की वैदिक उपासना का तो बौद्धों ने जम कर विरोध किया, किन्तु निम्न कोटि की अनर्गल भूत-पूजा और भूतों के अस्तित्व को स्वयम् स्वीकार कर लिया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मणों के द्वारा जो प्रतिपादित धर्म था; उसका मूलोच्छेद करना ही बौद्धों का मुख्य लक्ष्य था; किन्तु प्रेत-पूजा, जिसे हम अनार्यों का धर्म मानते हैं और जिससे ब्राह्मणों का या वैदिक मत का कोई सम्पर्क कभी नहीं रहा, को अछूता छोड़ दिया गया। भागवत धर्म का भी यही हाल हुआ। यह जाहिर है कि ब्राह्मण-धर्म ने भूत-पूजा का कभी समर्थन नहीं किया, बल्कि इसका उसने विरोध ही किया था। मनुष्यप्रकृति देवताओं की उपासना का श्रीगणेश जातक-युग के पहले ही हो चुका था—श्रीराम या श्रीकृष्ण-वासुदेव क्षत्रियपुरुष थे; किन्तु वे देवता के रूप में स्वीकार कर लिये गये थे। इनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, इसीलिए इन्हें मनुष्यप्रकृतिक देव कहा गया[1]। पतंजलि के पूर्व कृष्ण-लीलाओं के विकास होने का पता चलता है[2]। कीथ ने यह स्वीकार किया है कि पाणिनि के समय में वासुदेव कृष्ण को अवतार मानने लग गये थे[3]। ग्रियर्सन ने भी कीथ के मत को माना है और भागवत धर्म की प्राचीनता को उसने स्वीकार किया है[4]। रामकृष्ण भंडारकर का भी यही मत है[5]।

१९०८ ई० में कीथ ने, १९०९ ई० में ग्रियर्सन ने और १९१० ई० में भंडारकर ने भागवत धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अपना-अपना मत दिया। एक-एक साल का अन्तर पड़ता है; अतः एक विद्वान् के मत को दूसरे विद्वान् ने साल भर तक परखा, फिर स्वीकार किया। भागवत धर्म का अस्तित्व निश्चय ही बुद्ध के कुछ पहले भी था; किन्तु जातक-कथाओं से इसका पता नहीं चलता। भागवत धर्म यज्ञ में पशुवलि आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, फिर कोई कारण नहीं कि इस पर प्रहार किया जाय; किन्तु प्रहार किया गया और इसे भी मिटाया गया !!! आर्यों ने देवताओं की जो कल्पना की थी, वह बहुत ही ऊँची थी। वे ऋत अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म माने गये हैं। व्यापक तत्त्व ऋत है और केन्द्रित तत्त्व सत्य—यही ऋत और सत्य के आधार पर आर्यों की देव-कल्पना थी[6]। भागवत धर्म का आधार भी यही ऋत और सत्य है, जो वेदों की दो आँखें हैं।

भागवत धर्म 'पाञ्चरात्र' और शाश्वत-धर्म के भी नाम से प्रसिद्ध है। भागवत के 'नारायणीयोपाख्यान' में 'पाञ्चरात्र' मत का विवरण मिलता है। उसमें जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन है और परिणामवाद को वह मानता है। भक्ति के दो भेद बतलाये हैं—साधन-रूप और साध्य-रूप। साधन-भक्ति के ९ भेद हैं। साध्य-

१. वायुपुराण, ९७।१; महाभारत, उद्यो०, ४८।२०; पाणिनि, ८।१।१५ आदि।
२. पतंजलि, ३।२।१११, वा० २
३. J. R. A. S. 1908, P. 848 (एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका)
४. वही, 1909, P. 1122
५. वही, 1910, P. 170
६. निरुक्त, ७।४, ८—९ यथा—'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकः स्यात् मनोऽन्ये देवाः प्रसङ्गानि भवन्ति॥'

रूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी कही गई है—संक्षेप में यही भागवत धर्म की रूप-रेखा है।

इस सौम्य धर्म का, जो किसी तरह के भी अनाचार का सहन नहीं कर सकता, विरोध क्यों किया गया और यक्ष, प्रेत, पिशाचादि को प्रभाव विस्तार करने की खुली छूट जातक-युग में क्यों दे दी गई, यह विचित्र बात है। निश्चय ही ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण ही बौद्धधर्म ने सभी तरह के प्राचीन आर्य-धर्मों का मूलोच्छेद कर देने का प्रयास किया, जिसका पता जातक-कथाओं से चलता है। भगवान् राम और भगवान् कृष्ण की कथाएँ जातक में आई हैं; किन्तु उन्हें ऐसा नष्ट रूप दिया गया है कि पढ़ने से श्रीराम और श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति तो क्या, घृणा का उदय हो आता है[१]। भागवत धर्म के देवता वासुदेव कृष्ण थे, अतः उन्हें गंदे रूप में रखकर जनसाधारण के हृदय में उनके प्रति घृणा पैदा करा दी गई—इस तरह पवित्र भागवत धर्म का अन्त करके यक्ष, पिशाच और भूतों के लिए एक नहीं, हजारों दरवाजे खोल डाले गये। जातक-युग में ब्राह्मणों के प्रभाव को नहीं सहा गया; किन्तु प्रेतों की महिमा के सामने सिर झुका दिया गया।

जैनधर्म और बौद्धधर्म—दोनों धर्म संन्यास ग्रहण करके जन्म-मरण या दुःखों से छुटकारा पाने की प्रेरणा देते हैं। संन्यास-धर्म की नींव वैदिक युग में पड़ चुकी थी[२]। वैदिक दर्शन के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ उपनिषदों में भी संन्यास-धर्म का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आरण्यकों की रचना अरण्यों के आश्रमों में हुई थी। उपनिषदों की सम्मति के अनुसार पराविद्या, वेदान्त, आत्मिक ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए एकान्त-वास परमावश्यक है[३]। भिक्षाचरणवाले संन्यासियों का भी पता चलता है, जो मौन रहा करते थे[४]। अध्यात्म की खोज में गृहत्याग करके ही नवयुवक नैष्ठिक ब्रह्मचारी का पद प्राप्त करते थे, यों नहीं। इसके बाद आये जैन और बौद्ध-भिक्षु। जैन और बौद्ध विनय के नियमों की अच्छी तरह छानबीन करने से यह स्पष्ट होता है कि दोनों का आधार ब्राह्मण-भिक्षुकों के आचार-सम्बन्धी नियम ही थे, और कुछ नहीं[५]। हम इस विषय पर पहले भी लिख आये हैं। हम यह भी कह आये हैं कि बौद्धों के अतिरिक्त और भी आचार्य थे, जो अपने-अपने मत का प्रचार करते थे। बौद्ध सुत्तग्रन्थों[६] में ६२ दूसरे दिट्ठियों (दृष्टियों) का उल्लेख है और जैनग्रन्थों[७] में ३६३। इन ३६३ मतों में १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी ६७ अज्ञानिकवादी और ३२ वैनयिकवादी थे। विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षुओं का सामान्य नाम 'समण-ब्राह्मण' था, जो तत्कालीन

१. पुस्तक के अन्त में हम जातक के राम और कृष्ण का परिचय देंगे।—लेखक

२. ऋग्वेद, १०।१०९।४ आदि-आदि।

३. देखिए—'मुंडकोपनिषद्' आदि।

४. आपस्तम्ब, २।९।२१।१

५. जैकोबी—प्राचीन पुस्तकमाला की भूमिका, पृष्ठ २२–३०

६. ब्रह्मजाल सुत्त।

७. सूत्रकृतांग, २।२।७९

धार्मिक जीवन के अगुआ थे[1]। विशेष जानकारी के लिए अंगुत्तर (४।३५), सुत्तनिपात (५९४), चुल्लवग्ग (५।३–२) और पुनः सुत्तनिपात (१०२०) देखिए।

पालि-ग्रन्थों में ऐसे आचार्यों का भी उल्लेख है, जो बौद्ध नहीं थे तथा अत्यन्त प्रभावशाली थे—इन में छह प्रमुख आचार्य थे[2]। पालि-ग्रन्थों में 'श्रमण-ब्राह्मण' ऐसा उल्लेख मिलता है और इससे भ्रम हो सकता है। कोई भी वर्ण का व्यक्ति श्रमण होने पर 'ब्राह्मण' पद का अधिकारी माना जाता था। स्वयम् बुद्धदेव ने अपने को ब्राह्मण कहा है[3]। बुद्धदेव तो वर्ण आदि से ऊपर थे, किन्तु साधारण भिक्षुओं को भी 'समण-ब्राह्मण' का पद देकर ब्राह्मणों की स्थिति को बिखेर दिया गया था। साथ ही, केवल ब्राह्मणों के ही पैर पखारनेवाली श्रद्धालु जनता भिक्षुओं को भी ब्राह्मण मान बैठी थी और ब्राह्मण जानकर उनका सम्मान करने लगी थी। यदि हम ऐसा कहें, तो शायद अनुचित न होगा कि 'ब्राह्मण' पद ग्रहण करके ही भिक्षु समाज के दरवाजे के भीतर प्रवेश कर सके और आदर तथा भिक्षा प्राप्त कर सके। समाज में आदर प्राप्त करने के लिए और अपनी बातों को प्राचीन धर्मावलम्बियों के मन में प्रवेश कराने के लिए भिक्षुओं को 'ब्राह्मण'-रूप धारण करना पड़ा। जातक-युग में दो तरह के ब्राह्मण हैं—पहला है शुद्ध ब्राह्मण, जो अत्यन्त पतित और गिरा हुआ है और दूसरा है 'समण-ब्राह्मण', जो अत्यन्त ऊँचा और शील सम्पन्न है। जनता को ब्राह्मण चाहिए, सो भगवान् बुद्ध ने उसे ब्राह्मण दिया; किन्तु गढ़कर ब्राह्मण दिया—जो पहले के गढ़े हुए ब्राह्मण थे, उन्हें पदच्युत करा दिया गया। जनता ब्राह्मण पाकर सन्तुष्ट हो गई—वह ब्राह्मण चाहे वेद-निर्मित हो या बुद्ध-निर्मित। जातक-कथाओं से तथा पालि-ग्रन्थों से हमारी इस आलोचना की पुष्टि होती है। बौद्धधर्म के प्रति हमारे हृदय में अगाध श्रद्धा है—वैदिक धर्म के प्रति जैसी श्रद्धा है, उससे कम श्रद्धा नहीं है। कर्त्तव्यवश हमें इस सत्य को नग्नरूप में रखना पड़ता है। यह कटु है, किन्तु सत्य है।

जातक-युग के धर्म और विश्वास पर हम विचार कर रहे हैं। यह विचार करने योग्य बात है कि धार्मिक क्षेत्र से तो ब्राह्मणों को हराकर खदेड़ने का जोरदार प्रयास बौद्धों ने किया; किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें पूर्ण गौरव के साथ रहने दिया गया। तक्षशिला के और दूसरी संस्थाओं (चरण और चरक) के आचार्य-पद पर ब्राह्मण ही थे। यदि यहाँ से भी उन्हें भगाया जाता, तो देश की उच्च-शिक्षा-परम्परा का नाश हो जाता। बुद्धदेव इस खतरे को मोल लेना नहीं चाहते थे। धर्म के क्षेत्र में समण-ब्राह्मणों की उन्होंने बाढ़ ला दी; किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में, तुरन्त ही ब्राह्मणों को खदेड़ कर दूसरे वर्ण को प्रतिष्ठित करना असम्भव था, अतः जातक-युग का प्रत्येक आचार्य ब्राह्मण है और वह उसी ज्ञान-दीप से प्रकाश फैला रहा है, जिस दीप को वैदिक ऋषियों ने प्रज्वलित

---

१. डायलॉग्स, २।१६५

२. सुत्तनिपात, ५९४; तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय), १।२३५; पुनः दीघ०, १।८७; ३।१, ३६, १।१७५७; अंगुत्तर, २।२९—३९ मज्झिम०, २।१—२२; २।२२।५; धम्मपद अट्ठकथा, १।८८—९०; सुत्तनिपात अट्ठकथा, २।४२१—२ आदि; पुनः उदान, पृ० ६६—७ (पालि-टेक्स्ट-सोसायटी) आदि द्रष्टव्य।

३. अम्बट्ठसुत्त, १

किया था। बाद में अ-ब्राह्मण आचार्य-पद के योग्य अधिकारी पैदा हुए हों, यह दूसरी बात है; किन्तु अपने मत की घोषणा करने के साथ ही बुद्धदेव अ-ब्राह्मण आचार्य कहाँ से लाते, अतः उन्हें ब्राह्मण-आचार्यों को ही स्वीकार कर लेना पड़ा। केवल धार्मिक क्षेत्र से ही ब्राह्मणों को निर्वासित करने की ओर बौद्धधर्म ने ध्यान दिया। विद्वान् ब्राह्मण आचार्यों से छोड़-छाड़ करने की गलती उसने कभी नहीं की। स्वयं वेदपारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण का आदर करते थे[1]। जातक-कथाओं में भी बहुत बार ऐसी चर्चा आई है, जब विद्वान् ब्राह्मण के प्रति बुद्धदेव ने आदर का भाव व्यक्त किया है। जातक-युग का धर्म क्या था, यह बतलाना कठिन है; क्योंकि तरह-तरह की दिट्ठियाँ (दृष्टियाँ) फैली हुई थीं, जिनमें बौद्धधर्म की प्रधानता थी। दूसरे तरह के मतवाद भी थे, जिनकी चर्चा हम कर आये हैं। जैसे—

१. आजीवक—नंगा-सम्प्रदाय
२. निग्गंठ—जैन
३. मुण्ड सावक—मुण्डित साधु
४. जटिलक[2]—जटाधारी
५. परिव्राजक—ब्राह्मणधर्मावलम्वी संन्यासी
६. मगण्डिक—अज्ञात
७. तेडण्डिक[3]—त्रिदंडी
८. अविरुद्धक—जिनका मत विरुद्ध नहीं था। वे बौद्धधर्म के समर्थक मित्र थे।
९. गोतमक—बुद्धधर्म के प्रवर्तक बुद्धदेव से किसी भिन्न आचार्य का मत।
१०. देवधम्मिक—देव-धर्म का पालन करनेवाले।

और भी बहुत-से मत मतान्तर थे। 'अंगुत्तर' के अनुसार हम सूची प्रस्तुत कर रहे हैं। यह अंगुत्तर एक प्रमाणिक (बौद्ध) निकाय है। पूरण-कस्सप, मंखलिगोशाल[4] आदि की चर्चा हम कर चुके हैं। मंखलिगोशाल उन पाँच आचार्यों में प्रमुख स्थान रखते थे। उनका सिद्धान्त कर्म और कर्म-फल दोनों का निराकरण था। सभी सम्प्रदाय के भिक्षुओं की परवरिश गृहस्थों की दानवृत्ति के द्वारा होती थी—वे श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देते थे[5]। अपने-अपने मत के प्रतिपादन में सभी सजग रहते थे और कभी-कभी उलझ भी पड़ते थे—शास्त्रार्थ ही उनका हथियार होता था। भिक्षुओं के अनेक समुदायों का पता चलता है और वे अलग-अलग मत के पोषक थे[6]—

---

१. सुत्तनिपात, पारायण वग्ग (वत्थुगाथा ५५) ४३, ४४, ४५, ५१
२. महावग्ग, १।३८।३
३. मनु०, १२।१०
४. पाणिनि, ६।१।१५४, महाभाष्य; उवासगदसाओ (जैन), १४३, महाभारत, शान्ति०, १७७। ११४; भगवती सूत्र, १५।१
५. सामञ्ञफल सुत्त और डायलॉग्स, १।६९
६. उदान का उच्चंद्धवग्ग, ४।५।६, उदान, पृष्ठ ६६।७ (पालि-टेक्स्ट-सोसायटी)

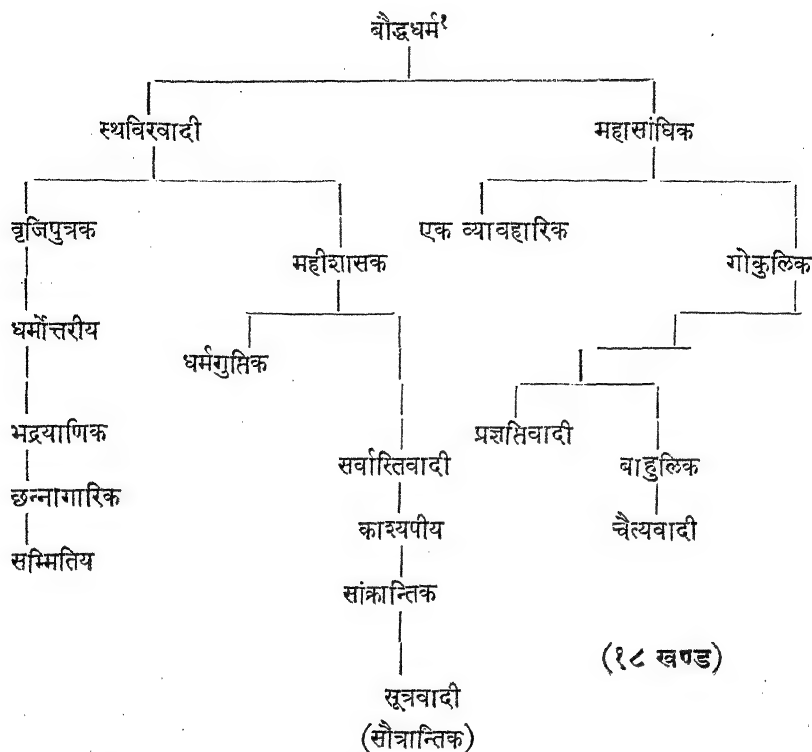
समबहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणा परिब्बाजिका नानादिट्ठिका नानाखंतिका नानारुचिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता।

श्रमण और ब्राह्मणों के बहुत-से और तरह-तरह के सम्प्रदाय थे; जो परिव्राजक-धर्म के माननेवाले अनेक दिट्ठि या दार्शनिक मतों के पोषक, तरह-तरह के (खन्ति) शान्ति या विश्वास, विभिन्न रुचि और अनेक व्यवस्थाओंवाले (निस्सय = आश्रय) थे।

अनेकवाद का बोलबाला धार्मिक अराजकता का पता देता है। कोई भी मत ऐसा नहीं था, जो इस स्थिति को समेटकर रखता। जिसके जी में जो आया, वही एक 'दिट्ठि' का नारा बुलन्द करने लगा और भीड़ जुटाकर स्वयम् धर्मद्रष्टा बन बैठा। जातक-युग में धर्म की कुछ ऐसी ही स्थिति थी। सबल धार्मिक नेतृत्व का पूर्णतः अभाव था। भिक्षु या परिव्राजकों का कुछ अजब हाल था। कोई नंगे रहते थे, तो कोई चीथड़ा चुनकर लज्जा निवारण करते थे, वल्कल और मृगचर्म भी लपेट लेते थे। नीवार, श्यामाक आदि वन्य अन्न खाकर जीवित रहनेवाले 'सन्तों' की कोई कमी न थी। शारीरिक तपस्या और शील, चित्त, पञ्ञा (प्रज्ञा) तपोजिगुच्छा (अहिंसा) और विमुक्ति (मोक्ष) आदि को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था। ऐसा जान पड़ता है कि जातक-युग में ऊपर स्वर्ग और नीचे नरक—इन दोनों के बीच में कोई स्थान ही नहीं बचा था। सच्चे साधुओं के अतिरिक्त ऐसी जमायतों में बुद्धि-पौरुष-हीन व्यक्तियों के दाखिल हो जाने का भी पता चलता है। 'विनय' आदि ग्रन्थों के पढ़ने से ऐसा ही स्पष्ट होता है[1]। निठल्लों ने अपनी जघन्य उपस्थिति से धार्मिक जमायतों में गंदगी फैलाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। बौद्धसंघ, जो 'शील' पर बहुत जोर देता था, विकारों से बचा नहीं रह सका। जब झुण्ड-के-झुण्ड लोग सिर मुड़ाकर स्वर्ग और मोक्ष के उद्देश्य से जुट पड़े, तो फिर पूछना ही क्या है—सभी तरह की गन्दगियाँ भी आईं। जान पड़ता है कि ठलुओं ने भी सिर मुड़वाने में विशेष उत्साह का परिचय दिया। इसे रोका भी नहीं जा सकता था। कालान्तर में बौद्धधर्म अनेक वादों में बँट गया और उसके भीतर जो कमजोरी आई, उसने उसे जड़ से हिला दिया। ब्रह्म-निर्वाण के केवल २२० वर्षों के बाद ही उसमें विकार पैदा हुआ और 'वादों' ने जोर पकड़ लिया।

---

१. उदाहरणार्थ, 'विनय पिटक', संघादिसेस, ६



बुद्धदेव के रहते भी बौद्धसंघ में विद्रोह फैला था, यह घटना कौशाम्बी की है। बुद्धदेव खिन्न होकर तपस्या करने चले गये थे—सब कुछ छोड़कर[2]।

बौद्धधर्म के १८ टुकड़े हो गये, बुद्धदेव के महापरिनिर्वाण के केवल २२० वर्ष बाद। इतने बड़े संगठन का इतनी जल्दी बिखर जाना देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता। हम कारणों की गहराई में उतरना उचित नहीं समझते; क्योंकि हमारे लिए उचित है कि हम अपनी रेखा के भीतर ही रहें।

जातक-कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि पूरा भारत कभी बौद्ध धर्म की छाया में नहीं आया। हाँ, जैनों और बौद्धों के प्रहारों से ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित धर्म काफी आहत हो गया। ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित धर्म में ब्राह्मण आगे हो गये थे और धर्म पीछे। यही बात बौद्ध धर्म में भी हुई—बुद्धदेव इतना ऊपर उठे कि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म उनसे छोटा ही रह गया।

वैदिक धर्म में ऐसी बात न थी—उस धर्म में किसी व्यक्ति-विशेष की प्रधानता कभी नहीं रही। वह धर्म शुद्ध विचारों के रूप में रह गया और आज भी है। जिस संस्था में व्यक्ति-विशेष की प्रधानता बढ़ते-बढ़ते संस्था की प्रधानता से ऊपर उठ जाती है,

१. 'वत्थुकट्ठकथा' के अनुसार। इन १८ भागों को '१८ निकाय' कहते हैं।—ले०

२. सुत्तनिपात, ४।९, धम्मपद, अट्ठकथा, १।१९९-२२२; उदान, ४।१०; विनय, १।३३७; जातक; ३।४८६ आदि।

उस संस्था का अन्त उस व्यक्ति के अन्त के साथ ही हो जाता है। व्यक्ति का काम होना चाहिए संस्था को आगे करके स्वयम् उसके पीछे रहे; किन्तु ऐसी बात देखी नहीं जाती और अच्छी-से-अच्छी संस्थाओं की दुर्दशा उसके प्रमुख व्यक्ति के अत्यन्ताभाव होते ही हो जाती है। बौद्धधर्म का भारत में अन्त होने के बहुत से गम्भीर कारण हैं; मगर उन कारणों में प्रमुख कारण एक यह भी है।

जातक-युग के धर्म और विश्वास का हम धुँधला-सा आभास यहाँ दे रहे हैं। यह विषय बहुत व्यापक है। यह भी स्पष्ट होता है कुछ धार्मिक संस्थाएँ एक-दूसरे से झगड़ती भी रहती थीं। जैनों का जातक-कथाओं में अत्यन्त गर्हित स्थान है और इस सम्प्रदाय की निन्दा भी जहाँ-तहाँ की गई है। देवदत्त ५०० 'वज्जिपुत्तक' नये भिक्षुओं के साथ बुद्धदेव के समय ही संघ से अलग हो गया था और राजगृह से सीधे गया की ब्रह्मयोनि पहाड़ी पर चला आया। वहाँ उसने एक 'मत' या 'दिट्ठि' की नींव डाली और ५०० भिक्षुओं का संघ बनाकर उपदेश देना शुरू कर दिया[1]। बुद्धदेव ने आनन्द को उन भिक्षुओं को लौटा लाने के लिए भेजा। जब देवदत्त गम्भीर निद्रा में डूब गया, तो आनन्द उन सभी भिक्षुओं को समझाकर—उपदेश देकर लौटा लाये।

इसके बाद देवदत्त की निन्दा की चर्चा जातक-कथाओं में स्थान-स्थान पर है। उसने भी बुद्धदेव को नष्ट करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी।

देवदत्त के संघ छोड़कर विद्रोही बनने का कारण यह है कि वह महत्त्वाकांक्षी था। उसने बुद्धदेव से कहा कि—'आप बूढ़े हुए। संघ मुझे सौंपकर आराम कीजिए[2]।'

बुद्धदेव ने कहा—'सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को भी मैं भिक्षु-संघ नहीं दे सकता; तुझ मुर्दे, थूक को तो क्या!' यही गाली खाकर देवदत्त विद्रोही होकर संघ से अलग हो गया। जैनमतवालों से और देवदत्त के सम्प्रदाय से बौद्धों की लाग-डाँट रहा करती थी। जातक-कथाओं में ऐसी बातें हैं, जिनसे यह प्रमाण मिलता है कि जातक-युग में जो बहुत-से सम्प्रदाय थे, उनमें से कुछ आपस में भारी मनमुटाव रखते थे; किन्तु खुलकर झगड़े का पता नहीं चलता। जैनों और देवदत्त की निन्दा कठोर शब्दों में बुद्धदेव ने की है, तो उसकी प्रतिक्रिया उनके भक्तों और समर्थकों पर अवश्य ही भयानक रूप में होती होगी। सभी तो बुद्धदेव की तरह शान्त, उदार और महान् नहीं थे।

जो हो, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि एक युग भारत में ऐसा भी था, जब दल बनाकर जनता गृहत्याह करने दौड़ पड़ती थी। लोग ऊब गये थे और भिक्षुदर्शन अशुभ माना जाने लगा था[3]। जब बुद्धदेव ने इहलीला का संवरण किया,

१. चुल्लवग्ग, ४।८
२. ,, ,, ४।६
३. देखिए—याज्ञवल्क्य, १।२७३

तब सात लाख भिक्षु वहाँ एकत्र हुए[1]। महावंश में एक स्थान पर ११ लाख ९० हजार भिक्षुओं के जमा होने का उल्लेख है। द्वितीय धर्मसंगीति में बारह लाख भिक्षुओं के एकत्र होने का उल्लेख मिलता है[2]। यह महापरिनिर्वाण के १०० साल बाद हुई थी। यह स्पष्ट है कि सारे भारत का प्रत्येक भिक्षु तो आया नहीं होगा। कुछ ही आये, जिनकी संख्या १२ लाख थी। यदि प्रत्येक चार भिक्षु में एक धर्मसंगीति में गया, तो देश में कुल ४८ लाख भिक्षु हुए।

सोचना यह है कि भारत में आज जितनी आबादी तो २५०० साल पहले नहीं ही होगी। प्राणी-विज्ञानवेत्ता ज्यूलियन हक्सले ने एक लेख में लिखा है कि आज से ८०० साल पहले धरती पर अनुमानतः २ करोड़ मनुष्य थे। १७वीं सदी तक आबादी ५० करोड़ तक पहुँची और १८वीं सदी के मध्य में १ अरब! अगले १७५ वर्षों में (१९२०) में २ अरब! आबादी के दुगुनी होने में पहले २०० साल लगे, किन्तु दूसरी बार १०० साल में ही आबादी दुगुनी बढ़ गई। यह १९८० तक ४ अरब तक पहुँचेगी। माना कि उस विद्वान् की दृष्टि एशिया पर न थी, तो हम २ करोड़ में १० करोड़ और अपनी ओर से जोड़ लेते हैं, जिसमें भारत को हम २॥ करोड़ देते हैं, ५ करोड़ चीन को और शेष एशियाई देशों को २॥ करोड़; तो बुद्धदेव के समय में भारत की आबादी अनुमानतः १॥ करोड़ मान लेने में कोई हर्ज नहीं है, जिसमें केवल बौद्ध भिक्षु ४८ लाख थे—जैन आदि भिक्षु-सम्प्रदायों की बात अलग रही। प्रत्येक ४ व्यक्ति पर एक या कुछ अधिक केवल बौद्ध भिक्षु के भरण-पोषण का भार था। मोक्षमार्ग पर चलनेवाले कुछ उत्पादन तो करते नहीं; किन्तु भोजन-वस्त्र तो ग्रहण करते ही हैं, जिसकी पूर्त्ति गृहस्थ अपनी दानशीलता के बल पर करते रहते हैं। जातक-युग में मोक्ष प्राप्त करने का एक फैशन चल पड़ा था और लोग बेरोक-टोक घर-द्वार त्यागकर स्वर्ग की कल्पना करते हुए भीख माँगने लग गये थे। आज भी भारत २०–२५ लाख साधुओं को रोज भर पेट भोजन दे रहा है जब कि हम स्वयम् कठिनाई से एक जून पेट भर पाते हैं।

आतिथ्य और दान

किसी भी जाति के अभिनन्दनीय गुणों में उसकी दानशीलता और आतिथ्य को विशेष स्थान मिला है, विशेषतः भारत में इन दोनों गुणों का चरम विकास हुआ है। आतिथ्य की महिमा आर्य-ग्रन्थों में बार-बार गाई गई है। हम पहले दान की चर्चा करते हैं। वैदिक युग में दान को बहुत महत्त्व दिया जाता था। जब किसी को दान देना होता था, तो गाँव में एक उत्सव हो जाता था। व्यक्तिगत रूप से दान तो दिया ही जाता था, पूरे-के-पूरे गाँव की ओर से भी दान दिया जाता था[3]। ग्रामाध्यक्ष भी सबके आगे-आगे होता था, जो सबसे पहले दान या दक्षिणा देता था—

---

१. 'महावंश', परिच्छेद ३

२. ,, ,, ,, ,, ४

३. ऋग्वेद, मं० १०, सूक्त ५

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एधि दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां य प्रथमो दक्षिणामाविवाय[1]॥

दक्षिणा और दान में अन्तर है। किसी कर्म (यज्ञादि) के पारिश्रमिक का पवित्र नाम दक्षिणा है तथा किसी याचक को कुछ देना दान। भूखे को सामने खड़ा देखकर भी जो भोजन करने बैठ जाता था, वह निन्दनीय माना जाता था—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वा।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्य मरणं चिदिच्छेत्॥

जो हृदय को निष्ठुर बनाकर भूखे मनुष्य को सामने उपस्थित देखकर भी भोजन कर लेता है, बिना भूखे को दिये स्वयम् पेट भर लेता है, उसे कोई सुख देने-वाला नहीं मिलता। दाता को अमर पद प्राप्त होता है, वह मरकर भी मरता नहीं, जीवित रहता है—

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति[2]॥

मित्र और साथी की सहायता नहीं करना, उसे आवश्यकतानुसार दान नहीं देना भी दोष माना जाता था। ऐसे व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिए। वह गृह गृह नहीं है, ऐसा वेद का वचन है। दान से अत्यन्त दीर्घपुण्य प्राप्त होने का उल्लेख है—

पृणीयादिन्नाधमानय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत् पन्थान्।
ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्रान्येमन्यमुपतिष्ठन्ति रायः[3]॥

जैसे रथ का चक्र नीचे-ऊपर घूमता है, उसी तरह धन भी कभी स्थिर नहीं रहता—कभी इसके पास, कभी उसके पास जाता ही रहता है, अतः याचक को दान देना उचित है।

कृपण स्वभाववाले व्यक्ति को बुरा माना जाता था। जिसमें उदारता नहीं है, उसका अन्न खाना मृत्यु के समान है। जो न तो देवार्थ—उपकारार्थ—दान करता है और न स्वयम् अपने धन का सही-सही उपभोग करता है, वह पाप ही खाता है, वह पापी है, त्याज्य है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इ त् स तस्य।
नार्यमणं पुण्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी[4]॥

सब किसी को मिलजुल रहने के लिए यह आवश्यक है कि एक-दूसरे की आवश्यकताओं को समझे और साथ दे। जीवन का भारी बोझ मिल-जुलकर ही ढोया जा सकता है। वह समाज कैसे टिकेगा, जिसके सदस्य केवल अपनी ही गोटी लाल करने

---

१. ऋग्वेद, मं० १०, सू० ४
२. ऋग्वेद, मं० १० सू० ८
३. „ „ „ „ ५
४. ऋग्वेद, मं० १०, सू० ६

की धुन में लगे रहें और कोई किसी के दुःख का साथी न बने, किसी के लिए कुछ करने के लिए प्रस्तुत न हो—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात समग्रास्थ सध्रीचीनान्[1] ॥

दाहिने हाथ से जो काम करते हैं, उसका शुभ या अशुभ फल तुरंत बायें हाथ में मिल जाता है। अतः बराबर शुभ प्रयत्नों में हम लगे रहें—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः[2] ॥

वैदिक समाज गुणों के आधार पर टिका हुआ था और समाज का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे के लिए जीता था, न कि अपने लिए। यही कारण है कि दान और उदारता का बड़ा महत्त्व था—सभी यज्ञों से दान-यज्ञ को श्रेष्ठ माना जाता था। जो किसी के काम नहीं आता था, वह समाज का कलंक माना जाता था और कोई भी उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे।

वेदों में दान का वर्णन बहुत ही उल्लासपूर्ण शब्दों में किया गया है और जी खोलकर दान देनेवाले की प्रशंसा की गई है—दानी को स्वर्ग का जीव बतलाया गया है।

भारत की यह दान-परम्परा रामायण-युग से होती हुई महाभारत-युग में आई। पुराणों में भी बार-बार दान का वर्णन आया है—शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि महादानियों की पुण्य-कथाओं से सारा भारतीय वाङ्मय गंगा की तरह पवित्र है। दान देते समय नदियों ने अपनी स्थिति पर कभी विचार नहीं किया। कर्ण ने सब कुछ दे दिया और जान-बूझकर मृत्यु को अपना लिया—सूर्य के दिये हुए दिव्य कुंडल और कवच तक का दान उसने कर दिया था। दान देने का जब भी अवसर आया, आर्य दानियों ने पीछे कदम नहीं हटाया। भारतीय संस्कृति में 'दान' एक ऐसा जगमगाता हुआ हीरा लगा हुआ है, जिसकी ज्योति कभी मंद नहीं पड़ी।

जातक-युग में भी दान की महिमा पूर्ववत् थी[3]। दान-परम्परा की रक्षा जातक-युग में की गई थी। यह बात नहीं है कि बुद्धदेव के प्रभाव से जातक-युग के दानियों ने दान दिया था—दान देना तो भारत का स्वाभाविक गुण है और उसका अन्त न आज हुआ है और न कल होगा। वैदिक युग में इस परम्परा की नींव डाली गई थी, जो इतनी दृढ़ थी कि हजारों वर्षों के काल-प्रवाह की उपेक्षा करके कायम रही।

जातक-युग में भी दान और दानियों का गौरवपूर्ण स्थान था[4]। करोड़ों दान

१. ऋग्वेद, मं० १० सू० ५, श्रद्धासूक्त।

२. अथर्व, ७।५२।८

३. पुराण-प्रसिद्ध महादानी राजा शिवि की कथा सिविजातक—४९९ में आई है। इस कथा में बतलाया गया है कि शिवि की दान-क्षमता की परीक्षा लेने देवराज शक्र वृद्ध अन्ध-ब्राह्मण का रूप धारण करके आये और उन्होंने शिवि से उसकी आँखें माँग लीं। राजा ने अपनी आँखें दे दीं।

४. खन्तिवादी जातक—३१३।

करके स्वयं गृहत्यागी बन जानेवालों की कमी जातक-युग में न थी। 'विचेय्यदान' शब्द बौद्धसाहित्य में आया है। इस शब्द का अर्थ होता है—'जो जो कुछ माँगे, उसे दे देना।' वाराणसी का कुण्डकुमार नामक ब्राह्मण, जो तक्षशिला का स्नातक था, जब घर लौटा, तब उसके माता-पिता मर चुके थे। उसके पास ८० करोड़ की सम्पदा थी। उसने सोचा कि 'पिता, पितामह, प्रपितामहादि केवल कमाते रहे, साथ नहीं ले जा सके। इस अपार धन को मैं साथ लेकर जाऊँगा।' साथ ले जाने का तरीका था 'दान'। दान किया हुआ धन ही स्वर्ग तक साथ जाता है। उसने सब कुछ दान कर दिया और स्वयं हिमालय की राह ली। सारा झंझट पार हो गया!

दान विकार-रहित चित्त से देना चाहिए। दान देने के पहले प्रसन्न रहे, दान देते समय प्रसन्न रहे और दान देने के बाद प्रसन्न रहे—ऐसा ही दान 'यज्ञ-सम्पत्ति' माना जाता था—

पुब्बेव दाना सुमनो ददं चित्तं पसादये।
दत्वा अत्तमनो होति एसा यञ्ञस्स सम्पदा[1]॥

'सविकार दान' दोषपूर्ण माना जाता था—दाता और प्राप्तिकर्त्ता दोनों के लिए ऐसा दान अहित पैदा करता है[2]।

'मय्हक'[3] एक चिड़िया का नाम है जो 'मेरी, मेरी' बोलती है। वह पर्वतों, जंगलों, वृक्षों, खेतों, गाँवों में सर्वत्र जाती है और 'मेरी, मेरी' चिल्लाती है। यानी यह सारी वसुधा उसकी है। सचाई यह है कि उसका कुछ भी नहीं है। जिसके जी में जो कुछ आता है, करता है। पक्षी फल खाते हैं, पशु घास चरते हैं, मानव भी धरती का अन्न खाते हैं, फल खाते हैं; मगर वह अभागी चिड़िया केवल 'मेरी, मेरी' चिल्लाती रहती है। इसी तरह मानव भी सारी धरती को 'मेरी, मेरी' कहता फिरता है, धरती तो रह जाती है और उस पर अपना दावा पेश करनेवाला मानव मुट्ठी-भर राख बन जाता है, हवा उसे बिखेर देती है, धरती निगल जाती है। सारा किस्सा यहीं खत्म हो जाता है।

अतः धन का, कमाई का सबसे सुन्दर उपयोग है—नाते-रिश्तेदारों को तृप्त करना, मित्रों को सहायता देना, याचकों की झोली भरना। धन का यदि सही-सही उपयोग किया जाय, तो स्वर्ग और यश दोनों प्राप्त होते हैं, गलत उपयोग से नरक और अयश का अन्त नहीं रह जाता। धन का यदि सही उपयोग नहीं किया गया, तो—

राजानो अथवा चोरा दायदा येव अप्पिया।
धनमादाय गच्छन्ति विलपित्वेव सो नरो॥

राजा, चोर या अप्रिय दायाद धन ले जाते हैं और जमा करनेवाला, पाई-पाई जोड़नेवाला 'मेरा, मेरा' कहकर रह जाता है। उसे खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। धन का सुन्दर उपयोग किया गया, तो—

१. मय्हक जातक—३९०।
२. तेलोवाद जातक—२४६। यथा—'हन्त्वा झत्वा वधित्वा च देति दानं असञ्ञतो।
एदिसं भत्तं भुञ्जमानो स पापेन उपलिप्पति॥'
३. 'मय्हक जातक' में यह उपदेश आया है।

तेन सो किर्त्ति पप्पोति पेच्च सग्गे च मोदति ॥

जबतक जीवित रहे तबतक यश मिलता रहा और मरे तो स्वर्ग की प्राप्ति हुई। ऐसे ही उपदेशों के द्वारा दान-परम्परा को जातक-युग में कायम रखा गया और धनियों के दिल को दया-शून्य नहीं बनने दिया गया, उनकी मानवता को पथराने नहीं दिया गया।

एक वनचर हिमालय में सन्तों के कपड़े-बरतन चुराने के लिए गया[1]। वहाँ वह रास्ता भूल गया। रोता-चिल्लाता इधर-उधर घूमने लगा। एक हाथी को दया आई। वह उसे पीठ पर बैठाकर गाँव तक पहुँचा आया और उसने मना कर दिया कि किसी को हाथी का पता न बतलावे। वह वनचर एक आरी लेकर फिर हाथी के रहने के स्थान पर कुछ दिन बाद लौटा और कहने लगा कि मैं दरिद्र हूँ। अपना दाँत दे दो, तो उसे बेचकर दरिद्रता से छुटकारा पाऊँ। हाथी ने अपने दोनों दाँत कटवा लिये। दूसरी बार वह आदमी फिर आया और बोला कि—अब मुझे अपनी दाढ़ें दे दो। हाथी ने कष्ट सहकर भी अपनी दाढ़ें कटवा लीं। हाथी दान देने में पीछे नहीं हटा और वह पतित माँगने में बाज नहीं आया। इसीलिए कहा है कि जो कृतघ्न है, दोष ही खोजने में लगा रहता है, उसे सारी धरती देकर भी कोई तुष्ट नहीं कर सकता—

अकतञ्ञुस्स पोसस्स निच्चं विवरदस्सिनो।
सब्बं चे पठविं दज्जा नेव नं अभिराधये ॥

दान देते समय यह तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि जिसे दान दिया जा रहा है, वह मानव भी है या साक्षात् शैतान है। पतित को दान देना क्या है, एक शत्रु पैदा कर लेना है।

जातक-युग में भोजन रास्ते में रख दिया जाता था कि आने-जानेवाले भूखे खाकर तृप्त हों[2]। इतनी ईमानदारी थी कि जो भूखे नहीं होते थे, वे उस दान के अन्न का स्पर्श भी नहीं करते थे। एक यक्ष ने विषमिश्रित अन्न रखकर राहगीरों के प्राण लिये थे। इसी जातक में यह कथा है।

एक-एक ज्ञानी और विद्वान् को गाँव और सम्पदा देकर तृप्त किया जाता था[3]। एक राजा ने उपदेश से प्रसन्न होकर एक सन्त को एक लाख की आय का गाँव दे दिया था।

विद्वानों को राजा या धनी दान दिया करते थे और वह दान लाखों का होता था—जातक-युग में भी यह दान-परम्परा कायम थी। गरीब का दिया हुआ दान श्रेष्ठ दान होता था[4]। ऐसे भी दानी जातक-युग में थे, जिन्होंने गरीब हो जाने पर भी दान-परम्परा को कायम रखा। एक सेठ था, जो महादानी था। परिणाम यह

१. सीलवनागराज जातक—७२।
२. गुम्बिय जातक—३६६।
३. अवारिय जातक—३७६।
४. बिडारि कोसिय जातक—४५०, यथा—'अप्पसा दक्खिणा दिन्ना सहस्सेन समं मिता।'

हुआ कि वह गरीब हो गया। सारा घर खाली हो गया तो उसने पत्नी से कहा कि—चाहे जो हो, दान-परम्परा की रक्षा तो करनी ही होगी। वह सेठ घास छीलने लगा और जो पैसे मिलते उससे रूखा-सूखा खाकर जो बच जाता, उसे हँसी-खुशी से दान कर देता[1]। वह सेठ कभी-कभी निराहार रहकर भी दान दिया करता था। उस सेठ ने कहा—

यदि हेस्सति दस्साम असन्ते किं ददामसे।
एवं भूतापि दस्साम मा दानं पमदम्हसे॥

जब दे सकेंगे देंगे, न होने पर क्या देंगे? ऐसी अवस्था होने पर भी देंगे—दान में प्रमादी न बनाइए। अन्त में उस सेठ ने कहा—"मैं तो सर्वज्ञता की प्रार्थना करता हुआ दान देता हूँ।"

अनाथपिण्डक[2] प्रत्येक दिन ५०० भिक्खुओं को नित्य भोजन देता था। उसने भगवान् बुद्ध को भी जेतवन दान में दिया था[3]। इस वन की कीमत एक करोड़ थी। जितना बड़ा वन था, उसकी धरती पर सोने के सिक्के बिछाये गये—गाड़ियों पर सिक्के लाद-लाद कर सोने के सिक्के पूरे वन की धरती पर बिछा दिये।

अनाथपिण्डिको गहपति सकटेहि हिरञ्ञं निब्बाहपेतुं
जेतवणं कोटिसंथारं संथरापेसि॥

—चुल्लवग्ग, १५९ और जातक, १।९२-३

विशाखा नाम की एक धनी परिवार की महिला थी। वह एक बार उपदेश सुनने विहार में गई। वहाँ वह भूल से अपना कोई शिरोभूषण भूल आई। आनन्द ने उसे अपने पास सुरक्षित रख लिया। वापस करने पर विशाखा ने उसे लेने से इनकार कर दिया। उसने उसे बेच देने को कहा। वह इतना मूल्यवान् था कि कोई खरीदने को तैयार नहीं हुआ। किसी तरह उस आभूषण को बेचकर 'पूर्वाराम' नामक विहार बनवाया गया[4]। उस पूर्वाराम में आठ प्रकार के दानों और सदाव्रत की व्यवस्था थी। वर्षावास के लिए चीवर, आने-जानेवाले भिक्षुओं को भोजन, उनके परिचारक के लिए भोजन, रोगी भिक्षु और उनके परिचारक के लिए भोजन-दवा-पथ्य, भिक्षुणियों के लिए स्नान-शाटी आदि।

बौद्ध धर्म के आरंभिक दिनों में मानव-प्रेम और समाज-सेवा का कितना व्यक्त भाव था; इस दान से स्पष्ट होता है। यही कारण है कि उस युग के भक्तों की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति काफी हुई थी।

---

१. विसय्ह जातक—३४०।

२. केसव जातक—३४६ और चुल्लवग्ग, पृ० १५९

३. अनाथपिण्डक द्वारा बुद्ध को जेतवन दान देने की घटना से सम्बन्धित एक मूर्त्ति भी प्राप्त हुई है। यह मूर्त्ति भरहुत-स्तूप में है। इस मूर्ति पर उत्कीर्ण है—'जेतवन अनाधपेडिको देति कोटि संथतेन केता।'

४. धम्मपद, अट्ठकथा, १।३८४; अंगुत्तर, अट्ठकथा, १।४०४

अति याचना दोष माना जाता था। यदि देनेवाला सर्वस्व देने को प्रस्तुत हो तो लेनेवाले में संयम होना चाहिए। अति याचना दाता के मन में उदासी पैदा कर देती है, उत्साह नष्ट हो जाता है, अश्रद्धा के भाव भर जाते हैं[१]। एक नागराज से एक व्यक्ति नित्य उसका मणि माँगा करता था। नाराज होकर नागराज ने उस अति याचक के निकट जाना ही बन्द कर दिया।

एक राजकुमार से एक गलती हो गई[२]। जब वह तक्षशिला में शिक्षा लाभ कर रहा था, रात को कहीं जाते हुए एक गरीब ब्राह्मण के भात की हाँड़ी में उससे ठोकर लग गई। हाँड़ी फूट गई। ब्राह्मण रोने लगा। राजकुमार ने कहा कि—'मैं राजकुमार हूँ। जब मुझे राज्य प्राप्त होगा, तब तुझे मुँह-माँगा दान दूँगा।' वह राजकुमार राजा हो गया। ब्राह्मण भी वहाँ पहुँचा। पुरानी कहानी स्मरण करके राजकुमार ने, जो अब राजा था, ब्राह्मण से कहा—

ददामि ते गामवरानि पञ्च
दासीसतं सत्त गवं सतानि।
परोसहस्सं च सुवण्णनिक्खे
भरिया च ते सादिसी द्वे ददामि॥

मैं तुझे पाँच श्रेष्ठ गाँव, सौ दासियाँ, सात सौ गायें, हजार से अधिक स्वर्ण-मुद्राएँ तथा तुम्हारे अनुकूल दो भार्याएँ भी देता हूँ।

एक तुच्छ हाँड़ी के बदले में राजा ने बहुत-कुछ दिया। यह उदारता और दान-महिमा ही तो है। जातक-युग में दान देने की होड़-सी लग जाती थी। कभी-कभी राजा और सेठ उलझ पड़ते थे। राजा यह सोचने लगता था कि कहीं दान देने में सेठ न बाजी मार ले जाय।

कंजूस को बहुत ही बुरी नजरों से देखा जाता था[३]। बुद्धदेव ने तो साफ-साफ कह दिया था कि कंजूस कभी स्वर्ग नहीं जा सकता[४]। बुद्धदेव के मत से दान प्राप्त करने के अधिकारी भिक्षु ही हैं—इतर जन नहीं। यह अजीब बात थी।

एक राजा ने बुद्धदेव को न्योता दिया और नगरवासियों को कहला भेजा कि आकर देखो, दान कैसे दिया जाता है[५]! नगरनिवासियों को यह बात लग गई। उन्होंने दूसरी बार बुद्धदेव को न्योता देकर इतना अपरिमित धन खर्च किया कि राजा का दान तुच्छ हो गया। रानी ने राजा से कहा कि आप फिर भिक्षु-संघ को

१. मणिकण्ठ जातक—२५३।

२. जुण्ह जातक—४५६।

३. धम्मपद, १३। ११, 'न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति।'

४. भिक्खापरम्पर जातक—४९६ यथा—'रट्ठेसु गिद्धा राजानो, किच्चाकिच्चेसु ब्राह्मणा।
इसी मूलफले गिद्धा, विप्पमुत्ता च भिक्खवो॥'
राजा राष्ट्रों में आसक्त हैं, ब्राह्मण कृत्याकृत्यों में आसक्त हैं, ऋषि फल-मूल में आसक्त हैं, भिक्षु सबसे मुक्त हैं।

५. धम्मपद, १३।१०

निमन्त्रण दें और प्रत्येक भिक्षु के पीछे चाँदी के छत्रवाले गजराज खड़ा कर दें। नौका में चन्दनादि द्रव्य भरवा कर रखें। इस दान में चौदह करोड़ खर्च बैठा—वह भी केवल एक ही दिन में। जातक-युग की यह महत्ता थी। सभी युगों से अधिक जातक-युग में दान की महिमा का प्रकाश फैला था। लाखों, करोड़ों की सम्पदा छोड़कर, त्यागकर, खैरात करके भिक्षु बन जाना तो मामूली बात थी और करोड़ों दान कर देना भी कोई महत्त्व नहीं रखता था। एक शंखपति ब्राह्मण छह लाख नित्य दान करता था[१]। बड़े-बड़े विहार, महाविद्यालय, लाखों की संख्या में भिक्षु दान के बल पर ही कायम थे। देश में अपरिमित धन था, एक-एक व्यक्ति अस्सी-अस्सी करोड़ का स्वामी होता था और जब वह दान करने लगता था, तो देखते-देखते सब कुछ देकर कौपीन धारण कर लेता था। भारत की यह त्याग-वृत्ति बेजोड़ थी और आज भी है। वैदिक युग ने जिस दान की परम्परा का बीज वपन किया था, वह खूब फूला-फला और फैला[२]।

अतिथि-सत्कार

वैदिक युग का गृहस्थ दरिद्रता से घबराता था और उसे दूर करने के लिए प्रार्थना किया करता था[३]। कारण ? दरिद्रता दान-विरोधिनी, डरावनी और क्रोधपूर्ण होती है। अतः उसे कौन पसन्द करे। कहता है—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामासि॥

दरिद्रता से छुटकारा पाकर वैदिक युग का आर्य कामना करता है—

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दस श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा[४]॥

साठ हजार घोड़ी, दस हजार ऊँट, तीन हजार भेड़, एक हजार गधी और दस हजार गायों—के लिए ही केवल आर्य प्रार्थना नहीं करता था; बल्कि ऐश्वर्य को पुकार कर कहता है—'हे ऐश्वर्य, तुझे सभी पुकारते हैं, तेरा मुँह देखना चाहते हैं कि तू ही हमारा अग्रगामी हो। ऐश्वर्य से देवता हमको भाग्यवान् करें[५]।'

अपार पशुधन और सौभाग्य प्राप्त करके ही आर्य सुखों में लिप्त नहीं हो जाता था। वह अपने चारों ओर देखता है और अपने सभी सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर दूध, घी, अन्न से तृप्त करता है। मीठे वचनों से भी आनन्द देता है[६]। अतिथियों को भी

१. सङ्ख जातक—४४२।
२. खदिरंगार जातक—४०।
३. ऋग्वेद, मं० १०, सू० १५५
४. ऋग्वेद, ८।४६।२२
५. यजुर्वेद, ३४।३८
६. यजुर्वेद, २६।२; ऋग्वेद, ७।५५।५; अथर्व, ९।५।३०

बुलाता है और कहता है कि[१]—"आप इन घरों में प्रेमपूर्वक पधारिए, डरिए मत। गो, बकरी के दूध, रसमय अन्न की कमी नहीं है। पधारिए ! हम भी यहाँ हैं और आप भी सुखपूर्वक विश्राम कीजिए।" न केवल गृहस्थों के लिए ही अतिथि-सत्कार का महत्त्व था, बल्कि राजाओं के लिए भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपने यहाँ आये हुए विद्वानों को अपने से श्रेष्ठ समझकर उनका सत्कार करें—अपनी शान में भूले न रहें[२]। व्रतशील विद्वान् के अतिथिशाला में पधारते ही राजा स्वयम् उठकर उनका सत्कार करे और पूछे—"आप की क्या आज्ञा है। यहाँ जो कुछ है, उससे अधिक भी यदि चाहिए, तो आदेश दीजिए, हम उपस्थित करें।"

यह है वैदिक युग के आतिथ्य का एक छोटा-सा नमूना। इस मंत्र में—**'राज्ञोऽतिथिर्गृहाना गच्छेत्'** पद आया है। राजा के यहाँ भी अतिथिशाला होती थी, जिसकी देख-भाल मंत्री या कोई पदाधिकारी नहीं करता था, स्वयम् राजा उसकी व्यवस्था करता था। अतिथिशाला को 'आवसथ' कहा जाता था[३]। पाणिनि-काल में यह 'निषद्या' था[४]। निषद्या पथिकों के विश्राम के लिए बने हुए घर (धर्मशाला) को भी कहते थे। अशोक के एक शिला-लेख में 'निसिदिया' शब्द आया है। पाणिनि के अनुसार एक व्यक्ति का अपना निवास 'एकशालिका' है[५]।

श्रावस्ती के तिन्दुक नामक बगीचे को जो 'एकशालिका'[६] थी, उसे रानी मल्लिका ने बहुतों के लिए दान कर दिया तो उसका नाम पड़ा—बहुसालाकता[७]।

अभी हम वैदिक युग पर ही विचार केन्द्रित करते हैं। आवसथ वैदिक युग का अतिथिगृह था और वहाँ आराम का पूरा प्रबन्ध रहता था[८]। सूत्रग्रन्थों में इस आवसथ का पूरा-पूरा वर्णन मिलता है। वैदिक युग में अतिथिशाला का प्रबन्ध रहता था और अतिथि को 'देव' कहा जाता था।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव[९]।

सर्वप्रथम माता की वन्दना की गई है, उसके बाद पिता, आचार्य और फिर अतिथि ! आर्य-संस्कृति की बहुत बड़ी देन है, जो समावर्त्तन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय विद्यार्थी को बतलाया जाता था कि अतिथि को भी माता, पिता और आचार्य के समकक्ष समझो। यदि माता, पिता और आचार्य प्रातःस्मरणीय हैं, तो अतिथि भी प्रातःस्मरणीय है। अतिथि-सत्कार का वैदिक समाज में क्या स्थान था,

---

१. अथर्व, ७।६०—१—७
२. अथर्व, १५।१०, ११
३. अथर्व, ९।६।५
४. पाणिनि, सूत्र ३।३।९९
५. पाणिनि, सू० ४।३।१०९
६. दीघनिकाय।
७. सुमङ्गलविलासिनी, २।३६५
८. आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ५।९।३ और धर्मसूत्र, २।९।२५।४
९. तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक, ११

यह यहाँ स्पष्ट किया गया है। महाभारत में अतिथियों के सत्कार का वर्णन बार-बार मिलता है।

युग बदला, किन्तु आर्य-संस्कृति की परम्परा पर आँच नहीं आने पाई, सभी युगों में, युगपुरुषों ने वैदिक युग की शुभ परम्पराओं की रक्षा और उसके विकास का प्रयत्न किया—श्रीराम, श्रीकृष्ण और बुद्धदेव, सभी एक ही पथ पर चले। बाहर से देखने में जो पृथक्ता नजर आती है, वह 'रूप' की पृथक्ता है; 'आत्मा' की नहीं।

बौद्ध विहारों में अतिथिशाला का उल्लेख नहीं मिलता। राजाओं या गृहस्थों के यहाँ अतिथियों को ठौर-ठिकाना मिलता था। भिक्षु तो स्वयं भिक्षु थे—वे किसी अतिथि का सत्कार भी करते, तो किस बिरते पर! एक कथा ऐसी भी आई है, जब शैतान अतिथि से सावधान रहने का उपदेश दिया गया। एक ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ किसी पर्वत में, छाया में, एक कुटी बनाकर तपस्या करने लगा। वर्षा आई। शीतल हवा भी चलने लगी। एक बन्दर किसी मरे हुए तपस्वी का मृगचर्म ओढ़कर और कमण्डलु लेकर उस ब्राह्मण की कुटिया के द्वार पर आग तापने पहुँचा। वह जाड़ा से ऐंठा जा रहा था। चाहता था कि तपस्वी का रूप धारण करके उस कुटिया का अतिथि बने। तपस्वी के साथ उसका पुत्र भी था। वह धोखे में आ गया; किन्तु तपस्वी ने कहा कि—यह चंचल चित्त का बन्दर है, नीच स्वभाव का है, इसे कुटिया में मत घुसने दो। अन्दर आया तो इस घर को भी गन्दा करेगा। जली लकड़ी से डराकर उस तपस्वीकुमार ने उस ढोंगी बन्दर को खदेड़ दिया[1]।

स्पष्ट है कि जब कोई अतिथि दरवाजे पर आ जाय, तो इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि वह शैतान न हो और आतिथ्य का अनुचित लाभ उठाकर चलता न बने।

ठीक इसके विपरीत, अतिथि को भी उचित है कि वह जहाँ ठहरता है, उसकी परख कर ले। जातक में एक कथा[2] आई है कि एक हरिण को मारने के लिए फलोंवाले किसी वृक्ष पर शिकारी बैठ गया। जब हरिण आया, वह मूर्ख शिकारी फल तोड़-तोड़कर उसकी ओर फेंकने लगा। हरिण चौंक गया। उसने कहा—हे वृक्ष, पहले तो तू फल सीधे धरती पर गिराया करता था। तू अपने धर्म को छोड़कर दूर पर फल फेंक रहा है। अब मैं यहाँ टिक नहीं सकता, मुझे भय सता रहा है।

हरिण भाग खड़ा हुआ। इन कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि अतिथि-सत्कार करनेवाला और अतिथि—दोनों सावधान रहें। किसी गृहस्थ के यहाँ एक सन्त ने आश्रय ग्रहण किया। वह अतिथि-तत्कार का सुख बहुत दिनों तक उठाता रहा। एक दिन विदा हुआ। जाने के कुछ देर बार सन्त फिर लौटा। उस गृहस्थ को आश्चर्य हुआ। सन्त ने गृहस्थ के आगे एक तिनका पेश किया और कहा—"दूर जाने पर मुझे पता चला कि तुम्हारा यह तिनका मेरे सिर के बालों में उलझा हुआ मेरे साथ चला आया। इसे लौटाने आया हूँ।"

यह ऊँचा आदर्श है, किन्तु पीछे पता चला कि वह तिनका लौटानेवाला सन्त

---

१. कपि जातक—२५० और दुब्बभियमक्कट जातक—१७४।

२. कुरंग जातक—२१।

गृहस्थ की बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ चुराकर ले गया। अतिथि का एक नमूना यह भी है। जातक-युग में अतिथि-सत्कार तो होता था; किन्तु औचित्य की सीमा के भीतर रहकर, अन्धाधुन्ध नहीं। आँखें खोलकर, मन को सँभालकर देखने का और समझने का प्रयास किया जाता था कि गलती न होने पावे। भलाई के पर्दे में यदि बुराई छिपकर बैठी रही, तो सारी भलाई बदबू से भर जायगी। इसका खयाल रखा जाता था, जो उचित था।

एक कथा के अनुसार सेठ ने इसलिए दुःख प्रकट किया था कि दरवाजे पर आये हुए बोधिसत्त्व का सत्कार नहीं किया जा सका। वह सेठ कहता है—"आज तक हमारे दरवाजे पर से कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटा। आप को न आसन मिला और न आप के पैर धुलवाये गये, आप लौटे जा रहे हैं। हम अपराधी हैं, क्षमा कीजिएगा।

न ते पीठमदायिम्ह न पाणं नपि भोजनं।
ब्रह्मचारी खमस्सु मे एतं पस्साम अच्चयं[1]॥

तरीका यह था कि पहले पीढ़ा, पानी और पैरों में लगाने के लिए तेल दिया जाता था—इसके बाद भोजन। वही सेठ कहता है—

एसम्हाकं कुले धम्मो पितुपितामहो सदा।
आसनं उदकं पज्जं सब्बेतं निपदामसे॥
एसम्हाकं.............................।
सक्कच्चं उपतिट्ठाम उत्तमं विय ञातकं॥

यह हमारा कुल-धर्म है कि हम उत्तम जनों की सेवा उसी तरह करते हैं, जैसे अपने आत्मीयजनों की। अतिथि-सेवा, दान आदि की परम्परा—कुलागत परम्परा—होती थी और उसकी रक्षा की जाती थी। अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान के भाव हृदय में रखा जाता था तथा पिता-पितामह जिस उत्तम परम्परा की स्थापना कर गये हों, उसकी रक्षा, जैसे भी हो, की जाती थी। सेठ को इस बात का खेद हुआ कि उसके पिता-पितामह अतिथि-सेवा की जिस परम्परा की रक्षा क्रम से करते रहे, उसकी रक्षा में त्रुटि हो गई।

कथा में कहा गया है, वह सेठ घर पर नहीं था, राजा के दरबार में गया था और उसके बच्चों ने अतिथि-सेवा में लापरवाही की थी। अतिथि-सत्कार के उच्च आदर्श की रक्षा करना आर्य-संस्कृति का मुख्य अंग है, जिसका आदर जातक-युग में भी होता था।

भूत-दया की ओर आर्यों का सदा ध्यान रहा है। आर्य-परिवार के सदस्य केवल उसके आत्मीय ही नहीं होते थे—पशु, पक्षी, साँप, मेढ़क सभी अपने होते थे। ऐसी कथाओं का अन्त नहीं है, जिनमें यह बतलाया गया है कि मानव-भाषा बोलनेवाले पशु-पक्षियों ने मानव का हित किया है, अपनापन निभाया है, यहाँ तक कि आत्म-दान कर दिया है। ऐसी कथाएँ हमें सिखलाती हैं, यदि हमारे हृदय में शुद्ध मैत्री के

१. पीठ जातक–३३७।

भाव हों, तो सभी अपने हैं, कोई गैर नहीं है, किसी से भय नहीं है। जातक में भी ऐसी कथाओं का अन्त नहीं है। जातक में पशुओं की सेवा करने की भी चर्चा आई है[1]। एक तपस्वी जंगल में रहता था। पानी कठिनाई से मिलता था। उसने वृक्ष काट कर एक द्रोणी बनाई और पानी उलीच कर उस द्रोणी को भरा। जंगल के पशु प्यास से तड़पते थे। वे आकर पानी पीने लगे। पशु भी कृतघ्न नहीं होते। वे पानी पीते थे और जंगल के फल-मूल लाकर तपस्वी को देते थे।

मानव और पशु-पक्षी—ये दोनों वर्ग सेवा और स्नेह के कारण एक हो गये। अतिथि-सेवा या दान की सीमा केवल मानव-समाज तक ही सीमित न थी—मानव-परिवार में जीव-जन्तु सभी हैं[2]। आर्य-संस्कृति की यह विश्वव्यापी आत्मीयता संसार के लिए पवित्र देन है। जातक-कथाओं में ऐसी कथाओं की ही बहुलता है, जिनका सम्बन्ध पशुओं और पक्षियों से है। साँप, कछुआ, मछली, केंकड़ा—सभी हैं और उन प्यारी कथाओं से यह पता चलता है कि मानव अपने ही तक सीमित नहीं रहे, सबकी सेवा करे, सबका अपना बने, सबको अपना बनावे। वैदिक युग से आरम्भ करके कौटिल्य के युग तक हम एक सरसरी निगाह डालें, तो इस बात का प्रमाण मिलेगा कि संकीर्णता से ऊपर उठकर ही आर्य-संस्कृति ने अपने को फैलाया—दान, अतिथि-सत्कार, सबकी सेवा, सबके प्रति शुद्ध स्नेह आदि आर्य-संस्कृति के प्राण हैं।

गृहस्थ-धर्म

हम आगे वेदकालीन गृहस्थ-धर्म का एक धुँधला-सा आभास दे चुके हैं। हम देखते हैं कि वैदिक युग का गृहस्थ आर्थिक दृष्टि से उतना उन्नत तो नहीं था; किन्तु दूसरे गुणों का उसमें भरपूर विकास हो चुका था—प्रेम, उदारता, एकता, परिवार-प्रेम, शान्ति, संतोष आदि। देव, पितर, आचार्य, अतिथि सभी आयु के थे और इनका उत्तम-से-उत्तम स्थान भी निश्चित हो चुका था। प्रत्येक गृहस्थ खेत, पशु, परिवार आदि के साथ शान्ति का जीवन व्यतीत करता था तथा उपद्रवों की कमी थी। हलचलों का अभाव था। वातावरण शान्त था और दूध, घी, मधु, अन्न, अग्नि और श्रद्धा का महत्त्व सभी जान चुके थे। ज्ञान का विस्तार भी हो रहा था और अन्धकार से निकल कर प्रकाश की ओर; असत्य, मिथ्या से छुटकारा पाकर सत्य की ओर और मृत्यु से बचकर अमृतत्व, मोक्ष की ओर जाने की कामना प्रत्येक गृहस्थ करता था[3]। वह केवल भर-पेट भोजन करके ही तुष्ट नहीं था, धरती से ऊपर उठकर वह सत्य का प्रकाश पाने को भी उत्सुक था—मृत्यु के सिर पर पैर रखकर 'अमृतत्व' (मोक्ष) प्राप्त करने का मार्ग भी वैदिक युग का गृहस्थ खोजने लगा था। वैदिक युग का गृहस्थ पुत्रों और पौत्रों में घिरा रहकर ही मरना नहीं चाहता था, वह अमर होना चाहता था—मोक्ष प्राप्त करके!

१. अम्ब जातक—१२४।

२. तेसकुण जातक—५२१; महाकपि जातक—५१६; सत्तिगुम्ब जातक—५०३ आदि।

३. ईशावास्योपनिषद्, १५; बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३।२८; श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।१ और १।१; कठोपनिषद्, १।२।२; मुंडकोपनिषद्, १।२।२४; छांदोग्योपनिषद्, ८।१।५—६; तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनु० ११

गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम था। प्रथमाश्रम था ब्रह्मचर्य। वनों की शान्त, स्निग्ध छाया में आश्रम थे और तपोधन ऋषि अपनी रक्षा में उनके भावी जीवन की दृढ़ नींव देते थे। ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पूरी करके विद्यार्थी के गृहस्थाश्रम में लौटने के पूर्व ही उसका पूरा-पूरा निर्माण हो जाता था। समाज का रूप कैसा हो, यह ऋषि-आचार्य जानते थे और वे उसी के अनुरूप गढ़-गढ़कर अपने आश्रम से समाज के लिए सदस्य भेजा करते थे[1]। यह एक शानदार व्यवस्था थी। यही कारण है कि वैदिक युग को हम अत्यन्त उन्नत पाते हैं। जैसा हम कह चुके हैं, वैदिक समाज को अपने मन से अपने को गढ़ने का अवसर मिलता रहा—बाहर या भीतर का कोई उत्पीडन न था और न किसी ओर से छेड़छाड़ ही होती थी, जिसके परिणामस्वरूप निर्माण-कार्य में रुकावटें पैदा हों। विचारों की संकरता का भी कोई खतरा न था—जब हमारा वैदिक समाज विकसित हो रहा था, उस समय दूसरे देशों की स्थिति क्या थी, कैसी थी, यह सोचने की बात है। वैदिक युग के विचारकों ने जैसी भी कल्पना की, उनकी मौलिक कल्पना थी—उनके विचारों पर बाहर के या विजातीय विचारों का बिलकुल ही प्रभाव न था। कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथमाध्याय के १५ वें और १६ वें मंत्र पर ध्यान दीजिए—

जैसे तिल को पेरने से तेल, दही मथने से मक्खन, नहर खोदने से पानी, अरणी-काष्ठ-संघर्षण से आग पाई जाती है, वैसे ही सत्य और तपस्या के द्वारा खोजने से (आत्म-निरीक्षण करने से) अपनी आत्मा में ही परमात्मा पाया जाता है।

वैदिक युग का गृहस्थ तिल से तेल निकाल कर, दही से मक्खन प्रकट करके, अरणी-काष्ठ से आग प्रकट करके तथा आत्म-निरीक्षण के द्वारा सत्य प्रकट करके आत्मा का साक्षात्कार करता था। वह केवल तेल पेरकर, दही मथकर और आग जलाकर ही नहीं रुका रहा, धरती ही उसके लिए सब कुछ नहीं थी, यह शरीर ही उसके लिए सब कुछ नहीं था, केवल कमाना-खाना और सुख से मर जाना ही उसका चरम लक्ष्य न था, वह मानवत्व को इतना ऊपर उठाना चाहता था कि देवत्व और उससे भी ऊपर मोक्ष तक पहुँचना उसका चरम उद्देश्य था। 'कमाओ, खाओ और मौज करो' का नारा देनेवाले वैदिक समाज के निर्माण-युग में न थे। इसे देश का सौभाग्य ही समझना चाहिए।

जातक-युग में आत्मदमन[2] पर बहुत जोर दिया जाता था; क्योंकि संयमहीन मन पर विश्वास नहीं किया जा सकता, जैसे विना ब्रेक की मोटर। गृहस्थ-धर्म का पहला धर्म है—मन को अपने अधिकार में रखे; क्योंकि गृहस्थ के सामने प्रलोभनों का अन्त नहीं है। वह यदि असावधान हुआ, तो विनाश का खन्दक उसके सामने है। गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है—कारण यह है कि यही एक ऐसा आश्रम है, जो 'उत्पादन' करता है—(वह सन्तान हो या धन) और आश्रम निर्माण

---

१. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्...स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि'...।—तैत्तिरीयोपनिषद् (कृष्णयजुर्वेद)

२. धम्मपद, अत्तवग्गो, १२।१५९

करता है—(वह स्वर्ग हो या साम्राज्य), अतः इस आश्रम में रहनेवालों के लिए कठोर नियम बतलाये गये हैं। जातक-युग में भी गृहस्थाश्रमी पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गृहस्थ को उपदेशक नहीं होना चाहिए—उसे कर्म करना है। संसार के सबसे कठोर मोर्चों पर बारी-बारी से उसे लड़ना है, अतः वह उदाहरण बने—पहले वह अपने को उचित काम में लगावे, बाद में उपदेश दे, या अपने को उदाहरण के रूप में दूसरे के सामने उपस्थित करके प्रेरणा प्रदान करे[1]। यह साफ-साफ कहा गया है कि व्यक्ति अपना स्वामी आप है, उसका कोई दूसरा स्वामी हो भी नहीं सकता[2]। जब मानव को इतनी बड़ी स्वतन्त्रता मिली हुई हो, तब उसे बहुत ही सँभल कर आगे बढ़ना चाहिए।

जातक-युग के गृहस्थ को बार-बार सावधान किया जाता था कि वह आँखें बन्द करके आगे न बढ़े, जो कुछ करे, भविष्य को ध्यान में रखकर—अतीत, वर्त्तमान और भविष्य काल के तीनों टुकड़े आपस में गुँथे हुए हैं। अतीत से प्रेरणा प्राप्त करके वर्त्तमान को बनावे-सँभाले—भविष्य के लिए। जातक-कथाओं में तथा बौद्धसाहित्य में ऐसे प्रमाणों का अन्त नहीं है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भिक्षु-धर्म के महा-प्रवर्त्तक बुद्धदेव गृहस्थ-धर्म की ओर से उदासीन थे या इसकी उपेक्षा करते थे।

बुद्धदेव ने आनन्द से कहा था कि आनन्द, अपना अहितकर कर्म सुकर होता है; किन्तु हितकर दुष्कर है।

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं[3]॥

यह उपदेश केवल गृहस्थों के लिए ही नहीं है; किन्तु विशेष रूप से लागू होता है गृहस्थों पर ही; क्योंकि कर्म का जितना बड़ा जंजाल गृहस्थ के सामने होता है, गृहत्यागी के सामने नहीं होता। गृहत्यागी या तपस्वी का प्रधान गुण 'त्याग' होता है, किन्तु गृहस्थ दो गुणों को धारण करता है—ग्रहण और त्याग! गलत वस्तुओं का ग्रहण और हितकर वस्तुओं का त्याग गृहस्थ को ले बीतता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मोह गृहस्थ का ही गला घोंटता है, अतः सम्यक् दृष्टि से, सजग बुद्धि से देखकर, विचार कर ही गृहथ अपने को कायम रख सकता है, और गृहस्थ-धर्म का पालन कर सकता है, राष्ट्र की उन्नति कर सकता है। जातक-युग में इस बात पर बार-बार जोर दिया जाता था कि 'सन्तुलन' कायम रखो। यदि सन्तुलन नष्ट हुआ, तो तुम भी नष्ट हो जाओगे। हम जातक-युग के गृहस्थ-धर्म के मूलभूत तत्त्वों को आपके सामने रख रहे हैं, जिनके आधार पर गृहस्थी की ऊँची इमारत खड़ी की गई थी। बाहर की बातों पर हम विचार नहीं कर रहे हैं। व्यवहार में उस युग के गृहस्थों का रूप कैसा रहा, यह भी स्पष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

पालि में एक छोटी-सी पुस्तिका है—'गृही विनय' (गृहस्थ-धर्म), यह

---

१. धम्मपद, अत्तवग्गो, १२।१५८

२. धम्मपद, अ०, १२।१६०

३. धम्मपद, अत्तवग्गो, १२।१६३

अत्यन्त मूल्यवान् उपदेशों का संग्रह है और सभी उपदेश बुद्धदेव के दिये हुए हैं। बर्मा, लंका, श्याम आदि देशों में यह 'सूत्र' विद्यालयों में पढ़ाया जाता है और लोग इसे कण्ठस्थ भी करते हैं। इस गृही-विनय को 'सिङ्गाल सुत्त' भी कहते हैं। कथा इस प्रकार है कि सिङ्गाल नाम का एक सेठ-पुत्र था। ४० करोड़ की सम्पत्ति का वह स्वामी था। बुद्धदेव ने उसे गृही-विनय का उपदेश दिया था। यह 'सुत्त' पठनीय है। हम दो-चार उदाहरण देते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि जातक-युग में गृहस्थी की इमारत की नींव के नीचे कैसी जमीन थी--पोली या ठोस।

बुद्धदेव ने ४ प्रकार के कर्म-क्लेश बतलाये हैं[1]--प्राणी को मारना, चोरी करना, व्यभिचार करना और झूठ बोलना। ये चारों कर्म-क्लेश हैं--

(१) पाणातिपातो खो गहपति-पुत्त कम्मकिलेसो।
(२) अदिन्नादानं कम्मकिलेसो।
(३) कामेसु मिच्छाचारो कम्मकिलेसो।
(४) मुसावादो कम्मकिलेसो।

इन चारों प्रकार के कर्मक्लेशों से गृहस्थों को बचना चाहिए। इन क्लेशों के बाद छह प्रकार के भोग विनाश के कारण हैं[2]--

(१) सुरामेरयमज्जपमादट्ठानानुयोग खो गहपतिपुत्त, अपायमुखं।
(२) विकालविसिखाचरियानुयोगो भोगानं अपायमुखं।
(३) समज्जाभिचरणं भोगानं अपायमुखं।
(४) जूतप्पमादट्ठानानुपयोगो भोगानं अपायमुखं।
(५) पापमित्तानुयागो भोगानं अपायमुखं।
(६) आलस्यानुयागो भोगानं अपायमुखं।

अर्थात्--(१) शराब या नशीली चीजों का सेवन,
(२) असमय में चौक-बाजार का सैर-सपाटा,
(३) नाच-तमाशा की रुचि,
(४) जुआ या प्रमादकारक वस्तुओं का सेवन,
(५) बुरे लोगों की दोस्ती और
(६) आलस्य।

ये छह दोष गृहस्थ को जड़-मूल से नष्ट कर देते हैं, उसकी जड़ खोदकर फेंक देते हैं। अब एक-एक दोष से उत्पन्न होनेवाली बुराई की व्याख्या करके बतलाते हैं--दोष पहले के चलते तत्काल धननाश, दूसरे से कलह, तीसरे से रोग, चौथे से बदनामी, पाँचवें से लज्जा का नाश और छठे से बुद्धि दुर्बल हो जाती है। आलस्य बुद्धि को कमजोर बना देता है।

जातक-युग के गृहस्थ को इन दोषों से बचना पड़ता था। मना किया

---

१. सिङ्गालसुत्त, ९

२. सिङ्गालसुत्त, १२

गया था—जुआ, स्त्री (परस्त्री), वारुणी, नाच-गाने, दिन की नींद, असमय का काम, बुरे मित्रों का साथ और कृपणता से सदा दूर रहो[1]। यथा—

अक्खित्थियो वारुणी नच्चगीतं
दिवासोप्पं पारिचरिया अकाले।
पापा च मित्ता सुकदरियता च
एते च ठाना पुरिसं धंसयन्ति॥

गृहस्थ को ऐसे व्यक्तियों को दुश्मन मानना चाहिए, जो—

अतीतेन पटिसन्थरति। अनागतेन पटिसन्थरति। निरत्थकेन सङ्गण्हाति। पच्चुपन्नेसु किच्चेसु व्यसनं दस्सेति[2]।

अतीत के गीत गाता है, प्रशंसा करता है, भविष्य के सुनहले सपने देखता है, व्यर्थ बातों का गुण-कीर्त्तन करता है, वर्त्तमान के कार्यों में विपत्ति बतलाता है, कठिनाइयाँ और अड़चनें बतलाता है—ऐसा आदमी निकम्मा है, बेकार है, शत्रु है, त्यागने योग्य है।

निम्नलिखित चार प्रकार के व्यक्तियों[3] से भी गृहस्थ को बचना चाहिए, जो—

(१) पापकम्पिस्स अनुजानाति।
(२) कल्याणम्पिस्स अनुजानाति।
(३) सम्मुखस्स वण्णं भासति।
(४) परम्मुखस्स अवण्णं भासति।

बुरे काम की अनुमति देता है और भले काम की भी अनुमति देता है, मुँह पर तारीफ करता है और पीठ पीछे निन्दा करता है। ऐसे व्यक्ति को शत्रु मान कर (गृहस्थ) त्याग कर दे। ये सारी बातें गृहस्थ-धर्म की हैं।

वैदिक युग तत्त्वज्ञान का युग था—नीतिशास्त्र का नहीं। रामायण-युग में भी नीतिवाक्यों की बहुलता नहीं पाई जाती है। महाभारत तो पूरा-का-पूरा नीति-ग्रन्थ है ही। जातक-युग भी नीति-वाक्यों से भरा हुआ है। समाज की किस अवस्था में किस तरह के साहित्य का उदय होता है, यह हम लिखने नहीं जा रहे हैं; किन्तु यह स्पष्ट है कि नीति-ग्रन्थों का उदय तब होता है, जब समाज में अच्छे और बुरे दोनों तरह के तत्त्वों का जोर बढ़ जाता है और भीतर तथा बाहर संघर्ष होने लगता है। तरह-तरह के विचारों और आचारों का तूफान भी उठने लगता है तथा मानव एक-एक झुण्ड में कुछ इधर और कुछ उधर लुढ़कने लगते हैं, तब नीति-वाक्यों का युग शुरू होता है। वे नीति-वाक्य अनुभवियों के ज्ञानपूर्ण अनुभव को हमारे सामने स्पष्ट करते हैं, सावधान करते हैं, निर्णय करने का रास्ता बतलाते हैं और कुछ निश्चय करने का ठोस आधार

१. सिङ्गालसुत्त, ७
२. " " २१
३. सिङ्गालसुत्त, २२

देते हैं। जातक-युग निश्चय ही संघर्षों का युग था और उस युग में नीति-वाक्यों का बड़ा जोर था। गृहस्थ धर्म को स्पष्ट करने के लिए नीति के वाक्य, छोटे-छोटे उपदेशप्रद किस्से और उपमाएँ—इन सारी चीजों को काम में लाया जाता था। गृहस्थों को सँभाल कर रखने का प्रयास उस युग के सभी आचार्य (धर्माचार्य) करते थे। वे उत्पादन और विकास के इस अमर स्रोत को नष्ट करके अपने को समाप्त कर देने की गलती कैसे करते। यदि गृहस्थ नीचे गिरे, तो वे श्रेष्ठ पुरुष समाज को नहीं दे सकेंगे—यह खतरा था और त्याग-तपस्या तथा श्रमण-धर्म के प्रवर्त्तक बुद्धदेव ने भी जितनी शक्ति संघ के स्थिर करने में व्यय की, उससे कम शक्ति उन्होंने गृहस्थों को ऊँचे स्तर पर रखने में नहीं लगाई; क्योंकि वे देश को कायम रखना चाहते थे। उन्होंने दो दिशाओं में जानेवाले गृह-त्यागी भिक्षुओं और गृहस्थों के बीच में कभी खाई बनने नहीं दी; बल्कि दोनों में निकटता लाने का प्रयास किया, किन्तु वह निकटता सीमा के भीतर रहकर ही हो सकती थी।

जातक-युग की गृहस्थी सम्पन्न थी। गृहस्थ दान, अतिथि-सेवा आदि पर पूरा ध्यान रखते थे; किन्तु उनके परिवार में स्त्रियों का स्थान वैसा गौरवपूर्ण न था। पहले भी हम इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं।

एक गृहस्थ समान जाति में ही ब्याह-शादी करता था—वर्णव्यवस्था कड़ाई से बरती जाती थी—**'एकं समजातिककुला कुमारिकं गण्ह'** ऐसा आदेश जातक-कथाओं में मिलता है। हाँ, जो भिक्षु बन जाते थे[1], वे सब बराबर हो जाते थे। किसी राजा के सवाल करने पर बुद्धदेव ने कहा था—'क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों में क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं[2]। भिक्षुओं में भी ऊँच-नीच का हिसाब था। भगवान् बुद्ध ने एक बार भिक्षुओं की परिषद् में सवाल किया कि—'सबसे पहले और सबसे अधिक किसका आदर करना चाहिए[3] ?' कुछ भिक्षुओं ने कहा—**'खत्तिया कुला पब्बजितो'**, अर्थात् जो क्षत्रिय-कुल से भिक्षु-सम्प्रदाय में आया है। फिर सवाल का जवाब दिया गया—**'ब्राह्मण-कुला गहपतिकुला पब्बजितो'**, यानी जो ब्राह्मण या वैश्य कुल से भिक्षुसंप्रदाय में आया हो। जब भिक्षु-संघ में भी वर्ण का आदर था, तब गृहस्थों के लिए ऐसा सोचना कि जातक-युग में वर्ण-व्यवस्था थी ही नहीं, उचित नहीं जान पड़ता।

ब्राह्मण जाति का अलग अस्तित्व माना जाता था और उसका आदर भी था—गृहस्थ भी पूर्वकाल के अनुसार ब्राह्मण का सत्कार करते थे[4]। वैदिक युग में जो वर्ण-विभाग किया गया था और जिसके अनुसार परिवार आदि का गठन हुआ था, उसका अस्तित्व जातक-युग में भी हम पाते हैं[5]।

---

१. विनयपिटक (चुल्लवग्ग), ९। १—४
२. मज्झिम निकाय (कण्णकथालसुत्त)
३. तित्तिर जातक।
४. विनयपिटक, निस्सग्गिय, १०, २—१
५. ऋग्वेद, ८।३५।१६—१८; पुरुषसूक्त, १।१३।६; १०।९०।१२

वैदिक युग में भी अन्तर्जाति-विवाह का उल्लेख मिलता है[1] और वह नियम जातक-युग[2] में भी था, मगर विशेषतः राजा ही ऐसा करते थे। वैदिक युग का क्षत्रिय राजा 'शर्यात' की लड़की से ब्याह करता है, तो जातक-युग का एक राजा लकड़हारे की लड़की से ब्याह कर लेता है—शर्यात भी शूद्र था और लकड़हारा भी!

आभूषण, घर-गृहस्थी में काम आनेवाले बरतन और औजार भी वैदिक युगवाले ही जातक-युग में भी थे, जिनसे गृहस्थ अपना काम चलाते थे। हम पहले इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। जातक-युग के परिवार का गठन भी माता, पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई आदि को लेकर हुआ था—वैदिक युग में भी यही परिवार का रूप था; किन्तु युगधर्म के अनुसार आचार-व्यवहार में अन्तर आ गया था। वैदिक युग का गृहस्थ माता का बड़ा आदर करता था, किन्तु जातक-युग का गृहस्थ कभी-कभी माता को घर से निकाल भी देता था[3]। यदा-कदा पिता को भी पुत्र पीटता था[4], पत्नी को कौन कहे, माता को भी पीटा जाता था। गर्भ गिरा देने का भी वर्णन जातक-कथा में मिलता है[5]। राजा से उसकी रानी कहती है—

अहमेव दूसिया भून रञ्ञो महापतापस्स।

मैं भ्रूणहत्यारी ही राजा महाप्रताप की दोषी हूँ। यह तो स्त्री के स्वयं भ्रूण हत्या करने का वर्णन है; किन्तु यदा-कदा पुरुष भी स्त्री को पटककर उसका गर्भ नष्ट कर देता था[6]। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जातक-कथाओं में तत्कालीन समाज का घराऊ वर्णन है। बुद्धदेव ने भारत को उसी रूप में रख दिया है, जिस रूप में उन्होंने उसे देखा, सुना और समझा। इतना जरूर है कि बुद्धदेव स्त्रियों के प्रति कड़ा रुख रखते थे। जब भिक्षुणियाँ बौद्धसंघ में आने लगीं, तब उन्हें—बुद्धदेव को—बड़ी निराशा हुई; किन्तु प्रवाह को रोक न सके या रोकना उचित नहीं समझा। उन्होंने आनन्द से साफ-साफ कह दिया कि—'पहले यह संघ एक हजार साल तक चलता; किन्तु अब ५ सौ साल से अधिक टिकाऊ न होगा'[7]। स्त्रियों के प्रति बुद्धदेव के इस रुख ने समाज में भी स्त्रियों का मूल्य या महत्त्व, जो कुछ कहें, घटा दिया।

इतना होने पर भी जातक-युग का गृहस्थ बहुत-कुछ अपने 'परम्परा से चले आये संस्कारों' से प्रेरित होकर सोचता और काम करता था। दो-चार उदाहरण देना अनुचित न होगा। पहली बात वर्ण-व्यवस्था है, जिसे जातक-युग में भी माना गया और 'कुल-गौरव' की भी बात सामने आई। विवाह करने में लड़कियों को स्वतन्त्रता दी गई। एक लड़की कुबड़े से साथ भाग गई, जिसे बोधिसत्त्व ने घर पहुँचाया और

१. शतपथब्राह्मण, ४।८।३।६ और भद्दसालक जातक; कट्ठहारि जातक।

२. कच्चानि जातक—४१७।

३. कस्सपमन्दिय जातक—३१२।

४. उरग जातक—३५४; चतुद्वार जातक—४३९।

५. चुल्लधम्मपाल, ३५८

६. गामणीचण्ड जातक—२५७।

७. हिन्दू-संस्कृति (डॉ० राधाकुमुद), पृ० २४५

परिवार ने उसे स्वीकार कर लिया[१]। घर में साँड़ की पूजा होती थी। मूर्ख लड़की ने दाई से पूछा कि इसकी पूजा क्यों होती है? दाई ने कहा—"यह पशुओं में श्रेष्ठ है। देखती नहीं, उसकी पीठ पर कितनी बड़ी 'मौर' है।' लड़की ने समझा कि इसकी पीठ पर जो 'मौर' है, उसीसे इसकी श्रेष्ठता है। एक कुबड़े की पीठ पर 'कुब्ब' देख कर उस लड़की ने मान लिया कि—यह पुरुषों में श्रेष्ठ है; क्योंकि इसकी पीठ पर भी साँड़ की तरह ही 'मौर' है। वह उस गंदे कुबड़े के साथ चली गई। श्रेष्ठ पुरुषों से विवाह करने की प्रवृत्ति का पता इस गाथा से चलता है, जो लड़कियों में थी; भले ही उस लड़की ने श्रेष्ठता की पहचान करने में धोखा खाया। अपनी समझ में उसने 'एक श्रेष्ठपुरुष' (पुरुषपुंगव) को ही पसन्द किया था, कुबड़े को नहीं।

एक आचार्य अपनी चारों लड़कियों से पूछता है कि 'कैसा पति चाहिए।' अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार प्रत्येक लड़की ने अपने लिए पति का वर्णन किया। एक ने सुन्दर पति की कामना की, एक ने अच्छी जाति का कुलीन वर चाहा, एक के भीतर ज्येष्ठपन था, बड़प्पन के भाव थे; उसने सूझवाले, अनुभवी व्यक्ति की कामना की और सबसे छोटी लड़की ने सदाचारी पति को पसन्द किया[२]। एक आचार्य ब्राह्मण ने बुद्धदेव के सामने यही प्रश्न रखा था, जिस पर बुद्धदेव ने ऊपरवाली गाथा कही थी। बुद्धदेव ने रूपवान्, ज्येष्ठत्व, सुजात से शीलवान् को ही श्रेष्ठ माना—**'सीलं अस्माकरुच्चति'**।

वैदिक युग की कुमारियों को भी अपने अनुकूल पति चुनने का अधिकार था[३]। मननशील पुरुष को ही अधिक पसन्द किया जाता था[४]।

विचारों और संस्कृति का एक अदृश्य जाल वैदिक युग से जातक-युग तक फैला हुआ हम पाते हैं। बाहर की पृथक्ता से उलझकर उस दिखाऊ पृथक्ता के प्राण-स्वरूप एकता को हम भूल जाते हैं, जो 'सम्पूर्ण' है, टुकड़ों में जिसे काल ने, समय-प्रवाह ने नहीं बाँटा, वह बाँट भी नहीं सकता था। जातक-युग का गृहस्थ दहेज भी देता था। प्रसेनजित् राजा के पिता महाकोसल ने बिम्बिसार राजा को दहेज में एक लाख की आय के गाँव अपनी कन्या के ब्याह के अवसर पर दिया था[५]। हमने एक ही उदाहरण दिया है, किन्तु ऐसे कई उदाहरण हमारे सामने हैं, जब कन्या के ब्याह के अवसर पर दहेज दिया गया है।

धनंजय सेठ ने अपनी कन्या के विवाह में जो दहेज दिया था, वह अपरिमित है[६]। इस दहेज की सूची इस प्रकार है—

आभूषण ९ करोड़ मूल्य के, धन ५४०० गाड़ियों पर लाद कर, दासियाँ ५०० और १०० अत्यन्त सुन्दर रथ।

---

१. वीणथूण जातक—२३२।
२. साधुसील जातक—२००।
३. ऋग्वेद, १०।२७।१२
४. अथर्व, ७।३७।१ और ७।३८।४
५. वड्ढसूकर जातक—२८३।
६. 'बुद्धचर्या'—विशाखाचरित, चतुर्थ खण्ड, पृ० ३२५

यह लड़की विशाखा थी, जिसने बुद्धसंघ को अपने दान से भर दिया था, जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है। राजा, सेठ सभी दहेज देते थे। धनी गृहस्थ कन्या के ब्याह के समय दहेज देने में नहीं चूकता था और अपनी शक्ति को दहेज की तुला पर तोल देता था। दहेज-प्रथा वैदिक युग से शुरू हुई थी। बहुत-कुछ देकर लड़की को विदा करने का उल्लेख मिलता है[1]। यह स्मरण रखने की बात है कि धनंजय सेठ की तरह वैदिक युग में कोई असंख्य-पति न था, देश में धन की बाढ़ नहीं आई थी। पशु-धन या वैदिक युग के अन्त में सोना और रत्न आदि भी नजर आने लगे थे, किन्तु व्यापार का इतना जोर न था कि कोई असंख्य-पति बनता, तो फिर कन्या के ब्याह के अवसर पर लाख-करोड़ दहेज देने की कल्पना हम कैसे कर सकते हैं। जातक-युग में देश धन से भर गया था। वेदोंवाली पृथ्वी 'अन्न, मधु, घी, दूध आदि देनेवाली माता थी—माता अन्नपूर्णा! किन्तु जातक-युग की पृथिवी लक्ष्मी बन गई थी—रत्नगर्भा! पृथिवी का 'रत्नगर्भा' नाम शायद ही वेदों में आया हो, न पृथिवी रत्नगर्भा थी और न सागर 'रत्नाकर'। जो भी हो, किन्तु दहेज तो वैदिक युग के गृहस्थ भी देते ही थे।

गृहस्थ-धर्म का आदर भगवान् बुद्ध ने भी किया है[2]—"वह सत्पुरुष श्लाघ्य है जो जीवनपर्यन्त उदार वृत्ति से गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है—त्याग, शील एवं दान में निरत रहता है।"

अन्त समय में बुद्धदेव ने जो-जो बातें बतलाई हैं, उनमें वे गृहस्थों के लिए भी हैं[3]। अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार ब्राह्मण के प्रश्न करने पर उन्होंने ७ 'अपरिहाणीय-धम्म' बतलाये थे, जो गणतंत्र के लिए तो प्राणवान् हैं; किन्तु गृहस्थों के लिए भी 'सात मंत्र' ही समझें। बौद्ध ग्रन्थों में बहुत से ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ गृहस्थों के लिए अच्छी-से-अच्छी बातें आई हैं।

प्रत्येक गृहस्थ को दस बातों को ध्यान में रखना चाहिए, जिनका उल्लेख जातक में[4] है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—

अलद्धा चित्तं तपति पुब्बे असमुदानितं।
न पुब्बे धनं पहिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥१॥

जो पहले संग्रह नहीं करता, जिसे नहीं मिलता, वह अनुताप करता है (कि हाय, मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका) और (अवसर निकल जाने पर) पछताता है कि मैं संग्रह नहीं कर सका।

सक्यरूपं पुरे सन्तं मया सिप्पं न सिक्खितं।
किच्छा वुत्ति असिप्पस्स इति पच्छानुतप्पति ॥२॥

---

१. अथर्व, १४।१।६; १४।१।४५; १४।२।३०; १४।२।६८; ऋग्वेद, १०।८५।३६ (इस मन्त्र में 'कल्याण और सम्पत्ति' के लिए स्त्री के पाणिग्रहण करने की बात पुरुष कहता है।)

२. संयुत्त निकाय।

३. महापरिनिब्बान सुत्त, ४ से ५ तक।

४. जनसंघ जातक—४६८।

जो अवसर रहते, सामर्थ्य रहते (किसी तरह का भी) शिल्प नहीं सीखता, वह बाद में हाथ मलकर रह जाता है; क्योंकि शिल्प-ज्ञान-रहित व्यक्ति जीविका कैसे चला सकेगा, यह स्पष्ट है।

कूटवेदी पुरे आसिं पिसुणो पिट्ठमंसिको।
चण्डो फरुसो चासिं इति पच्छानुतप्पति ॥३॥

जो पहले प्राण-घात (हिंसा) करनेवाला था, उग्र स्वभाव का था, अनार्य और दया-ममता से रहित था, वह भी सोच-सोचकर पछताता है (कि हाय, हमने यह क्या किया था)।

बहूसु वत सन्तासु अनापादासु इत्थिसु।
परदार असेविस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥४॥

घर में दूसरों के द्वारा अपरिगृहीत पत्नी के रहते मैंने क्यों पराई पत्नी का स्पर्श किया, यह सोच-सोचकर भी ऐसे व्यक्ति को पछताना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति (कभी न कभी पछताता है)।

बहुम्हि वत सन्तम्हि अन्नपाने उपट्ठिते।
न पुब्बे अददं दानं इति पच्छानुतप्पति ॥५॥

जो अन्नादि के रहने पर भी दान नहीं देता, वह भी (समय बदल जाने पर) पछताता है कि—हमने क्यों नहीं दानादि शुभ कर्मों में योग दिया[1]।

मातरं पितरञ्चापि जिण्णके गतयोब्बने।
पहुसन्तो न पोसिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥६॥

जिसने अपने वृद्ध माता-पिता का पोषण-सेवा-सत्कार बहुत धन रहते भी नहीं किया, वह भी (अन्त में) पछताता है कि—हाय, हम कर्तव्य-विमुख हो गये।

अचारियं अनुसत्थारं सब्बकाम रसाहरं।
पितरं अच्चमञ्ञिसं इति पच्छानुतप्पति ॥७॥

जिसने अपने अनुशासक, सब इच्छाओं की पूर्त्ति करनेवाले आचार्य पिता का आदर नहीं किया, उनकी अवज्ञा की, वह भी पछताता है—उसे कभी-न-कभी पछताना ही पड़ता है।

समणे ब्राह्मणे चापि सीलवन्ते बहुस्सुते।
न पुब्बे पयिरुपासिस्सं इति पच्छानुतप्पति ॥८॥

जिसने पहले सदाचारी, बहुश्रुत श्रमणों और ब्राह्मणों की सेवा, उपासना नहीं की, वह बाद में (अपनी इस चूक के लिए) पछताता है और खूब पछताता है।

---

१. 'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।'—ऋग्वेद, १०।११७

'जो धन को न धर्म में लगाता है और न मित्र को देता है, जो केवल पेट भरता है, पेट पालनेवाला है, वह साक्षात् पापी है।'

साधु होति तपो चिण्णो सन्तो च पयिरुपासति ।
न च पुब्बे तपो चिण्णो इति पच्छानुतप्पति ॥९॥

तपस्या (संयम का जीवन, सेवा और त्याग का जीवन) तथा शान्त पुरुषों की सेवा कल्याण देनेवाली होती है। जो इससे चूक गया, वह पछताता है। जिसने तपस्या नहीं की यानी संयम का जीवन, सेवा और त्याग का जीवन नहीं व्यतीत किया और शान्त पुरुषों, श्रेष्ठ पुरुषों की जिसने सेवा नहीं की, वह पछताता है।

यो च एतानि ठानानि योनिसो पटिपज्जति ।
करं पुरिसकिच्चानि स पच्छा नानुतप्पति ॥१०॥

जो इन बातों को ग्रहण करता है, इनके अनुसार आचरण करता है उसे (जीवन में) कभी पछताने का दुःख नहीं भोगना पड़ता।

जनसंघ जातक (४६८) के ये रत्न-खण्ड हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। वैदिक युग का गृहस्थ हो या जातक-युग का, वह था आर्य ही। आर्य-ऋषियों और सन्तों ने जीवन को समझने और उसे भौतिक सिद्धि से आध्यात्मिक मुक्ति तक ले जाने का जो रास्ता बतलाया है, वह एक ही मार्ग है। एक उदाहरण देंगे—एक पथ पर कभी सुफेद, कभी लाल, कभी पीली रोशनी जलाई जाय, तो प्रकाश का, रास्ता दिखलाने-वाले प्रकाश का रंग बदला, किन्तु रास्ता तो वही है। प्रकाश के रंग को बदल देने से रास्ता नहीं बदल जाता।

वैदिक ऋषि, भगवान् राम, भगवान् कृष्ण या भगवान् बुद्ध एक ही रास्ते की ओर संसार को प्रेरित करते रहे और केवल युग-धर्म के अनुसार इनके दिखलाये हुए प्रकाश का रंग बदलता गया।

आर्य और अनार्य

वैदिक युग में आर्य और अनार्य का सवाल गम्भीर था। अनार्य वे थे, जो आर्य नहीं थे। हम यहाँ इस प्रश्न को नहीं लेंगे कि अनार्य कौन थे, क्या थे। यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त बना दिया गया है। पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों के साये में पलनेवाले विदेशी लेखकों ने इसे भारत के लिए 'गृह-कलह' का रूप दे दिया है। यदि हम आदि-वासियों (?) को वैदिक युग के अनार्य मान लें, तो उन्हें 'आदिवासी' का पद देकर पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों ने चुपके-चुपके हमारे देश में यह भावना फैलाई कि जो आज जंगलों में रहते हैं, अनार्य कुल के हैं, वे ही भारत के आदिनिवासी हैं और आर्य बाहर से आये। आर्यों ने जोर-जुल्म करके आदिवासियों को, जिनका यहाँ की धरती पर पैतृक अधिकार होना चाहिए, मानवोचित सुविधाओं से वंचित कर दिया, अछूत और जंगली बनाकर रखा। आज नहीं तो सौ साल बाद तथाकथित आदिवासी अपने हक के लिए आगे बढ़ सकते हैं और भारत गृह-कलह तथा उपद्रवों का घर बन सकता है। विदेशी पादरी आदिवासियों में ही काम करते हैं, जागृति फैलाते हैं। हम इस सवाल को यहीं छोड़कर आगे बढ़ते हैं।

वैदिक वाङ्मय में अनार्यों को दस्यु, दास या असुर कहा गया है। अनार्य सरदारों के नाम भी मिलते हैं—इलिविस, धुनि, चुमुदि, पिप्रु, वर्चिन, शम्बर आदि। पिङ्गलवर्ण पिशाचों और असुरों का भी वेदों में उल्लेख है[1]। आर्यों और अनार्यों का शारीरिक तथा सांस्कृतिक भेद भी था। अनार्य काले रंग के, चिपटी नाक (अनास) वाले थे। वे न तो संस्कृत बोलते थे और न वैदिक व्रतों का पालन करते थे, वे कर्मकांड-शून्य थे, 'शिश्नदेव' का पूजन करते थे[2]। आर्यों और अनार्यों के युद्ध का भी वर्णन मिलता है[3]। किन्तु प्रसिद्ध विद्वान् रमाप्रसाद चन्दा ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्य-अनार्य एक साथ मिल-जुल कर रहते थे, जो लड़ाई-झगड़े हुए वे घरेलू थे। यह बात गलत है कि इन्द्रपूजक आर्य राजाओं का युद्ध (आदिवासी) अनार्यों से हुआ था[4]। एक बात और भी विचारणीय है। आर्यों के विरोधी अनार्य पणि लोग थे, जो वाणिज्य-व्यवसाय करते थे[5]। सिन्धु-उपत्यका की वाणिज्य-प्रधान सभ्यता का जन्म इन्हीं पणि लोगों ने दिया था। महेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में समुद्री शंखों की बनी हुई जो चीजें मिली हैं, उन्हीं से यह बात ज्ञात होती है। वाणिज्य-व्यवसाय के प्रसार के लिए, बाजार हथियाने के लिए आर्यों को इन पणियों या बनियों से जूझना पड़ा हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। व्यवसाय के द्वारा धन कमाने की चलन चल चुकी थी और आर्य नया-नया बाजार खोजने के लिए देश के कोने-कोने की ओर बढ़ रहे थे। सिन्धु-घाटी में आर्यों का मुकाबला एक उन्नत वर्ग से हुआ और वह वर्ग था, पणि-वर्ग, यानी वणिक्-वर्ग! पणि-वर्ग के बाजार पर आर्यों ने प्रभुत्व-स्थापन चाहा होगा और युद्ध के मार्ग से उन्हें अपना काम साधना पड़ा। ऋग्वेद[6] में ऐसे बहुत-से मंत्र आये हैं, जिनसे इस युद्ध का समर्थन होता है।

वेदों में आर्य थे और अनार्य भी। मगर यह सिद्ध नहीं होता कि अनार्य 'आदिवासी' थे और खदेड़कर आर्यों ने अपना गढ़ मजबूत किया था। यह बात जरूर है कि अनार्यों ने आर्यों के आर्यत्व को ग्रहण नहीं किया और अपने कुसंस्कारों में लिपटे रह गये। जिन्होंने ग्रहण किया, वे आर्य मान लिये गये। आर्य-पद गुण से मिलता था न कि वर्ण से, जाति से! बहुत-सी अनार्य-जातियाँ आर्यों में घुलमिल गईं; क्योंकि उन्होंने अपने को सुधारा, ऊपर उठाया और आर्यत्व को ग्रहण किया, बलपूर्वक नहीं, अपनी इच्छा से।

'आर्यकुमार' पद युवराज के लिए प्रयुक्त पाणिनि के युग तक होता था[7]।

---

१. ऋग्वेद, १।१३३।४

२. ऋग्वेद; ७।२१।५; १०।९९।३

३. ऋग्वेद, ७।३३।२७५;८३।८

४. पुरातत्त्व विभाग का मेमॉयर, सं० ४१

५. यास्कप्रणीत निरुक्त, ६।२७

६. ऋग्वेद, १।१७४।७–८; ४।१६।१३; ४।३०।२१; १।५१।३।८; १।३०।७; २।१९।६; १०।२२।८ आदि।

७. पाणिनि—'आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः', ६।२।५८

पाणिनि ने 'आर्यकृत' शब्द दिया है, जो वैदिक भी है[1]। कौटिल्य ने स्वतन्त्र नागरिक के लिए आर्य और उसके विपरीत दास शब्द का प्रयोग किया है[2]। यहीं यह भी बतलाया है कि अनार्य को आर्य बनाया जाता था। यदि वह आर्य नहीं बनता था या बनना नहीं चाहता था, तो १२ पण जुर्माना कर दिया जाता था—

दासमनुरूपेण निष्क्रयेण आर्यमकुर्वतां द्वादशपणं दण्डः।

इसी वाक्य में आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है जो 'आर्यकृत' में भी है। अर्थ हुआ, जिसने दासपने से—'अनार्यत्व' से छुटकारा पा लिया हो, आजाद हो गया हो। यही है दास या अनार्य का रहस्य! जो स्वतन्त्र नागरिक हैं, वह आर्य हैं और उनके विपरीत आर्य नहीं हैं (दास हैं), अनार्य हैं। इन सारी बातों के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

रामायण-युग में भी अनार्य नजर नहीं आते। यदि हम राम-रावण के युद्ध को लें, तो वह दो धार्मिक विचार के तत्त्वों का संघर्ष था, न कि मनुष्य और अनार्यों या असुरों की लड़ाई! रावण ब्राह्मणकुलोत्पन्न था, किन्तु 'शैव' था और श्रीराम को आगे करके वैष्णव धर्म की स्थापना का प्रयास किया गया। रामायण से तो यही पता चलता है। भगवान् के सहायक वानर और रीछ जाति के ही अनार्य थे, न कि आर्य! रावण के राक्षस साधारण जनता का अहित नहीं करते थे, केवल ऋषियों का दमन[3] करते थे और यज्ञ विध्वंस करते थे।

रामायण के राम-रावण युद्ध को आर्य-अनार्य-युद्ध नहीं कहा जा सकता। वह धर्म को लेकर हुआ था—दो मतों का (दृष्टियों का) संघर्ष था, जिसमें रावण की हार हुई और वैष्णव धर्म उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत तक फैला।

ऐसा स्पष्ट होता है कि रामायण-युग तक अधिकांश अनार्य आर्यों की छाया में चले गये थे। जो बहुत ही गिरे हुए थे, जिनका लोक-व्यवहार या आचरण अत्यन्त गर्हित था, वे ही रह गये। किन्तु ऐसे अनार्यों में से भी ऊपर उठकर आर्य-वर्ग में मिलते ही जाते थे—रोक न थी और यह क्रम कौटिल्य के समय तक बना रहा। 'अनार्य-वर्ग' या जाति का अस्तित्व जातक-युग में नहीं था। जान पड़ता है कि आर्यों ने 'वर्ग' के गठन को बिखेर कर अनार्यों को पृथक्-पृथक् जातियों में परिणत कर दिया था—इस तरह अनार्यों का सारा गठन समाप्त हो गया। वर्ग के रूप में वे संगठित थे, जैसा प्रमाण वेदों से मिलता है। पृथक्-पृथक् जातियों के रूप में, छोटे-छोटे समूहों में वे अलग-अलग हो गये। एक समूह से दूसरे समूह का कोई लगाव नहीं रह गया, जैसे वृषल जाति, चाण्डाल जाति आदि।

इसके बाद आर्य-शब्द श्रेष्ठता के लिए और अनार्य-शब्द हीनता के लिए प्रयुक्त होने लगे, जैसे आर्य-सत्य या अनार्य-बुद्धि। बौद्ध वाङ्मय में ऐसे अनगिनत स्थल हैं, जहाँ

---

१. पाणिनि, ४।१।३०

२. अर्थशास्त्र, ३।१३, पृ० १८२

३. वाल्मीकि०, अरण्य०, प्रथम सर्ग, श्लो० १९, २०, ११

'आर्य' शब्द को श्रेष्ठता के लिए काम में लाया गया है और अनार्य शब्द को निन्दा या हीनता के लिए।

वैदिक युग का 'अनार्य' जातक-युग में एक शब्द या 'विशेषण' मात्र रह गया और जो प्रकृत अनार्य थे, वे चांडाल आदि टुकड़ों में विभक्त होकर 'अछूत' बन गये[१]। जातक-युग में अछूतों का वर्णन[२] है। यों तो अनार्य उसे कहा जाता था, जो 'आर्य' रहकर भी गर्हित कर्म करता था—'तुम्हारा यह कर्म अनार्य है ! यह कहकर गर्हित कर्म करनेवाले की निन्दा की जाती थी। जातक-युग में अनार्य नाम का कोई वर्ग न था—ऐसा ही पता चलता है। नीच कर्म को अनार्य-कर्म कहा जाता था, उच्च कर्म को आर्य-कर्म। अनार्य नीचता का और आर्य उच्चता का बोध करानेवाले[३] दो परस्पर विरोधी विशेषण थे। अनार्य अछूत आदि चांडाल जातियों में परिणत हो गये थे, जिनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। जब जातक-युग में कठोर वर्ण-व्यवस्था थी, कुल का पूरा खयाल रखा जाता था[४], वर्णों में भी उत्तम और मध्यम का विचार था, तो इतनी सारी बातों के रहते हुए भी हम यह कैसे सोच सकते हैं कि अनार्य यानी अछूत आदि सब पर समान-दृष्टि थी—बौद्धसंघ में शायद ही किसी चांडाल को स्थान मिला हो। एक मल्लाह और एक नापित जरूर संघ में लिया गया था। जब बहुत-से शाक्य-कुमार संघ में शामिल होने आये, तो उनके साथ उनका हज्जाम भी आया। कुमारों ने बुद्धदेव से कहा कि—"हममें जातिगत अभिमान बहुत है। आप पहले इस हज्जाम को संघ में शामिल कीजिए, ताकि संघ के नियमानुसार हम इसे 'अग्र' मानकर प्रणाम किया करें और हमारा वह मिथ्याभिमान चूर हो।" बुद्धदेव ने यही किया[५] ! उस हज्जाम का नाम उपालि था। जातक-युग में अछूतों को, चाण्डालों को या गिरे हुए लोगों को दूर ही रखा जाता था।

एक कथा ऐसी भी आई है, जब आनन्द प्यास से व्याकुल होकर किसी पनघट पर पहुँचे और एक स्त्री से उन्होंने पीने के लिए पानी माँगा। उस स्त्री ने कहा—'मैं चाण्डाल हूँ !' आनन्द ने जवाब दिया—'मैं कुल-जाति तो पूछता नहीं, पानी माँग रहा हूँ, मुझे दे दो, मैं पीऊँ[६]।'

इस तरह चाण्डाल के हाथ पानी पीना 'आपद्धर्म' के अन्तर्गत आता है। विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर एक चांडाल के घर में चोर की तरह घुसे और उसका

---

१. चित्तसम्भूत जातक—४९८ और जातक, ४।३९१—९२; जातक, ४।३७८; ४।३८८; ३।२७ द्रष्टव्य।

२. सतधम्म जातक—१७९।

३. सुत्तनिपातसमिय सुत्त, ३२

४. कुण्डककुच्छिसिन्धव जातक—२५४; वातवग्गसिन्धव जातक—२६६; उदपान दूसक जातक—२७१; व्यग्घ जातक—२७२; मणिसूकर जातक—२८५; जम्बुक जातक—३३५; वटक जातक—३९४ आदि द्रष्टव्य।

५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ४ (संघभेदक स्कन्ध ७ का 'उपालि' २)

६. दिव्यावदान।

जूठा कुत्ते का मांस, जो एक ठिकरे में पड़ा था, खाने लगे[1]। वह अकाल-ग्रस्त क्षेत्र था। वहाँ खाने को कुछ नहीं मिलता था। यही आपद्धर्म है। विश्वामित्र ने उस श्वपच (चाण्डाल) से आपद्धर्म की व्याख्या इस प्रकार की—

जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्।

अर्थात् जीवित रहेंगे, तो धर्म का आचरण कर सकेंगे। धर्म की दृष्टि से मरने से जीवित रहना श्रेयस्कर है।

अजीगर्त्त[2], वामदेव आदि ऋषियों ने भी संकट पड़ने पर इसी तरह प्राण-रक्षा की थी—आपद्धर्म भी धर्म ही है। प्रसिद्ध विद्वान् हाब्स[3] ने भी आपद्धर्म के सम्बन्ध में लिखते हुए आर्य-ऋषियों के मत का ही प्रतिपादन किया है।

'मिल'[4] का भी यही मत है। आपद्धर्म एक कठिन धर्म होता है जिसका पालन तो कुअवसर आने पर करना ही चाहिए। आनन्द ने यदि पिपासाकुल होकर चाण्डाल स्त्री का दिया पानी पी लिया, तो इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह छूत-छात से ऊपर उठकर सोचते थे—यह तो आपद्धर्म की बात है और आपद्धर्म में जाति-कुल का विचार पूर्वकाल में भी नहीं किया जाता था और प्राण-रक्षा पर ध्यान पहले दिया जाता था। एक ब्राह्मण ने चाण्डाल का दिया हुआ भात खाने से इन्कार कर दिया; मगर जब भूख से तिलमिला उठा, तब माँगकर खा लिया[5]। यह भी आपद्धर्म है।

इसी कथा में एक बात और है। चाण्डाल का भात खाने से ब्राह्मण को पछतावा हुआ और वह ग्लानि से विकल हो जंगल में चला गया तथा पछता-पछता कर मर गया।

कथा के अन्त में बुद्धदेव भिक्षुओं को सावधान करते हुए कहते हैं कि जैसे वह ब्राह्मण चाण्डाल का जूठा भात खाकर न प्रसन्न हुआ और न हँसा। उसने अनुचित भात खाया था, इसी प्रकार शासन में प्रव्रजित हो जो अनुचित ढंग से जीविका चलाता है और उससे प्राप्त पदार्थों का उपयोग करता है, वह बुद्ध द्वारा निन्दित, बुद्ध द्वारा निकृष्ट कही गई जीविका से जीविका चलाने के कारण न हँसता है, न प्रसन्न होता है।

एवं धम्मं निरंकत्वा यो अधम्मेन जीवति।
सतधम्मोव लाभेन लद्धेनपि न नन्दति॥

जो धर्म को छोड़कर अधर्म से जीता है, वह सतधर्म की तरह लाभ होने पर भी प्रसन्न नहीं होता।

यह स्पष्ट है कि 'चाण्डाल का भात' खाने के बाद ब्राह्मण के परिताप का

---

१. महाभारत, शान्ति०, १४१

२. मनु०, १०।१०५—१०८

३. Hobbes, Leviathen, part II, chap. XXVII, p. 139 (Morley's Universal Library Edition).

४. Mill's Utilitarianism, chap. V., p. 95 (15th Ed.).

५. सतधम्म जातक—१७९।

उदाहरण देकर बुद्धदेव ने प्रकारान्तर से भिक्षुओं को 'चाण्डालादि गिरे हुए वर्ग' का अन्न खाना वर्जित ठहरा दिया है। आपत्काल में धर्म-पालन के सम्बन्ध में काफी छूट बुद्ध भगवान् ने भी दी है[1]। सभी धर्म आपद्धर्म को महत्त्व देते हैं और नियमों के कठोर बन्धन की परवा न करके कुअवसर से त्राण पाने का आदेश देते हैं।

जातक-युग में कुछ गृहस्थ ऐसे भी थे, जो अपनी गायों के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, घूमा करते थे—जैसा आजकल गड़ेरिये करते हैं। वे कंजरों की तरह बेघर-द्वार के नहीं थे; किन्तु गायों के व्यापारी रहे होंगे और चरागाह की टोह में घूमा करते होंगे[2]।

चमड़ा-मढ़ी चारपाई अब कहीं देखने में नहीं आती; किन्तु जातक-युग का गृहस्थ ऐसी चारपाई भी काम में लाता था, जिसे चमड़े से मढ़ा जाता था[3]। भिक्षुओं को मना किया गया था कि वे ऐसी किसी चारपाई पर न बैठें, जो चमड़े से मढ़ी गई हो।

बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में चाण्डालों की बस्ती का एक पूर्ण चित्र दिया है। वह लिखता है—चाण्डालों की झोंपड़ियाँ बाँसों के घने झुरमुट में छिपी होती थीं। खोपड़ियों को करीने से एक कतार में रखकर एक-एक झोपड़ी का हाता बनाया जाता था। घर के निकट जो कूड़े के ढेर होते थे, उनमें हड्डियाँ काफी होती थीं। घर का आँगन भयानक होता था, जहाँ चर्बी, मांस और खून का कीचड़-सा होता था। उन चाण्डालों का बिछावन चमड़ा होता था, वे खाल बिछाकर सोते थे। बड़े-बड़े कुत्ते उनके घर के रखवाले होते थे। उनके बच्चे शिकार खेलना, कुत्तों से छोटे-छोटे शिकार पकड़वाना आदि खेल खेला करते थे[4]। 'जो कच्चा मांस खाते हैं, नरमांस खाते हैं तथा जो गर्भ को भी खा जाते हैं, उन लम्बे-लम्बे बालोंवाले लोगों' के नष्ट कर देने की बात वेद में भी आई है।

ये बाणभट्टवाले चाण्डाल ही रहे होंगे। अथर्व का एक मन्त्र इस प्रकार है—

य आमं मासमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रुतिः।
गर्भान् खादन्ति केशवाः तान् इतो नाशयामसि[5]॥

हमने (लेखक ने) स्वयं पटियाला (पेप्सू) के एक बीड़ में इसी तरह की एक बस्ती देखी थी, जो चाण्डालों की थी। पंजाबी-भाषा में इन्हें 'सैंसी' कहा जाता है। ये सैंसी बाणभट्ट के चाण्डालों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। हमने देखा कि मरे हुए घोड़े, गधे, कुत्ते सभी इनके दरवाजों पर पड़े हैं और छोटे-छोटे बच्चे मृत पशुओं की आँखें और मुँह में हाथ डालकर जीभ खा रहे हैं—ये बच्चे ४-५ साल से अधिक बड़े न रहे होंगे। पुरुष लम्बे-चौड़े, गन्दे और डरावने थे, स्त्रियाँ भी डरावनी थीं, तथा कुत्ते ऐसे थे कि उस जाति के विशाल कुत्ते दूसरी जगह देखने को नहीं मिलते। बच्चे बड़े

---

१. महावग्ग, ३—२; ३—९ आदि।
२. ,, ३—६ वर्षोपनायिका-स्कन्ध, ३
३. ,, ३—७ चर्म-स्कन्ध, ५
४. हर्षचरित (बाणभट्ट) E. B. Cowell and F. W. Thomas, London, 1897.
५. अथर्व, ८।३।२३

चाव से चर्बी चाटते थे और दाँतों से नोच-नोच कर मरे हुए किसी पशु का मांस खा रहे थे जैसे कुत्ते नोच कर खाते हैं—एक घोड़े की लाश थी, जिसमें १०-१५ बच्चे कुत्तों की तरह लगे हुए थे। पूछने से पता चला कि कब्रों से मुर्दे निकाल-निकाल कर भी ये सैंसी खाते हैं। खून से भींगी खालों को हमने लकड़ियों पर रखा देखा, जिसके नीचे सैंसी-परिवार का डेरा था। वह दृश्य भयानक था।

चाण्डाल जाति क्या थी, कैसी थी और क्यों आर्यों ने तथा जातक-युग के सुधारकों ने इसे दूर ही रखा, यह सोचने की बात है। यह दूसरी बात है कि चाण्डाल भी मनुष्य ही थे, मनुष्य ही रहेंगे।

यह स्पष्ट है कि चाण्डालों को बौद्धों ने भी अलग ही रखा और जनता ने भी। जातक-युग की कथाओं से यह सिद्ध होता है।

हम कह आये हैं कि अनार्यों में से जितनों को लिया जा सकता था, आर्यों ने अपने वर्ग में मिला लिया और जो बिलकुल ही असाध्य थे, उन्हें भविष्य के लिए छोड़ दिया। जातक-युग इस मामले में वैदिक युग से भिन्न नहीं है। यह कहना सरासर गलत है कि बौद्ध धर्म ने बिना भेद-भाव के सबको स्वीकार कर लिया। अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि 'संघ' में शामिल होना आसान न था। संघ में शामिल होने के बाद भी वहाँ के अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करना कठिन होता था—गलती होने पर दंड दिया जाता था, संघ से निकाल दिया जाता था। वर्ण और कुल का पूरा ध्यान रखा जाता था। हीन-वर्ण और हीन-कुल का व्यक्ति कभी संघ में स्वीकार नहीं किया जाता था। प्रमाण में हम पूरा 'विनय-पिटक' आपके सामने रखते हैं। जो व्यक्ति अत्यन्त सुसंस्कृत और संयमशील होता था, उसके लिए भी संघ के नियमों का ठीक-ठीक पालन करना कठिन हो जाता था—असंस्कृत और असंयमी व्यक्ति तो एक क्षण भी संघ में ठहर नहीं सकता था। यह स्पष्ट है कि जातक-युग में भी छूत-अछूत, वर्ण-व्यवस्था, कुलीनता आदि सारी बातें थीं। इन सारी बातों का पालन गृहस्थ और गृह-त्यागी सभी यत्नपूर्वक करते थे। यह दूसरी बात है कि समाज में बुराइयाँ भी हों और होना भी चाहिए। मानव मानव है, वह न तो शैतान है और न देवता !!

सहजात दुर्गुणों को जड़ से मिटाया नहीं जा सकता। हाँ, अंकुश रखा जा सकता है, जिसका प्रयास संसार के सन्त, विचारक, युग-प्रवर्त्तक, सुधारक आदि सभी युगों से करते आये हैं, करते रहेंगे।

ऊँच और नीच

जाति से, कर्म से, कुल से—इन तीनों प्रकार से ऊँच-नीच का निर्णय किया जाता था। यह सनातन रीति है। वैदिक युग से लेकर जातक-युग तक इस नियम का प्रवाह देखा जाता है—कहीं भी यह प्रवाह रुका नहीं और न किसी ने इसे चुनौती ही दी। अनेक मतमतान्तर फैले, फूले-फले और मिटे, अनेक सुधारक पधारे और अपने-अपने विचारों को फैलाया, किन्तु ऊँच-नीच की इस सर्वमान्य कसौटी की महत्ता को सबने स्वीकार किया। केवल जैनों ने और बौद्धों ने ब्राह्मण-वर्ण को नीच करार

दिया था—यही एक नई बात सामने आई। इसका भी कारण था और वह यह कि बिना ब्राह्मणों के महत्त्व को घटाये ये (जैन और बौद्ध) अपने-अपने मत का प्रचार कर ही नहीं सकते थे ! लाचार, जैनों और बौद्धों ने ब्राह्मणों को नीचे गिराया—हम उनकी कठिनाइयों को समझते है !

भारतीय संस्कृति या यों कहिए कि आर्य-संस्कृति, जिसकी नींव वेद-काल के ऋषियों ने दी थी और जो अनेक युगों और परिस्थितियों को पार करती हुई जातक-युग तक आई—फैली, फूली और फली, फिर जातक-युग को पार करती हुई आज तक भारत में है, कर्म से ही ऊँच और नीच का फैसला करती है। कुछ ऐसे मानव-समूह, जो स्वभाव से ही तीन कर्म करनेवाले थे, अछूत या हीन माने गये। बराबर ऐसा प्रयत्न होता रहा है कि नीच कहे जानेवाले मानव-समूह में से छँटनी करके होनहार व्यक्तियों को अलग किया जाय और उन्हें ऊपर उठाया जाय। एक रेखा खींच कर सदा के लिए कुछ को उच्च और कुछ को नींच कभी नहीं माना गया—वैदिक युग में भी नहीं और न रामायण या महाभारत-युग में। जाति से गुणों को महत्त्व दिया गया; क्योंकि जाति का महत्त्व भी गुणों से ही निखरता है न कि केवल किसी जाति के होने से ही। हाँ, यह हम मानते हैं कि आर्यों ने झुण्ड-के-झुण्ड पतितों को अपने में नहीं मिलाया—पूरी-की-पूरी जाति को—जो नीची जाति कही जाती थी या थी, (जैसे चाण्डाल)—एलान करके, ढोल बजाकर नहीं अपनाया; क्योंकि उन्हें 'पवित्रता और शुद्धि' को कायम रखना था—भीड़ जमा करके देश का नाश करना उनका उद्देश्य न था। हाँ, सबके लिए आर्यों ने अपने घर के सभी द्वार जरूर खोल रखे थे और साथ ही यह भी कैद लगा दी थी कि अमुक-अमुक शर्तों का पालन करने के बाद ही कोई भीतर घुस सकता है। जो जैसा है, उसी रूप में अन्दर घुसने का आदेश न था—जैसे आर्य थे, वैसा बन कर अन्दर आने में कभी कोई रुकावट न थी। चरित्र को, सदाचार को और शील को पहला स्थान दिया जाता था—यह नियम जातक-युग में भी लागू था। बौद्धसंघ में प्रवेश करना बच्चों का खेल न था। कोई भी जाति या संस्था अपने कुछ उत्तम गुणों, कड़े नियमों के बल पर जी सकती है, न कि 'शून्य' बन कर। उन नियमों को आप धर्म कहें या कानून; किन्तु वे हैं आवश्यक और अत्यन्त आवश्यक ! चरित्र, गुण या शील को बाद दे देने से, हम नहीं समझते कि पशु और मानव के बीच में कोई विभाजक रेखा रह जायगी। सही बात तो यह है कि मानव पशुओं से ही नीचे गिर जायगा।

इन्हीं सारी बातों को ध्यान में रखकर आर्य-ऋषियों ने जो युग के निर्माण में लगे थे, और जिन पर मानव जाति के विकास या विनाश का गम्भीर दायित्व था, कुछ कठोर नियमों के बन्धन में सबको बाँधा और जो इस बन्धन में बँध कर अपने को संयमशील बनाने के लिए तैयार नहीं हुए, उन्हें यह कहकर छोड़ दिया गया कि[1]—'आज नहीं तो कल तुम भी आ जाना; क्योंकि हम सभी धरती के पुत्र हैं, भाई-भाई हैं, हम सबकी एक ही माता है[2], पृथिवी। हममें कोई बड़ा-छोटा नहीं है।' रामायण,

१. ऋग्वेद, ५।८९।६—'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।'

२. अथर्व, १२।१।१२—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'

महाभारत आदि युगों को पार करती हुई यह वाणी जातक-युग के आकाश में भी गूँजी।

अब वैदिक युग को अपने सामने रखिए और विचार कीजिए कि उस युग में उच्च कौन था और नीच कौन था। वैदिक ऋषि घोषणा करता है—

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय[1]।

न मैं दास को जानता हूँ और न आर्य को—मैं महत्त्व से आचरण की जाँच करता हूँ।

यहाँ आचरण (शील) को महत्त्व दिया गया है, न कि दास (शूद्र) या आर्य को। आचरण में जो श्रेष्ठ है, वही श्रेष्ठ है। वह कोई भी हो—शूद्र या और कोई।

दास की बात जाने दीजिए। हमने चाण्डाल का थोड़ा-सा परिचय पहले दिया है। चाण्डाल को भी श्रेष्ठ माना गया है, यदि वह शीलवान् हो।

पौल्कसो अपौल्कसो भवति[2]।

चाण्डाल भी (इस ज्ञान से) अचाण्डाल (उच्च) होता है—ऐसा 'बृहदारण्यक' के ऋषि की घोषणा है।

शूद्र भी गुरु-गृह में रहकर उच्च शिक्षा पाते थे। वहाँ सभी शिक्षार्थी बराबर समझे जाते थे—वे ब्राह्मण हों या शूद्र। ऊँच-नीच का भेद आचार्य के आश्रम में नहीं था—

अन्तर्धिने वा शूद्राय[3]।

गुरु-गृह में रहनेवाले शूद्र का शूद्रत्व अन्तर्हित अर्थात् लुप्त हो जाता है।

सदाचारी शूद्र का द्विजातियों की तरह उपनयन-संस्कार भी किया जाता था और वे आर्य मान लिये जाते थे—शर्त थी केवल सदाचार!

शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्[4]।

शूद्र ही क्यों, दूसरे पतितों को भी व्रात्यस्तोम करने के बाद उपनयन का अधिकार दे दिया जाता था—

तेषां संस्कारेप्सवो व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काम—
मधीयीरन् व्यवहार्यो भवतीति वचनात्[5]॥४३॥

सत्य; काम और जाबाल की कथा प्रसिद्ध है। जाबाला नाम की स्त्री ने युवावस्था में एक पुत्र को जन्म दिया था, जिसके पिता का पता न था। लड़के का नाम सत्यकाम था।

गौतम के पास वह लड़का ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षा लेने आया। गोत्र पूछने पर

---

१. अथर्व, ५।११।३
२. बृहदारण्यक, ४।३।२२
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, अ० १।१४
४. पारस्कर०, भाष्य, २।५
५. पारस्कर०, गृह्यसूत्र, २।५

३५

लड़के ने सत्य कथा सुना दी, तो गौतम ने कहा कि—'यह सत्य से च्युत नहीं हुआ, अतः यह ब्राह्मण है[१]।'

ऐतरेय महीदास एक शूद्री का पुत्र था। वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण मान लिया गया और उसने ऋग्वेद के सम्बन्ध में विख्यात 'ऐतरेय ब्राह्मण' ग्रन्थ की रचना की। उसका नाम माता के नाम से चला—'ऐतरेय महीदास'। ग्रन्थ का नाम हुआ 'ऐतरेय-ब्राह्मण'। 'इतर' शब्द का अर्थ होता है 'नीच'[२]।

बहुत-से ऋषि सरस्वती नदी के किनारे 'सत्र' कर रहे थे। 'कवल-अलूष' नामक एक व्यक्ति आया, जो दासी-पुत्र, जुआड़ी और अब्राह्मण था। सब कुछ होने पर भी वह विद्वान् था। वेद का **'अपोनप्त्रीय-सूक्त'** का मन्त्रद्रष्टा ऋषि यही कवल-अलूष था। उसके पांडित्य का पता जब ऋषियों को चला, तब उन्होंने उसे ब्राह्मण-वर्ण में शामिल कर लिया और संस्कार जाग जाने के कारण उसके दोष भी जाते रहे[३]।

ऐसी कथाओं का अन्त नहीं है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग ने 'शील' को पहला स्थान दिया था और वर्ण या जाति को अन्तिम। गुणवान् व्यक्ति, चाहे वह किसी भी वर्ण या जाति का हो, ऊपर उठा लिया जाता था। श्रेष्ठ आचरण की पूजा होती थी, श्रेष्ठ वर्ण की नहीं।

वेदों में तो ऐसा भी वर्णन आया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यदि गुणवान् शूद्र हो तो उसे भी प्रणाम करना चाहिए—

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो
नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमो[४]

अपनी ओर से हम इस मन्त्र की टीका न करके 'महीधर-भाष्य' ने क्या कहा है, यही आपके सामने रखते हैं—

तक्षाणः शिल्पजातयस्तेभ्यो नमः रथं कुर्वन्ति रथकाराः सूत्रधार-विशेषास्तेभ्यो नमः। कुलालाः कुम्भकाराः तेभ्यो नमः। कर्मारा लोहकारा-स्तेभ्योनमः। निषादा गिरिचरा मांसाशना भिल्लास्तेभ्यो वो नमः। शुनो नियन्ति श्वन्यः तेभ्यो वो नमः। मृगान् मारयन्ते ते मृगवयस्तेभ्यो वो नमः।
—महीधरभाष्य

बढ़ई, रथकार, लोहार, कुम्हार, निषाद, भील, पौल्कस आदि (शूद्रों) को नमस्कार किया गया—निश्चय ही ये द्विजातियों में नहीं थे। इनके कला-कौशल को आदर दिया गया। राष्ट्र-निर्माण में इनका महत्त्वपूर्ण योग था, अतः इन्हें वन्दनीय

१. छान्दोग्योपनिषद्, ५।४
२. अमर कोष—'इतरस्त्वन्यनीचयोः', तृतीय कां०, नानार्थवर्ग, १९२
३. ऐतरेय ब्राह्मण, २।१९
४. यजुर्वेद, अ० १६।१७

माना गया—धार्मिक दृष्टि से न सही, राष्ट्रीय दृष्टि से बढ़ई, लोहार आदि वन्दनीय थे और आजतक हैं।

राष्ट्रीय दृष्टि से देश का प्रत्येक नागरिक बराबर है, न कोई बड़ा है और न छोटा। सबका अधिकार समान है और सबको अपने अधिकार का उपयोग करने का समान अधिकार भी है। वैदिक ऋषि इस तत्त्व को मानते थे और उन्होंने बार-बार कहा है कि सब बराबर हैं, भाई-भाई हैं। हम सौभाग्य के लिए बढ़ते हैं--

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय[1]।

आर्य-संस्कृति में जान-बूझ कर किसी को नीचे गिराना और किसी को पात्रता न रहने पर भी ऊपर उठाना—ऐसा कुकर्म नहीं है। यहाँ ऊँचे चरित्र का आदर होता आया है। यदि ब्राह्मण भी पतित कर्म करता है, तो उसे नीच वर्ग में ढकेल दिया जाता था और तथाकथित निम्न वर्ग भी शीलवान् होता था, तो उसे ऊपर आसन दिया जाता था—यह समाज की बात रही। किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से, समान हित और कल्याण के प्रयास के लिए सब बराबर थे, भाई-भाई थे—कोई ज्येष्ठ या कनिष्ठ न था। महाभारत का वचन है—

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु।
दम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत्[2] ॥१३॥

अर्थ स्पष्ट है। अब शूद्र के विषय में महाभारत का क्या मत है वह सुनिए—

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः[3] ॥१४॥

जो शूद्र दम, सत्य और धर्म का सर्वदा पालन करता है, उसे मैं ब्राह्मण मानता हूँ; क्योंकि सदाचार से ही द्विजत्व की प्राप्ति होती है।

महाभारत में ही यक्ष और युधिष्ठिर-संवाद है[4], जिससे यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ हो, ऐसी बात नहीं है। केवल जन्म की पूँछ पकड़ कर भवसागर पार कर जाने की चालाकी करनेवाले ब्राह्मण को शूद्र से भी पतित मानने की घोषणा बार-बार आर्य-ऋषियों ने की है। सदाचार का आश्रय करके भी ऊपर उठाया जा सकता है। सदाचार-रत रहने का एकमात्र अधिकार किसी वर्ण-विशेष को कभी नहीं दिया गया।

वैदिक ऋषि सबके लिए सोचते थे, सबको प्रकाश देते थे[5]—**'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** कहकर वे मानव-मात्र के कल्याण—अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि—

१. ऋग्वेद, ५।६०।५
२. महाभारत, वन०, अ० २१६, श्लो० १३
३. ,, ,, श्लो० १४
४. महाभारत, वन०, अ० १३, श्लो० ७, ८, ९, १० और ११ द्रष्टव्य। फिर नहुष-युधिष्ठिर-वार्त्ता, सर्प-युधिष्ठिर-वार्त्ता भी देखें, जो महाभारत में है।—लेखक
५. अथर्व, ५।३।७

के लिए ज्ञान का वितरण करते थे। ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र का भेद न था—हाँ, कर्म का भेद अवश्य था। नीच कर्म करनेवाले को नीच माना जाता था, वह नीच कर्म करनेवाला ब्राह्मण हो या क्षत्रिय! कर्म से ही मानव ऊपर उठता और गिरता है। यदि उच्च कर्म करनेवाले शूद्र या चाण्डाल को भी नीच समझा जाता, तो कर्म का महत्त्व ही नष्ट हो जाता और जन्म से जाति का आश्रय ग्रहण करके पतित भी आदर पाता तथा सुकर्मों का कोई सुपरिणाम होते न देखकर नीचे का वर्ग कभी सुकर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी बात होती, तो आज से हजारों साल पहले ही भारत समाप्त हो जाता, जड़-मूल से खत्म हो जाता। क्या विचारकों और ऋषियों के दिमाग में इतनी छोटी सी बात भी नहीं आती? यह असंभव है। वे सोचते थे और समझते भी थे, तब उन्होंने सदाचार को पहला स्थान दिया और जाति को अन्तिम! किसी राष्ट्र की उन्नति उत्तम जातिवालों से नहीं होती, उत्तम कर्म करनेवालों से होती है।

समाज का अस्तित्व किस पर है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है—'विज्ञान पर।' विज्ञान उस ज्ञान को कहा जाता है, जो सत्यपूत हो, **वास्तविक कार्यकारण-भावों का व्यवस्थित ज्ञान ही 'विज्ञान'** है[1]। यह ज्ञान जितना उत्कृष्ट या निकृष्ट होता है, संस्कृति भी उतनी ही उत्कृष्ट या निकृष्ट होती है। कारण कि अन्तर्बाह्य शक्तियों का सम्यक् उपयोग करने की कला ही संस्कृति है। इस कला में जिस देश के विचारक या सुधारक जितना पारङ्गत होंगे, वहाँ की संस्कृति उतनी ही वैज्ञानिक और ठोस होगी। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारत के विचारक वैदिक ऋषि, श्रेष्ठ पुरुष, लोकनायक जितने भी हो गये हैं, यानी वैदिक युग से शंकराचार्य तक सभी विचारकों ने भारतीय संस्कृति को अपने वास्तविक-कार्य-कारण-भावों से व्यवस्थित किया हुआ विशुद्ध ज्ञान (= विज्ञान) से ऊपर ही उठाया और उन्होंने सब कुछ समझकर ही समाज के एक-एक अंग को पुष्ट किया। ऊँच-नीच, छूत-अछूत के सवाल पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने विचार किया और एक प्रकाशमान रास्ता बतलाया।

आर्यों ने जिस धर्म को स्वीकार किया था, वह स्पष्टतः 'राष्ट्रधर्म' था—वह गण-धर्म नहीं था। राष्ट्रधर्म संकीर्णता से ऊपर होता है। बुद्धदेव ने भी 'राष्ट्रधर्म' की ही कल्पना की थी। यही राष्ट्रधर्म थोड़ा और परिष्कृत होकर विश्वधर्म की संज्ञा पाता है। राष्ट्रधर्म को विश्वधर्म बनने के लिए अविरोधी बनना जरूरी है और उस पर किसी राष्ट्र या जातिविशेष की ही मुहर न लगी हो। वह सबके लिए हो और सबको समान रूप से अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि देता हो। महान् आर्य-धर्म, जिसके अन्तर्गत बौद्धधर्म भी है, अविरोधी धर्म है, यह राष्ट्रधर्म से ऊपर उठकर विश्वधर्म में परिणत हो चुका है। फिर ऐसी कल्पना करना कि यह धर्म या इस धर्म के आधार पर गठी हुई संस्कृति में छूत-अछूत-जैसी गन्दी और संकीर्ण बातों को मान्यता मिली है, अज्ञान का कारण है। हम यह बार-बार कह आये हैं कि आचारहीन व्यक्ति ही अछूत माना जाता था, वह

१. 'हिन्दूधर्म-समीक्षा' (श्रीलक्ष्मणशास्त्री जोशी), पृ० १५ (प्रथम संस्करण, ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।)

व्यक्ति जाति और कुल की दृष्टि से चाहे जितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो। जो असंशोध्य माना जाता था, असाध्य माना जाता था; उसे हटा देने का विधान था। फिर भी उसे मौका दिया जाता था कि वह अपने को सुधारे। जातक-युग में भी यह नियम था और इस नियम का पालन बौद्धसंघ में भी किया जाता था। ऐसे व्यक्ति के लिए एक शब्द आया है 'अचिकित्स्य'[1]। संघ की एकता को नष्ट करनेवाला 'अचिकित्स्य' माना जाता था—यह व्यक्ति इतना गिरा हुआ है कि इसका कोई भी इलाज करना असंभव है। जिसने अपने को हम इस स्थिति में पहुँचा दिया हो कि उसके अपने और हितैषी उससे बिलकुल ही निराश हो गये, तो फिर उसका स्थान कहाँ है? वह समाज का एक मुर्दा है, जिसे घर में रखा नहीं जा सकता।

समाज में भी कुछ व्यक्ति या राष्ट्र में कुछ वर्ग इसी तरह का होता है, जिसे सुधरने का अवसर देकर अलग कर दिया जाता है। बुद्धदेव को 'देवदत्त' नामक एक ऐसे ही 'अचिकित्स्य' व्यक्ति का सामना करना पड़ता था। ऐसे लोगों का, जो असाध्य हैं, 'अचिकित्स्य' है, नेतृत्व करना, उनका अगुआ बनना, उनके बीच में जाकर उन्हें समझाना-बुझाना भी बेकार का धन्धा माना जाता था।

धीरो च बलवा साधु यूथस्स परिहारको।
हितो भवति ञातीनं तिदसानं व वासवो[2]॥

धैर्यवान् और शक्तिवान् समूह का नेता होना उचित है, जैसे इन्द्र देवताओं का नेता है। किन्तु—

न साधु बलवा बालो यूथस्स परिहारको।
अहितो भवति ञातीनं................॥

मूर्ख—अचिकित्स्य—वर्ग का नेता होना नहीं चाहिए; क्योंकि वह अपना ही अहित करनेवाला होता है—अपनी जाति का ही वह वैरी होता है। यह मत बुद्धदेव का है। गिरे हुए लोगों से दूर रहने का उपदेश वे देते हैं। जातक-युग में उस वर्ग को ही नीच समझा जाता था, जिस वर्ग को वैदिक युग में रामायण और महाभारत-युग में नीच समझा जाता था। यह भी स्पष्ट है कि जातक-युग में उसी को श्रेष्ठ माना जाता है, जिसे वैदिक युग ने, रामायण और महाभारत-युग ने श्रेष्ठ, शीलवान् और सदाचारी माना था—

न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञावा धम्मिको सिया[3] ॥९॥

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ७।४।२

२. कपि जातक—४०४।

३. धम्मपद, ८४

जो पुत्र धन और राज्य की कामना भी अपने या दूसरों के लिए नहीं करता, और न अधर्म से अपनी उन्नति ही चाहता है, वही शीलवान्, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।

यह एक पूर्ण और व्यापक सिद्धान्त है। ठीक इसकी उलटी दिशा में जानेवाला शीलहीन, प्रज्ञाहीन और धर्महीन है। शील, प्रज्ञा और धर्म से जो हीन है, वही नीच है और ऐसे नीच का समाज में कोई स्थान नहीं हो सकता। वैदिक युग से जातक-युग तक यह सिद्धान्त अविच्छिन्न रूप में आदर पाता रहा।

राज्य की कामना करनेवाला कोई भी ऐसा राक्षसी कर्म नहीं है, जो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए नहीं कर सकता। पुत्र की कामना करनेवाला कोई भी ऐसा लज्जाजनक कर्म नहीं है, जो न कर डाले और धन के लिए मरनेवाला खून, चोरी, डकैती, जालसाजी, विश्वासघात सब कुछ करता है—करता रहेगा। जन्म से आर्य और वर्ण से उच्च पद पाकर भी इन तीन गन्दे दुर्गुणों के वशीभूत होकर मानव मानव नहीं रह जाता, जीवित राक्षस या पिशाच बन जाता है। अतः ऐसे को ही नीच महानीच मानना चाहिए और जातक-युग में नीच-पद ऐसे लोगों को ही दिया जाता था, न कि वर्ण से जो हीन हैं, उन्हें! वर्ण से जो हीन हैं, वे 'चिकित्स्य' हैं; किन्तु 'अचिकित्स्य' वे ही हैं, जिनका नैतिक पतन हो गया है और जिन्होंने नीच कर्म को अपना लिया है[1]!

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं[2] ॥१०॥

जिसने धर्म (सत्य शील आदि) का त्याग कर दिया, जो मिथ्याचारी है, परलोक की चिन्ता से रहित है, वह ऐसा कोई भी कुकर्म नहीं है, जिसे वह न कर सके।

किन्तु यह सोचना उचित नहीं होगा कि बन्धनों को अत्यन्त कठोर बना कर—घर के सभी खिड़की, दरवाजे, हवादान, मोखे को बन्द करके भीतर इतनी ऊमस पैदा कर दी गई थी कि कोई भी उस घर में दो घड़ी रह नहीं सकता था और जो रहता, वह हवा के अभाव में घुट कर मर जाता। कोई भी समाज-व्यवस्था मर जायगी, यदि उसको बन्धनों से बाँधकर बिलकुल ही अचल कर दिया जाय। अत्यधिक कठोर बन्धनों से अचलता पैदा हो जाती है और अत्यधिक स्वतन्त्रता अराजकता की मा है।

जातक-युग में न तो बेहद कठोर बन्धन थे और न मुक्त आजादी। कहा है—

अम्हाकञ्चत्थि पुरिसो एदिसो इध विज्जति।
दुल्लभो अंगसम्पन्नो खन्तिरस्माक रुच्चति[3] ॥

सभी गुणों से युक्त व्यक्ति दुर्लभ है, अतः सहन करना ही पड़ता है।

सत्य, धर्म, धृति और त्याग इन गुणों से युक्त तथा पूर्णशीलसम्पन्न व्यक्ति सर्वत्र दुर्लभ है—यह कौन नहीं जानता। जातक-युग को हम शील-प्रधान युग कह

१. धम्मपद, १४१
२. धम्मपद, १७६
३. खन्तिवण्णन जातक—२२५।

सकते हैं। सभी शीलवान् थे या नहीं, यह बात अलग रही, किन्तु उस युग में शील को प्रथम स्थान दिया था। जो शीलवान् होता था वही उच्च माना जाता था और जो शीलहीन होता था, उसे ही नीच कहकर अलग कर दिया था। कुल और जाति का भी मान था, किन्तु शील को कुल और जाति से ऊपर स्थान देने की बात बार-बार दुहराई गई है।

हम कह चुके हैं कि जातक-युग में जो शील को इतनी प्रधानता मिली थी, वह कोई नई बात नहीं थी। वैदिक युग में, रामायण-युग में, महाभारत-युग में भी शील को ही आदर दिया जाता था—हम कुछ प्रमाण पहले दे आये हैं। स्थाली-पुलाक-न्याय से ही संतोष करना पड़ेगा।

शील ही ऐसी कसौटी थी, जो आर्य-संस्कृति के आदियुग से जातक-युग तक बराबर उपयोग में रही। जितने भी ऋषि, विचारक, सुधारक, संत, युगपुरुष हुए, सभी ने आर्य-ऋषियों की शील-कसौटी को अपने सामने रखा। जातक-युग में भी ऊँच-नीच का विचार इसी कसौटी के आधार पर किया जाता था। जाँच करते समय वर्ण और कुल का ध्यान नहीं रखा जाता था। ब्राह्मण भी खोटा प्रमाणित हो सकता था, जो उच्च वर्ण का है और चाण्डाल भी खरा उतर सकता था, जो हीन वर्ण का है।

उपसंहार

[१]

यह संसार न तो वृक्षों और पहाड़ों का है और न नदियों और समुद्रों का। यह ईंट-पत्थरों का भी नहीं है। अच्छी तरह विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि यह संसार 'विचारों' का है। 'ऋत' और 'सत्य' पर टिका हुआ यह पूर्णतः विचारमय है, जैसे शरीर प्राणमय होता है। प्राणों को बाद दे देने से शरीर मुर्दा-मात्र है, यह एक लाश है, जो गन्दी है, डरावनी है और संग्रह करने योग्य नहीं है। मिट्टी और पानी के योग से बना हुआ यह शरीर अपने आरम्भ से भी मुर्दा है। इसी तरह मिट्टी और जल के योग से बना हुआ यह संसार भी मुर्दा है, प्राणहीन है। इसमें गति नहीं है—तात्त्विक गति। इस मिट्टी और पानी के गोले को हम संसार नहीं कह सकते, जैसे प्राणहीन शरीर को हम 'जीवित' नहीं कह सकते—उसकी संज्ञा है 'शव'। पृथिवी भी मुर्दे-जैसी मननशक्ति-शून्य है।[1] आप एक पत्थर के टुकड़े को लीजिए। कलाकार उसे गढ़ना आरम्भ करता है। गढ़ते-गढ़ते एक सुन्दर मूर्त्ति का आविर्भाव होता है। मूर्त्ति के चेहरे पर हर्ष, शोक, चिन्ता, गम्भीरता आदि भावों का प्रस्फुटन होता। वे भाव पत्थर के नहीं, कलाकार के हैं, वह रूप पत्थर का नहीं, कलाकार की कला का रूप है। इसी तरह यह संसार मिट्टी का एक गोला है। कुम्हार का चाक मिट्टी को चाक पर चढ़ाता है, उसकी कलात्मक उँगलियाँ अपना काम करने लगती हैं और वह मिट्टी का गोला रूप धारण करने लगता है, वह रूप, जो उसे मिट्टी के धोंधे से अलग कर देता है, अलग उसे संज्ञा प्रदान करता है, अलग गुण प्रदान करता है, अलग मूल्य प्रदान करता है, अलग आदर प्रदान करता है। मिट्टी तो सनातन-सत्य है, किन्तु कुम्हार या कलाकार जो रूप उसे प्रदान करता है, वह कलात्मक सत्य है—कलात्मक सत्य सनातन-सत्य से सुन्दर और उपयोगी होता है। इसी तरह संसार मिट्टी का एक गोलामात्र है, किन्तु युग-युग से विचारकों के विचार इसे रूप प्रदान कर रहे हैं, गुण और गरिमा प्रदान कर रहे हैं अतः यदि हम संसार को 'विचारकों की देन' माने तो अनुचित न होगा। वेद ऐसे विचारकों को युग-निर्माताओं को अमृतपुत्र कहते हैं, (ऋग्वेद १० । १३ । १)। पत्थर का अनगढ़ ढोका कलाकार की कला का सहयोग पाकर 'देवता' बन गया, मिट्टी का लोंदा कलाकार की उँगलियों के स्पर्श-मात्र से कुछ-का-कुछ हो गया, उसी प्रकार यह संसार विचारकों के विचारों के स्पर्श-मात्र से सजीव हो गया, जीवित हो गया, सत्य, शिव, और सुन्दर से अलंकृत हो गया। निश्चय ही यदि विचारक इसका निर्माण नहीं करते, तो यह संसार कैसा होता, इसकी कल्पना भी आज हम नहीं कर सकते।

+ + + +

---

१. अथर्व, ६ । १८ । २

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च ।

'केन का ऋषि कहता है—'मेरे अंग, वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और इन्द्रियों में वृद्धि हो' ।

यह वृद्धि गुणों की वृद्धि है । इसके बाद तैत्तिरीय का ऋषि घोषणा करता है—

अहं वृक्षस्य रेरिव । कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव ।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् ।
सुमेधा अमृतोऽक्षितः ।

मैं संसार-वृक्ष का काटनेवाला हूँ (अज्ञान का उच्छेदक हूँ) । मेरी कीर्त्ति पर्वत की पीठ के समान है । मैं सूर्य के समान अत्यन्त पवित्र और शुद्ध अमृत हूँ । प्रकाश-सहित बल हूँ । सुन्दर बुद्धिवाला, अमृत और नाशरहित हूँ ।

वाणी, नेत्रादि की वृद्धि के लिए प्रार्थना कर लेने के बाद ऋषि को अपने अविनाशी-स्वरूप का बोध होता है और वह अपना परिचय देता है । यह परिचय किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, मानव-मात्र का है । इसके बाद ऐतरेय का ऋषि कहता है—

सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु ।
अवतु माम् । अवतुवक्तारमवतु वक्तारम् ॥

सत्य बोलूँ । वह (सत्य) मेरी रक्षा करे । वह आचार्य की रक्षा करे ।

सत्य से अपनी रक्षा करने की कल्पना मानव ने की और सत्य का बोध करनेवाले आचार्य की भी रक्षा करने की उसने प्रार्थना की । मानव के सामने एक आचार्य भी आया । हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जैसे-जैसे विचारों का बल और वेग बढ़ता गया, संसार प्राणमय होता गया । वह अपने आदि-युग में दहकता हुआ आग का एक भयानक गोला-मात्र था, जिसमें प्राण नहीं थे, जीवन का स्पन्दन नहीं था, जीवन का कहीं नामोनिशान नहीं था । जीवन आया तो केवल जीवन को हम जीवनहीन ही मानते रहे, यदि उसमें प्रकाश न हो, अमृतत्व न हो । यह प्रकाश और अमृतत्व विचारकों के विचारों से ही संभव हुआ, अतः यह संसार विचार-मात्र है,और कुछ नहीं । इसके बाद 'कर्म' पर ध्यान दिया गया । कर्म का प्रेरक कौन है—हम जैसा सोचते हैं, वैसा ही करते हैं । प्रकृति-प्रेरित कर्म, जैसे साँस लेना, पलकें गिराना आदि बातें इसमें नहीं हैं । कर्म की महिमा अनन्त है, यदि मानव जीवित रहना चाहता है, तो उसे ज्ञानपूर्वक, विचारपूर्वक निर्लिप्त भाव से कर्म में लगा रहना चाहिए । ईशोपनिषद् के ऋषि का कहना है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

सौ वर्ष तक यहाँ पर कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे, इसी प्रकार तुझ—मनुष्य के लिये है, अन्यथा नहीं है; ऐसा करने से मनुष्य कर्म में लिप्यायमान नहीं होता—कर्म-बन्धनों में नहीं बँधता ।

जगत् के कारण-रूप प्रकृति की उपासना से, जड़ प्रकृतिवादी बनकर कर्म करने से तमोग्रस्त हो जाने का खतरा है। कार्यरूप हिरण्यगर्भ की उपासना का परिणाम और भी भयानक होता है। अतः, अनासक्त-योग ही श्रेष्ठ है, जो मानव को बाहर और भीतर भी स्वतन्त्रता दिलाता है तथा कर्मपाश में बँधकर घुट-घुट कर मरने से रक्षा करता है।

ये सारी बातें जगत् के अन्धकार को मिटानेवाली हैं और उसके प्रकाशमय रूप को स्पष्ट करनेवाली हैं। विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि वास्तविक जगत् विचारों पर टिका हुआ विचारों का ही है, न कि मिट्टी और पानी का। यदि हम वास्तविक जगत् को जानना चाहें, दूसरे शब्दों में जगत् के सत्यस्वरूप का बोध करना चाहें तो हमारा ध्यान मिट्टी और पानी पर से हटना चाहिए, तत्त्व का अवधान करना चाहिए। हमारे इस कार्य को पूर्वकाल के विचारकों ने हल्का कर दिया है। उन्होंने विचारों की एक परम्परा अपने पीछे छोड़ दी है, उसी परम्परा की रक्षा युग-युग से संसार के विचारक करते आ रहे हैं। यदि हम कहें कि सारे संसार में आज जितने तरह के विचारों का जाल फैला हुआ है, उसका केन्द्रबिन्दु एक ही[1] है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि संसार को एक ही केन्द्रबिन्दु में कभी न कभी लय होना है, तो फिर क्यों न हम यह मान लें कि संसार की उत्पत्ति का भी एक ही केन्द्रबिन्दु है। भौतिक पार्थक्य के भ्रम में पड़ा हुआ मानव तात्त्विक पार्थक्य भी मानने लग गया है, जो तमोजनित अज्ञान का परिणाम है। बाह्य विविधता में आन्तरिक एकता स्वयम् सिद्ध है, इसके लिए तर्क देने की आवश्यकता नहीं। ईशोपनिषद् का ऋषि कहता है कि वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

यह रहस्यवादी मंत्र क्या कहता है। इस पर गहराई से विचार किया जाय, तो अच्छा।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन और जो बहुतों में एक है, वही 'पूर्ण' है। उसी पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति हुई और अन्त में पूर्ण का पूर्ण अपने में लय करके वह 'पूर्ण' पूर्ण रह जायगा—वह पूर्ण-मात्र ही शेष रहेगा। जैसे, इस जगत् का उत्पत्ति-केन्द्र एक ही है[2], जो पूर्ण है, वैसे विचारों का भी उत्पत्ति-केन्द्र वही है, जो पूर्ण है। वस्तु और स्थिति के भेद से जो अनेकरूपता हम देखते हैं, वह तो अज्ञान या माया की मरीचिका-मात्र है।

हम कह रहे थे कि यह संसार विचार-मात्र है, इसके बाद हमने यह कहा कि

१. कठ०, २।३।१
२. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद, १२

संसार की उत्पत्ति का एक ही केन्द्रविन्दु है, जो 'सत्य' है और वही विचारों का भी केन्द्र-बिन्दु है। जैसे ऋत और सत्य पर संसार टिका हुआ है, वैसे विचारों की दुनिया भी ऋत और सत्य पर ही स्थित है। समय-समय पर अमृतपुत्र धरती पर आते हैं और विचारों पर जो संस्कारों की धूल जमा हो जाती है और उसका सहज स्वरूप छिप जाता है, भ्रमोत्पादक हो जाता है, उसे झाड़-बुहार कर साफ कर देते हैं, जैसे कोई मलिन काँच साफ करके चमका दे।

जब विचारों पर अज्ञान का मल छा जाता है, तब विचारों का जगत् भी कुछ अन्धकाराच्छन्न हो जाता है, असत्य का बल बढ़ जाता है, मिथ्या को फैलने का अवसर मिल जाता है। सत्य का नाश तो होता नहीं, छिप जाता है। जैसे, धूल के बवंडर से सूर्य छिप जाता है। ऋत और सत्य की जो दो धाराएँ केन्द्रबिन्दु से फूट पड़ी थीं, वे धाराएँ विश्वमय हो गईं। सभी विचारक, चिन्ताशील व्यक्ति, संत और अमृतपुत्र इसी ऋत और सत्य की देन हैं, न कि वे अपनी कुछ खास प्रकार की कमाई ले-लेकर धरती पर आते रहे हैं। ज्ञान की, विचारों की जो परम्परा है, वह अपौरुषेय है; न तो किसी ने उस परम्परा का निर्माण किया है और न कोई उसका अन्त ही कर सकता है। ऋत और सत्य का आदि-स्रोत कहाँ है और इन दोनों परम तत्त्वों का अन्त कब होगा—यह कौन कह सकता है। ऋत और सत्य समय—काल—से भी सूक्ष्म गतिमान् हैं तथा विश्व-ब्रह्मांड को धारण करनेवाले हैं। हम कह चुके हैं कि विचारों का उद्गम-स्रोत भी यही ऋत और सत्य है[1], यही केन्द्रविन्दु है। इसीके सम्बन्धमें कठोपनिषद् के ऋषि ने कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवन्तोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ (६।१२)

यह वाणी से, मन से, नेत्रों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह 'है' (अस्तीति) के सिवा कैसे जाना जा सकता है—नहीं जाना जा सकता।

यह स्पष्ट हुआ कि इस विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का जो केन्द्र है, वही विचारों की उत्पत्ति का भी केन्द्र है। विभिन्न देश, काल और पात्रों के साहचर्य से विचारों में जो हम अनेकरूपता पाते हैं, वह 'मिथ्यात्व' के अतिरिक्त कुछ नहीं है—मूल में, 'तात्त्विक रूप' में बहुरूपता नहीं है, विविधता नहीं है, जैसे उत्तर ध्रुव में उदय होनेवाले सूर्य और दक्षिण-ध्रुव में उदय होनेवाले सूर्य दो नहीं हैं। अज्ञानवश कोई दो सूर्यों की कल्पना कर ले, तो यह उसका बुद्धि-विकार-मात्र है। एक-एक बात को हम कई-कई बार दुहरा रहे हैं, इसका कारण हमारा आत्मतोष-मात्र है।

जो उत्पन्न हो गया है, उसे फिर से कौन उत्पन्न कर सके ? अपौरुषेय ज्ञान की उत्पत्ति जब मूल-तत्त्व से हो गई, तो यह मिथ्या अहंकार है कि अमुक आचार्य ने, संत ने एक नये ज्ञान को प्रकाश में लाया है। बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि का यह स्पष्ट मत है कि—

१. ऋग्वेद, १०।१९०।१–२

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः। (३।९।२८-७)

हम यह जो देखते हैं कि युग-युग से संसार में बड़े-बड़े ऋषि विचारक आदि प्रकट होकर विचार फैला रहे हैं, वे विचार हमारी दृष्टि में उनकी देन हो सकते हैं, वे उनके 'द्रष्टा' हो सकते हैं 'स्रष्टा' नहीं। उन्होंने देश, काल, पात्र, वस्तु और स्थिति को दृष्टि में रखकर उन विचारों को लोक-सुलभ-मात्र किया है और अपनी आप्तता की मुहर उस पर लगाई है। वे अपने उच्च चरित्र और अपनी दैवी सम्पदा के कारण आप्तपुरुष माने गये, 'स्वतः प्रमाण' माने गये, उनके वचन, उनके विचार आप्त माने गये। महापुरुषों के वचन इसीलिए भ्रान्ति-रहित माने जाते हैं कि उन वचनों के कहनेवाले भ्रान्ति-रहित सन्त हैं, उनका ज्ञान विकार-रहित और दिव्य माना जाता है। ऐसे सन्तों की स्थिति विकारों से ऊपर होती है और वे जो विचार देते हैं, वे भी विकार-रहित और शुद्ध होते हैं। संसार में ऐसे सन्त आते रहते हैं और पवित्र तथा शुद्ध विचारों का प्रकाश फैलाकर, सत्य को स्पष्ट करते रहते हैं। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो विचार वे देते हैं, वे उनके अपने होते हैं। जैसा हम कह चुके हैं, सन्त सनातन-विचारों के द्रष्टा-मात्र हैं, व्याख्याता-मात्र हैं, स्रष्टा नहीं हैं। अनेक रंग की गउओं का दूध तो सुफ़ैद ही होता है[1]। संसार की मिथ्या विविधताओं के प्रपञ्च में भूला हुआ साधारण मानव उस सनातन ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकता, अतः सन्तों और अमृतपुत्रों का आविर्भाव इसी कार्य के लिए धरती पर होता रहता है, जो ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं और शुद्ध तात्त्विक विचारों का दान करते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं है। आज से दो-तीन हजार वर्ष पहले सारे संसार में बहुत-से अमृतपुत्र पधारे, जिन्होंने सत्यपूत वाणी से जनता को शुद्ध ज्ञान दिया।

यूनान में **पीथागोरस** और **अरस्तू** का आविर्भाव हुआ। चीन में **लाओत्से** और **कन्फ्यूसियस** आये। ईरान में **जरथुस्त्र** और भारत में **पार्श्वनाथ, महावीर** और **बुद्ध**-जैसे महापुरुषोंका अवतार हुआ। बुद्ध और महावीर एक ही साथ भारत में थे। ईशा से ५९८ वर्ष पूर्व मगध में चैत्र शुक्ल १३ को महावीर का शुभागमन हुआ। दोनों महात्माओं ने—बुद्ध और महावीर—एक ही समय में अपने-अपने दिव्य ज्ञान का प्रकाश भारत में फैलाया।

ये सभी महापुरुष, पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर को छोड़कर, यद्यपि अलग-अलग देशों में समय और परिस्थितियों में पैदा हुए, किन्तु जो विचार इन्होंने दिये, वे एक-जैसे ही थे। यूनानी सन्त ने जो कुछ कहा, उसीको चीनी सन्त ने भी अपने ढंग से दुहराया, अपने ढंग से कहा। जरथुस्त्र, पार्श्वनाथ, महावीर या बुद्ध के विचारों में भी वही एकरूपता है, तात्त्विक एकरूपता। इनमें से किसीने भी कोई नई बात नहीं कही और न कह ही सकते थे। ये सभी ज्ञानद्रष्टा थे, स्रष्टा नहीं। 'जिससे सब कुछ जाना जाता है उसे कोई कैसे जाने (बृहदारण्यक-२।४।१४)'। हम भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं, अतः सभी उपर्युक्त सन्तों के विचारों की समता दिखलाना हमारा लक्ष्य नहीं है। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि बुद्ध भारत में प्रकट हुए

१. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, १९

और उन्होंने जो कुछ सोचा या प्रकट किया, वह कोई मौलिक तत्त्व नहीं है—तत्त्व मौलिक हो भी नहीं सकता। वह था, है और रहेगा, वह सनातन सत्य है। आर्य-मुनियों ने—मनन करनेवालों ने—जीवन की महत्ता का साक्षात्कार अपने ज्ञान के नेत्रों से किया और उन्होंने इसे महत्त्वपूर्ण पाया। कर्म-प्रधान जीवन की विशेषताओं को उन्होंने समझा और इसे परम उपयोगी तथा दिव्य कहा। जीवन के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा और ततोधिक अनुराग पैदा हुआ। 'भौतिक सिद्धियों और आध्यात्मिक मुक्ति का साधन-स्वरूप जीवन' का उन्होंने कभी तिरस्कार नहीं किया। यह विचार न केवल आर्य-तत्त्वदर्शियों का ही था, बल्कि संसार के सभी महापुरुषों ने जीवन के प्रति अनुराग का ही प्रदर्शन अपने कार्यों, उपदेशों और वाणी के द्वारा सतत किया है। शायद कोई ऐसा विचारक और महापुरुष हो, जिसने इसके विपरीत जीवन के प्रति घृणा का सर्जन किया हो, किसी अवस्थाविशेष में ही त्यागी सन्तों ने जीवन में जघन्यता का आरोप करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि 'इसीको सब कुछ मत समझो, इससे परे भी बहुत-कुछ है, जिसकी उपलब्धि का प्रयास करना ही मानव का परम-पुरुषार्थ है[1]।' इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि जीवन को हेय माना गया, इसे तुच्छ मानकर इसकी उपेक्षा करने के लिए उत्तेजना दी गई। वेदों के ऋषियों ने जीवन को प्यार करने के लिए उत्साहित किया है[2]—प्यार, अन्धा प्यार, मूढ़तापूर्ण प्यार नहीं, सच्चा प्यार। उनका कहना है कि ऊपर उठना और आगे बढ़ना सबका कर्त्तव्य है—

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (अथर्व, ५।३०।७)

ऐसा वेद का वचन है। **स्वस्ति पन्थामनुचरेम्** (ऋ०, ५।५१।१५) कह कर यह मत स्पष्ट किया गया है कि हम कल्याण-पथ के पथिक हों और **एनो मा नि गाम्** (१०।१२८।४); यानी हम पाप में न फँसें, हमारी गति नीचे न हो, हम पतनोन्मुख न हों। इतना ही नहीं, **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजु०, ४०।२), संसार में पूरे सौ साल तक कर्म करते हुए हम जीवित रहें और हमारी संतानों का भी कल्याण हो। **शं नः कुरु प्रजाभ्यः** (यजु०, ३६।२२) और हमारी इच्छाएँ सची हों, **अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या** (यजु०, २०।१०), ऐसी कामना आर्य-ऋषियों ने हमें दी है। ये सारे मंत्र जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करनेवाले हैं। किसी भी जीव की कोई उपेक्षा न करे, सबको यथायोग्य स्नेह और आदर प्रदान करे—**मा जीवेभ्यः प्रमदः** (अथर्व, ८।१।७) तथा सब हमारे मित्र हों, अपने हों, बन्धु हों, कल्याणकारी हों **सर्वमेव शमस्तु नः** (अथर्व, १९।९।१४)—ऐसी कल्पना दी है, जिसे बुद्ध 'मैत्री-धर्म' कहते हैं—सभी जीवों के प्रति मैत्री-भावना, किसी के प्रति उपेक्षा, घृणा या वैर नहीं।

---

१. 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।'—ऋग्वेद, मं० १, सू० १२९
अर्थात्—ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ कीं और किसने नहीं कीं, यह सब वे ही जानें, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है कि वे सब नहीं भी जानें।

२. तैत्तिरीयोपनिषद्।

बुद्ध की मैत्री-भावना की कल्पना वेदों के ऋषियों ने की थी—हम यह नहीं कहना चाहते कि बुद्ध की मैत्री-भावना नई चीज नहीं है। हम तो यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार के सभी विचारक एक ही केन्द्रबिन्दु से विचार प्राप्त करते हैं, अभिव्यक्ति में भले ही बहुरूपता हो और ऐसा होना सम्भव भी है।

हाँ, तो हम कह रहे थे कि आर्य-विचारकों ने जीवन के प्रति स्नेह पैदा कराय है और उसे अधिक-से-अधिक पवित्र और कर्मशील बनाने का भी प्रकाश दिया है। नीरोग और पराक्रमी बनकर ही धरती पर रहने की कल्पना आर्य-ऋषि देते हैं, रोगी और काहिल या कायर बनकर नहीं। हमारी उन्नति ही संसार के अस्तित्व को उन्नत बनानेवाली है—**अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः** (अथर्व, ५।३।५)। पाप और मृत्यु की उपेक्षा करके ही मानव ऊपर उठ सकता है, मानव-जीवन की चरम सफलता पाप और मृत्यु का दमन करना है—**मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः** (अथर्व, १७।१।२९)। मृत्यु-भय से मुक्त होना ही मृत्यु से मुक्त हो जाना है। जब मानव कहता है कि—**पश्यं गोपामनिपद्यमानम्** (ऋ०, १०।१७७।३०) आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, तब वह मृत्यु-भय से छुटकारा पा जाता है। इतना ही जान लेना काफी नहीं है, हमारे भीतर जो अंश जन्मरहित है, आत्मा है, उसे भी प्रकाश से भर देना है, तेजस्वी बनाना है—**अजो भागस्तपसा तं तपस्व** (ऋ०, १०।१६।४), तेजस्वी आत्मा ही जीवन को प्रकाशमय करने में समर्थ होगी। वह तेजस्वी आत्मा क्या है—जो अग्नि में स्थित होकर अग्नि के भीतर है, जिसको अग्नि नहीं जानती, जिसका अग्नि शरीर है, जो अग्नि के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है (ऋत और सत्य के बन्धन में बाँध कर रखता है), वही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है—

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं।
योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥

—बृहदारण्यक ३।७।५

इस आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, वह नाशवान् है (बृह०, ३।७।२३), किन्तु यह आत्मा न प्रवचन, न बुद्धि और न बहुत सुनने से प्राप्त होता है—**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन** (कठ०, १।२।२३)।

इसे सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी देख सकते हैं—जान सकते हैं—**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** (कठ०, १।३।१२)।

ये सारी बातें जो हम निवेदन कर रहे हैं, जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करनेवाली हैं, जीवन के गूढ़तम रहस्यों पर प्रकाश डालनेवाली हैं, न कि घृणा पैदा करनेवाली! आर्य-विचारकों ने जीवन को, जगत् को, कभी हेय दृष्टि से नहीं देखा और न इसके विरोध में 'जेहाद' का ही नारा लगाया। वे गहराई से समझने और देखने की प्रेरणा देते हैं, बहुरूपता में एकता का बोध कराते हैं। आर्य-विचारकों के मत से यह सारा विश्व-प्रपंच ईशमय है। वही देखने, छूने, सुनने, सूँघने, चखने, मनन करने, जाननेवाला है। वही कर्त्ता है, विज्ञान-स्वरूप है, पुरुष है, ऐसा कहा गया है—

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता।
मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः॥
—प्रश्नोपनिषद्, ४।९

जब सब कुछ वही विज्ञानात्मा पुरुष है और हम निमित्तमात्र हैं, तब फिर कोई कारण नहीं कि हम संसार में, जीवन से घृणा करें और संसार को तथा जीवन को हम, त्याज्य और दुःखों का घर मानें? हमारे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में सफलता रक्खी हुई है—**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सत्य आहितः** (अथर्व, ७।५२।८)। तो फिर कोई कारण नहीं कि पुरुषार्थ का त्याग करके जीवन और जगत् का हम तिरस्कार करें। आर्य-विचारक कभी ऐसी उलटी बात नहीं कहते। वे कमर कसकर उठ खड़े होने के लिए प्रेरणा देते हैं, किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि तुम्हारा यह उद्यत होना ज्ञान-पूर्ण हो, सब कुछ समझ-बूझकर हो[१]। पशुओं की तरह प्रकृति-प्रेरित धर्म निबाहना मानव का काम नहीं है। श्रेष्ठत्व को अधिकृत करता हुआ मानव मिलजुल कर प्रीति-पूर्वक अपना-अपना विकास करे। कभी विलग न हो, एक साथ मिलकर (जीवन के) भारी बोझ को (सफलतापूर्वक) खींचे, खींच कर ले चले। मीठे वचन और प्रेमीजनों के साथ रहने की प्रेरणा वैदिक ऋषि देते हैं— (**अथर्ववेदीय संज्ञान-सूक्त—पैप्पलाद-संहिता ५।१९**) श्रेष्ठत्व अधिकृत करना, एकत्व स्थापित करना तथा मैत्री-धर्म का निर्वाह करना—ये तीन बातें ऐसी हैं, जो जीवन को सुन्दरता प्रदान करती हैं, विकारों से बचाती हैं। श्रद्धा का जीवन में कम महत्त्व नहीं है; क्योंकि जीवन के प्रति श्रद्धा होना आवश्यक है। यह श्रद्धा सम्पत्ति (दैवी-सम्पदा) के सिर पर रहती है—**श्रद्धा भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि** (अथर्व १०म मंडल, १५१वाँ श्रद्धासूक्त द्रष्टव्य) ऐसा आर्य-विचारकों का निश्चित मत है। श्रद्धापूर्वक नियत कर्मों को करना ही पुरुषार्थ है, न कि अश्रद्धापूर्वक।

आर्य-ऋषियों के वचनों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उनके सामने प्रकाशपूर्ण जीवन का एक पूर्ण चित्र था और उस चित्र को जन-जन के मन में उतारने का प्रयत्न आर्य-ऋषि युगों तक करते रहे। उन्होंने अश्रद्धा का, घृणा का, बिलगाव का और भय का कभी प्रचार नहीं किया[२]। यदि वे ऐसा करते, तो आज मानव-समाज का अत्यन्ताभाव हो गया होता—धरती विराट् कसाईखाना और नरक बन कर समाप्त हो जाती। इसका भौतिक रूप भले ही रह जाता, किन्तु प्राणहीन भौतिक रूप का क्या महत्त्व रहता। यह धरती एक प्रकांड लाश की तरह आकाश के बीच में हवा पर तैरती होती तथा मानव या तो समाप्त हो जाता या फिर अपने आदिम युग में पहुँचकर अपने पुराने साथी पशुओं के बीच में, उन्हीं की तरह जीवित रहता। इसके बाद आर्य-विचारकों ने, ऋषियों ने, यह बतलाया कि मानव हठात् धरती पर नहीं आ गया। यह पूर्वनियोजित क्रम की एक कड़ी है। हम यहाँ आते हैं और लौट कर जाते हैं। न खाली हाथ हम आते ही हैं और खाली हाथ जाते

---
१. महाभारत, उद्योग०, अ० ३३, श्लो० १६, १७

२. महाभारत, उद्योग०, अ० ३७, श्लो० ४०,४१

ही हैं। संस्कार, कर्म-बन्धन आदि बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जिन पर विचार करने का तो यह स्थान नहीं है, किन्तु धुँधला-सा आभास दे देना हम उचित मानते हैं ।

धरती पर हम जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म ज्ञान या अज्ञान के वश में करते हैं, उसकी तन्मात्राएँ अक्षय होती हैं तथा हमारे साथ लगी होती हैं—कर्म का फल तो अक्षय होता ही है। मनुष्य इस लोक में जो कुछ कर्म करता है, परलोक में उनका फल समाप्त करके उस लोक से फिर इस लोक में कर्म करने आता ही है—

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥

—बृहदारण्यक, ४।४।६

विद्या और कर्म साथ-साथ जाते हैं—**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**, ऐसा वचन (बृहदारण्यक०, ४।४।२) भी मिलता है और यह तो स्पष्ट ही है कि जो जैसा कर्म करनेवाला है, जैसा आचरणवाला है वह वैसा ही हो जाता है—**यथाकारी यथाचारी तथा भवति** (बृहदा०, ४।४।५)। शुभ कर्मों का फल ऊर्ध्व-गमन है और नीच कर्मों का परिणाम अधोगति—**एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते** (कैशी० ३।९)।

और जो मनुष्य विद्या और कर्म इन दोनों मार्गों के साधनों में से किसी एक भी साधन से युक्त नहीं होता, वह क्षुद्र प्राणी बार-बार लौटता है—मरता है—जन्म ग्रहण करता है और फिर मरता है। जन्म-मरण का दुष्टचक्र उसे फँसाये रहता है; त्राण लेने नहीं देता—

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि,
क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति।

—छान्दोग्योपनिषद्, ५।१०।८

आर्य-विचारक जीवन की सीमा को अनन्त रूप प्रदान करते हैं। वह सीमा केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं रहती, ऊपर उठती हुई अनन्त बन जाती है। ऐसा जीवन, जो भौतिक सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद आध्यात्मिक मुक्ति का अधिकारी बन जाता है, हेय नहीं कहा जा सकता, उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। मानव अशेष शक्तियों और अधिकारों के साथ धरती पर आया है—वह अपने भविष्य का स्वामी है, वर्त्तमान का नायक है। वह जैसा चाहे बन सकता है—'बुद्ध' भी और 'देवदत्त' भी ! आर्य-विचारकों ने मानव को उसकी शक्तियों का बोध कराया है। उसे सावधान किया है और बतलाया है कि वह यदि चाहे, तो ईश्वरत्व भी प्राप्त कर सकता है।

जन्म और मरण के बीच का भाग जीवन है। जीवन का पहला द्वार जन्म है और अन्तिम द्वार मरण। केवल जन्म और मरण के मामले में मानव कुछ असमर्थ-सा नजर आता है, इच्छा-जन्म और इच्छा-मरण सब के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु

सम्भव है। जन्म के बाद से मरण के पहले तक का जो भाग जीवन के नाम से पुकारा जाता है, उसका स्वामी कौन है। मानव ही उसका स्वामी है—ऐसा मत आर्य-विचारकों का है। जन्म ग्रहण करनेवाले शिशु को लक्ष्य करके यजुर्वेद (७।२९) के ऋषि ने कहा है कि—"तू कौन है, तेरा नाम क्या है ? तू बड़े नामवाला (कीर्त्तिमान्, विख्यात, यशस्वी) हो और पृथ्वी से अन्तरिक्ष और द्यौ तक पूजा और पोषण के साथ बढ़।"

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो सुपोषः पोषैः॥

पृथ्वी से अन्तरिक्ष और द्यौ[1] (प्रकाश) तक शिशु के बढ़ने की कामना की गई है, यह बढ़ना उसका शारीरिक विस्तार नहीं माना जा सकता। हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों मील का लम्बा-चौड़ा शरीर हो नहीं सकता, फिर पृथ्वी से अन्तरिक्ष और द्यौ तक किसके विस्तार की बात कही गई है ? यह है मानव की उन अजेय शक्तियों का विस्तार, जो वह अपने साथ लाया है। शिशु कल कर्म-भूमि पर पदार्पण करेगा और अपना निर्माण स्वयम् करने का शुभ प्रयास करेगा। उसीके लिए यह शुभ कामना है कि तू पृथ्वी से अन्तरिक्ष और द्यौ तक फैल जा, सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने विस्तार से भर दे। साढ़े तीन हाथ के इस मरणधर्मा मानव के सम्बन्ध में कितनी उदात्त कामना वैदिक विचारकों ने की है। क्या वह मानव या उसका जीवन हीन हो सकता है, घृणित और उपेक्षणीय माना जा सकता है ? जो मानव धरती से ऊपर उठता हुआ सारे लोक-परलोक को आच्छन्न कर सकता है, क्या वह मानव घृणित है ? उसका जीवन हेय कैसे माना जा सकता है ! इसी जन्म पर नहीं, जन्मान्तर पर भी मानव का अधिकार माना गया है। वह उस परा-शक्ति को भी अपने भीतर ग्रहण कर लेने की शक्ति रखता है, जो सब भूतों का अधिपति है, जिसमें सब लोक ठहरे हुए हैं, श्रेष्ठों का भी श्रेष्ठ स्वामी है। उस परमात्मा को भी मानव अपने भीतर ग्रहण कर लेने की घोषणा करता है—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्[2]॥

—यजुर्वेद, २०।३२

समस्त भूतों के अधिपति और जिसमें सब लोक (ऋत और सत्य) स्थित हैं, उस परम-आत्मा को, ईश को, मानव जब अपने भीतर ग्रहण कर लेता है, तो वह स्वयम् क्या बन जाता है, यह आप ही सोचिए, हम क्या कहें। ऐसे मानव को, मानव-जीवन को, हीन कैसे कहा जा सकता है, यह बात समझ में नहीं आती। वैदिक आर्यों ने, विचारकों और ऋषियों ने मानव को, उसके जीवन को अनन्त शक्तियों का भाण्डार

१. प्रकाश-लोक।
२. अगले मंत्र में 'द्यौ' शब्द आया है। यह द्यौलोक सूर्य से ऊपर स्थित है—'सूर्येणोत्तमिता द्यौः', ऋग्वेद, १०।८५।१-२ द्रष्टव्य।

माना है और बार-बार यह बतलाया है कि जागो, उठो और अपने-आप को पहचानो। अपने को पहचान लेने के बाद कर्म में लग जाओ। तुम्हारी शक्ति अनन्त है, अशेष है, अजेय है, अतुलनीय है। सारा आर्य-वाङ्मय इस बात का साक्षी है। हम तो यहाँ पर स्थाली-पुलाक-न्याय से अनन्त सागर के जल की एक क्षुद्र बूँद ही उपस्थित करने का साहस कर रहे हैं। इससे अधिक प्रयास करने की हममें क्षमता का भी अभाव है और स्थान की भी कमी है। हाँ, हम तो यही कह रहे थे कि यह जगत् विचारों का है। विचार (ज्ञान) अपौरुषेय है। जो भी अमृत-पुत्र या विचारक धरती पर आये, वे अपनी ओर से कुछ न कहकर उसी सनातन ज्ञान-गंगा से अपना कमण्डलु भरे आये और उससे धरती को पवित्र किया। मानव का जीवन महान् है, मानव महान् है। वह धरती से अन्तरिक्ष और द्यौ तक अपना विस्तार कर सकता है; ईश को भी अपने भीतर धारण कर सकता है, जिसने सारे लोकों को धारण कर रखा है। मानव जैसा सोचता है, चाहता है, वैसा ही हो जाता है, हो सकता है। उसके कर्मों का प्रभाव असीम है, अक्षय है, अतः जीवन हेय नहीं, घृणित नहीं, उपेक्षणीय नहीं है। जीवन को लेकर ही सब कुछ करना है, फिर उसे गंदा कैसे मानें।

इन्हीं बातों पर और कुछ इसी सम्बन्ध की बातों पर हम विचार कर रहे थे। हमने यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह जगत् विचारों का है तथा विचारों को बाद दे देने से जो स्थूल जगत् बच जाता है, वह मुर्दा है, प्राणहीन और मनन-शक्ति से शून्य है। हम मानव और मानव-जीवन के सम्बन्ध में आर्य-विचारकों का एक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं। आर्य-विचारक यहीं पर नहीं रुके। उन्होंने ईश की अर्थपूर्ण कल्पना की, जिसमें उसे विराट् रूप में दिखलाया गया है। ऐसे विराट् पुरुष के हजारों सिर, हजारों हाथ, हजारों पाँव हैं और आँखें भी हजारों हैं (ऋग्वेद, मं० १० का 'पुरुषसूक्त')। वह विराट् पुरुष एक ईश (स्वामी) है, जो समस्त भूमि को घेर कर, सब का अधिष्ठाता बन कर रह रहा है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

यहाँ **दश-अङ्गुलं** ऐसा आया है, जिसका अर्थ हमने दस इन्द्रियों के क्षेत्र का **(अति)** अतिक्रमण करके **(अतिष्ठित्)**, अधिष्ठाता होकर रह रहा है, किया है। दस इन्द्रियों का विषय होनेवाली सृष्टि, जिसका ग्रहण दस-इन्द्रियों से होता है, हमने मानी। नाक, जीभ, नेत्र, त्वचा, कान, हाथ, पाँव, मुख, शिश्न, गुदा—इन दस इन्द्रियों का व्यवहार जिससे होता है, अथवा आप दो नाक, दो नेत्र, दो कान, एक जीभ, त्वचा, मन और बुद्धि ऐसा ही मान लें।

अथर्व (१९।६।१) में भी **सहस्रबाहुः पुरुषः** ऐसा पाठ है, जिसका तात्पर्य होता है—'जिसके हजारों बाहु हैं।' **'शीर्षा'** के स्थान पर अथर्व ने **'बाहु'** पद देकर अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। ऋग्वेद और अथर्व के मंत्रों की अर्थ-संगति बैठती है। सिर से 'विचार' और 'बाहु' से कर्म का बोध कराया गया है। हम इस मंत्र से

'जनता-जनार्दन' की कल्पना करते हैं। समष्टि के रूप में विश्वनियन्ता ही है—ऐसा हमारा मत है, जिसका समर्थन वेदों से ही होता है। यदि मंत्रस्थ पदों का अर्थ करें, तो इस प्रकार होगा—

१. **सहस्र**—हजारों, लाखों, असंख्य।

२ **पुरुषः**—(**पुरि-शयः**)=पुरी—नगरी में (**शयः**) सोनेवाला। पुरि=शरीर में, शयः=रहनेवाला आत्मा, परमात्मा, प्रकृति में सर्वत्र व्यापनेवाला पुरुष।

३. **भूमिः**—पृथ्वी, प्रकृति।

४. **विश्वतः**—सर्वत्र, सब ओर से।

५. **वृत्वा**—घेर कर।

६. **अत्यतिष्ठत्**—(अति+अतिष्ठत्) नियमन करता है, अधिष्ठाता है, परे ठहरा हुआ है, उल्लंघन करता है।

७. **दश-अङ्गुलम्**—दस इन्द्रियों की होनेवाली सृष्टि, जिसका ग्रहण दस इन्द्रियों से होता है। नाक, मुख, कान, आँख, जीभ, पैर, हाथ, त्वचा, शिश्न और गुदा, इन दस इन्द्रियों का व्यवहार जिसमें होता है, अथवा यों भी कह सकते हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक जीभ, चमड़ी, मन और बुद्धि—ये भी दस इन्द्रियाँ ही हैं।

यह पुरुष कौन है ? यह विराट् रूप है जनता-जनार्दन का। व्यक्ति के सम्बन्ध में आर्य-ऋषियों ने सुभाषित कहे हैं, ऐसी कल्पना दी है, जो मानव की महत्ता को प्रकाकरती हैं, किन्तु समष्टि—जनता-जनार्दन—की कल्पना भी उनकी अमूल्य देन है। हजारों सिरों और हाथोंवाला विराट् पुरुष आपके सामने है। यह देखना अब बाकी रहा कि वे सभी हाथ, पैर, आँखें, जीभ, मुख आदि एक साथ कैसे काम करते हैं—यदि ऐसी बात न हो, तो फिर विराट्-पुरुष का विराट्त्व ही समाप्त हो जायगा। संसार में करोड़ों-अरबों मानव हैं। सभी सिर, हाथ, पैरवाले हैं, फिर सबको मिलाकर यदि कोई एक विराट् पुरुष की कल्पना हमें देता है, तो इससे जोरदार राष्ट्रीय संगठन की दूसरी तसवीर हो ही नहीं सकती। ऋषि का कहना है—

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीं संवननेन सहृदः।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सुसमितिर्वोऽस्तु॥

यह मंत्र **पिप्पलाद-संहिता** का है। इस मंत्र के मंत्रस्थ पदों को इस तरह हम समझें—

१. **एकश्नुष्टिः**—एक संघ में रहनेवाले, एक नेता के अनुयायी (**श्नुष्टिः=राशि, संघ, नाप**)।

२. **संवननं**—(सं=एक होकर वननं=सेवन) एक होकर सेवा करना, परस्पर प्रेम से, ऐक्य भाव से सहायता करना। **वन संभक्तौ**; वन=सम्यक् भक्ति, सम्यक् सेवा, योग्य सहायता करना।

३. **सौमनसः**—उत्तम मन का होना।

४. **सहृदः**—सहृदय, समहृदय के भाववाले।

५. **सुसमितिः**—उत्तम सभा, उत्तम एक भाव का संगठन।

आप सब परस्पर सहायता करते हुए प्रेम कीजिए, एक कार्य में लग जाइए, एक विचार मन में रखिए, एक संगठन में रहिए, मन में उत्तम विचार धारण कीजिए। ऐसा करने से आप ऐसा बनेंगे जैसा अमृत (= **मोक्ष**) का रक्षक (**परमात्मा**)।

पिप्पलाद-संहिता से विराट् पुरुष का तत्त्वार्थ स्पष्ट होता है। अवयवों का धारण करनेवाला अवयवी है, उसी तरह विराट् पुरुष भी अवयवी है। अवयवी की हम कल्पना ही कर सकते हैं, उसे देख नहीं सकते। देख सकते हैं, केवल अवयवों को ही; उसी तरह हजारों सिरों, आँखों आदि अवयवों का धारण करनेवाला विराट्-पुरुष है, राष्ट्र है, जिसकी कल्पना तो हम कर सकते हैं, किन्तु देख नहीं सकते। अवयवों से अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि होती है, उसी तरह जन-समूह से विराट् पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

ऊपरवाले मंत्र के ऋषि ने विराट्-पुरुष के एक संगठित रूप का चित्र दिया है। विराट् पुरुष के हजारों-लाखों-करोड़ों-अरबों अवयवों के संगठन का आधार क्या हो, उसपर प्रकाश डाला है। जैसे, हमारे अवयव प्रकृति के द्वारा जुड़े हुए हैं, वैसे विराट् पुरुष के अवयव विविध गुणों के आधार पर जुड़े हैं। वे गुण कौन-से हैं, हम जरा विस्तार से कहने को उत्सुक हैं। ऋषियों के विचारों के कुछ नमूने हम यहाँ दे रहे हैं—

१. **वः सहृदयं**—आपका पारस्परिक प्रेम हो।
२. **वः समनस्यं**—सबका उत्तम समान भाववाला मन हो।
३. **अन्यो अन्यं अभिहर्यत**—एक-दूसरे से प्रेम करो।
४. **पुत्रः पितुः अनुव्रतः भवतु**—पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करनेवाला हो।
५. **पुत्रः माता समनाः भवतु**—पुत्र माता के साथ अपना मन मिलाकर रखे।
६. **जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु**—पत्नी पति के साथ (परस्पर) मीठा व्यवहार और भाषण करे।
७. **भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**—भाई भाई से द्वेष न करे।
८. **स्वसा स्वसारं मा द्विक्षत्**—बहिन बहिन से द्वेष न करे।
९. **भ्राता स्वसारं मा द्विक्षत्**—भाई बहिन से द्वेष न करे।
१०. **स्वसा भ्रातरं मा द्विक्षत्**—बहिन भाई से द्वेष न करे।
११. **समञ्चः सव्रता भूत्वा**—एक होकर एक कार्य करो।
१२. **भद्रया वचं वदत**—कल्याणमयी वाणी बोलो।
१३. **येन न वियन्ति, नो च विद्विषते तत् संज्ञानं ब्रह्म**—जिससे न तो विरोध होता है और न द्वेष बढ़ता है, उसका नाम सम्यक् (ब्रह्म) ज्ञान है।
१४. **गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं**—घर से सब मनुष्यों को उत्तम ज्ञान देना चाहिए।
१५. **ज्यायस्वन्तः**—श्रेष्ठ सत्पुरुषों के साथ रहो।
१६. **चित्तिनः**—उत्तम विचारवाले बनो।
१७. **संराधयन्तः**—मिलकर एक कार्य करो।

१८. **मा वि यौष्ट**—विभक्त मत हो।

१९. **सधुराः चरन्तः**—धुरी के स्थान पर रहो। अपना संतुलन ठीक रखो, सर्वोत्तम स्थान पर रहो।

२०. **अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त**—एक-दूसरे के प्रति मीठा संभाषण करो।

२१. **वः समानी प्रपा**—आपके जल-पान का एक ही स्थान हो।

२२. **वः सह अन्नभागः**—मिल-जुलकर भोजन करो।

२३. **समाने योक्त्रे सह वः युनज्मि**—एक ही कार्य में सबको साथ-साथ संलग्न करता हूँ, लगाता हूँ।

२४. **सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् सर्वान् वः कृणोमि**—मैं आपलोगों को एक ही कार्य में रत, एक मनवाले, एक संगठन में रहनेवाले बनाता हूँ।

वैदिक ऋषियों ने जिस विराट् पुरुष की कल्पना की थी, उस विराट् पुरुष की स्थिति को सुदृढ़ करने के जिन उपायों का वर्णन किया है, वह हमारे सामने है। **'सधुराः चरन्तः'** पर हम आपका ध्यान दिलाते हैं। चक्के में धुरी होती है, फिर छड़ें होती हैं और ऊपर से चक्र होता है—आप 'अशोक-चक्र' देखिए। 'सुधराः चरन्तः' कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ऐसी सकारण-कामना होनी चाहिए कि वह 'धुरी' में ही रहने के लिए जोर मारे। यह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण बात है कि राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य श्रेष्ठता की ओर ही कदम बढ़ानेवाला हो, पिछड़नेवाला या जान-बूझकर अपने को बचाकर रखनेवाला न हो, अपनी शक्तियों को चुराकर राष्ट्र को उसके लाभ से वंचित करके, पाप कमानेवाला पतित न हो। पूरी-की-पूरी जनशक्ति का उपयोग राष्ट्र के हित में हो। विराट् पुरुष और फिर उसके विराट्त्व का पूरा परिचय इन उद्धरणों से मिल जाता है। इसके बाद वैदिक ऋषि कहता है—

२६. **'वः सायं प्रातः सौमनस अस्तु'** सबेरे, शाम आपका मन उत्तम रहे। मतलब यह कि दिन-भर तो कार्य-व्यस्त रहना है। जब प्रातः या संध्या समय कार्य-निवृत्त होकर आपलोग आपस में मिलें, तो उत्तम-मन और प्रसन्न-वदन मिलें, अवसाद या खिन्नता का प्रवेश आपके जीवन में न हो।

ये मंत्र अथर्व ३।३०।१-७, पिप्पलाद ५।१८। १-७ के हैं।

ऋग्वेद (१०।१९१।१-४) के कुछ मंत्र हम उपस्थित कर रहे हैं। इन मंत्रों से स्पष्ट होता है कि विराट् पुरुष 'समष्टि' ही है। सबको, सबके हित के लिए जीना है, काम करना है, सोचना है, विकास करना है—विना भौतिक सिद्धि प्राप्त किये आध्यात्मिक मुक्ति संभव नहीं है। भौतिक सिद्धि तबतक प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक हम उच्च स्तर पर, एक मन-प्राण होकर, सबको अपना समझते हुए—सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपना ही रूप मानते हुए, सबमें अपनी स्थापना न कर लें। आर्य-ऋषियों ने साफ-साफ कह दिया है कि पलायनवादी जीवन, सबसे खींचकर अपने को अलग कर लेने की भावना, जीवन के प्रति कृतघ्नता है, विश्वासघात है। कृतघ्न और विश्वासघाती को शान्ति कहाँ, सुख कहाँ ?

सं गच्छध्वं सं वद्ध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

१. **सं-गच्छध्वं**—सब मिलकर चलो, मिलकर उद्योग और पुरुषार्थ करो ।

२. **सं-वद्ध्वं**—मिलकर वार्त्तालाप करो । आपस में बराबर मिलते रहो—सलाह करते रहो (समानो मन्त्रः समितिः समामी) ।

३. **सं-जानतां**—मिलकर, एक होकर, सम्यक् रीति से जानो, ज्ञान-वृद्धि करो, जिससे जानकारी में विविधता न हो, गलतफ़हमी न फैले ।

४. **देवाः**—दैवी सम्पत्ति से युक्त लोग, दिव्य जन, व्यवहार करनेवाले लोग । (दैवी सम्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए 'गीता' देखें) ।

५. **भागः**—'कर्त्तव्य का भाग' ऐसा अर्थ करना हम उचित समझते हैं ।

६. **सं-जानानाः**—एक होकर (सम्यक् रीति से) कर्त्तव्य-पालन करनेवाले ।

७. **उपास्**—समीप बैठना, मिल-जुलकर बैठना, एक होकर काम करना ।

भावार्थ हुआ—मिलकर चलो । मिलकर संभाषण करो, सब विचारों को (सही-सही) जानो, सबकी एकता विचार-उच्चार-आचार में करो । जैसे प्राचीन ज्ञानीजन अपना कर्त्तव्य एक होकर करते थे, वैसे ही तुम भी अपने कर्त्तव्यका एक होकर पालन करो ।

एकता पर वैदिक ऋषियों ने बहुत जोर दिया है । जिस विराट् पुरुष की कल्पना उन्होंने की थी, उसका अस्तित्व ही एकत्व पर है—यदि देश के, राष्ट्र के सभी अङ्ग अलग-अलग हो जायँ, तो न देह अस्तित्व में आवेगा और न 'देही' का ही कहीं स्थान रह जायगा । देह बन जाने के बाद ही देही का आविर्भाव होता है—शरीर ही नहीं है, तो शरीरी कहाँ से आया । जब देश के सभी अङ्ग एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य करने योग्य बन जायँगे, तभी विराट् पुरुष का आविर्भाव सम्भव है, जो संगठित राष्ट्र-रूपी शरीर का शरीरी है, संगठित राष्ट्ररूपी अवयवों को धारण करनेवाला वह अवयवी है—विराट् पुरुष ! यही कारण है कि आर्य-ऋषियों ने एकता को अत्यन्त महत्त्व दिया है; क्योंकि **'ऋत'**[1] और **'सत्य'** को स्थायी रूप से जोड़कर ही राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। ऋत और सत्य को यदि अलग-अलग रखा जाय, दोनों को एक-दूसरे का पूरक न बनाया जाय, तो फिर न तो हम राष्ट्र की कल्पना कर सकते हैं और न विराट् या विराट् पुरुष की । ऋषि का वचन है—

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ।

मंत्रस्थ पदों का अर्थ इस प्रकार कीजिए—

१. **समानः**—सब के लिए एक जैसा ।

१. अथर्व, ८।९।१३; ऋग्वेद, १०।१९०।१-२

२. **समितिः**—सभा (ग्राम-सभा, शासन-सभा, धर्म-सभा, न्याय-सभा, यानी पंचायत आदि)।

३. **चित्तं**—चित्त, मन।

४. **मंत्रः**—विचार, ध्येय, निश्चित मत।

५. **सह**—साथ-साथ रहनेवाला।

६. **हविष्**—अन्न, हवन-पदार्थ, पूजा करने का साधन।

७. **जुहोमि**—(हु-दानादानयोः) देना, लेना, अर्पण करना, यज्ञ करना।

भावार्थ हुआ—सब का विचार सबके लिए समान हो, सब की सभा सबके लिए समान हो, सबका मन समान (**मनः समान**) हो, सबका चित्त (**एषां चित्तं**) साथ-साथ समान हो, सब के लिए एक ही समान विचार मैं निश्चयपूर्वक देता हूँ। आप सबको मैं एक ही हवि द्वारा हवन करने का (यज्ञ करने का, शुभ कर्म करने का) आदेश देता हूँ।

स्वर्ग और पृथिवी पर भटकनेवाले चंचल मन को स्थिर करके उत्तम कार्यों में, श्रद्धापूर्वक लग जाने का आशीर्वाद वैदिक ऋषि देते हैं। नाना प्रलोभनों में फँसा हुआ मन कहीं टिकता नहीं, हम धरती से उछलकर स्वर्ग के दरवाजे खटखटाने जाते हैं, यह आलसी या विफल मन का लक्षण है। आर्य ऋषि यह कभी नहीं चाहते थे कि धरती की, जीवन की उपेक्षा करके हम स्वर्ग की ओर निहारा करें या धरती पर भी रहें, तो नाना प्रलोभनों में फँसकर उद्देश्यहीन की तरह मारे-मारे फिरें। जबतक हमारे भीतर निष्ठापूर्वक स्थिरता नहीं आती और जीवन के महत्त्व तथा मर्म को समझ कर उसे अपनाते नहीं, तबतक स्वर्ग, मुक्ति, निर्वाण आदि के चक्कर में फँसना भारी पराजय है, विफलता और उद्देश्यहीनता है। हम यहाँ एक मंत्र (ऋग्वेद, १०।५८।१-१२) उपस्थित करते हैं। इस मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक-ऋषि ने दूर द्युलोक और पृथिवी पर मारे-मारे फिरनेवाले मन को मनुष्य के भीतर स्थिर कर देने की बात कही है, जिससे वह शान्त, विचारवान्, स्थिरमति, एकनिष्ठ होकर कर्त्तव्य-कर्म में लग जाय, बेकार इधर-उधर धक्के खाता न फिरे—स्वर्ग से पृथिवी तक। जीवन विफल हुआ, तो स्वर्ग भी शून्य हो जायगा।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥

(**यत् ते मनः**) जो तेरा मन (**दूरकं दिवं**) दूर द्युलोक तक, (**यत् पृथिवीं जगाम**) पृथिवी तक भटकता फिरता है, (**तत् ते**) उस मन को तेरे पास, (**इह क्षयाय जीवसे**) जहाँ तेरा निवास हो और तू जीवित रह, इसलिए (**आ-वर्त्तयामसि**) हम वापस लाते हैं।

मंत्रस्थ पदों को हम इस तरह समझें तो अर्थ और स्पष्ट हो जायगा—

१. **दिवं—(द्यौः दिव्)** स्वर्ग, आकाश।

२. **पृथिवी**—धरती, भूमि।

३. **क्षय**—निवास। (**क्षयो निवासे-पाणिनि ६।१।२०१**)।

४. **जीवसे**—जीवन, दीर्घ-जीवन, दीर्घायु।

जहाँ हम रहें, जहाँ हमारा निवास हो, जहाँ हम जी रहे हों, वहीं हमारा मन भी होना चाहिए, उसी जगह से हमारा लगाव भी होना चाहिए। जीवित रहने की जगह धरती है, न कि 'द्यु-लोक'! द्यु-लोक तो शरीर त्याग करके ही शायद कोई जाय, फिर अभी से उस की चिन्ता क्यों? अभी तो हम अपने मन को वहीं टिकावें, जहाँ रहकर हमें जीना है, कर्म करना है और स्वर्ग-प्राप्ति नहीं, स्वर्ग-विजय की तैयारी करनी है।

इन मंत्रों से यह अच्छी तरह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि कभी नहीं चाहते थे कि जीवन उपेक्षित रहे, जीवन के प्रति हम उदासीन रहे, उससे घृणा करें, उसे बुरा समझें और संसार का सत्यानाश कर डालें। वैदिक ऋषि यह कभी नहीं पसन्द करते थे कि संसार को हम नरक समझें और अपनी उपेक्षा और अन्यमनस्कता के चलते इसे साक्षात् नरक ही बना डालें। विना धरती से घृणा किये भी, विना जीवन से घृणा किये भी, मानव स्वर्ग का स्वामी जब बन सकता है, तब क्यों जीवन को काँटों का जंजाल बनाकर हम जबतक जीवित रहें, रोते और कराहते रहें, सबसे हम घृणा ही रखें। वैदिक ऋषियों के सामने जीवन का एक उज्ज्वल चित्र था, धरती की एक मनोरम कल्पना थी। वे चाहते थे कि धरती को ही स्वर्ग बना डाला जाय, स्वर्ग जाने की या स्वर्ग की चिन्ता करने की ही आवश्यकता नहीं है। कर्म में इतना बल है कि वह धरती को स्वर्ग क्या, स्वर्ग से भी अधिक सुखमय बना सकता है। मानव की श्रेष्ठता का वर्णन करके ऋषियों ने उसके भीतर की अजेय शक्तियों को स्पष्ट किया, फिर मानव-समुदाय को एक सूत्र में पिरोकर विराट् पुरुष की उन्होंने कल्पना की और अन्त में कहा कि अरे मानव, अपने द्यु-लोक तक मारे-मारे फिरनेवाले मन को वहाँ टिका, जहाँ तू रह रहा है, जहाँ जी रहा है, जो तेरी कर्म-भूमि है।

यदि आर्य-वाङ्मय का सम्यक् रीति से मनन किया जाय, तो एक भी प्रमाण ऐसा नहीं मिलेगा, जिससे जीवन के प्रति कृतघ्नता व्यक्त करने की भयानक प्रेरणा मिलती हो। आर्य-वाङ्मय जीवनमय है, कर्ममय है, सत्य है, शिव है और सुन्दर है। आवश्यकता है कि हम पढ़ें। जीवन को सफल और सुखमय तथा उन्नत बनाने के लिए वेद के ऋषि बार-बार उत्साहित करते हैं और यह कभी नहीं कहते कि यह शरीर मल-मूत्र का अम्बार है, गन्दा और कुलबुलाते हुए कीड़ों का घर है, जीवन दुःखों से छलनी बना हुआ है तथा पापों से आक्रान्त है। हम एक ही बात बार-बार दोहराते हैं; क्योंकि हमारा खयाल है कि हमारे लिए अपने मनोभावों को स्पष्ट करना कठिन हो रहा है, यह हमारी अल्पज्ञता है।

वेद के ऋषि कहते हैं—"जो श्रेष्ठ हैं, आप्त पुरुष हैं (जिनका ज्ञान भ्रान्ति-रहित तथा सत्य पर आधारित है), उनके साथ रहो। अपने मन को सुसंस्कार-सम्पन्न करो (यों तो मन संस्काराच्छन्न रहता ही है, किन्तु सुसंस्कार-सम्पन्न उसे होना चाहिए) एक कार्य को मिल-जुल कर (संघबद्ध होकर) एक विचार—एक मन-प्राण—से करो। कार्य का भार स्वीकार करने को सदा उद्यत रहो (उत्तर-

दायित्व ग्रहण करने की पात्रता अपने में पैदा करो)। आपस में विरोध खड़ा न करो (फूट के कारण टुकड़े-टुकड़े मत हो जाओ)। परस्पर मीठा संभाषण करो (क्योंकि संसार के अधिकांश संकटों की माता जीभ ही है)। एक ही ध्येय (महत् उद्देश्य) की सिद्धि के निमित्त तत्परतापूर्वक सब एक साथ जुट जाओ। एक मनोभाव से एकता के लिए (दृढ़ संगठन के लिए, यत्न करो)।"

इसी मंत्र में आगे चलकर ऋषि का वचन है—'यही सत्य ज्ञान है; अतः सबको यही ज्ञान दो।'

इन अमर वाक्यों पर एक बार दृष्टि देने के बाद यह सोचने की गुंजाइश भी नहीं रह पाती कि आर्य-विचारकों ने जीवन को महत्त्व नहीं दिया है, अतः कोई दूसरा रास्ता पकड़ना जरूरी है। किसी भी युग में इन वाक्यों का महत्त्व रहेगा ही। अब आप मंत्र पर ध्यान दीजिए—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥

यह अथर्व (३।३०।१-७) का मंत्र है, जिसका अर्थ हमने ऊपर दे दिया है।

गृहस्थाश्रम में ही रहने, किसी से विरोध न करने, पूर्ण आयु (सौ वर्ष) तक जीवित रहने, पुत्रों-पौत्रों के साथ खेलते हुए आनन्द करने, अपने ही घर में रहने और घर को आदर्श बनाने की बात ऋषि बार-बार कहते हैं। एक पूर्ण सुखी तथा आदर्श गृहस्थ के लिए यही स्वर्ग है—यदि यह स्वर्ग नहीं है, तो फिर स्वर्ग है कहाँ?

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०।८५।४२) का है। अब पति-पत्नी के सम्बन्ध पर भी विचार कीजिए। वैदिक युग के पति-पत्नी की कामना है कि—"संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों (दम्पती) को भली भाँति जाने। हम दोनों का हृदय जल के समान शान्त हो (जल अपना स्तर बनाकर रहता है, ऊबड़-खाबड़ नहीं रहता। पति-पत्नी का हृदय भी एक ही स्तर बनाकर रहे, एक दूसरे के ऊपर या निम्न स्तर पर न हो—यही तात्पर्य जान पड़ता है)। हम दोनों की प्राण-शक्ति, धारणा-शक्ति और उपदेश-शक्ति परस्पर कल्याणकारी हो।

अब एक मन्त्र आप के सामने है, जो ऋग्वेद (१०।८५।४७) का है—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापा हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥

हम कितने मन्त्र यहाँ उद्धृत करें। वैदिक वाङ्मय ऐसे मन्त्रों से जगमगा रहा है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषि और विचारक जीवन के सम्बन्ध में उज्ज्वल से उज्ज्वल धारणा व्यक्त करते थे। उन्होंने मानव को, मानव-जन्म को महान् माना है, मानव-समूह को विराट्-स्वरूप परमात्मा कहा है और गृहस्थी का एक-से-एक प्राणप्रद चित्र उपस्थित कर दिया है, जो लुभावना है और अत्यन्त आकर्षक भी।

वे संसार को बसाना चाहते थे, बनाना-सँवारना चाहते थे, सुख-शान्ति और शक्ति से भर देना चाहते थे—उजाड़ना नहीं चाहते थे, तोड़-फोड़कर बर्बाद कर देना नहीं चाहते थे। उन्होंने नर में नारायण को खोज निकाला और नर-समूह में विश्वनियन्ता विराट् पुरुष की झाँकी उन्हें मिली। उन्होंने सारे विश्व को ईशमय देखा और ईश में विश्व का दर्शन किया। ईश और विश्व, विश्व और ईश में उन ऋषियों ने कोई अन्तर नहीं रहने दिया, फिर यह हम कैसे कल्पना करें कि वे अमर मन्त्रों के द्रष्टा अमृतपुत्र ऋषि घृणा और बिलगाव के विचारों का पोषण भूल से भी कर सकते हैं! आर्य-जीवन महान् था और उन्होंने जीवन को अमृतत्व से भरने का ही सतत प्रयास किया, घृणा से नहीं[1]।

आर्य-ऋषियों ने जिस कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की कल्पना की है वह केवल मानव तक ही सीमित नहीं है। उनकी कल्पना विश्वव्यापक थी और उन्होंने कीट, पतंग, वृक्ष, पहाड़, नदी, सागर धरती, आकाश, अन्तरिक्ष, ऊषा, संध्या, स्वर्ग, देवता और विश्वनियन्ता तक को एक सूत्र में पिरो दिया है। अग्नि, तूफान, मेघ, बिजली, जन्म, मृत्यु सबको मिलाकर एक विश्वव्यापी कुटुम्ब का उन्होंने निर्माण किया है। साँप, बाघ, भूत-प्रेत आदि भयानक तत्त्वों को भी अलग नहीं दिया, सबको स्नेह के डोर में बाँध डाला है। मानव प्रधान माना गया; क्योंकि वह 'केन्द्र' में स्थित है; अतः मानव-कुटुम्ब में ही सबको शामिल कर दिया गया। इन सबको मानव का अपना बतलाया गया और मानव को ऐसी सीख दी गई कि वह सबका प्रिय बन कर, सबके लिए सोचे, सबका यथायोग्य हित करे, सबको अपनावे और सबका अपना बनकर रहे। क्षुद्र रजकण से हिमालय तक, जल के एक कण से सागर तक, आग की नन्हीं चिनगारी से सूर्य तक और अणु से महान्[2] तक सब में विश्वनियन्ता की पूर्णता का आरोप करके ऋषियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि कोई गैर नहीं है, कोई पर नहीं है। अप्रत्यक्ष रूप से, विश्व में जो कुछ है, वह सब एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। यदि एक अणु को भी हिला दिया जाय, तो सारा विश्व-ब्रह्माण्ड हिल जायगा। इस विराट् एकत्व की सकारण कल्पना आर्य-ऋषियों ने की और यह स्पष्ट कर दिया कि एक ज्ञानपूर्ण प्राणी होने के कारण सबके प्रति उत्तम कर्त्तव्य निभाने का भार मानव पर ही है। मानव कितना महान् है, अब आप ही विचार कीजिए। यजुर्वेद का यह स्पष्ट आदेश है कि पशुओं की रक्षा की जाय, उनका वध किसी प्रकार भी न किया जाय—

पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः।
अविं मा हिंसीः, इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं।
मा हिंसीरेकशफं पशुं, मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि॥

किसी भी प्राणी को (सर्वाभूतानि) मारना बुरा माना गया है। भूत-दया

---

१. ईशोपनिषद्, ६

२. कठोपनिषद्, २।२०

की बात पर जोर देकर यह कहा गया है कि सभी ईश से आच्छादित हैं[1], ईश्वरमय हैं, किसीका भी वध करना अक्षम्य पाप है। ईश्वर से ही देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी प्राण, अपान, व्रीहियव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विधि आदि की उत्पत्ति मानी गई है—मतलब यह है कि सभी ईश्वर के स्वरूप हैं, ईश्वरमय हैं, एक ही जल के जुदे-जुदे रूप हैं, जैसे तरंग, भँवर, बुद्बुद, लहरें आदि।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।१।७

इस या ऐसे मंत्रों से विविधता के भीतर परा-एकता की स्थापना की गई है, जिससे यह स्पष्ट होता है, कि कोई भी पर नहीं है, चाहे वह मानव हो या मानव से भिन्न कोई भी। इस मंत्र में थोड़े-से ही नाम गिनाये गये हैं—विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, उनमें से प्रत्येक का नाम गिनाना क्या सम्भव था। यह तो इशारा-मात्र है। समझना हमारा काम है। जो सत्य को जानते हैं, जिनका ज्ञान सत्य-पूत है, वे यह जानते हैं कि वह एक ही परम-आत्मा है, जिसमें स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष मन-सहित सभी प्राण पिरोये हुए हैं—यही सत्य है, यही तत्त्व है। ऋषि का वचन है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष—
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।५

जिस तरह पंछी सायंकाल को वृक्षों की शरण में बसेरा लेते हैं, उसी तरह वे (सारा विश्व-प्रपंच) परमात्मा में स्थित होते हैं, वहीं टिकते हैं (प्रश्नोपनिषद्, ४।७)। तो यह अब सोचना व्यर्थ है कि संसार में एकत्व नहीं है। सबका एक ही मुकाम है, जिसकी दुनिया है, जिसमें दुनिया है उसी में उसकी स्थिति है, टिकाव है।

आर्य-ऋषियों ने इन अमृत-वचनों के द्वारा मानव को बोध दिया है और कहा है कि दुराव मत रखो। कोई उत्तम या हेय नहीं है, कोई गैर नहीं है। जो कुछ दृश्य या अदृश्य रूप से यहाँ या वहाँ या जहाँ भी है, वह सब एक ही अदृश्य सूत्र में पिरोया हुआ है। न तो संसार में घृणा को कोई स्थान है और न कष्टों का[2]। मिथ्या-ज्ञान के द्वारा ही हम घृणा, दुराव या कष्टों के अस्तित्व को महत्त्व देते हैं। मानव के लिए मैत्री, दया, ममता, करुणा, सहयोग आदि देवोपम गुणों की स्थापना करके आर्य-विचारकों ने संसार को और जीवन को अशेष गौरव प्रदान कर दिया है, ऊँचा-से-ऊँचा आसन दिया है।

आर्य-विचारकों की दृष्टि में न तो व्यक्ति हीन रहा है और न समष्टि। यहाँ तक

१. ईशोपनिषद्, १
२. कठोपनिषद्, २।५।११

कि कीट-पतंगादि को भी उन्होंने हीन नहीं बतलाया। जीवन का उज्ज्वल से उज्ज्वल चित्र हम आर्य-वाङ्मय में पाते हैं। वे चित्र जीवन के प्रति और संसार के प्रति आकर्षण पैदा कराते हैं, घृणा नहीं। पलायनवादी विचारों का कोई स्थान वैदिक वाङ्मय में नहीं है। आर्यों ने लगन, श्रद्धा, उत्साह और ज्ञानपूर्वक अपना विकास किया था। जो ज्ञान-ज्योति उन्होंने जलाई थी, वह सारे संसार के अन्धकार को नष्ट करने की क्षमता रखती थी। उन्होंने प्रार्थना की थी, केवल तीन ही बातों की याचना की थी—असत्य से सत्य की ओर जाने की लालसा उन में थी, अन्धकार से प्रकाश की ओर वे जाना चाहते थे और मृत्यु से अमृतत्व (मोक्ष) के लिए वे अधीर थे। जीवन में और क्या चाहिए। जो जाति सत्य, प्रकाश और अमृतत्व की खोज कर रही हो, वह जाति पलायनवादी कैसे मानी जा सकती है, वह जाति जीवन या जहान के प्रति बेवफा, कृतघ्न, कायर और पराजित कैसे मानी जा सकती है। आर्य-ऋषि निर्माणात्मक शक्ति के साथ धरती पर आये थे, ध्वंस करना यदि उनका उद्देश्य होता, तो आज हम-आप कोई न होते, यह तो चट्टान-जैसा ठोस सत्य है। ऋषि कहते हैं—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३।२८

यह कहना या सोचना बिलकुल ही अज्ञान है कि आर्य-विचारकों ने दूसरों को प्रलोभन दिया है, आशाएँ दी हैं और भय की विभीषिका खड़ी कर दी है। यह भी गलत है कि वैदिक वाङ्मय विचारों और मत-मतान्तरों का दुर्लंघ्य वन है। ऐसे ज्ञानलव-दुर्विदग्धों की कमी नहीं है, जिन्होंने महान् वैदिक वाङ्मय को ऊपर-ऊपर से स्पर्श किया और अपना कुछ मत स्थिर कर लिया। हम उनकी आलोचना नहीं करेंगे, जिन्होंने अपनी शक्ति से अधिक ऊँची उड़ाने भरी हैं और अपना संतुलन सँभाल कर न रखने के कारण बुरी तरह गिरे हैं—अपने इस पछाड़खाने को उन्होंने अज्ञानियों के सामने अपनी सफलता कहकर परिचय दिया है।

हम यह दृढ़ निश्चयपूर्वक कहना चाहते हैं कि आर्य-विचारकों ने जीवन को जितनी स्पष्टतापूर्वक समझा और उसकी महत्ता के रहस्यों को प्रकट करते हुए उसके कर्त्तव्यों की सीमाओं का निर्माण किया, उतना स्पष्ट चित्र कहीं नहीं मिलता। भारत के भी दूसरे विचारकों ने वैसा चित्र नहीं दिया। जिन्होंने अपने विचारों की मौलिकता का दावा किया है, वह भ्रम-मात्र है।

प्रलोभन, आशा और भय—हम इन तीन बातों पर विचार करें और यह देखें कि क्या वैदिक विचारकों ने ऐसा कुछ किया है, कहा है कि उनकी बातों पर अमल करने से अमुक लाभ होगा, अमुक उच्च स्थिति की प्राप्ति होगी या अमुक प्रकार का विकास उपस्थित हो जायगा, यदि उनकी बातों की अवहेलना की गई। नरक आदि

का भय या शारीरिक पीड़ा (रोग, वेश-नाश, धननाश या अकाल-मरण आदि-आदि)-जैसी किसी भी डरावनी बातों का कोई स्थान आर्य-विचारकों के विचारों में नहीं है। वे धरती पर थे और धरती के ही गीत गाते थे; किन्तु साथ ही भौतिक सिद्धि की चरम परिणति—आध्यात्मिक मुक्ति—को भी भूले न थे[१]। वे धरती से स्वर्ग तक एक सीधी सड़क बनाने में व्यस्त थे, ऐसी सड़क जो सबके लिए सुलभ और सुखकर हो। भौतिक सिद्धि—केवल भौतिक सिद्धि मानव के भीतर की कोमल वृत्तियों का गला घोंट देती है, कोमल वृत्तियों के नाश का परिणाम होता है क्रूर-वृत्तियों का बलवान् हो जाना। इतना भयानक होने पर भी विना भौतिक सिद्धियाँ लाभ किये धरती पर रहा नहीं जा सकता। वैदिक विचारकों ने इसीलिए भौतिक सिद्धियों को 'साधन'-मात्र माना है, 'साध्य' तो आध्यात्मिक मुक्ति है। भौतिक सिद्धियों का अन्तिम छोर आध्यात्मिक मुक्ति से लगा हुआ है यदि भौतिक सिद्धियाँ सम्यक् रीति से प्राप्त की जायँ। संसार का अपना एक संतुलन है, वह संतुलन पर टिका हुआ है—इसी संतुलन का नाम 'ऋत' है। भौतिक सिद्धियों को भी संतुलन कायम रखते हुए 'ऋत'-पूर्वक प्राप्त करने से ही 'सत्य' का प्रकाश फैल जाता है, कर्म बन्धन न बनकर मुक्ति का सहायक बन जाता है। सत्य की उपलब्धि ही आध्यात्मिक मुक्ति है[२], ऐसा वैदिक ऋषियों का मत है, वैदिक विचारकों का वचन है।[३]

हम ऋषि और विचारक—दो शब्द काम में ला रहे हैं, वह समझकर ही पाठक इस पर ध्यान दें।

हाँ, वह 'सत्' है—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स।
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो, इति॥

जो सबकी आत्मा है, वह सत्य है, वह आत्मा है......वही तू है। सम्यक् रीति से प्राप्त की हुई भौतिक सिद्धियों[४] से ही 'सत्य' की उपलब्धि हो जाती है, जिसका परिणाम होता है आध्यात्मिक मुक्ति। मुक्ति कहीं से आती नहीं और न कहीं ले जाती है। अपने भीतर ही सत्य का प्रकाश फैलता है और 'यो यदिच्छति तस्य तत्'[५]। कहाँ है इस सूत्र में प्रलोभन, आशा और भय, कहाँ है इस में स्वर्ग और सच्चे झूठे प्रलोभनों का स्थान ? यह सम्पूर्ण प्रजा सत् मूलवाली है, सत् आयतनवाली और सत् प्रतिष्ठावाली है[६]। मूल नाम कारण का है, आयतन आश्रम को कहते हैं तथा प्रतिष्ठा समाप्ति है। कारण, आयतन और समाप्ति—इनसे भिन्न और क्या है और ये तीनों 'सत्' हैं, सत् पर स्थित हैं। कहा है—

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।२
२. छान्दोग्योपनिषद्, ६।८।७
३. महोपनिषद्, ४।१०३
४. यजुर्वेद, ३६।१८
५. कठोपनिषद्, २।१६
६. छान्दोग्योपनिषद्, ६।८।४; मुण्डक० ३।६

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।

कहाँ है स्वर्ग की लालच, कहाँ है धन-पुत्रादि मिलने की आशा, कहाँ है नरक की विभीषिका ? पुरुषार्थ करते हुए, चित्त को चित्त से दबा कर, भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के बाद ही शोक-रहित पद का आलम्बन करके निर्भय और स्थिर हो जाना, 'प्रतिष्ठित' हो जाना ही आध्यात्मिक मुक्ति है। न कहीं लोभ है, न आशा (मिथ्या आशा, मृग-मरीचिका) और न भय—मानव अजेय शक्तियों का भांडार है। वह अपना भाग्यविधाता स्वयम् है, कर्मकौशल उसके अधीन है[1]। वह जैसा चाहे, अपने को स्वयम् गढ़े, वह देवता बने या शैतान, यह तो उसके इच्छाधीन है। यही है वैदिक ऋषियों और विचारकों का स्पष्ट दृष्टिकोण, जो उन्होंने हमारे सामने रखा है। क्या हमारे ऋषि और विचारक अपने विचारों के प्रचार के लिए प्रलोभन, आशा और भय का आश्रय ग्रहण करते थे ? क्या वे अपने अनुयायियों को कहते थे कि हमारा कहा मानो, तो यह लाभ होगा, नहीं तो तुम पर दैवी कोप-वृष्टि हो जायगी। तुम नरक में डाले जाओगे या नष्ट हो जाओगे। ऐसा सोचना भी अज्ञान की पराकाष्ठा है।

अब हम एक प्रश्न आपके सामने रखते हैं। कुछ विचारकों ने यह कहकर जीवन की भयानकता और व्यर्थता को स्पष्ट किया है कि दुःख, रोग, बुढ़ापा और मृत्यु—इन चार-चार शत्रुओं से यह जीवन आक्रान्त रहता है और यह अन्त में पराजित ही होता है—जीवन की परिणति पराजय है, विजय नहीं। अपने इन चारों बलवान् वैरियों से मार खाता हुआ जीवन अन्त में धराशायी हो जाता है, इनसे इसकी एक नहीं चलती[2]। जीवन एक ऐसा निरीह तत्त्व है, जो अपने आदि-काल से हारता ही चला आ रहा है। न वह दुःख को रोक सका और न रोग को; बुढ़ापा से भी हारा और मौत ने तो अपने अव्यर्थ प्रहार से उसे चित्त ही कर दिया। दुःख, रोग, बुढ़ापा से चाहे सामना न भी पड़े, पर मौत के झपट्टे से बच निकलना जीवन के लिए असंभव है। जीवन के भाग्य में उसकी हार एक अमिट लकीर के रूप में मौजूद है, जिसे न तो किसीने घटाया या बढ़ाया—मिटाना तो दूर की बात रही। शोक भी अनिवार्य है। मिलन के बाद बिछुड़न; लाभ के बाद हानि, आनन्द के बाद विषाद—इन सारे द्वंद्वों से किसको त्राण मिला ! रोग भी तो शरीर के साथ ही जन्म लेता है—खाँसी, सर्दी, ज्वर आदि तरह-तरह के रोग तो शरीर के साथ लगे हुए हैं; इनसे भी त्राण पाना असम्भव ही है। बुढ़ापा तो एक ऐसी अवस्था है, जिसका अन्त जीवन के साथ ही होता है, वह बचपन या यौवन की तरह बीच में आकर बीच में ही छोड़ता नहीं। एक बार बुढ़ापा आया न कि वह जीवन के गले का हार बन गया। जिस जीवन में चार-चार विपदाएँ हों, उस जीवन को कोई लेकर क्या करे। बात कुछ सही भी जँचती है, किन्तु यह तभी तक सही जँचती है, जबतक ज्ञानपूर्वक हम विचार करने की स्थिति में नहीं पहुँच जाते। आर्य-विचारकों के सामने भी यह प्रश्न था और उन्होंने इन विपदाओं पर दो दृष्टियों

---

१. कठोपनिषद्, १।२। १-२-५-६; मुण्डकोपनिषद्, ३।५

२. किन्तु, वेद जीवन को विजयी और उल्लासपूर्ण मानते हैं, देखिए अथर्व—५।९।७।

से प्रकाश डाला—पहला यह कि इन विपदाओं का अस्तित्व ही काल्पनिक है, अज्ञान-जन्य है और दूसरा यह कि यदि इन विपदाओं को हम सही मान लें, तो इनसे छुटकारा पाना अत्यन्त सहज है—इन विपदाओं में उतना टिकाऊपन नहीं है, जितना अज्ञानियों को भासता है। हम चाहते हैं कि इन विपदाओं पर आर्य-विचारकों के दोनों दृष्टिकोणों का थोड़ा-थोड़ा-सा आभास दें। यदि हम विस्तृत रीति से विचार करने बैठेंगे, तो विषय के इतना फैल जाने की सम्भावना है कि यह छोटा-सा 'अथ' अनन्त हो जायगा। सारा आर्य-वाङ्मय इस विषय को महत्त्व देता है और अनेक विचारकों ने अनेक रीति से इस पर अपना-अपना मत इस आग्रह के साथ प्रकट किया है कि उन्हींका मत सही है। गणित के सिद्धान्तानुसार एक प्रश्न का एक ही सही उत्तर हो सकता है—दो उत्तर हों, तो दोनों में से एक गलत जरूर होगा, दोनों सही नहीं हो सकते। हम पहले दुःख पर एक दृष्टि डालें, जो प्रतिकूल-वेदना मात्र है। अनुकूल वेदना सुख है और प्रतिकूल वेदना दुःख। जो मनुष्य जितना अधिक संवेदनशील और भावुक होता है, दुःख उसके लिए उतना ही भारी पड़ता है, यानी प्रतिकूल वेदना उसके लिए उतनी ही गम्भीर बन जाती है[1]।

कपिल के सांख्य-सूत्र के अनुसार यदि हम सोचें, तो दुःखों की तीन राशियाँ हैं (अथ त्रिविधदुःखाऽत्यंतनिवृत्तिः अत्यन्तपुरुषार्थः)। ईश्वर-कृष्ण की सांख्य-कारिका का पहला श्लोक इस प्रकार है—

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेत् न एकान्तऽत्यन्ततोऽभावात्॥

वाचस्पतिमिश्र ने भी 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी' नाम की (सांख्य-कारिका की) टीका में तीनों दुःखों का उत्तम अर्थ किया है। वे दुःख हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के हैं—शारीरिक और मानस। शारीरिक हैं रोग आदि और मानस हैं काम,क्रोधादि। आधिभौतिक दुःख जंगम प्राणियों से या प्राकृतिक स्थावर पदार्थों से प्राप्त होनेवाले दुःख को आधिभौतिक हम कहते हैं। इसके बाद, महर्षि पतञ्जलिका क्या मत है यह आप के सामने है—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

—योग-सूत्र, अ० ४, सू० ३०-३४

वे—महर्षि पतञ्जलि—यह स्वीकार करते हैं कि क्लेश और कर्मों का नाश हो सकता है (हो जाता है)।...कोई कर्त्तव्य कर्म शेष नहीं रहा, तो ऐसे गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना ही 'कैवल्य' है। जब द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह दुःख-आदि उद्वेगों से मुक्त होकर आनन्द की स्थिति में पहुँचता है। हम पहले कह चुके हैं कि 'प्रतिष्ठित' के मानी समाप्ति है।

---

१. योग-सूत्र (पतञ्जलि) अ० २, सू० १५, १६, १७, २४ और २६।

सुख-दुःखों का अनुभव सत्य के रूप में करना और उनसे उत्पन्न राग या द्वेष के प्रभाव में पड़ना ज्ञान-विपर्यय है। जो...वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा मिथ्या-ज्ञान ही विपर्यय है (विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—पतञ्जलि अ० १, सू० ८)।

किसी भी वस्तु के असली स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान ही विपर्यय-वृत्ति है। जैसे, सीप में चाँदी की प्रतीति। यह प्रमाणित हो चुका है, कि सुख और दुःख दोनों में से कोई भी सत्य नहीं है; क्योंकि इनका कभी आरम्भ और कभी अन्त भी होता है तथा ये कारणों पर स्थित रहते हैं, कारणों का नाश भी किया जा सकता है।

यहाँ श्रेय भी है और प्रेय भी। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए पुरुष को बाँधते हैं। श्रेय को ग्रहण करनेवाला कल्याण का भाजन होता है और जो प्रेय को चुन लेता है, वह उद्देश्य से पिछड़ जाता है—उद्देश्य-लाभ से वंचित हो जाता है (कठोपनिषद्, १।२।१)। इसके बाद कहा है कि श्रेय और प्रेय मनुष्य के निकट आते हैं। उनको अच्छी तरह पहचानकर धीर पुरुष उनकी छँटाई करता है और समझकर श्रेय को अपना लेता है, प्रेय का त्याग कर देता है (कठ०, १।२।२)। यदि पुरुष इतना न करे, तो अविद्या में फँस कर, अपने को धीर पण्डित मानता हुआ (अहंकार का दास बनकर) इधर-उधर भटकता फिरता है (उसमें स्थिति नहीं आती, परिणाम में दुःख तो है ही)। अन्धा जैसे अन्धा को रास्ता दिखलाने ले जाय, यही दशा अज्ञान (प्रेय) में फँसे हुए मानव की होती है (कठ०, १।२।५)। देव को (सत्य को) अध्यात्म-योग से जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक (सुख-दुःख) दोनों से परे हो जाता है, दोनों का त्याग कर देता है—

अध्यात्मयोगाधिगमेनदेवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

—कठ०, १।२।१२

सच्ची बात यह है कि हर्ष-शोक के बन्धन में अज्ञानी ही फँसते हैं—ज्ञानी दोनों का मल की तरह पीछे त्याग कर आगे बढ़ जाता है। यह कहना कोई महत्त्व नहीं रखता कि संसार, शरीर दुःख-शोक का घर है। हाँ, यह एक पक्ष हो सकता है, सम्पूर्ण नहीं। यह कहकर कि यह संसार और शरीर दुःख-शोक और रोगों का खजाना है मिथ्या आतंक फैलाना है। भय से व्यग्र होकर कोई कुछ भी कर सकता है। अशान्त को सुख नसीब नहीं होता (गीता)। दुःख, रोग, बुढ़ापा, मौत का जो आतंक फैलाया गया, उसका क्या परिणाम हुआ, यह हम नहीं कह रहे हैं। हम इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं करेंगे। हमारा उद्देश्य केवल यही है कि हम एक ऐसा चित्र आपके सामने रखें, जिससे इस सम्बन्ध में आर्य-ऋषियों और विचारकों के विचारों का धुँधला-सा आभास आपको मिल जाय।

अब हम बुढ़ापा को यहाँ उपस्थित करते हैं। कहा यह जाता है कि मानव शरीर का अत्यन्त दयनीय और निराशापूर्ण रूप है, जिसे हम कभी शेष नहीं होनेवाला अशेष संकट ही कह सकते हैं। वृद्धता प्राप्त हो जाने पर इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं,

उनका अस्तित्व-भर ही शेष रह जाता है, उनकी सहजात शक्तियों तक का कहीं पता नहीं चलता—वे रहती भी हैं, तो अत्यन्त क्षीण, नाममात्र को। मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ वृद्ध व्यक्ति पराधीनता की पीड़ा भोगता रहता है। उसका शरीर-यंत्र काम नहीं करता, वह केवल अपने बीते हुए दिनों की याद के 'मनके' फेरता हुआ घर, समाज और अपने लिए भी भार बन जाता है—यह है वृद्धता का एक डरावना चित्र, जो हृदय में कँपकँपी पैदा कर देनेवाला है।

देखना यह है कि जीवन पर सत्य का चिरंतन प्रकाश डालनेवाले वैदिक विचारकों ने वृद्धता को किस रूप में देखा। उन्होंने कहा है कि बोध और प्रतिबोध (स्फूर्त्ति और जागृति) प्राणों की हर घड़ी रक्षा करते रहते हैं—स्फूर्त्ति और जागृति, इन दोनों शब्दों पर ध्यान दीजिए जो, प्राणों के रक्षक माने गये हैं (अथर्व, ५।३०)। कहा है—

ऋषि बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥

स्फूर्त्ति उत्साह है और जागृति है सावधान रहना। ये दोनों ऋषि प्राणों के संरक्षण का कार्य करते हैं। इनके रहते मृत्यु तक निकट आ नहीं सकती, वृद्धता की क्या बिसात है। मन उत्साह से परिपूर्ण रहे और जीवन-यात्रा सावधानतापूर्वक करे, तो फिर भौतिक या आध्यात्मिक कातरता का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। स्फूर्त्ति और जागृति किसी भी जीवित जाति के लिए अमूल्य निधि है। यदि हम धरती को शरीर मान लें और जनता को प्राण, तो इन प्राणों की रक्षा स्फूर्त्ति और जागृति ही कर सकती है। वह जाति न कभी कातर होगी और न जीर्ण, यदि उसकी रक्षा स्फूर्त्ति और जागृति करती रहे। हम अपने मूल-विषय पर ही सोचें।

वैदिक ऋषि का वचन है (अथर्व, ७।५३), वृद्धवस्था का जो खजाना है, वह बढ़ता रहे। तेरे अन्दर प्राणों को प्रेरित करता हूँ और रोग को दूर भगाता हूँ। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकार से दीर्घ आयु दे। इसके बाद ऋषि कहते हैं—(अथर्व, ८।१) स्फूर्त्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें, रक्षक और जागृति तेरा पालन करें—

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च
रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥१३॥

मानव की गति उन्नति की ओर होनी चाहिए—अवनति की ओर नहीं। ऋषि कहते हैं—तेरे लिए बल का विस्तार करता हूँ। इस सुखमय शरीर-रूपी अमृतमय रथ पर चढ़ो और जब दीर्घ आयु से युक्त हो जाओगे, तब सभाओं में संभाषण (अथर्व, ८।१) करोगे—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥

उत्साह, सावधानता, स्फूर्त्ति, जागृति, रक्षण और दक्षता से परिपुष्ट मानव

बुढ़ापा के नाम पर कातर होनेवाला है क्या ? सदा कर्मरत और आत्मविकास, यानी राष्ट्र-विकास में लगा हुआ उत्साही, सावधान, स्फूर्त्ति-युक्त, सजग, सुरक्षित और दक्ष मानव के निकट रोग या बुढ़ापा किस मुँह से आयगा। शोक-रोग-बुढ़ापा-मरण तो उनके लिए त्रास हैं, जो कर्मरहित हैं, जो बैठकर झख मारने में ही जीवन की चरम सिद्धि का घृणित स्वप्न देखा करते हैं।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि शरीर को प्रधानता नहीं देनेवाले आत्मा को ही प्रधानता देते हैं। कोरे भौतिकवादियों की बात अलग रही। भारत कभी प्रेय-प्रधान नहीं रहा, यद्यपि इस विचारधारा के आचार्य यहाँ हुए हैं। आर्य-ऋषि शरीर को केवल 'यन्त्र' का ही गौरव प्रदान करते रहे, 'यन्त्री' का नहीं और न उन्होंने यन्त्र को ही यन्त्री समझा—विवेक-बुद्धि के सहारे दोनों को भारत ने अलग-अलग समझा और अलग-अलग महत्त्व दिया। वैदिक ऋषि कहते हैं (छान्दोग्योपनिषद् ,८।१।५) कि न इस शरीर के जीर्ण होने से आत्मा जीर्ण होती है, न वध होने से इसका वध होता है। यह सच्ची ब्रह्मपुरी है। इसमें कामनाएँ (Desires) एकत्रित हैं। यह आत्मा पाप-रहित, जरावस्था-रहित, मृत्यु-रहित, शोक-भूख-प्यास-रहित, सच्ची कामना और सत्य-संकल्पवाला है। मन्त्र इस प्रकार है—

नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुर-मस्मिन्कामाः समाहित एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥

शरीर को रथ कहा गया है, आत्मा रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथी तथा मन बागडोर है (कठोपनिषद् , १।३।३)। यह रूपक भी शरीर और आत्मा के पृथक् पृथक् महत्त्व को प्रकाशित करके शरीर को केवल **'यन्त्र'** बतलाता है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

आगे चलकर ऋषि कहते हैं (कठ०, १।३।४) कि इन्द्रिय घोड़े हैं (दस घोड़ोंवाला रथ), विषय मार्ग, आत्मा-इन्द्रिय-मन से मुक्त प्राणी भोक्ता (या रथी) है।...जिसका सारथी विज्ञान है, जिसकी मन-रूपी बागडोर वश में हो, वह अपने रास्ते को सुख से पार कर जाता है और परमपद प्राप्त कर लेता है (कठ०, १।३।९), ऐसा भी ऋषि का वचन है। मंत्र इस प्रकार है—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

× × ×

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

शरीर और उसके कार्यों का इन मंत्रों में पूरा-पूरा उल्लेख है। शोक-रोग-बुढ़ापा और मृत्यु का कहीं भय नहीं दिखलाया गया। मन की बागडोर सँभालकर

इन्द्रियों के जोरदार घोड़ों को आगे बढ़ाता हुआ रथ को उसके लक्ष्य तक पहुँचा देने की ही चर्चा वैदिक ऋषि ने की है। उसने कह दिया है कि आत्मा स्वयम् में पूर्ण है, वह रोग,शोक, मृत्यु आदि से ऊपर है—वह न जवान होता है और न बूढ़ा। जो आत्मविद् हैं, वे शरीर को सँभालकर कर्म में लगा देते हैं, भौतिक सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हो जाती हैं, फिर आध्यात्मिक मुक्ति या निर्वाण तो सुलभ है ही। विना भौतिक सिद्धियों के आध्यात्मिक मुक्ति की कल्पना करना बैठेठाले तथा ऐसे लोगों का काम है, जो राष्ट्रीय-उत्तरदायित्व ग्रहण करने से भागते हों, जो धरती को स्वर्ग बनाने के प्रयत्न से पीछे हट चुके हों, हार चुके हों, या मानव-शरीर धारण करके भी मानवता की सेवा करने से इनकार करते हों। धरती कर्म-भूमि है। जो सबके कल्याण और अभ्युदय के लिए किया जाय वही कर्म है—सम्यक् कर्म तथा सबके कल्याणार्थ जीवित रहा जाय, वही शुभ जीवन है[१]। केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए, जिसका फल केवल एक ही व्यक्ति तक सीमित हो, जो कर्म किया जाता है, वह शुभ-कर्म नहीं कहा जा सकता। वैदिक ऋषि ऐसा आदेश कभी नहीं देते कि अपने ही लिए जीवित रहो, अपने ही लाभ के लिए कर्म करो और अपने लिए मर जाओ। तप करना प्रत्येक मानव का धर्म जरूर है, किन्तु वह तप दूसरे प्रकार का है—ऋत, सत्य, अध्ययन, शान्ति, इन्द्रिय-दमन, मनोविकारों का शमन, दान, यज्ञ (भू), अस्तित्व (भुवः), आनन्द आदि—ये सभी तप हैं। ऐसा ऋषि का वचन (तैत्तिरीय आ० १०।८) है—

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः शान्तं तपो, दमस्तपः,
शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।

यह तप शोक, रोग, बुढ़ापा और मरण के भय से दामन झाड़कर भागना नहीं है, बल्कि कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त हो जाना है। संसार पलायन-नीति पर टिका हुआ नहीं है—वह ऋत और सत्य पर स्थिर है। न तो ऋत पलायनवाद है और न सत्य।

शोक, रोग और बुढ़ापा के सम्बन्ध में हम आर्य-विचारकों के विचारों का स्वल्प नमूना पेश कर चुके। सारा वैदिक वाङ्मय ऐसे उदाहरणों से जगमगा रहा है, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शोक, दुःख, रोग, बुढ़ापा और मृत्यु का भय मिथ्या भय है। जीवन का चरम लक्ष्य है ज्ञानपूर्वक कर्म करना और सारे विश्व को अपने भीतर समेट कर ऊपर उठना। ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्म की परिणति भौतिक सिद्धि है। भौतिक सिद्धि आध्यात्मिक मुक्ति का प्रकाशमान द्वार खोल देती है। ज्ञानपूर्वक किये गये श्रम की महिमा अनन्त है[२]।

अब हम मृत्यु पर विचार करें—आखिर यह है क्या! वैदिक ऋषियों ने मृत्यु को अजेय कभी नहीं माना (यजुर्वेद ३१।१८)—अजेय मानव है; क्योंकि

१—अथर्व, पृथिवी-सूक्त, ५४ वाँ मंत्र और यजुर्वेद, ४०।२ आदि।

२. ऋग्वेद, ४।३३।११; ऐतरेय ब्राह्मण, ७।१५

ऋग्वेद, १।७२।५—'श्रमयुवः पदव्यो धियं धास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः।'

ऋग्वेद, ८।६७।६ 'शान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति' आदि।

उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मानव मृत्यु को भी लाँघ सकता, मृत्यु की सीमा को पार कर सकता है, ऐसा वैदिक ऋषियों का निश्चित मत है—**'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'**। क्योंकि, परमात्मा में ही सारे लोक अवस्थित हैं (यजु०, ३१।१९), ऐसा श्रुति का वचन है—**'तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा'** और यह व्यापक परमात्मा सारी प्रजा में ओतप्रोत भी है (यजु०, ३२।८), यह मत भी वैदिक ऋषि का है—**'सऽओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु'**। जिस परमात्मा में सारे लोक स्थित हैं और जो सारी प्रजा में ओत-प्रोत है, उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मृत्यु की सीमा को लाँघ जाना कोई बड़ी बात नहीं है। इस परमात्मा का ज्ञान कर्म करते हुए, सेवा करते हुए, लोक-कल्याण में रत रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है, कर्मक्षेत्र से पलायन करके या पराजय की भावना के वशीभूत होकर नहीं। आत्मज्ञानी पुरुष मृत्यु से नहीं डरता (अथर्व, १०।८।४४) और मृत्यु-भय से मुक्त होना ही मृत्युंजय-पद पाना है।

वैदिक ऋषि का वचन है—**'तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः'**। आत्मज्ञानी पुरुष ही यह कामना कर सकता है कि (अथर्व, १८।३।६२) हमसे मृत्यु दूर भाग जाय और हमें अमरता मिले—**'परैतु मृत्युरमृतं न एतु'**। पाप और मृत्यु को ऋषियों ने एक-जैसा माना है और दोनों से बचने के लिए उन्होंने सावधान किया है (अथर्व, १७।१।२९)। कहा है कि पाप और मृत्यु हमारे पास नहीं आवे—**'मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः'**। रोग को भी पाप ही कहना चाहिए। पाप एक अशुभ वस्तु है, रोग भी ऐसा ही है। रोग से रहित रहकर, नीरोग रहकर उदात्त वीर बनने की कामना भी वैदिक युग का मानव करता था (अथर्व, ५।३।५)। यहाँ वीर के मानी आप 'लड़ाकू' या 'तलवारबाज' न करें। कर्मवीर ही वैदिक युग का 'सुवीर' था—**'अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः'**, ऐसा मन्त्र मिलता है।

अब हम महाभारत का एक कथा-प्रसंग यहाँ उपस्थित करते हैं। धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए सनत्सुजात ऋषि ने मृत्यु के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, वह अमूल्य है। उन्होंने मृत्यु के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। उनका कथन है—

उभे सत्ये क्षत्रियेतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि[१]॥

इस प्रश्न के उक्त दोनों ही पहलुओं को सत्य समझो। कुछ विद्वानों ने मोहवश इस मृत्यु की सत्ता को स्वीकार कर लिया है; किन्तु मेरा मत यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अ-प्रमाद अमृत।

मृत्यु शेर की तरह प्राणियों को नहीं खा जाता—उसका कोई रूप देखने में नहीं आता, ऐसा कहना सनत्सुजात ऋषि का है—

१. महाभारत (उद्योग पर्व के अन्तर्गत), सनत्सुजात-पर्व, अ० ४२ द्रष्टव्य।

नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्, न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥५॥

कामनाओं के पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है; ज्ञानी पुरुष कामनाओं का त्यागकर देने पर जो कुछ भी जन्म-मरण-रूप दुःख है, उन सबको वह समाप्त कर देता है—

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥

सनत्सुजात ऋषि का कहना है कि जिसके चित्त की वृत्तियाँ विषय-भोगों से मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुष का इस लोक में, तिनकों के बनाये हुए बाघ के समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है—

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः।

स्पष्ट हुआ कि विषय-भोगों में ग्रस्त चित्तवृत्तियोंवाले मानव का ही प्राण-हरण मृत्यु करती है, ज्ञानी स्वयम् मृत्युञ्जय है। वह मृत्यु के चक्कर में फँस नहीं सकता। ऋषि इसके बाद कहते हैं—यह जो शरीर के भीतर अन्तरात्मा है, मोह के वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्यु रूप हो जाती है। इस प्रकार मोह से होनेवाली मृत्यु को जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोक में मृत्यु से नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्यु के अधिकार में आया हुआ मरणधर्मा मनुष्य—

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः।
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्यो-
र्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥

सनत्सुजात ऋषि ने मृत्यु के सम्बन्ध में जो कुछ धृतराष्ट्र से कहा है, उस पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु से भी मानव महान् है, वह यदि चाहे, तो मृत्यु को भी समाप्त कर दे सकता है। विकारों में लिप्त मानव के ही लिए शोक, रोग, बुढ़ापा और मरण ये सारी विपदाएँ हैं। मानव के ही हाथों में अमृतत्व का कोष है—जिसे कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है।

आर्य-ऋषियों ने हीन-भावना को, मिथ्या भय और आतंक को, जो इन्द्रियों को विकल कर डालते हों, कभी प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने चाहा कि ज्ञानपूर्वक कर्म में लगकर मानव अपना, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र का सम्यक् विकास करे। हम बार-बार यह कह रहे हैं कि पराजय तथा पलायनवादी भावना का कोई स्थान आर्य-जीवन-दर्शन में नहीं है। उन्होंने—आर्य-ऋषियों और विचारकों ने—जीवन को उसके असली रूप में समझा है और उसकी उपयोगिता का भी उन्होंने पूरा-पूरा मूल्यांकन

किया है। किसी भी आर्य-विचारक या ग्रन्थ को आप समझने की कोशिश करें, उसमें से उत्साह, स्फूर्त्ति और तत्परता का ही संदेश मिलेगा, न कि हीनता और पलायन का, पराजय और भय का।

सभी दानों से श्रेष्ठ दान है 'अभयदान'। आर्य-ऋषि प्राणिमात्र को अभय-दान देते हैं, मानव को अभय-दान देते हैं, आर्य-विचारकों और ऋषियों का यह अमूल्य दान है, जो उन्होंने संसार को दिया है—'मा भैः'!

इन सूक्तों पर ध्यान दीजिए और फिर सोचिए कि वैदिक युग के अमृत-पुत्रों ने हमारे लिए कैसे विचार छोड़े हैं—

१. **अपश्यं गोपामनिपद्यमानम् (ऋ०, १०।१७७।३)**। मैंने देख लिया आत्मा का विनाश नहीं होता।

२. **देवा न आयुः प्र तिरन्तु (ऋ०, १।८९।२)**। देवगण हमारी आयु बढ़ावें।

३. **सत्य मनसो मे अस्तु (ऋ०, १०। १२८।४)**। मेरी कामना पूरी हो।

४. **स्वस्ति पन्थामनुचरेम् (ऋ०, ५।५१।१५)**। हम कल्याण-पथ के पथिक हों।

५. **ऋतस्य पन्था प्रेत (यजु०, ७।१४)**। सत्य-पथ पर चलो।

६. **यशः श्रीः श्रयतां मयि (यजु०, २९।४)**। मुझे कीर्त्ति और वैभव प्राप्त हो।

७. **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु (यजु०, ३४।१)**। मेरा मन कल्याणकारी संकल्प-वाला हो।

८. **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु (अथर्व, १९।१५।६)**। सारी दिशाएँ हमारी हितैषिणी हों।

९. **शं मे अस्तु अभयं मे अस्तु (अथर्व, १९।९।१३)**। मुझे कल्याण मिले और भय न हो।

१०. **आरोहणमाक्रमणं जीवतोऽयनम् (अथर्व, ५।३०।७)**। ऊपर उठना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है।

११. **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर (अथर्व,३।२४।५)**। सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो, हजारों हाथों से बाँटो।

१२. **परैतु मृत्युरमृतं न एतु (अथर्व, १८।३।६२)**। हमसे मृत्यु दूर भाग जाय, हमें अमरता मिले।

हम तीन वेदों के १२ अमृत-वाक्य उपस्थित कर रहे हैं। ऐसे वाक्यों की संख्या हजारों है, यदि पूरे आर्य-वाङ्मय की छानबीन की जाय। इन १२ अमृत-वाक्यों में जीवन के सम्बन्ध में आर्य-विचार-धारा का भ्रान्ति-रहित परिचय मिल जाता है।

अब एक साधारण-सी तालिका देकर इस विषय का अन्त करते हैं—



ये हैं सप्त मर्यादा (**सप्त अस्य परिधयः, मं० १५**)। संसार में आते ही इन सातों मर्यादाओं पर सम्यक् रीति से ध्यान देकर ही मानव अपने को विश्वमय कर सकता है। वह कहता है—"सूर्य मेरे नेत्र हैं, वायु प्राण, अन्तरिक्ष-तत्त्व आत्मा और पृथिवी स्थूल शरीर है—मैं अपराजित हूँ। मैं अपने-आपको द्यु और पृथिवी के अन्तर्गत जो कुछ है, उस सबके संरक्षण के लिए, अर्पण करता हूँ।" (अथर्व, ५।९।७)

ऋग्वेद (१।६६।१) का ऋषि कहता है—"हम लक्ष्मी के समान प्रिय, सूर्य के समान सुद्रष्टा, प्राण के समान सुहृद्, सन्तान के सामान सुदर्शन, पुत्र के समान सुखद, सुधेनु के समान सुदाता बन कर तेजस्विता प्राप्त करें।"

आगे के मन्त्र[1] (अथर्व, ५।९।७) से, जिसका हमने अर्थ-मात्र ही दिया है, ऋग्वेद के ऊपरवाले सूक्त को मिला कर पढ़ें, तो स्पष्ट हो जायगा कि जीवन के सम्बन्ध में आर्य ऋषियों की कल्पना कितनी ऊँची थी। एक ऋषि कहता है—"मैं अपराजित हूँ; क्योंकि सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष-तत्त्व मेरी आत्मा है"—आदि। दूसरा ऋषि कहता है—"हम लक्ष्मी के समान प्रिय हों, सूर्य के समान सुद्रष्टा, प्राण के समान सुहृद्" आदि। दोनों मन्त्रों को सामने रखें—मानव का, मानव-जीवन का जो प्रकाशमान चित्र उभर आता है, उसकी जोड़ का संसार के वाङ्मय में से एक भी तस्वीर आप खोजकर नहीं निकाल सकते। दुःख, शोक, रोग, बुढ़ापा और मौत के भय से कातर मानव कहाँ है? पाप-ताप और नरक के डर से काँपनेवाला मानव कहाँ है? अपने को नीच, पतित, मल-मूत्र का संग्रह माननेवाला मानव कहाँ है? शरीर और जीवन को घृणा की दृष्टि से देखकर उस पर थूकनेवाला मानव कहाँ है? कर्मक्षेत्र से भाग कर, जंगलों में जंगली फल खाकर, प्रेत की तरह जीवित रहनेवाला मानव कहाँ है? हमने वैदिक वाङ्मय के एक-एक मन्त्र को

१. सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय।

उलट-पुलट कर देखा—कहीं हमें दयनीय मानव का, पापी और भयाकुल मानव का, कठोर कर्मक्षेत्र से कायर बनकर मोक्ष के लिए लँगोटी लगानेवाले मानव का, शरीर और जीवन को, साथ ही परिवार और समाज को घृणा की दृष्टि से देखनेवाले और इनकी उपेक्षा करनेवाले मानव का, दुःख, रोग, बुढ़ापा और मृत्यु के भय से थरथर काँपनेवाले मानव का कहीं पता नहीं चलता।

उत्साह, विराट् कर्मकोलाहल और चतुर्मुखी-निर्माण, धरती से द्यु तक का अभिमान, अणु से महान् बनने की घोषणा और अपने भीतर स्रष्टा के सहित समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को ग्रहण करने की आकांक्षा, अमृतत्व का रहस्योद्घाटन और ज्ञान की अजेय महिमा—इन्हीं सारी बातों का उल्लासपूर्ण वर्णन वैदिक वाङ्मय में हम देखते हैं।

समझ में नहीं आता, हमारे भीतर तीन-भावना क्यों और कैसे पैदा हो गई, उसे क्यों फैलाया गया तथा हमारी तनी हुई मांस-पेशियों में थकावट पैदा करा दी गई।

वेदों में सौ साल तक ही जीवित रहने की बात बार-बार दुहराई गई है। कहा है—**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजु० ४०।२), संसार में कर्म करता हुआ मानव सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे; किन्तु मानव को जैसे-जैसे अपनी अजेय और अशेष शक्तियों का बोध होता गया, वह एक के बाद दूसरे बन्धन को तोड़ता हुआ आगे बढ़ता गया, अन्त में वह अनन्त बनने का दावा पेश करके भी रुका नहीं, आगे बढ़ता ही चला गया। यहीं पर हम दो विचार-धाराओं को देखते हैं। पहली विचार-धारा है—वेद के ऋषियों की और विचारकों की तथा दूसरी विचार-धारा है भगवान् बुद्ध की। दोनों विचार-धाराओं का मूल उद्गम-केन्द्र-बिन्दु एक ही है; किन्तु आगे चलकर दोनों समानान्तर रूप धारण करके आगे बढ़ीं। जीवन के सम्बन्ध में दोनों विचार-धाराओं ने अपना-अपना रंग रखा। यह बतलाना हमारा काम नहीं है कि देखो विचार-धाराओं में कौन श्रेष्ठ है।

वैदिक विचार-धारा पर हम यथामति धुँधला-सा प्रकाश डाल चुके, यद्यपि हमारी अल्पज्ञता अधिक-से-अधिक स्पष्ट चित्र देने में बाधक रही।

यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों और विचारकों ने भी जीवन को ही अपने सामने रखकर अपनी बात कही है और भगवान् बुद्ध ने भी। मानव को कैसे सच्चा सुख और आनन्द प्राप्त हो, जीवन का अधिक-से-अधिक कैसे सुन्दर उपयोग हो, शक्तियों का अपव्यय न हो तथा कैसे जन्म-मरण के दुष्टचक्र को तोड़कर मानव चरम शान्ति का उपयोग कर सके, आदि प्रश्न किसी भी अमृतपुत्र या युग-पुरुष के सामने रहते ही हैं। जनता का वर्त्तमान और भविष्य इनके हाथों में होता है और वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह अपने तर्ज पर करते हैं। जो हो, किन्तु एक बात हमें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे अमृतपुत्र या युगपुरुष अपने ही विचारों के सम्बन्ध में बुरी तरह बँध जाते हैं। दूसरों को मुक्त करनेवाले जब स्वयम् बन्दी बन जाते हैं, तब एक विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बुद्धदेव के लिए यह कठिनाई थी; किन्तु वैदिक ऋषियों के लिए नहीं।

वे एक नहीं, अनेक थे और युग-युग उस अपौरुषेय ज्ञान की व्याख्या करते रहे, जिसके वे द्रष्टा थे; किन्तु बुद्धदेव अकेला ही थे और अन्त तक अकेला रहे भी— जो बाद में आचार्य हुए भी तो उनके व्याख्याकार ही, ज्ञान-द्रष्टा नहीं[1]। यही कारण है कि बहुत-से प्रश्नों का बुद्धदेव ने स्पर्श ही नहीं किया—वे अछूते ही रह गये, जिनमें एक सबसे गम्भीर प्रश्न था—'आत्मा की सत्ता' स्वीकार करने का (दीघ-निकाय, महानिदान सुत्त ३)। आर्य-धर्म का प्रवर्त्तक कोई एक व्यक्ति न था और न जीवन या कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर प्रकाश डालनेवाला ही कोई एक व्यक्ति था। ज्ञान-द्रष्टा या मन्त्र-द्रष्टा ऋषि अनेक हुए और सबने मिलकर एक 'विराट्' का निर्माण कर डाला, जो अपने में इतना पूर्ण था कि युगों को पार करता हुआ वह आज तक अपनी महाप्राणता का ओज से भरा प्रमाण दे रहा है। वह आगे भी रहेगा।

× × ×

यह स्पष्ट है कि आर्य-धर्म एक ही अनुभव का आधार ग्रहण नहीं करता, वह विभिन्न प्रकार के अनुभवों को स्वीकार करता है। विचित्रता यह है कि 'वैयक्तिक धर्म' कुछ निश्चित प्रकार के व्यक्तियों से ही सम्बन्ध रखता है, जिसे समझना सरल है। मनुष्य जाति की मूलभूत ईकाई को स्वीकार करते हुए भी आर्य-धर्म ने विभिन्नता तथा विशिष्टता को भी मान्यता देना है, यह समरूपता को लादना कभी नहीं चाहता। आर्यधर्म के अनुसार जीवन क्या है, वह ईश्वरीय सत्ता की अभिव्यक्ति-मात्र है[2]। किसी पराशक्ति की विद्यमानता का अनुभव निरंतर करने की प्रेरणा आर्य-धर्म देता है।

फिर भी 'शून्य', 'असत्' या 'अक्षरब्रह्म' को कभी पूर्णरूपेण सत्पुरुष, पुरुषोत्तम या महाशक्ति को मिटाने का प्रयास करते देखा नहीं गया। आर्य-धर्म का आधार वेद है और वेद का अर्थ है 'प्रत्यक्ष-ज्ञान', या उन समस्त वर्त्तमान सत्यों का संग्रह, जो ज्ञान की वृद्धि एवं प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रथम सूत्र, जो वैदिक ज्ञान निर्धारित करता है, वह है सत्, प्रकृति, अस्तित्व और यथार्थता। आर्य-विचारकों के मत से एक मूल आधारभूत वास्तविकता है। क्षणभंगुर प्राकृतिक दृश्य पदार्थों के भीतर भी एक ठोस, चिरंतन सत्य वर्त्तमान है। प्रत्येक वस्तु मिट सकती है; किन्तु 'वह' तो अनन्त काल तक रहता है—उसका स्वरूप आदि-अन्त से रहित है, यही वैदिक विचार-परम्परा है।

यदि हम गहराई से विचार करें, तो अस्वीकृति (नास्ति) भी एक निश्चित तथ्य है, जैसे शून्य (०) महत्त्वहीन नहीं है, वह अपना एक गुण-स्थान रखता है। क्या आधुनिक विज्ञान में धनात्मक ऋण-कण (धन-विद्युत्-कण) का नाम हम नहीं सुनते ? आर्य-धर्म के अनुसार आनन्दानुभूति सर्वसत्ता का आधार है। आनन्द से ही सभी वस्तुओं का प्रादुर्भाव हुआ और वे आनन्द से आनन्द की ओर चलती हैं।

---

१. बुद्धदेव के महापरिनिब्बान (मन्दिर) स्थान 'कुसीनारा' की खुदाई में एक ताम्र-पत्र निकला, जिसमें बुद्धदेव के शिष्य अस्सजित द्वारा सारिपुत्त को भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में बतलाया गया है—'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ॥'

२. वेदान्तसूत्र (शाङ्कर भाष्य), २।१।३ द्रष्टव्य।

यह स्पष्ट है कि वेद की अखंड अनुभूति के प्रकाशमय अंग ने मानवीय चेतना को उत्थान की ओर सजग (प्रवृत्त) किया है; किन्तु भौतिक बन्धनों से ज्ञानपूर्ण मुक्ति के लिए निवृत्ति-मार्ग को भी प्रशस्त कर डाला है, वह निवृत्ति-मार्ग 'अनासक्त योग' है, कर्म-विमुख होकर, जब जी में आया, घर-गृहस्थी का त्याग करके मोक्ष या निर्वाण की खोज करना नहीं। कर्म-कौशल का महत्त्व माना गया और कर्म में प्रवृत्त किया गया। आत्म-स्वातन्त्र्य अर्थात् स्वावलम्बन को आर्य-धर्म कम महत्त्व नहीं देता। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार आप ही करे, अपनी अवनति आप ही न कर डाले। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है और स्वयं अपना नाशकर्त्ता भी वही है (योगवासिष्ठ २, सर्ग ४।८ तथा गीता ६।५ देखिए)। वैदिक युग के ऋषि का भी यही कहना है कि 'थकने तक प्रयत्न करनेवाले मनुष्य के अतिरिक्त दूसरों को देवता कभी मदद नहीं करते' (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः—ऋग्वेद ४।३३।११)। बुद्धदेव ने आत्मा या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं माना, उनको ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान से इनकार ही रहा, फिर भी उन्होंने अपने उपदेशों में 'अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तानं'—अपने-आपको स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लाना चाहिए, ऐसा कहा है—

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञमयऽत्ताणं अस्सं (अश्वं) भद्दं व वाणिजो॥

—धम्मपद, ३८०

बुद्धदेव कहते हैं कि हम ही स्वयम् अपने स्वामी या मालिक हैं और आत्मा के अतिरिक्त हमें तारनेवाला भी कोई दूसरा नहीं है, अतः जिस प्रकार व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है, उसी प्रकार अपना संयमन आप ही भली भाँति करना चाहिए। गीता की तरह आत्म-स्वतन्त्रता के अस्तित्व तथा उसकी आवश्यकता का वर्णन भी उन्होंने किया है (देखिए महापरिनिब्बान-सुत्त, २।३३–३५)।

सच्ची बात तो यह है कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है—(मोक्ष के मानी हैं कर्म-बन्धन से मुक्त होना)। मन के विषयासक्त नहीं होने से, निःसक्त होने से मोक्ष होता है, ऐसा आर्य-विचारकों का मत है—(मैत्र्युपनिषद् ६।६४; अमृतबिन्दु २)। कर्म-बन्धन और कर्म-क्षय पर आर्य-विचारक जोर देते हैं और आत्म-स्वातंत्र्य के लिए कामना-रहित-कर्म को प्रधानता देते हैं। कर्म-संन्यास से कर्म-योग को ही आर्य-विचारक श्रेष्ठ बतलाते रहे हैं (गीता, ५।२—'कर्मयोगो विशिष्यते')। वंश के धागे की क्रमबद्धता को कभी तोड़ने का प्रयत्न न करे (प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः—तैत्तिरीयोपनिषद्, १।११।१)। जिसका जो ईश्वरनिर्मित अधिकार है, उसके पूरे न होने तक कार्यों से छुट्टी नहीं मिलती, इसकी उपपत्ति की आँच आगे तक जाती है (यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्—वेदान्त-सूत्र, ३।३।३२), अतः कर्म-संन्यास की प्रधानता नहीं रह जाती, और कर्म-योग का महत्त्व स्थापित हो जाता है। कर्म के बन्धनों से छुटकारा ही मोक्ष है (**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते**—महाभारत, शान्ति० २४०।१)। यह स्पष्ट है

कि जड़ अथवा चेतन कर्म किसी को न तो बाँधता है और न छोड़ सकता है; मनुष्य फलाशा से अथवा अपनी आसक्ति से कर्मों में बँध जाता है। आसक्ति से अलग होकर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे, तो भी वह मुक्त ही है (अध्यात्म रामायण, २।४।४२ में श्रीराम का लक्ष्मण के प्रति उक्ति—'**प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते। बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव**'।) इसका समर्थन सूत्र-ग्रन्थों से भी होता है (**आश्वलायन०, ५१।३३ 'तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः'**) इसी सूत्र-ग्रन्थ (**आश्व०, ५०।६।७**) में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जो ज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्ति न रखकर (फलाशा न रखकर योग-मार्ग का अवलम्बन करके कर्म करते हैं, वे ही साधुदर्शी हैं। निष्काम कर्म (योग) वैदिक धर्म का स्वतन्त्र मार्ग है। संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की योग्यता विशेष है। 'एषणा' का त्याग कर कर्म करने से सत्य का प्रकाश मिलता है और कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं (देखिए बृहदारण्यक, ३।५।१ और ४।४।२२ तथा उत्तरगीता)। वेद-संहिता और ब्राह्मणों ने संन्यास-आश्रम (निर्वाण की इच्छा से गृहत्याग) आवश्यक कहीं नहीं माना है। उलटे जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से भी मोक्ष मिलता है, निर्वाण प्राप्त होता है (वेदान्त सूत्र, ४।४ और १७।२० द्रष्टव्य)। आर्य-विचारक गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठता देते हैं (बौधायन, २।६।११; ३३ और ३४ तथा आपस्तम्ब-सूत्र, २।९।२४।८ द्रष्टव्य) और कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में रहकर ही मनुष्य ब्रह्मलोक (सत्यलोक) पहुँचता है और ब्रह्मचर्य या संन्यास की (कोरी) प्रशंसा करनेवाले अन्य लोग धूल में मिल जाते हैं[1]।

---

१. आर्य-वाङ्मय में ऐसे प्रमाणों की बहुलता है, जिनसे हम गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकते हैं। यथा—गौतम, ३।१—३।५; बौधायन धर्मसूत्र, २।६।२९-४२-४३; महाभारत, १२।२७०। ६-७; शान्तिपर्व, १२।१२; संन्यास को 'पापिष्ठावृत्ति' कहा गया है—महा० १२।८।७; १२। १०।२२—२५; १।१३ और १।४५ यह जरत्कारु की कथा है। ऋग्वेद, १।९१।२०; १।९१।१३; ३।१।१२३; ५।४।१०; १०।८५।३६; १०।८५।४५

इसके बाद पाणिनि, ४।१।१३३; आदिकाव्य, ७।९१।२५

शबर-भाष्य, १।३।४—'अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्त अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यवन्तः।'

शतपथ-ब्राह्मण, ५।२।१।१०; तैत्तिरीय सं०, ६।१।८५; ऐतरेय, १।२।५

कामसूत्र (वात्स्यायन), १।२।१—४—'शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवते। बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कामं च यौवने स्थविरे धर्मं मोक्षं च।'

महाभारत में भीख माँगने के लिए सिर मुँड़ानेवाले का विरोध किया गया है (१२।१८। १३)—

'श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रतिवीक्ष्यसे।
नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः॥
धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम्।
न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः।
परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः॥ इत्यादि

आर्य-धर्म जीवन को उसके महत्त्वों के साथ ग्रहण करता है और संसार को भी श्रेष्ठता प्रदान करता है, जहाँ रहकर ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ मानव परम पद प्राप्त कर सकता है। कर्म से पलायन करने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है फलाशा त्याग कर ज्ञानपूर्वक कर्म-क्षेत्र में अन्तिम साँस तक जूझते रहने की। मिथ्या फलाशा में बँधकर ही मानव अपने को गिराता है और जन्म-मरण के दुष्टचक्र का अपने लिए निर्माण करके उसमें ऐसा फँसता है कि निस्तार असम्भव हो जाता है। आर्य-धर्म की यह विशेषता तथा उसका जीवन-दर्शन अत्यन्त पुष्ट और उच्च स्थिति की ओर प्रेरित करनेवाला है—**'गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव विनिशान्ति च' (महाभारत, शां० ३०५।२३)**

अब हम आपका ध्यान भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन की ओर आकृष्ट करते हैं।

बुद्धदेव ने, जब वे सिद्धार्थकुमार थे, वृद्ध, रोगी, मुर्दा—इन तीनों को देखा और सारथी से इनकी ऐसी शारीरिक दयनीयता का कारण पूछा। सारथी ने बतलाया कि यह वृद्ध हो गया है, इसे अब बहुत दिन जीना नहीं है। रोगी और मुर्दे को देखकर भी उन्हें शंका उत्पन्न हुई और सारथी से उन्होंने इनका (शारीरिक दयनीयता का) परिचय माँगा। उत्तर वही था। सिद्धार्थ ने कहा—'हाय, यही दशा मेरी भी होगी।' उनका मन संसार से फिर गया (दीघ-निकाय का महावदान-सुत्त, ४ द्रष्टव्य)। इसके बाद उन्हें एक संन्यासी नजर आया। प्रत्यक्ष रूप से कुमार ने संसार के रूप का दर्शन ३२ साल की उम्र में किया। वे बोधिसत्त्व हुए और उसके बाद बुद्ध[१]। जब वे गृह-त्याग की बात सोच रहे थे, उन्हें तब ऐसा लगा कि तीनों लोक जल रहे हैं और उनका राजप्रासाद एक 'कच्चा' श्मशान है, जहाँ मुर्दे सड़ रहे हैं—एक भयावना दृश्य उनके ज्ञान-नेत्रों के सामने उपस्थित हो गया। कुमार ने घर का त्याग कर दिया और वह इसीलिए कि यह शरीर दुःखों का घर है, जन्म-मरण का चक्कर मानव को चैन लेने नहीं देता आदि-आदि[२]।

कुमार सिद्धार्थ जब 'बोधगया' पहुँचे और बोधिवृक्ष के नीचे बैठ कर बोधि प्राप्त करके बुद्ध हुए, तब उन्होंने दो गाथाएँ कहीं—

अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहकारक, दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।

---

१. सर्वदर्शन-संग्रह (बौद्धदर्शनम्, ५९)

२. 'बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः, बोधि प्राप्त की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति बोधिसत्त्व कहा जाता है—(बोधिचर्यावतार-पञ्जिका, पृ० ४२१)

सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
विसंखार गतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा[१]।

(धम्मपद, जरावग्ग १५३–१५४)

बार-बार जन्म लेना पड़ा—दुःखदायी जन्म। शरीर-रूप गृह के बनानेवाले (गृहकारक) की खोज में व्यर्थ भटकता फिरा। अब मैंने गृहकारक, तुझे देख लिया। तू गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गईं, गृह-शिखर बिखर गया; चित्त निर्वाण प्राप्त हो गया, तृष्णा का क्षय हो गया। जन्म लेना एक दुःखदायी दुर्घटना है, यह बुद्धदेव की इस गाथा से स्पष्ट है। इन्होंने सारे कष्टों का कारण बार-बार जन्म लेने को माना।

बुद्धदेव ने सरल आचार-मार्ग का ही निर्देश किया है। वे अध्यात्म-शास्त्र की गुत्थियों से बचते रहे और उन्होंने उन्हें कभी तर्क से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका लक्ष्य था—क्लेश-बहुल प्रपंच से उद्धार का सरल मार्ग बतलाना। 'अति-प्रश्नों' को उन्होंने कभी उठने नहीं दिया। सीधी बात है चार आर्यसत्य—

(१) इस संसार में जीवन दुःखमय है। (**दुःखम्**)

(२) इन दुःखों का कारण विद्यमान है। (**दुःखसमुदयः**)

(३) इन कारण-जन्य दुःखों के हेतुओं का नाश हो सकता है, जिससे दुःख का भी निरोध होगा। (**दुःखनिरोधः**)

(४) और इस दुःख निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग भी हैं। (**दुःख-निरोधगामिनी प्रतिप्रद्**)

दुःखमय जगत् का प्रतिक्षण अनुभव करते रहने पर भी हीनजन, पामर-जन जीते-मरते रहते हैं और इन सत्यों के निकट तक नहीं पहुँच पाते—आर्यजन ही इसे पहचानते हैं (माध्यमिक कारिकावृत्ति, ४७६)। प्रथम आर्य-सत्य दुःख है। दुःखों के उदय का केवल एक ही कारण (जन्म लेना) नहीं है। कारणों की शृंखला है, सिल-सिला है, जो द्वादश निदान[१] कहा जाता है। बुद्ध-शासन के रहस्य को जब हम तीन भागों में बाँटते हैं, तब धम्मपद के अनुसार पहला है **पापाकरण**, दूसरा है **पुण्यसंचय** और तीसरा है **चित्तपरिशुद्धि**। वह इस प्रकार है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

बोधिचर्यावतार-पञ्जिका (तृतीय परिच्छेद) में बोधिसत्त्व के आदर्श

---

१. महाभारत (उद्योग), ३३।१०० में भी शरीर की उपमा घर से दी गई है, यथा—

'नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः॥'

वैदिक वाङ्मय में भी (वा० य०, मंत्र ३४।५५) शरीर को गृह कहा गया है—'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सद्मप्रमादम्।'

१. दीघनिकाय का १५वाँ महानिदान-सुत्त; मज्झिमनिकाय का ३८वाँ महातण्हा-संखय-सुत्त तथा अभिधर्म-कोश, तृतीय कोशस्थान, श्लो० १९–२३

का जो वर्णन है, उसमें यही कहा गया है कि बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रही है कि हमारे अर्जन किये हुए पुण्य से समस्त प्राणियों के दुःखों का अन्त हो जाय—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥

जो हो, पर उपनिषदों का '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' सिद्धान्त की उपेक्षा बुद्ध ने भी नहीं की; बल्कि इसे माना। शील, समाधि और प्रज्ञा—ये तीन साधन मुक्ति के लिए माने गये।

प्रथम आर्य-सत्य है दुःख! बुद्धदेव ने दुःख के रूप में ही जीवन को देखा—रोग, बुढ़ापा आदि के रूप में। वे घबरा गये, जो उचित भी था और कैसे दुःख छूटे, इसकी खोज में निकल पड़े—

जिण्णं च दिस्वा दुखितं च व्याधितं
तमञ्च दिस्वा गतमायुसङ्खयं।
कासाव वत्थं पब्बजितञ्च दिस्वा
तस्मा अहं पब्बजितोम्हि राजा॥

मखादेव जातक, ८

निश्चय ही पहले उनकी दृष्टि उन तक ही सीमित रही होगी; किन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, यानी ऊपर उठते गये, दृष्टि व्यापक होती गई और फिर जीव-मात्र को उन्होंने अपने में शामिल कर लिया। अपनी ही दुःख-निवृत्ति नहीं, जीवमात्र की दुःख-निवृत्ति उनका लक्ष्य बन गया; क्योंकि वे जानते थे कि स्वयम् सुख लाभ करने से श्रेष्ठ है सबको सुख की ओर प्रेरित करके सबके सुख से सुखी होना। उन्होंने 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' का जो नारा दिया, वह इस बात की पुष्टि करता है। उन्होंने यह दावा किया कि बुद्ध ही सब में श्रेष्ठ हैं (**इतिवुत्तक द्रष्टव्य**[1])। वे कहते हैं—"उपासको, नीचे अवीचि नरक से ऊपर भवाग्र नामक सर्वोपरि देव-लोक तक जितनी भी अप्रमाण लोक-धातु हैं, उनमें (कहीं भी) सदाचार (=शील) आदि गुणों में बुद्ध के समान तो कोई होगा ही नहीं, बढ़कर कहाँ से होगा। जितने भी प्राणी हैं, बुद्ध (= तथागत) उनमें सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं।"

इसके बाद उन्होंने त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) को ही नरक आदि में जन्म लेने से बचानेवाला माना है (संयुक्तनिकाय, महासमय-सुत्त द्रष्टव्य)।

उन्होंने दुःख को देखा, जीवन को दुःखमय माना, अपने को (बुद्ध को) सर्वश्रेष्ठ कहा और फिर त्रिरत्न को ही नरकादि में जन्म ग्रहण करने से त्राण दिलानेवाला बतलाकर अपने 'मत' की स्थापना कर दी। रोग बतलाया, वैद्य का नाम लिया, दवा बतलाई और कह दिया कि यही वैद्य सर्वश्रेष्ठ है, यही दवा रोग-मुक्त करा सकेगी, दूसरी दवा नहीं।

एक बार बुद्धदेव श्रावस्ती से राजगृह चले गये। उनके जाने के बाद जब वे जेत-

---

१. प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेकविलास' का मत है—'बौद्धानां सुगतो देवो।'

वन लौटे, तब उन्हें बतलाया गया कि बहुत से अन्य तीर्थिक श्रावक तथागत की शरण छोड़कर अपने पूर्व स्थान पर चले गये (जिस सम्प्रदाय में पहले थे, उसीमें चले गये)। उसी समय भगवान् ने अपनी और त्रिरत्न की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया (अपण्णक जातक—१)। यह तो धर्म-स्थापना की बात हुई—जिस धर्म का जो संस्थापक होता है, वह और उसके अनुयायी ऐसा दावा करते ही हैं[1]। किन्तु, यह दावा वहीं होता है, जहाँ धर्म का या मत-विशेष का संस्थापक कोई एक व्यक्ति होता है, वैयक्तिक धर्म की यह बात है। जैन, बौद्ध, ईसाई या इस्लामी धर्म के संस्थापक कोई-न-कोई महापुरुष थे। उनके पहले उनके द्वारा संस्थापित धर्म या मत का अस्तित्व भौतिक जगत् में था। यह बात 'आर्यधर्म' के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती; क्योंकि इसका संस्थापक कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। ऋषियों ने अपने उन विचारों का, जिसके वे द्रष्टा थे, प्रकाश किया—यह कार्य युगों तक होता रहा। वैदिक वाङ्मय यह कभी दावा नहीं करता कि उसके ही अधिकार में मुक्ति और मोक्ष है। स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने में सहायता पहुँचाने के लिए आर्य-विचारकों ने अपने विचार अवश्य दिये हैं; पर न तो उन्होंने कुछ दावा किया और न बन्धन लगाया। यह ऐसी बात है, जिस पर हमारे विद्वानों को प्रकाश डालना चाहिए। समष्टि के द्वारा प्रकाशित आर्य-धर्म विचारों या मतों का 'दण्डकारण्य' नहीं है, वह तो निर्मल वायु की तरह है, जिसमें तरह-तरह के फूलों की महक भरी हो या असंख्य शिखरोंवाला हिमालय हो।

हाँ, तो प्रथम आर्य सत्य दुःख है, हम इसी विषय पर कुछ कह रहे थे। निग्रोध जातक (१२) में शरीर का बहुत ही भयानक तथा घृणापूर्ण चित्र खींचा गया है। इसे बत्तीस तरह की गन्दगियों से भरा बतलाया है, जैसे—केस, रोम, नख, दाँत, चमड़ी आदि ('मज्झिम-निकाय' का सत्तीपट्ठान-सुत्त द्रष्टव्य)। कहा है यह शरीर न तो देवता का बनाया हुआ है और न ब्रह्म का। यह न तो स्वर्णमय है और न मणिमय, हरिचन्दनमय भी नहीं है। इसका जन्म न तो कमल से हुआ है और न उत्पल या पुण्डरीक से। इतना ही नहीं, यह अमृतौषधि से भी पूर्ण नहीं है। यह गन्दगी से पैदा हुआ—माता-पिता के सम्भोग से अस्तित्व में आया। अनित्यता, ध्वस्त होना, बर्बाद हो जाना इसका स्वभाव है। यह शरीर श्मशान की वृद्धि करनेवाला और तृष्णा से उत्पन्न हुआ है। शोकों का निदान है, विलाप का कारण है, रोगों का घर है, (दण्ड) कर्मों का भोग भोगनेवाला है। यह शरीर अन्दर से गन्दा है, बाहर भी गन्दगी चूती रहती है—निकलती रहती है। यह शरीर कीड़ों का निवास-स्थान है, श्मशान का यात्री है, मरना ही इसका अन्त है। यह शरीर आखिर है क्या—

अनंत्तादीनवो कायो विसरुख समूपतो।
आवासो सब्बरोगानं पुञ्जो दुक्खस्स केवलो॥

---

१. देखिए 'अध्याशयसंचूडन सूत्र'; शान्तिदेव-कृत—'शिक्षासमुच्चय'; सेसिल बेण्डल तथा राउज, लन्दन द्वारा अनुवादित, १९२२ का संस्करण, पृष्ठ १७।

सचे इमस्स कायस्स अन्तो बहिरतो सिया।
दण्डं नूनगहेत्वान काक सोणे च वारये॥
दुग्गन्धो असुची कायो कुपणो उक्करूपमो।
निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालभिनन्दितो॥

यह विष-वृक्ष-जैसा शरीर अनेक दोषों से युक्त है। सब रोगों का घर तथा दुःखों का ढेर-मात्र है। यदि किसी तरह इसके अन्दर का हिस्सा बाहर आ जाय, तो डंडा लेकर कौओं और कुत्तों को खदेड़ते रहना पड़े। विज्ञजन (= चक्षुभूत) इस दुर्गन्ध-युक्त अपवित्र शरीर की निन्दा ही करते हैं, मूर्ख ही इस पर अनुरक्त होते हैं, इनकी प्रशंसा करते हैं।

राजगृह के एक महासम्पत्तिशाली सेठ की लड़की ने अपने पति को इन शब्दों में शरीर का परिचय दिया था। इससे अधिक शरीर का भयानक चित्र शायद दूसरा नहीं हो सकता, किन्तु यह भी सत्य है कि यही शरीर नहीं है। यह तो इसका 'यन्त्रात्मक' रूप है—एक 'मशीन' (यंत्र) के रूप में यह कैसा है, यही बतलाया गया है। 'माइक्रोस्कोप' से देखने पर स्वच्छ जल में भी कीड़े नजर आते हैं; क्योंकि वे हैं, किन्तु कीड़ों के अतिरिक्त भी जल में ऐसे गुण हैं, जिनसे जीवन की रक्षा का सम्बन्ध है। जो हो, यह भी एक दृष्टिकोण है और इस दृष्टिकोण को बौद्ध युग में प्रमुखता दी गई थी, बुद्धदेव का प्रथम आर्य-सत्य 'दुःख' का आधार यही है—शरीर को ३२ प्रकार के दोषों और विकारों से युक्त होना। शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति से ही यह गंदा शरीर दुःख-मुक्त हो सकता है। शुद्ध ज्ञान को तबतक शरीर कैसे धारण कर सकता है, जबतक उस में पात्रता या सामर्थ्य पैदा न हो। ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि तो चाहिए ही और वह शुद्धि 'शील' के द्वारा ही सम्भव है। शील से समस्त सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है (दीघनिकाय का समञ्ञफल-सुत्त द्रष्टव्य)। शील के बाद 'महाशील' भी है। इसके बाद समाधि और फिर 'प्रज्ञा'। प्रज्ञा के बाद दुःख से त्राण मिल सकता है। बुद्धदेव ने शरीर को दोषों का घर और जीवन को दुःखपूर्ण माना है और पुरुष का परम पुरुषार्थ माना है—दुःख से अपने को छुटकारा दिला देना, निर्वाण प्राप्त कर लेना। जीवन का विस्तार निर्वाण तक जाकर समाप्त हो जाता है और जबतक हम जीवित रहें, एक-एक कदम 'निर्वाण' की ओर बढ़ते जायँ, यही 'कर्म' है। स्त्री या गृहस्थी आदि दुःख से छुड़ाने में घोर-बाधक हैं, ये और भी जीवन को संकटापन्न कर डालते हैं, अतः इनको भी उसी तरह घिनौना समझना चाहिए, जैसे अपने शरीर को। बुद्धदेव ने इसी विषय पर जोर दिया है—

मीलहेन लित्ता रुहिरेन मक्खिता
सेम्हेन लित्ता उपनिक्खमन्ति।
यं यं हि कायेन फुसन्ति तावदे
सब्बं असातं दुक्खमेव केवलं॥
दिस्वा वदामि नहि अञ्ञतां सवं
पुब्बे निवासं बहुकं सरामि।

यह गाथा दरीमुख जातक (३७८) की है। कहते हैं—हम विष्ठा में रक्त और श्लेष्मा में लिपटे हुए (गर्भ से बाहर) निकलते हैं। उस समय जिस-जिस चीज का शरीर से स्पर्श करते हैं, वह सभी प्रतिकूल ही होती हैं, दुःख ही होता है। मैं यह (स्वयम्) देखकर कहता हूँ, किसी से सुनी-सुनाई बात नहीं है। मैं बहुत-से पूर्वजन्मों की याद करता हूँ।

बोधिसत्त्व ने यह गाथा राजा से कही थी, जो भोगों में लिप्त था; किन्तु यह भी अनुभव करता था कि वह मूर्च्छित है। माता के गर्भ को भयानक नरक माना गया है। कर्म-विपाक से प्राणी बार-बार इस नरक में पड़ता है, जहाँ विष्ठा, खून श्लेष्मा आदि में लिपट कर उसे रहना पड़ता है। शरीर तो नरक है ही, माता का गर्भ भी नरक मान लिया गया—वह भी घिनौना बन गया। बत्तीस प्रकार की गन्दगियोंवाला यह शरीर माता के गर्भ में भी मल-रक्त-श्लेष्मा आदि से लिपटा हुआ नरक-भोग ही करता है। जिस राजा को बोधिसत्त्व ने ऐसा उपदेश दिया, वह राजपाट छोड़कर हिमालय की ओर जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाने के लिए चला गया।

प्रव्रज्या के अतिरिक्त एक भी उपाय नहीं था दुःख से जान बचाने का—सब कुछ छोड़कर 'अनागारिक' बन जाना। बुद्ध ने संसार को दुःखमय देखा। वेदना के तन्तु ही संसार को एक सूत्र में बाँधकर एकता कायम किये हुए हैं। संसार में कोई भी सुखी नहीं है, सभी दुखः-जर्जर हैं[1]। उपनिषद् तात्त्विक एकता की शिक्षा देते हैं (ईश० ६) और बौद्धधर्म व्यवहार और साधना के ऐक्य पर जोर देता है।

"पालि-अभिधम्म में चित्त और रूप दोनों के नैरात्म्य की प्रतिज्ञा है। वह आत्मा का सर्वथा प्रतिषेध करते हैं, और निर्वाण का लक्षण 'दुःख का नाश' और 'विराग' तथा 'राग-क्षय' बताते हैं। इस विचार-सरणी के अनुसार निर्वाण को हम ऐहिक-सुख मान सकते हैं, किन्तु परम लक्ष्य नहीं[2]।"

यह स्पष्ट हुआ कि बौद्धधर्म या बुद्ध-प्रतिपादित मत प्रत्यक्षतः वैराग्यप्रधान संस्था-मात्र है और वैराग्यप्रधान संस्था होने के कारण यह पारिवारिक या सामाजिक उत्तरदायित्वों से भागने की ही उत्तेजना देती है—ग्रहण करने की नहीं। स्वयं बुद्धदेव ने ही क्यों गृह-त्याग किया ? जब वे गृह-त्याग करके राजगृह को गये थे, राजा बिम्बिसार ने उनसे पूछा 'तुम कौन हो ?' उन्होंने उत्तर दिया—

उजुं जानपदो राजा हिमवन्तस्स पस्सतो।
धनवरियेन सम्पन्नो कोसलेसु निकेतिनो॥
आदिच्चा नाम गोत्तेन साकिया नाम जातिया।
तम्हा कुला पब्बजितोम्हि राजा न कामे अभिपत्थयं[3]॥

हे राजा, यहाँ से सीधे हिमालय की तलहटी में कोसल में से एक जानपद (प्रान्त) है। उसका गोत्र आदित्य है, और जाति 'शाक्य'। हे राजा, उसी कुल से, कामोपभोगों की इच्छा छोड़कर, मैं परिव्राजक बन गया हूँ। बुद्धदेव यानी बोधिसत्त्व ने

१. 'यदा मम परेषां च अयं दुःखं च न प्रियम्'—बोधिचर्यावतार, पृ० ३३१
२. आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित 'बौद्धधर्म दर्शन', पृ० २७८, प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
३. 'सुत्तनिपात', पब्बज्जासुत्त।

गृहत्याग क्यों किया, प्रश्न का अभी अन्त नहीं हुआ है। बिम्बिसार को उन्होंने कहा कि काम-भोगों की इच्छा' छोड़कर परिव्राजक बन गया। बुद्धदेव ने (देखिए सुत्तनिपात का अत्तदण्ड-सुत्त) तीन कारण गृहत्याग के दिये हैं—

अत्तदण्डा भयं जातं, जनं पस्सथ मेधकं।
संवेगं कित्तयिस्सामि यथा संविजितं मया॥
फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।
उपञ्ञमञ्ञेहि व्यारुद्धे दिस्वा मं भयमाविसि॥
समन्तमसरो लोको, दिसा सब्बा समेरिता।
इच्छं भवनमत्तनो नाद्दसासिं अनोसितं।
ओसाने त्वेव व्यारुद्धे दिस्वा मे अरती अहु॥

पहला कारण— अस्त्र धारण भयावह लगा।

दूसरा कारण— अपर्याप्त पानी में जैसे मछलियाँ छटपटाती हैं, वैसे एक-दूसरे से विरोध करके छटपटानेवाली प्रजा (जनता) को देखकर अन्तःकरण में भय उत्पन्न हुआ।

तीसरा कारण— चारों ओर का जगत् असार दिखलाई देने लगा। सब दिशाएँ काँप रही हैं, उसमें आश्रय का स्थान नहीं मिला।

इन्हीं तीन कारणों के चलते बोधिसत्त्व ने चुपचाप गृहत्याग किया। इन तीनों कठिनाइयों का वे सामना न कर सके। इस सूत्र में बुद्धदेव कह रहे हैं कि उन्होंने गृहत्याग क्यों किया, वैराग्य होने का कारण क्या है।

'गृहस्थाश्रम तो अड़चनों और कूड़े-कचरे की जगह है तथा प्रव्रज्या खुली हवा है, यह जानकर वह (बोधिसत्त्व) परिव्राजक बन गया।'

पब्बज्ज कित्तयिस्सामि यथा पब्बजि चक्खुमा।
यथा वीमंसमानो सो पब्बज्जं समरोचयि॥
सबाधोऽयं घरावसो रजस्सायतनं इति।
अब्भोकासो च पब्बज्जा इति दिस्वान पब्बजि॥

सुत्तनिपात का पब्बज्जासुत्त

इस बात की पुष्टि भी (**मज्झिम-निकाय के महासच्चकसुत्त**[1]) दूसरे बौद्धग्रन्थों और सूत्रों से हो जाती है। एक स्थान पर (अरियपरियेसनसुत्त) बुद्ध कहते हैं—"हे भिक्खुओ, सम्बोधि-ज्ञान होने के पूर्व जब मैं बोधिसत्त्व था, तभी मैं स्वयम् जन्मधर्मी होते हुए जन्म के चक्कर में फँसी हुई वस्तुओं (पुत्र, दारा आदि) के पीछे लगा हुआ था।......यह ठीक नहीं है। अतः यही उचित है कि इन जन्म, जरा आदि से होनेवाली हानि को देखकर अजान, अजरा, अव्याधि, अमग और अशोक परम श्रेष्ठ निर्वाणपद का मैं शोध करूँ।"

---

१. 'हे अग्गिवेस्सन,..........गृहस्थाश्रम अड़चनों और कूड़े-कचरे की जगह है..........अतः मुण्डन करके और काषाय वस्त्र धारण करके घर से बाहर निकलकर परिव्राजक होना उचित है'—बुद्ध-वचन।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि बुद्धदेव गृहत्याग को महत्त्व देते थे और परिव्राजक बनने के लिए जो तर्क देते थे, वह भी स्पष्ट था—जन्म, रोग, मरण आदि-आदि।

एक मानव दूसरे के साथ अनेक बाहरी और भीतरी सम्बन्धों से बँधा होता है—इसी बन्धन के ताने-बाने से संसार अस्तित्व में आता है। जब प्रत्येक व्यक्ति इस बन्धन को तोड़ डालेगा, तब वह अकेला हो जायगा और फलतः दुनिया भी समाप्त हो जायगी। दुनिया यानी विश्व-प्रपंच के मानी धरती, वृक्ष, पहाड़ तो नहीं है। गैंडा एक महाबलवान् पशु होता है। उसकी उपमा देकर (**सुत्तनिपात का खग्ग-विसाण-सुत्तं**) कहा है कि—

सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
अवि हेठयं अञ्ञतरं पि तेसं।
न पुत्तमिछेय्य कुतो सहायं
एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर उन में से किसी को भी न सतावे। पुत्र की इच्छा न करे, साथी की तो बात ही दूर रही। अकेला गैंडे (खग्गविसाण) की तरह विचरण करे।

इसी सुत्त के अन्त में तो खास तौर से जोर दिया गया है कि—

पुत्तं च दारं पितरं मातरं
धनानि धञ्ञानि च बंधवानि।
हित्वा न कामानि यथोधिकानि
एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, धन, धान्य और बान्धव इन सबका पूर्णतः त्याग करके अकेला विचरण करे—गैंडे की तरह!

जब व्यक्ति यह जान लेता है कि जो कुछ नाशवान् (अ-स्थिर) है, वह दुःखद है, तब वह उससे विरक्त हो जाता है, मुक्त हो जाता है। अब यह सवाल उठता है कि विरक्त कहते किसे हैं! विरक्त वह है, जिसने अपने ऊपर संजय प्राप्त कर ली है। कहा है (मज्झिमनिकाय, ३२), जिसका अपने हृदय पर अधिकार है और जो स्वयम् अपने हृदय के अधिकार में नहीं है।

ऐसा व्यक्ति (**अंगुत्तर, ४, ३५; मज्झिम-निकाय २०**) जो विचार वह चाहता है, वही मन में लायगा, जो भी विचार वह नहीं चाहता, वह नहीं लायगा।

गैंडे की तरह एकाकी विचरण करनेवाला व्यक्ति निश्चय ही एक विरक्त व्यक्ति होगा और बौद्धग्रन्थों के मत से विरक्त किसको कहते हैं, यह हमने ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है।

माना कि विरक्ति सब से ऊँची स्थिति है और अपने मन पर शासन करनेवाला मानव ही सच्चा शासक (शास्ता) है। यह भी माना कि यह संसार नाशवान् है, क्षणभंगुर है[१]। वेद-वेदान्त के पृष्ठ उलटें या तत्त्वदर्शियों के सत्यपूत वचन सुने—यह

१. धम्मपद, पुप्फवग्गो, ४६

बात कहीं नहीं मिलेगी कि जीवन और जगत् सत्य है, चिरंतन है, ऋत और सत्य है। उत्पत्ति का निश्चित परिणाम नाश है। सोचना यह है कि इस सत्य को अंगीकार कर लेने के बाद स्त्री, पुत्र, माता, पिता सबका चुपचाप परित्याग करके केवल आत्मोद्धार को अन्तिम लक्ष्य मान कर सिर मुँड़वा लिया जाय, यह कहाँ तक उचित है। हम संसार में जन्म-ग्रहण करते हैं, तो हमारे ऊपर कुछ ऐसे मौलिक उत्तरदायित्व होते हैं कि उनसे बच निकलने का मार्ग खोजना एक दृष्टि से अनुचित प्रयास है। नाना प्रलोभनों में रहकर अनासक्त योगी समय व्यतीत करता है और ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ मुक्त होता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सम्यक् रीति से संसार के नियत कर्मों को करता हुआ मानव धरती और स्वर्ग दोनों का राज्य कर सकता है। गीता के महान् गायक ने इस तरह की बातें बतलाई हैं। यह बात भी है कि भगवान् बुद्ध ने गृहस्थों के लिए भी सुन्दर-सुन्दर सीख दी है, किन्तु उनके उपदेशों से जो प्रेरणा मिलती है, वह है 'पलायन' की ही। यदि यह बात न होती, तो यह देश एक समय गृहत्यागी काषायवस्त्र-धारियों से भर न जाता। एक समय ऐसा भी आया, जब राजा, रंक सभी आत्मा, मोक्ष और गृहत्याग के पीछे पागल होकर दौड़ पड़े थे।

एक राजा को ऐसी सनक चढ़ी कि वह खाल उतारकर, गला-घोंट कर, शरीर को चीर-फाड़ कर, जीवित मनुष्य को बहुत बड़े घड़े में बन्द करके और उबालकर जीव देखना चाहता था, पर विफल रहा। राजा अपनी आँखों से जीव को शरीर से निकलते देखने के लिए ही इन सारे राक्षसी उपायों को काम में ला रहा था, पर जीव नजर नहीं आया[१]। 'अतिवाद' का यह एक छोटा-सा नमूना है। बौद्धग्रन्थों में ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है बुद्धदेव के उपदेशों ने एक ऐसा चमत्कार पैदा कर दिया कि देश की बहुत-सी परम्पराएँ तो धराशायी हो ही गईं। साथ ही कौटुम्बिक तथा पारिवारिक संगठन नष्ट नहीं हुए, तो बहुत अंश में बिखर गये। निश्चय ही इस तूफान का कुछ सुन्दर असर देश पर नहीं पड़ा होगा। दुनिया को छोड़कर 'दीन' के लिए पागल हो जाना दुनिया का नाश कर देना है और 'दीन' से भी हाथ धो बैठना है।

निश्चय ही यह बौद्धमतावलम्बी गृहस्थ भी होंगे, किन्तु बौद्धधर्म के परिचायक एकमात्र वे हजारों क्या, लाखों भिक्षु थे, जो झुंड के झुंड गृहस्थों के दरवाजे पर भिक्षापात्र लिये घूमा करते थे। बौद्धधर्म में प्रमुखता थी भिक्षुओं की, गृहस्थों का स्थान गौण था। काल-चक्र घूमा और भिक्षु गायब हो गये। परिणाम यह हुआ कि दृश्य रूप में बौद्धधर्म का ही अत्यन्ताभाव हो गया। यद्यपि गृहस्थ-बौद्ध तो रह ही गये होंगे। काषायवस्त्रधारी भिक्षुओं ने बौद्धधर्म के प्रतीक का स्थान ग्रहण कर लिया था। प्रतीक का अन्त होते ही सब कुछ विस्मृति के पर्दे में चला गया। गृहस्थ जो बौद्धमतावलम्बी थे, धीरे-धीरे अपने पूर्व केन्द्र-बिन्दु को ग्रहण करके वहीं पहुँच गये, जहाँ से कुछ हटकर उन्होंने नया मत स्वीकार किया था।

---

१. दीघनिकाय, २।१० पारासिराञ्ञसुत्त, २३

डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार—"बौद्ध धर्म कोई नया स्वतन्त्र धर्म बनकर शुरू नहीं हुआ। वह एक अधिक पुराने हिन्दू-धर्म की शाखा थी, उसे कदाचित् हिन्दू-धर्म से टूटी हुई या एक विद्रोही विचार-धारा समझना चाहिए[1]।"

× × ×

एक बात विचारणीय है। यह अनिवार्य है कि कोई भी सुधारक, विचारक या सन्त जिस देश में जन्म ग्रहण करता है, उस देश के परम्परागत आचारों और विचारों से ही उसका मानसिक गठन होता है, वह इस प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। बुद्धदेव भी इस प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकते और उन्हें पूर्ववर्त्ती हिन्दू-विचारों के प्रभाव को स्वीकार करना ही पड़ता। यह एक ऐसी बात थी, जिससे बच निकलने का कोई उपाय न था।

यों तो बुद्धदेव ईश्वर को नहीं मानते थे—नास्तिक् थे, किन्तु जाने या अनजाने वे अपने समय के प्रचलित ईश्वरवाद के प्रभाव में आ गये। खास ईश्वर शब्द का उल्लेख 'अंगुत्तरनिकाय' के तिकनिपात (सुत्त–सं० ६१) और मज्झिमनिकाय के देवदहन (सुत्त–स० १०१) में आया है।

'इस्सरनिम्मानहेतु' ऐसा वाक्य मिलता है। ऐसे प्रमाणों का अन्त नहीं है, जिनसे यह प्रमाणित है कि प्राचीन हिन्दू-विचारों का गहरा प्रभाव बुद्धदेव के विचारों पर लक्षित होता है।

हाँ, एक विचित्र बात है, जिस पर हम प्रकाश डालना उचित समझते हैं। बुद्धदेव ने एक प्रकार से इस सत्य से इनकार कर दिया है कि उन पर हिन्दू-विचारों का कुछ भी प्रभाव है और वह इस तरह कि उन्होंने अपने शत-शत जन्मों का वर्णन कर दिया है।

तात्पर्य यह है कि अनेक जन्मों और अनेक योनियों में रहकर बुद्धदेव ने जिस प्रकार अपनी अलग 'जन्म-परम्परा' की स्थापना कर दी, उसी प्रकार संस्कारों और विचारों की भी उन्होंने एक ऐसी परम्परा की बात कह दी है, जिसमें वे स्वयम् हैं—इधर-उधर का कोई लाग-लगाव नहीं है।

बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धिलाभ करते समय उन्हें जिस ज्ञान की उपलब्धि हुई थी, उस ज्ञान में एक ज्ञान यह भी था—जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियों का जाग जाना।

इस उपाय से उन्होंने उन विचारों के प्रभावों से प्रभावित होने के सत्य से भी अपने को अलग कर दिया, जो विचार उनके समय में फैले हुए थे—यानी प्राचीन-हिन्दू-विचार। यदि कोई यह कहे कि विचारों की अपनी परम्परा होती है और वे संस्कारों के साथ अनेक पिछले जन्मों से सम्बद्ध हैं, तो इस तथ्य का निराकरण बुद्धदेव ने यह कह कर दिया है कि वे बोधिसत्त्व के रूप में बहुत बार धरती पर आये और गये।

इस तरह उन्होंने अपने विचारों की मौलिकता का दावा उपस्थित करके यह सिद्ध कर दिया कि उन पर उनका ही प्रभाव है, किसी दूसरे का नहीं।

---

१. भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित 'बौद्धधर्म के २५०० वर्ष' पुस्तक की भूमिका (पृष्ठ-१६) से उद्धृत।

बुद्ध-वचनामृत

हम यहाँ जातकों के कुछ मूल्यवान् बुद्ध-वचन उद्धृत कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत का 'नीति-साहित्य' पुरातन युग से अद्वितीय रहा है। चिन्तन और अनुभव के आखिरी छोर तक पहुँचकर यहाँ के संतों और विचारकों ने जो कुछ कहा है, वह कोहेनूरों से तोला जा सकता है।

हमारी इस पुस्तक से इन बुद्ध-वचनों का क्या सम्बन्ध है, इसके लिए आप देखेंगे कि जातक-कालीन हमारी संस्कृति इन वचनामृतों में दही में घी की तरह व्याप्त है, जिसे सुधी विलोकर ग्रहण कर सकते हैं। मन, शरीर, संसार, दुःख, आत्मावलम्बन, पुरुषार्थ, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, शील आदि विषयों के सम्बन्ध में तात्कालिक वातावरण कैसा था, समाज किन कुरीतियों से घिरा था और रूढ़ियों ने समाज को किस तरह ग्रस लिया था, आदि बातों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हमें इन वचनामृतों से मिलती है। तत्कालीन समाज में बात कहने का ढंग कैसा था और तर्क का कैसा दुरुपयोग तथा सदुपयोग होता था, इस पर भी एक झलक हमें मिलती है। उस समय हमारे व्यसन कैसे थे, राजनीति के कैसे-कैसे दाँव-पेच चलते थे, आदि विषयों के सम्बन्ध में भी ये नीति-वाक्य हमें बतलाते हैं। यही कारण है कि हम जातकों में से चुनकर कुछ नीति-वाक्य यहाँ उपस्थित कर रहे हैं।

किसी भी जाति के महापुरुषों के द्वारा कहे गये नीति वाक्यों की गहराई से छान-बीन करने पर उस जाति के विचारों के स्तर का पता चलता है। भगवान् बुद्ध के वाक्य मननीय हैं और वे हमारे जीवन के प्रत्येक अंश का स्पर्श करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कोई भी महापुरुष अपने पूर्व अनुभवों की एकदम उपेक्षा कर अपना मत स्थापित नहीं कर सकता। जिस युग में वह होता है, उस युग के परम्परागत आचारों और विचारों का प्रभाव उसके विचारों पर भी अवश्य पड़ता है! वह इन्हें बिलकुल त्याग कर नहीं बढ़ सकता है। हाँ, कुछ का त्याग करता है, कुछ को संशोधित रूप में और कुछ विचारों को अपनी ओर से भी देता है। बुद्ध ने भी यही किया है। हमारे कथन की पुष्टि आपको इन नीति-वाक्यों में मिलेगी।

अपण्णकं ठानमेके दुतियं आहु तक्किका।
एतदञ्ञाय मेधावी तं गण्हे यदपण्णकं॥

कुछ लोग अ-यथार्थ बात कहते हैं और कुछ तार्किक लोग दूसरी अयथार्थ बात कह रहे हैं। बुद्धिमान् पुरुष उसीको ग्रहण करे, जो यथार्थ है।

—अपण्णक जातक

अप्पकेनापि मेधावी पाभतेन विचक्खणो।
समुट्ठापेति अत्तानं अणुं अग्गिं व सन्धमं॥

मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष थोड़ी-सी आग को भी फूँक-फूँक कर बढ़ा लेता है, उसी तरह मेधावी थोड़ी-सी पूँजी को लेकर भी उसे उन्नत कर डालता है।

—चुल्लसेट्ठि जातक

हिरिओत्तप्पसम्पन्ना सुक्कधम्मसमाहिता।
सन्तो सप्पुरिसा लोके देवधम्माति वुच्चरे॥

लज्जा और निन्दा-भय से अलंकृत और शुभकर्मों में लगे रहनेवालों को शान्त और सत्पुरुष देव-धर्म कहते हैं।

—देवधम्म जातक

यञ्च अञ्ञे न रक्खन्ति यो च अञ्ञे न रक्खति।
स वे राज, सुखं सेति कामेसु अनपेक्खवा॥

जिसकी न कोई रक्षा करता हो और न जिस पर किसीकी रक्षा का भार हो, वही भोगों से रहित होकर सुख की नींद सोता है।

—सुखविहारी जातक

सचे इमस्स कायस्स अन्तो बाहिरतो सिया।
दण्डं नूनगहेत्वान काके सोणे च वारये॥

किसी भी तरह (ऊपर से सुन्दर दिखलाई पड़नेवाले) इस शरीर के भीतर का हिस्सा बाहर आ जाय, तो इसमें संदेह नहीं कि डंडा लेकर कौओं और कुत्तों को खदेड़ना पड़े। —निग्रोधमृग जातक

ये वद्धमपचायन्ति नरा धम्मस्स कोविदा।
दिट्ठेव धम्मे पासंसा सम्पराये च सुग्गति॥

जो धर्म के ज्ञाता हैं, वड़ों (श्रेष्ठजनों) की पूजा करते हैं—आदर करते हैं, वे इस जन्म में प्रशंसा प्राप्त करते हैं और परलोक में उन्हें सुन्दर गति (सुगति) की प्राप्ति होती है। —तित्तिर जातक

एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो।
सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा॥

(इस प्रकार) मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना जाता है, उसके अधर्म करने से शेष प्रजा (जनसाधारण) पहले (से ही) अधर्म करती है (करने लगती है)।

गवं तो तरमानानं उजुं गच्छति पुङ्गवो।
सब्बा गावी उजुं यान्ति नेत्ते उजुगते सति॥

गौएँ नदी में तैरती हैं, यदि बैल (जो नेता होता है) सीधा जाता है, तो सभी गायें सीध में (ही) जाती हैं।

पापोपि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति॥

जब तक पापी का पाप पकता नहीं—पूर्णता तक नहीं पहुँच जाता, वह सुख भोगता है; किन्तु जैसे पाप पककर फल प्रकट करने लगता है, दुःखों का अन्त नहीं रह जाता।

—खदिरंगार जातक

भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥

पुण्य कर्म करनेवाले का पुण्य (भद्रं) जब तक पकता नहीं, पुण्यात्मा दुःख भोगता है; किन्तु जब पुण्य पककर फल प्रकट करने लगता है, तो फिर सुखों का अन्त नहीं रह जाता।

—खदिरंगार जातक

यो चीध कम्मं कुरुते पमाय
थामबलं अत्तनि संविदित्वा।
जप्पेन मन्तेन सुभासितेन
परिक्खवासो विपुलं जिनाति॥

वह (सभी) बड़े अर्थ को प्राप्त कर लेता है, जो अपनी शक्ति और बल का अनुमान करके, शक्ति के भीतर कोई काम करता है और विचारपूर्वक, अध्ययन (जो काम करना चाहता हो, उसके सम्बन्ध में पूरा ज्ञान और पूरी जानकारी प्राप्त करके) मन्त्रणा (योग्य व्यक्तियों से सलाह करके) तथा निर्दोष वाणी का आश्रय ग्रहण करता है।

नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका॥

(केवल) नक्षत्र-ग्रहदोषादि विचार के फेर में पड़े रहनेवाले व्यक्ति का काम नष्ट होता है। मतलब की सिद्धि (अर्थ) ही शुभ नक्षत्र है। ताराओं से क्या बनना-बिगड़ना है।

—नक्खत्त जातक

यो च उप्पतितं अत्थं खिप्पमेव निबोधति।
मुच्चते सत्तुसम्बाधा न च पच्छानुतप्पति॥

ऐसा व्यक्ति न तो कभी पछताता है और न शत्रु के फन्दे में फँसता है, जो किसी बात को, जैसे ही वह पैदा हो, तुरन्त भाँप लेता है—समझ जाता है।

यो दन्धकाले तरति तरणीये च दन्धति।
दुक्खपण्णंव अक्कम्म अत्थं भञ्जति अत्तनो॥

जो धीरे-धीरे करने योग्य काम को जल्दबाजी (हड़बड़ी) से करता है और जल्दी निबटानेवाले काम को धीरे-धीरे करता है, वह अपने अर्थ को नष्ट कर देता है, जैसे सूखे पत्तों को कोई रौंद कर चूर कर डाले।

असिंसेथेव पुरिसो न निब्बिन्देय्य पंडितो।
पस्सामि वोहं अत्तानं यथा इच्छिं तथा अहू॥

पुरुष आशा लगाये रखे। निराश होना बुद्धिमान् का काम नहीं है। मैं तो अपने को ही देखता हूँ—जैसी मेरी इच्छा थी, वैसा ही फल प्रकट हुआ।

—महासीलव जातक

यस्मिं मनो निविसति चित्तं वापि पसीदति।
अदिट्ठपुब्बके पोसे कामं तस्मिम्पि विस्ससे॥

जिस व्यक्ति पर मन टिक जाता है अथवा जिससे मन प्रसन्न होता है, पहले से कोई परिचय या साक्षात्कार न रहने पर भी उस पर विश्वास कर लिया जाता है।

—साकेत जातक

सादुं वा यदि वासादुं अप्पं वा यदि वा बहुं।
विस्सट्ठो यत्थ भुञ्जेय्य विस्सास परमा रसा॥

जहाँ विश्वस्त होकर (विश्वासपूर्वक) भोजन करे, वहीं वह अच्छा लगता है—भोजन सुस्वादु हो या अस्वादु, थोड़ा हो या बहुत। 'विश्वास' ही सभी रसों में परम रस है।

ते जना सुखमेधन्ति नरा सग्गगतारिव।
ये वाचं सन्धिभेदस्स नावबोधन्ति सारथि॥

(हे सारथी) चुगलखोर की फूट डालनेवाली बातों की ओर जो ध्यान नहीं देता, वह स्वर्गगामी (सत्पुरुषों, पुण्यात्माओं) व्यक्तियों की तरह सुख की नींद सोता है।

न तं जितं साधु जितं यं जितं अवजीयति।
तं खो जितं साधु जितं यं जितं नावजीयति॥

जिस जीत के बाद फिर हार हो जाय, वह जीत भी कोई जीत है? सच्ची जीत वही है, जिसके बाद फिर हार न हो।

—कुद्दाल जातक

यो तं विस्सासये तात, विस्सासञ्च खमेय्यते।
सुस्सूसीच तितिक्खी च तं भजेहि इतो गतो॥
यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कटं।
ओरसीव पतिट्ठाय तं भजे हि इतो गतो॥
हलिद्दरागं कपिचित्तं पुरिसं रागविरागिनं।
तादिसं तात मा सेवि निम्मनुस्सम्पि चेसिया॥

ऐसे पुरुष की संगति करना, जो विश्वास करे और तुम भी (उसका) विश्वास कर सको, जो तुम्हारी बातें सुनना चाहे तथा तुम्हारे दोषों को क्षमा कर सके।

जो मन, वचन और शरीर से दुष्कर्म करनेवाला न हो, जो औरस पुत्र (कुलीन) की तरह सम्मान प्राप्त करता हो, ऐसे पुरुष (सत्पुरुष) की संगति करना।

हल्दी के रंग की तरह तुरन्त उड़ जानेवाला, बन्दर की तरह जिसका चित्त (चंचल) हो, जो कभी रागी और कभी विरागी हो जाता हो—ऐसे का साथ (कदापि) न करना।

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मनुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो॥

एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो हजारों लोगों को साथ लेकर युद्ध में हजारों व्यक्तियों को पराजित कर देता है। एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो अपने को ही जीतता है। जिसने अपने को जीत लिया वही श्रेष्ठ युद्ध-विजेता है।

—कुद्दाल जातक

अनब्भितो ततो आग अननुञ्ञातो इतो गतो।
यथागतो तथागतो तत्थ का परिवेदना॥

विना बुलाये ही जो वहाँ से आया और विना आज्ञा लिये चलता बना—जैसे (अनाहूत) आया वैसे ही (चुपचाप) चला गया, उसके लिए अब शोक कैसा, रोना-पीटना कैसा?

सचे अयं भूतधरं न सक्को
समं मनुस्सो करणायमेको।
एवमेव त्वं ब्रह्मे, इमे मनुस्से
नानादिट्ठिके नानयिस्ससि ते॥

(हे ब्रह्म) एक मनुष्य (कभी) इस पृथ्वी को समतल (समान) नहीं कर सकता। नाना दृष्टि के (तरह-तरह के आचार और विचारवाले) लोगों को तुम भी अपने मत में नहीं ला सकते।

अकतञ्ञुस्स पोसस्स निच्चं विवरदस्सिनो।
सब्बं चे पठविं दज्जा नेव नं अभिराधये॥

ऐसे व्यक्ति को जो अ-कृतज्ञ हो, जो केवल दोषों की ही खोज में लगा रहता हो, उसे यदि सारी पृथिवी भी दे दी जाय, तो वह सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता।

—सीलवनागराज जातक

न सो मित्तो यो सदा अप्पमत्तो
भेदासङ्की रन्धमेवानुपस्सी।
यस्मिञ्च सेति उरसीव पुत्तो
स वे मित्तो यो अभेज्जो परेहि॥

वह मित्र नहीं है, जो मन लगाकर मित्र की बुराइयाँ ढूँढा करता है—फूट पड़ने का भय बना रहता है, इसीलिए जिसे कोई भी फोड़ नहीं सकता, जिसकी गोद में सिर रखकर (सुख से) सो सकता है, जैसे माता की गोद में सिर रखकर कोई सोता हो, वही मित्र है।

हिरिं तरन्तं विजिगुच्छमानं
तवाहमस्मि इति भासमानं।
सेय्यानि कम्मानि अनादियन्तं
ने सो ममन्ति इति नं विजञ्ञा ॥

उस आदमी को (कभी) अपना नहीं समझे, जो उचित कर्मों को नहीं करनेवाला लज्जा-रहित और घृणित (की तरह) 'मैं तेरा हूँ', कहकर बात बनाता रहे।

सच्चं किरेवमाहंसु नरा एकच्चिया इध।
कट्ठं विप्लावितं सेय्यो नत्वेवेकच्चयो नरो ॥

कुछ बुद्धिमानों का यह कहना बिलकुल सत्य है कि कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं कि वे यदि पानी में डूब रहे हों, तो उनको बाहर निकालने से (उनकी जान बचाने से) कहीं अच्छा है किसी बहती हुई लकड़ी को बाहर निकालना।

—सच्चंकिर जातक

पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीति रसं पिवं ॥

एकान्त में निवास कर और शान्ति का रस पान करके मनुष्य निर्भय हो जाता है। जो धर्म का प्रेम-रस चखता है, वह पापरहित होता है।

यञ्च जञ्ञा कुले जातं गब्भे तित्तं अमच्छरिं।
तेन सखिञ्च मित्तञ्च धीरो संधातुमरहति ॥

जिसके सम्बन्ध में जान ले कि उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ है और गर्भ से ही (माता के गर्भ से ही) संतोषी और मात्सर्य (छतीसापन) रहित है, धीर आदमी ऐसे को ही मित्र और सखा बनावे।

साधु सम्बहुला ञाती अपि रुक्खा अरञ्ञजा।
वातो वहति एकट्ठं ब्रहन्तम्पि वनस्पतिं ॥

ज्ञानियों का—भाई-बन्धुओं का—मिलजुल कर रहना ही कल्याणकर है। अकेला वृक्ष को आँधी तोड़-मरोड़ कर साफ कर देती है।

—रुक्खधम्म जातक

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं
सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ॥

जो ऐसे मनुष्य को दोषी करार देता है, जो शुद्ध निर्मल और दोष-रहित हो, उस दोष ठहरानेवाले मूर्ख के (सिर पर ही) पाप लगता है। वह धूल (लौटकर) उसी पर पड़ती है, जो उसे हवा के रुख पर फेंकता है।

न सोचनाय परिदेवनाय
अत्थो च लब्भा अपि कप्पकोपि।

सोचन्तमेनं दुखितं विदित्वा
पच्चत्थिका अत्तमना भवन्ति ॥

चिन्तित और कातर देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं। यदि न चिन्ता करें और न रोवें-पीटें, तो (थोड़ा ही सही) लाभ ही होता है।

असङ्कियोम्हि गामम्हि अरञ्ञे नत्थि मे भयं ।
उजुमग्गं समारूळ्हो मेत्ताय करुणाय च ॥

मैं ग्राम से भयरहित हूँ और न वन में ही मुझे किसी प्रकार का भय है। मैं मैत्री और दया (करुणा) का पालन करनेवाला सीधे पथ का पथिक हूँ।

—असंकिय जातक

भावार्थ यह कि जिसके हृदय में दया है, जो मैत्री-धर्म का पालन शुद्ध हृदय से करता है, उसे भय कैसा—उसका कोई भी वैरी नहीं है। सही बात तो यह है कि हमारे बुरे काम ही हमारे भीतर भय और आशंका पैदा करते हैं और अहिभय-न्याय से सबको अपना शत्रु मान बैठते हैं, फिर हमारा उनके साथ व्यवहार भी बुरा होने लगता है और उसकी प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि घर क्या, बाहर क्या, तमाम हम शत्रु पैदा कर लेते हैं, जो हमारे विनाश का कारण बनते हैं।

अहिभय-न्याय का मतलब यह है कि साँप एक दुष्ट जीव होता है। अपनी दुष्टता के कारण वह यह जानता है कि सभी उसकी जान के ग्राहक हैं, कोई रक्षक य अपना नहीं है। वह अपनी ओर या अपने निकट आनेवाले प्रत्येक प्राणी के सम्बन्ध में यह मान लेता है कि वह कुचलने या मारने के लिए आ रहा है। इस आशंका से ग्रस्त होकर वह पहले ही चोट कर बैठता है।

जो हृदय में मैत्री-भाव और दया भरकर संसार में विचरण करता है, वह घर में रहे वा वन में, उसका कोई विरोधी नहीं है—वह किसीको अपना वैरी नहीं मानता। उसका रास्ता सीधा है, वह टेढ़ी-मेढ़ी चाल से नहीं चलता और न गलत रास्ता ही पकड़ता है।

यथा भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥

जिस प्रकार वर्ण या सुवास को बिना हानि पहुँचाये भौंरा फूलों के रस को लेकर चला जाता है, उसी तरह मुनि (ज्ञानी) गाँव में (संसार में) विचरण करे (रहे)।

—इल्लीस जातक

भावार्थ यह कि मुनि उसे कहते हैं, जो मनन करनेवाला हो, ज्ञानी और श्रेय-पथ का पथिक हो। ऐसे सत्पुरुष के लिए उचित है कि जल में रहनेवाले कमल की तरह संसार से अलिप्त रहे। धरती और आकाश से दूर कोई भी जा नहीं सकता यहीं रहना है, तो तरह-तरह के विकारों से बचकर ही रहना उचित है। यह संसार फूल है, सत्पुरुष भौंरों की तरह मधुपान करे, सुवास लेकर अलिप्त रहे, लिप्त न हो। कलछी कभी इस

पतीली में तो कभी उस कढ़ाई में भी घूमती है; दाल, भात, शाक-भाजी, दूध, हलवा, सब में कलछी डुबकी मारती है, मगर किसी का स्वाद नहीं जानती।

सच्चा ज्ञानी वही है, जो जनकल्याण के लिए, आर्त्तजन की सेवा करने में घूमे सबसे मिले, सबकी सेवा करे, मगर अपने को संसार के प्रपंचों से दूर ही रखे। यदि वह ऐसा नहीं करेगा, तो फँसकर अपने को समाप्त कर डालेगा। जो पाश-बद्ध है, वह पशु है और जो पाश-मुक्त है, वह पशुपति है।

पाश-मुक्त वही है, जो अनासक्त-योग के मर्म को भली भाँति जानता हो और जिसके भीतर ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ हो। ज्ञान की आँखों से सत्य को पहचानने-वाला कभी मिथ्या के जाल में नहीं फँसता। यह विश्व-प्रपंच मिथ्या ही तो है।

मित्तो हवे सत्तपदेन होति
सहायो पन द्वादसकेन होति।
मासद्धमासेन च ञाति होति
अत्तुत्तरिं अत्तसमोपि होति॥

सात कदम साथ चलने से कोई भी मित्र बन जाता है, बारह दिन साथ रहने से सहायक, महीना-आधा महीना साथ रहे तो ज्ञाति-बन्धु और उनसे अधिक साथ रहे तो अपने जैसा—आत्मीय—बन जाता है।

—कालकण्णि जातक

यं त्वं अङ्कस्मिं वड्ढेसि खीररुक्खं भयानकं।
अमन्त खो तं गच्छामि वुड्ढिमस्स न रुच्चति॥

तू जिस भयानक दुग्ध-वृक्ष (वट-वृक्ष, जिसमें से दूध निकलता है) को गोद में पाल रहा है—बढ़ा रहा है—मुझे इसका बढ़ना अच्छा नहीं लगता। मैं चेतावनी दिये जाता हूँ।

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं
सीलं च बुद्धानुमतं सुतं च।
धम्मानुवत्ती च अलीनता च
अत्थस्स द्वारा पमुखा छडेते॥

आरोग्यता की पहले इच्छा करो; क्योंकि यह परम लाभ है। शील, ज्ञानवृद्धों का उपदेश, बहुश्रुतता, धर्मानुकूल आचरण और अनासक्ति—ये छह उन्नति (अर्थ) के मुख्य द्वार हैं।

—अत्थस्सद्वार जातक

हंसो पलासमवच निग्रोधो सम्म जायति।
अङ्कस्मिं ते निसिन्नोव सो ते मम्मानि छेच्छति॥

(हंस ने पलास से कहा—) मित्र, यह वट-वृक्ष (तुझ पर) पैदा हो रहा है। (यह जान ले कि) तेरी गोद में बैठा रहकर यह तेरे ही प्राण ले लेगा।

न तस्स बुड्ढि कुशलप्पसत्था
यो वड्ढमानो घसते पतिट्ठं।
तस्सूपरोधं परिसङ्कमानो
पतारयी मूलवधाय धीरो॥

बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसे (दुष्ट) की प्रशंसा नहीं करते, जो जिस पर प्रतिष्ठित हो, उसीको खा जाय। उस (दुष्ट) से उत्पन्न होनेवाली बुराई की आशंका धीर पुरुष को रहती है, (अतः) उस (दुष्ट) को समूल बर्बाद कर देने का प्रयत्न करना उचित है। ऐसे दुष्टों की रक्षा करना भी घोर पाप है।

यस्स मङ्गला समूहता
उप्पाता सुपिना च लक्खणा च।
स मंगलदोसवीतवत्तो
युगयोगाधिगतो न जातुमेति॥

जिस व्यक्ति के मांगलिक, अमांगलिक-सम्बन्धी शंकाएँ, ग्रहणादि-सम्बन्धी उत्पातों का भय, शुभाशुभ स्वप्नों की चिन्ता, शुभाशुभ लक्षणों के विचार (ज्ञान के द्वारा) समूल नष्ट हो चुके हैं, वह शुभ-अशुभ को लाँघ जानेवाला (ज्ञानी पुरुष) है तथा द्वन्द्वधर्मों को जीत लेने के कारण वह फिर इस संसार में जन्म नहीं ग्रहण करेगा (वह द्वन्द्वातीत हो चुका, अतः जीवन-मरण के बन्धनों से परे ही उसकी स्थिति है)।

—मंगल जातक

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥

यह संसार का सनातन नियम है कि वैर से कभी वैर शान्त नहीं होता—अवैर से ही वैर शान्त होता है।

कल्याणीमेव मुञ्चेय नहि मुञ्चेय्य पापिकं।
मोक्खो कल्याणिया साधु मुत्वा तपति पापिकं॥

कल्याण करनेवाली वाणी को ही मुँह से बाहर करो। पापी वाणी (ऐसी वाणी जो दुःख पहुँचानेवाली हो) को कभी मत बोलो। पापी वाणी बोलनेवाला—बुरी बातों को बोलनेवाला बाद में पछताता है।

—सारम्भ जातक

रोदितेन हवे ब्रह्मे, मतो पेतो समुट्ठहे।
सब्बे सङ्गम्म रोदाम अञ्ञमञ्ञस्स ञातके॥

(हे ब्रह्म) निश्चय ही हम सब एक दूसरे के भाई-बन्धु मिलकर विलाप करें, यदि रोने-पीटने से मरा प्रेत (जीव) जी उठे।

अमानना यत्थसिया सन्तानं वा विमानना।
हीनसम्मानना वापि न तत्थ वसतिं वसे॥

ऐसी जगह कभी नहीं बसे, जहाँ शान्त पुरुषों का आदर न हो, अपमान हो तथा नीच व्यक्तियों का सम्मान हो।

यो पुब्बे कतकल्याणो कतत्थो नावबुज्झति।
पच्छा किच्चे समुप्पन्ने कत्तारं नाधिगच्छति॥

जो पहले किये गये उपकार को याद नहीं रखता (अ-कृतज्ञ हो जाता है), उसे फिर कभी काम पड़ने पर कोई भी उपकार करनेवाला कभी नहीं मिलता।

—अकतञ्ञु जातक

सीलं सेय्यो सुतं सेय्यो इति मे संसयो अतु।
सीलमेव सुता सेय्यो इति में नत्थि संसयो॥

इस विषय में मुझे सन्देह था कि सदाचारी होना श्रेष्ठ है या बहुश्रुत (बहुविज्ञ विद्वान्)। सदाचारी ही बहुश्रुत होने से श्रेष्ठ है—अब मुझे संशय नहीं रहा।

न वेदा सम्परायाय न जाति न पि बन्धवा।
सकञ्च सीलं संसुद्धं सम्पराय सुखावहं॥

परलोक में सुख देनेवाला कोई नहीं है—न वेद, न जाति और न बन्धु-बान्धव। अपना शुद्ध शील (चरित्र) ही परलोक में सुखदायक है।

लित्तं परमेन तेजसा
गिलमक्खं पुरिसो न बुज्झति।
गिल रे, गिल पापधुत्तक
पच्छा ते कटुकं भविस्सति॥

विष से लिपटी हुई—विषाक्त—गोली निगलनेवाला, निगलते समय, नहीं जानता (कि वह जहर निगल रहा है)। अरे पापी, धूर्त्त, निगल जा, निगल जा! (निगलने के बाद) तू पीछे इसका कड़वा फल भोगेगा ही।

—लित्त जातक

खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा चाण्डाल पुक्कुसा।
इस धम्मं चरित्वान भवन्ति तिदिवे समा॥

क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चांडाल तथा पुक्कुस (शव छोड़नेवाले को चांडाल कहते हैं और हड्डियाँ छोड़नेवाला पुक्कुस कहा जाता है)—ये सभी धर्माचरण करने से देवता के समान (पूजनीय) हो जाते हैं।

उक्कट्ठे सूरमिच्छन्ति मन्तीसु अकुतूहलं।
पियञ्च अन्नपानम्हि अत्थे जाते च पंडितं॥

जब युद्ध सिर पर आ पड़े, तो शूर-वीर की खोज (वीर पुरुष मिले ऐसी इच्छा) होती है, सलाह करते समय (किसी गम्भीर विषय में परामर्श करने के लिए) ऐसे व्यक्ति को प्राप्त करने की इच्छा होती है, जो बात प्रकट करनेवाला न हो, खाने-पीने की सामग्री (पर्याप्त) रहने पर जी चाहता है कि कोई प्रियजन मिले (जिसके साथ बैठ-

कर आनन्दपूर्वक भोजन का सुख प्राप्त हो)। कोई (जटिल) समस्या उपस्थित होने पर पंडित (बुद्धिमान् और विवेकी) प्राप्त हो (मिले), ऐसी इच्छा होती है।

—महासार जातक

जप्पेन मन्तेन सुभासितेन
अनुप्पदानेन पवेणिया वा।
यथा यथा यत्थ लभेथ अत्थं
तथा तथा तत्थ परक्कमेय्य ॥

अर्थ सिद्ध करने के लिए कोई भी उपाय बाकी न छोड़े, चाहे मन्त्र-जप (तन्त्र-मन्त्र) करना पड़े, मन्त्रणा (सलाह या षड्यन्त्र) करनी पड़े, मीठी बात (खुशामद) करनी पड़े या देना-लेना (रिश्वत-दलाली) पड़े या कुलागत सम्बन्ध ही क्यों न स्थापित करना पड़े (अपना मतलब जरूर सिद्ध करे—चाहे जिस उपाय से भी काम बने)।

अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥

जिसका चित्त अ-चंचल (स्थिर) नहीं है, जिसका चित्त प्रसन्न नहीं रहता और जो **सद्धर्म** को नहीं जानता वह **प्रज्ञावान्** नहीं हो सकता।

—तेलपत्त जातक

पापानि कम्मामि करित्वान राज,
बहुस्सुतो चे न चरेय्य धम्मं।
सहस्सवेदोपि न तं पीटच्च
दुक्खा पमुञ्चे चरणं अपत्वा ॥

विना आचरण किये दुःख से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। बहुश्रुत होकर (पूर्ण पण्डित होकर) पाप करता हो, धर्माचरण से विमुख हो, तो (चार क्या) हजार वेद पढ़ना भी बेकार है।

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं ॥

जिसका चित्त आसक्तियों से अलग है, स्थिर है, पाप-पुण्य से परे है, उस जागरुक पुरुष के लिए कहीं भी भय नहीं है।

—तेलपत्त जातक

पुब्बेव दाना सुमनो ददं चित्तं पसादये।
दत्वा अत्तमनो होति एसा यञ्ञस्स सम्पदा ॥

दान-यज्ञ की सम्प्राप्ति है—दान देने के पहले प्रसन्न रहे, दान देते समय प्रफुल्लचित्त रहे और देने के बाद (तो और भी) पुलकित हो।

धीरो च भोगे अधिगम्म सङ्गण्हाति च ञातके।
तेन सो कित्तिं पप्पोति पेच्च सग्गे च मोदति ॥

जो भोग्यवस्तुओं को जमा करता है और अपने लोगों को खिलाता-पिलाता (रहता) है उस धीर पुरुष का यश बढ़ता है और जब वह मरता है, तब स्वर्ग जाता है।

परोसहस्सम्पि समागतानं
कन्देय्युं ते वस्ससतं अपञ्ञा।
एकोव सेय्यो पुरिसो सपञ्ञो
यो भासितस्स विजानाति अत्थं॥

सैकड़ों वर्ष तक हजारों अ-प्रज्ञावान् (अज्ञानी) व्यक्ति चिल्लाते रहें, उनसे वह (एक ही) प्रज्ञावान् कहीं अच्छा है, जो कहने के अर्थ को समझता है (जो कहता है, उसका मर्म समझता है—समझकर बोलता है)।

—परोसहस्स जातक

यमेते वारिजं पुप्फं अदिन्नं उपसिङ्घसि।
एकंगमेतं थेय्यानं गन्धथेनोसि मारिस॥

बिना पिये हुए कमल (पुष्प) तू सूँघ रहा है—यह भी चोरी ही है, चोरी का एक प्रकार है। तू गन्धचोर है।

यत्थ वेरी निवसति न वसे तत्थ पण्डितो।
एकरत्तं द्विरत्तं वा दुक्खं वसति वेरिसु॥

पंडित (समझदार) आदमी को चाहिए कि जहाँ पर दुश्मन का निवास हो, वहाँ कभी न ठहरे (निवास करे)। वैरी के साथ एक या दो रात रहना भी निरापद नहीं है (रहनेवाला दुःख भोगता है)।

—वेरी जातक

अप्पिच्छस्स ही पोसस्स अप्पचिन्ति सुखस्स च।
सुसंगहितपमाणस्स वुत्ती सुसमुदानिय॥

उसीकी जीवन-चर्या आनन्दपूर्वक चल सकती है (चलती है), जो बहुत ही अल्प इच्छा करता हो (अधिक प्राप्त करने का लोभ जिसमें न हो), जिसे अल्प चिन्ता का सुख प्राप्त हो और जो आनन्द से खाता (जिसे अपने भोजन की मात्रा का सही-सही ज्ञान) हो।

अबद्धा तत्थ बज्झन्ति यत्थ बाला पभासरे।
बद्धापि तत्थ मुच्चन्ति यत्थ धीरा पभासरे॥

मूर्ख आदमी का बोलना ऐसा होता है कि मुक्त व्यक्ति भी (उसके बोलने के परिणामस्वरूप) बँध जाते हैं (बन्धन में पड़ जाते हैं)। पंडितों का बोलना ऐसा होता है कि बन्धन में पड़े हुए व्यक्ति भी (उनके बोलने के प्रभाव से) मुक्त हो जाते हैं।

—बन्धन जातक

अदोतमूलं सुचिवारिसम्भवं
जातं यथा पोक्खरिणीसु अम्बुजं।

पदुमं यथा अग्गिनिकासिफालिमं
न कद्दमो न रजो वारि लिम्पति ॥
एवम्पि वोहारसुचिं असाहसं
विसुद्ध कम्मन्तमपेत पापकं।
न लिम्पति कम्मकिलेस तादिसो
जातं यथा पोक्खरिणीसु अम्बुजं ॥

दिवाकर की किरणों (के स्पर्श से) पुष्पित (विकसित) कमल जिसके श्वेत मूल हैं और जो पवित्र जल में, पुष्करिणियों में पैदा हुआ है, न तो कीचड़ से लिपटाता है, न धूलि से गंदा होता है और न (जल में रहकर भी) जल से भींगता है, उसी प्रकार वह (सत्पुरुष, ज्ञानी, कर्मकुशल व्यक्ति) जो जबरदस्ती नहीं करता, पवित्र व्यवहार करनेवाला है, विशुद्धकर्मा तथा निष्पाप है, कर्म के मैल से (कभी) लिप्त नहीं होता है। भावार्थ यह है कि अनासक्त कर्मयोगी अलिप्त रहकर कर्म करता है, कर्म-फल की न तो आकांक्षा करता है और न उसमें लिप्त ही होता है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म बाधक नहीं होता, बन्धन नहीं बनता और कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वसिष्ठ का वचन है—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

—योग०, ६ उ०, १९९. ४

यसं लद्धान दुम्मेधो अनत्थं चरति अत्तनो।
अत्तनो च परेसं च हिंसाय पटिपज्जति ॥

मूर्ख व्यक्ति सम्पत्तिमान् होकर (धनवान् होकर) अपनी तो हानि करता ही है, दूसरों की भी हिंसा कर देता है।

—दुम्मेध जातक

एवमपज्जती पोसो पापियो च निगच्छति।
यो वे हितानं वचनं न करोति अत्थदस्सिनं ॥

वह मनुष्य, जो अपने बुद्धिमान् हितैषियों की सीख नहीं मानता, बुरी दशा में पहुँच जाता है, दुःख भोगता है।

निहीयति पुरिसो निहीनसेवी
न च हायेथ कदाचि तुल्यसेवी।
सेट्ठमुपनमं उदेति खिप्पं
तस्मा अत्तनो उत्तरिं भजेथ ॥

जो अपने से श्रेष्ठ हो, उसीका साथ करना चाहिए। ओछे लोगों की संगति करनेवाले का ह्रास होता है, अपने समान व्यक्ति का साथ करनेवाले का ह्रास नहीं होता तथा जो श्रेष्ठ व्यक्ति की संगति करता है, उसकी शीघ्र उन्नति होती है।

तथेव कस्स कल्याणं तथेव कस्स पापकं।
तस्मा सब्बं न कल्याणं सब्बं चापि न पापकं॥

वही (कोई वस्तु) किसीके लिए कल्याणकारक (हितकर) होता है, तो किसीके लिए अहितकर। अतः न तो सब (सभी वस्तुएँ) बुरी हैं और न भली।

—असिलक्खण जातक

एवमेवं मनुस्सेसु विवादो यत्थ जायति,
धम्मट्ठं पटधन्वन्ति सोहि नेसं विनायको।
धनापि तत्थ जीयन्ति राजकोसो पवड्ढति॥

मनुष्य में जब विवाद पैदा होता है तो (आपस में फैसला न करने के कारण) न्यायाधीश के पास (न्याय के लिए) जाता है। वह न्याय (तो) कर देता है (किन्तु परिणाम यह होता है कि) उसके धन की हानि होती है और राजकोश बढ़ता है।

न वाचमुपजीवन्ति अफलं गिरमुदीरितं।
यो च दत्वा अवाकयिरा तं दुक्करतरं ततो॥

कहकर दे देना (वचन देकर पालन करना) कह देने मात्र से कहीं कठिन काम है। मुँह से निकली हुई व्यर्थ बातों के भरोसे कोई नहीं जीता।

तात्पर्य यह है कि दुनिया केवल लम्बी-चौड़ी बातों के बल पर नहीं टिकी हुई है। सच्ची बात तो यह है कि दुनिया ऐसे ही सत्पुरुषों के बल पर कायम है, जो कहते हैं वह पूरा कर देते हैं। वादा कर देना जितना आसान है, वादा करके पूरा करना उतना आसान नहीं है। वचन की प्रतिष्ठा इसीमें है कि जो कहा जाय, वह पूरा किया जाय।

यो वे धम्मं धजं कत्वा निगूळ्हो पापमाचरे।
विस्सासयित्वा भूतानि विडारं नाम तं वतं॥

धर्म की ध्वजा बनाकर (धर्म, धर्म चिल्लाकर, धर्म के नाम पर, धर्म बेचकर) जो (सरल स्वभाव के) प्राणियों में विश्वास प्राप्त कर लेता है और खुद छिपकर पाप करता है; उसका व्रत विडाल-व्रत है।

—बिळारवत जातक

व्याकासि पुक्कसो पञ्हं अत्थधम्मस्स कोविदो।
सेनकं दानि पुच्छामि किं दुक्करतरं ततो॥

दान कम या अधिक कोई भी दे देता है, किन्तु देने से भी दुष्कर है देकर अनुतप्त नहीं होना (पछताना नहीं)।

पञ्ञा हि सेट्ठा कुसला वदन्ति
नक्खतराजारिव तारकानं।
सीलं सिरी चापि सतञ्च धम्मो
अन्वायिका पञ्ञवतो भवन्ति॥

तारा-मंडल में श्रेष्ठ चन्द्रमा है, पण्डित उसी प्रकार प्रज्ञा को श्रेष्ठ मानते हैं (दूसरे सभी गुण तारा हैं, प्रज्ञा चन्द्रमा है)। शील, श्री और वह धर्म, जो सत्पुरुषों का है, जो प्रज्ञावान् है, उसके पीछे (सारी निधियाँ) ये सभी चलते हैं—उसका (प्रज्ञावान् का) अनुसरण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी मति स्थिर है, जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है और अनासक्त रहकर कर्म करता है; शील, श्री, धर्म सभी उसके अनुचर हैं—उसे इनमें से किसीके लिए लालायित रहना नहीं पड़ता।

एकपण्णो अयं रुक्खो न भुम्या चतुरङ्गुलो।
फलेन विसकप्पेन महायं किं भविस्सति॥

धरती से चार अंगुल मात्र ऊँचा और एक ही पत्तावाला यह पौधा विष-जैसा (कड़ुआ) है, यह बड़ा होकर क्या करेगा (कैसा होगा)।

—एकपण्ण जातक

योचे याचनजीवानो काले यंच न याचति।
परञ्च पुञ्ञा धंसेति अत्तनापि न जीवति॥

वह भिक्षाजीवी, जो समय पर (उचित अवसर देखकर) याचना नहीं करता, वह दूसरे के पुण्य को नष्ट तो कर देता ही है, स्वयम् भी सुखी नहीं रहता (सुख से नहीं जीता)।

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं॥

जो क्रोधी है, उसे अ-क्रोध (शान्ति) से जीत लेना है, बुरे को भलाई और कंजूस को दान से पराजित कर देना है तथा झूठे को सचाई से हरा देना है।

—राजोवाद जातक

न साधु बलवा बालो यूथस्स परिहारको।
अहितो भवति ञातीनं सकुणानं व चेतको॥
धीरो च बलवा साधु यूथस्स परिहारको।
हितो भवति ञातीनं तिदसानं व वासवो॥
यो च सीलञ्च पञ्ञञ्च सुतञ्चत्तनि पस्सति।
उभिन्नमत्थञ्चरति अत्तनो च परस्स च॥
तस्मा तुलेय्यमत्तानं सीलपञ्ञा सुतामिव।
गणं वा परिहारे धीरो एको वापि परिब्बजे॥

बोलनेवाला तीतर-जैसे दूसरे तीतरों का अहितकारी होता है[1], उसी तरह मूर्ख

१. एक तीतर बोलता है। शिकारी समझ लेते हैं कि उधर तीतर है। उस बोलनेवाले तीतर के चलते बहुत-से तीतरों के प्राण जाते हैं। वह बोलकर जातिवालों के लिए मौत बुला लेता है।

अपने ही जातिवालों का अहितकारी होता है। मूर्ख यदि शक्तिमान् हो, तो भी उसके समूह (दल, वर्ग) का नेता बनना उचित नहीं है।

(जो) धैर्यवान् और (साथ ही) शक्तिमान् (भी) हो, तो उसके समूह नेतृत्व ग्रहण करना अच्छा है; क्योंकि वह अपनी जाति का हितकारी होता है, जैसे इन्द्र देवताओं का।

वह अपना और दूसरे का भी हित करता है, जो अपने में शील, प्रज्ञा और ज्ञान का (सही-सही) अनुभव करता है, इसीलिए अपने को (सदा) तौलता (आत्म चिन्तन के द्वारा सही-सही ज्ञान प्राप्त करता) रहे (ये गुण अपने में है या नहीं), यदि हो, तो चाहे गण का नेतृत्व करे या अकेला रहे।

असमेक्खितकम्मन्तं तुरिताभिनिपातिनं।
सानि कम्मानि तप्पेन्ति उण्हं वज्झोहितं मुखे॥

विना विचार किये जल्दबाजी से किये हुए काम उसी तरह तपाते (कष्ट देते) हैं जैसे (अत्यन्त) गरम भोजन (जल्दबाजी में) मुँह में डाल देने से (मुँह जल जाता है)। —सिगाल जातक

येनकेनचि वण्णेन परो लभति रुप्पनं।
महत्थियम्पि चे वाचं न तं भासेय्य पण्डितो॥

बहुत बड़ी हितकर बात कहना भी उचित नहीं है, यदि दूसरे को (सुननेवाले को) किसी प्रकार का भी क्लेश होता है—पंडित को ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिए।

नो चे अस्स सका बुद्धि विनयो वा सुसिक्खितो।
वने अन्धमहिसोव चरेय्य बहुको जनो॥

अपनी बुद्धि न हो और लोक-व्यवहार का उचित ढंग भी नहीं सीखा है—ऐसे व्यक्ति वन में घूमनेवाले अंधे भैंसे की तरह (इस धरती पर) विचरण करते हैं।

अपि चेपि दुब्बलो मित्तो मित्तधम्मेसु तिट्ठति।
सो ञातको च बन्धू च सो मित्तो सो च मे सखा॥

दुर्बल होकर भी जो मित्र-धर्म का पालन करता है, वही रिश्तेदार है, बन्धु है, मित्र और सखा है।

—गुण जातक

अद्दसं काम ते मूलं सङ्कप्पा काम जायसि।
न तं सङ्कप्पयिस्सामि एवं काम न होहिसि॥

हे संकल्प से पैदा होनेवाली कामना, मुझे तेरे मूल का ज्ञान हो गया। तेरे संकल्प विकल्प (कभी नहीं) उठाऊँगा। हे कामना, अब तू पैदा न हो सकेगी।

अप्पापि कामा न अलं बहुहिपि न तप्पति।
अहहा बाललपना पटिविज्झेथ जग्गतो॥

जागरूक रहकर ही काम-भोगों का त्याग करना होगा; क्योंकि न तो अल्प काम-भोगों से मन अघाता है और न अत्यधिक काम-भोगों से ही तृप्ति होती है।

यं त्वेव जञ्ञा सदिसो ममं
सीलेन पञ्ञाय सुतेन चापि।
तेनेव मेत्तिं कयिराथ सद्धिं
सुखावहो सप्पुरिसेन सङ्ग॥

उसीके साथ मित्रता करना उचित है, जिसके सदाचार, प्रज्ञा तथा ज्ञान को अपने बराबर का समझे। वह मैत्री सुख देनेवाली होती है, जो सत्पुरुषों के साथ की जाती है।

—इन्दसमानगोत्त जातक

धम्मो हवे हतो हन्ति नाहतो हन्ति किञ्चनं।
तस्मा हि धम्मं न हने मा तं धम्मो हतो हनी॥

धर्म (जब) नष्ट हो जाता है, तब नाश कर देता है। (यदि) वह नष्ट न हो, तो किसी तरह का भी अहित नहीं करता। धर्म नष्ट हुआ न कि वह तुम्हें भी बर्बाद कर डालेगा।

यदा पराभवो होति पोसो जीवितसङ्ख्ये।
अथ जालं च पासं च आसज्जापि न बुज्झति॥

उस समय प्राणी के निकट ही पड़ा हुआ न तो जाल सूझता है और न फंदे ही दिखलाई पड़ते हैं, जिस समय उसके विनाश की या जीवन पर संकट की घड़ी आ जाती है।

—गिज्झ जातक

अलीकं भासमानस्स अपक्कमन्ति देवता।
पूतिकञ्च मुखं वाति सकट्ठाना च धंसति॥
यो जानं पुच्छितो पञ्हं अञ्ञथा नं वियाकरे।

वह (व्यक्ति) जो जान-बूझ कर झूठ बोलता है, प्रश्न का झूठा जवाब देता है, उसके (रक्षक) देवता विदा हो जाते हैं, मुँह से बदबू आने लगती है और वह अपने स्थान से गिरकर धरती में धँस जाता है।

सङ्केथेव अमित्तस्मिं मित्तस्मिं न विस्ससे।
अभया भयमुप्पन्नं अपि मूलं निकन्तति॥

शत्रु से तो शंकित रहे ही, मित्र पर भी विश्वास न करे; (क्योंकि) अभय से जो भय पैदा होता है, वह तो जड़ भी खोद देता है।

—नकुल जातक

भावार्थ यह है कि मित्र तो अभय-दान देता है—वह कहता है, यहाँ तुझे भय नहीं है। मित्र शब्द का अर्थ होता है 'मापना'। अच्छी तरह मापकर, तौलकर ही किसीसे

मित्रता का नाता जोड़ा जाता है। मित्र से किसी तरह का दुराव भी तो नहीं रहता—वह सभी तरह के छिद्रों से परिचित रहता है। मित्र के निकट भय कैसा, शंका कैसी, खतरा कैसा। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु यदि वह चारपाई, जिस पर हम आराम से सोते हैं, रात को शेर बनकर खा जाय तो ? यदि ऐसी दुर्घटनाएँ पहले हो चुकी हों, तो चारपाई पर भी चौकन्ना होकर ही सोना पड़ेगा, यह उचित भी है। आज जो मित्र है, वह कल अ-मित्र भी बन सकता है; क्योंकि जिस नाता का एक दिन आरम्भ हुआ था, उसका अन्त भी निश्चित है। आरम्भ के साथ ही अन्त का भी जन्म होता है—किसी भी वस्तु के एक छोर पर आरम्भ है, तो दूसरे छोर पर अन्त। दोनों का सम्बन्ध तो अटूट है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर शत्रु से तो शंकित रहे ही, मित्र से भी चौकन्ना रहे। मित्र यदि प्रहार करेगा, तो फिर समूल नष्ट हो जाने की स्थिति पैदा हो जायगी। शत्रु के प्रहार को तो बल से भी व्यर्थ किया जा सकता है, दूसरे उपायों से भी आत्मरक्षा की जा सकती है, मगर विश्वास के सुनहले पर्दे के पीछे से मित्र जो बाण मारेगा, वह सीधे मर्मस्थान को चीरता-फाड़ता उस पार निकल जायगा। यही कारण है कि राजनीति किसीको मित्र मानने से मना करती है।

यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
एतदरिया सेवन्ति एतं लोके अनामतं॥

जिस में सत्य है, धर्म है, अहिंसा है, संयम है, आर्यजन[1] (श्रेष्ठजन) उसका ही (उसी धर्म या नीति का) सेवन करते हैं। यही अमर है।

—उपसाळ्हक जातक

जीवितं व्याधि कालो च देहनिक्खेपनं गति।
पञ्चेते जीवलोकस्मिं अनिमित्ता न आयरे॥

जीने की आयु, रोग, मृत्यु-समय, शरीर के पतन का स्थान और मरने के बाद क्या गति होगी—इन पाँच बातों का पता जीव-लोक में (अत्यन्त पंडित को भी) नहीं चलता।

—सकुणग्घि जातक

किच्छकाले किच्छसहो यो किच्छं नातिवत्तति।
स किच्छन्तं सुखं धीरो योगं समधिगच्छति॥

वही धीर पुरुष दुःख के अन्त में सुख-योग को प्राप्त करता है (सुख से उसका अशेष संयोग होता है), जो दुःख आ जाने पर उसे सहता है, मगर उसके अधीन नहीं होता।

गामे वा यदि वा रञ्ञे सुखं यत्राधिगच्छति।
तं जनित्तं भवित्तं च पुरिसस्स पजानतो॥
यम्हि जीवे तम्हि गच्छे न निकेतहतो सिया॥

---

१. आर्य चार प्रकार का होता है—(१) आचार आर्य, (२) दर्शन आर्य, (३) लिंग आर्य और (४) प्रतिषेध आर्य।

बुद्धिमान् को जहाँ भी सुख प्राप्त हो, वह चाहे गाँव हो या जंगल, वही स्थान उसके लिए जन्मभूमि है, वही पलने की जगह है—जहाँ रहकर जी सकता हो वहीं रहे, वहीं बसे। घर में रहकर (केवल इसलिए कि वह उसके पूर्वजों का निवास-स्थान है) मरनेवाला न बने।

—कच्छप जातक

न हेव कामना कामा नानत्था नत्थकारणा।
न कतं च निकत्वान धम्मा चवित्तुं अरहसि॥

धर्म से च्युत होना (किसी भी हालत में) उचित नहीं है—काम (भोगों) के लिए भी नहीं, अर्थ या अनर्थ के लिए भी नहीं और न कृत को नष्ट करने के लिए ही।

ऋत और सत्य शब्द वेदों में आये हैं। ऋत धर्म है और सत्य तो सत्य है ही। यह संसार इन्हीं दोनों धुरियों पर टिका हुआ है। एक धुरी अगर हटा दी जाय, तो दूसरी धुरी स्वयम् बेकार हो जाती है। 'ऋत' के तीन मार्ग बतलाये गये हैं (द्र०—अथर्व, ८।९।१३)—प्रजा के बल की रक्षा, राष्ट्र की रक्षा और व्यक्ति की रक्षा। श्रीमद्भागवत (११-१९-३८) ने 'ऋतं च सुनृता वाणी' कहा है—प्रियसत्य वाणी को सुनृता कहा गया है।

धर्म (ऋत) से विमुख होने पर सत्य का भी नाश हो जाता है—सत्य का साथ छूटा न कि सत्यानाश उपस्थित होते कितनी देर लगेगी। धर्म की रक्षा करने का मतलब है अपने इहलोक और परलोक की रक्षा करना। इहलोक के मानी हैं 'मैं' और परलोक के मानी 'आप।'

एवं धम्मं निरंकत्वा यो अधम्मेन जीवति।
सतधम्मोव लाभेन लद्धेनापि न नन्दति॥

जो धर्म का त्याग करके अधर्म से जीता है, उसे यदि सद्धर्म की तरह लाभ भी हो, फिर भी वह प्रसन्न नहीं होता।

—सतधम्म जातक

दुक्खं गहपतं साधु संविभञ्जञ्च भोजनं।
अहासो अत्थलाभेसु अत्थव्यापत्ति अव्यथो॥

सम्पत्ति अर्जन करने में जो कष्ट होता है, वह गृहस्थ के लिए अच्छा है (वह कष्ट, कष्ट नहीं है)। भोजन बाँटने में जो कष्ट होता है, वह भी अच्छा है। धन-लाभ हो, तो नम्र रहना अच्छा है और धन का नाश हो जाय, तो शान्त रहना (सबसे) अच्छा है।

दुद्ददं ददमानानं दुक्करं कम्म कुब्बतं।
असन्तो नानुकुब्बन्ति सतं धम्मो दुरन्नयो॥
तस्मा सतञ्च असतञ्च नाना होति इतो गति।
असन्तो निरयं यन्ति सन्तो सग्गपरायणा॥

वह जो कठिनाई से दिया जा सके—ऐसी वस्तु का देनेवाला (दानी), ऐसा काम जो कठिनाई से किया जा सके—ऐसे काम का करनेवाला (पुरुषार्थी), इन दोनों सत्पुरुषों का धर्म दुर्ज्ञेय (साधारण जनों की समझ के परे) होता है। असत्पुरुष ऐसा नहीं कर सकते। यही कारण है कि सत्पुरुषों और असत्पुरुषों की गति भी भिन्न-भिन्न होती है। सत्पुरुष तो स्वर्ग जाते हैं और असत्पुरुषों के लिए नरक है।

—दुद्द जातक

अप्पं पिवित्वान निहीनजच्चो
सो मज्जति तेन जनिन्द फुट्ठो।
धोरय्हसीली च कुलम्हि जातो,
न मज्जति अग्गरसं पिवित्वा॥

जिसका जन्म हीन-कुल में हुआ है, वह यदि थोड़ी-सी भी पी ले या स्पर्श ही कर ले तो मस्त हो जाता है—सनक उठता है। जिसने श्रेष्ठकुल में जन्म लिया है, स्थिर शीलवाला है वह उत्तम रस को पीकर भी अपनापा खो नहीं सकता—मदमत्त नहीं होता।

—बालोदक जातक

यथोदके आविले अप्पसन्ने
न पस्सति सिप्पिकसम्बुकञ्च।
सक्खरं वालुकं मच्छगुम्बं
एवं आविले हि चित्ते न पस्सति अत्तदत्थं परत्थं॥

अगर पानी गँदला रहे, तो उसके भीतर की सीपी, मछलियाँ, शंख, बालू और कंकड़ नहीं दिखलाई पड़ते। उसी पर चंचल-चित्त (अस्थिर चित्त) होने पर आत्मार्थ और परार्थ नहीं सूझ पाता।

—अनभिरति जातक

प्रश्न— **वण्णगन्धरसूपेतो अम्बाय अहुवा पुरे।**
तमेव पूजं लभमानो केनम्बो कटुकप्फलो॥

यह आम कड़वा कैसे हो गया? यह पहले वर्ण और रस से भरा-पूरा था (युक्त था), इसका सेवन भी होता था।

उत्तर— **पुचिमन्दपरिवारो अम्बो ते दधिवाहन!**
मूलं मूलेन संसट्ठं साखा साखा निसेवरे,
असात सन्निवासेन तेनम्बो कटुकप्फलो॥

यह तेरा आम्रवृक्ष (कड़वे) नीम-वृक्षों से घिरा हुआ है। उसकी जड़ जड़ से और शाखा शाखा से सटी हुई है। आम इसलिए कड़वा हो गया कि इसका साथ कड़वे (वृक्ष) से है।

—दधिवाहन जातक

चिरम्पि खो तं खादेय्य गद्रभो हरितं यवं।
पारुतो सीहचम्मेन रवमानोव दूसयि॥

हे गधा, सिंह की खाल ओढ़कर तू चिरकाल तक हरे जौ खाना, मगर तूने तो अपनी बोली बोलकर ही अपना सत्यानाश कर डाला।

—सीहचम्म जातक

न सन्ति देवा पवसन्ति नून
नहनून सन्ति इध लोकपाला।
सहसा करोन्तानं असञ्ञतानं
नहनून सन्ति पटिसेधितारो॥

जो असंयमी है, दुस्साहसिक और दुष्कर्म करनेवाला है, उसे देवता भी रोक नहीं सकते और न लोकपाल ही उसे रोक सकते हैं।

—मणिचोर जातक

अत्थो अत्थि सरीरस्मिं वद्धव्यस्स नमोकरे।
अत्थो अत्थि सुजातस्मिं सीलं अस्माकरुच्चति॥

शरीर की भी अपनी विशेषता है, ज्येष्ठ (उम्र में बड़ा) भी वन्दनीय है—प्रणाम का अधिकारी है, ऊँची जाति भी अपनी विशेषता रखती है, मगर हम तो शील-वान् (सदाचारी) को ही पसन्द करते हैं।

—साधुसील जातक

एतं दड़्हं बन्धनमाहु धीरा
ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतम्पि छेत्वान वजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय॥

धीर व्यक्ति लोहे, लकड़ी या रस्सी के बन्धन को (असली) बन्धन नहीं मानते। मणि, कुण्डलादि में जो आसक्ति है (धन में जो आसक्ति है), पुत्र-स्त्री की ओर जो झुकाव है, उन्हें ही दृढ़ बन्धन वे मानते हैं। ये बन्धन नीचे गिरानेवाले हैं, शिथिल हैं तथा कठिनाई से ही दूर होनेवाले हैं।

धीर पुरुष इनका त्याग करके (इनके आकर्षण से बचकर) काम भोगों से मन को खींचकर (अपेक्षारहित होकर) चल देते हैं (आत्मोद्धार का रास्ता पकड़ लेते हैं)।

—बन्धनागार जातक

हंसा कोञ्चा मयूरा च हत्थियो पसदा मिगा
सब्बे सीहस्स भायन्ति नत्थि कायस्मिं तुल्यता।
एवमेदं मनुस्सेसु दहरो चेपि पञ्ञवा
सोहि तत्थ महा होति नेव बाला सरीरवा॥

हंस, क्रौञ्च, मोर, हाथी और मृग—(ये सभी पक्षी-पशु) सिंह से डरते हैं। शरीर से बड़ा-छोटा होने का कोई सवाल नहीं है। इसी तरह मनुष्यों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि आयु के हिसाब से छोटा होने पर भी जो बुद्धिमान् है, वही बड़ा (श्रेष्ठ, आदरणीय) है। बड़े शरीरवाला (बड़ी उम्रवाला या विशाल डीलडौलवाला) बड़ा मूर्ख (श्रेष्ठ, आदरणीय) नहीं (हो सकता) होता।

—केलिसील जातक

हिरञ्ञमे सुवण्णम्मे ऐसा रत्तिन्दिवा कथा।
दुम्मेधानं मनुस्सानं अरियधम्मं अपस्सतं॥

जो आर्यधर्म को (श्रेष्ठ और सत्य धर्म को) नहीं जानता, वही मूर्ख दिन-रात इसी चर्चा में लगा रहता है कि—'यह धन मेरा है, यह सोना मेरा है।'

—गरहित जातक

यानि करोति पुरिसो तानि अत्तनि पस्सति।
कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकं।
यादिसं वपते बीजं तादिसं हरते फलं॥

शरीर, वाणी और मन से मनुष्य जैसा भी कर्म करता है, उसीके अनुरूप फल पाता हुआ, उन्हीं कर्मों को अपने में (निरंतर) देखता है। जैसा बीज इस संसार में कोई बोता है, वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है। बीज के अनुसार ही फल ग्रहण करता है, भुगतता है।

—चुल्लनन्दिय जातक

नमे नमन्तस्स भजे भजन्तं
किच्चानुकुब्बस्स करेय्य किच्चं।
नानत्थकामस्स करेय्य अत्थं
असंभजन्तम्पि न सम्भजेय्य॥
चजे चजन्तं वणथं न कयिरा
अपेतचित्तेन न सम्भजेय्य।
द्विजो दुमं खीणफलं ति ञत्वा
अञ्ञं समेक्खेय्य महा हि लोको॥

जो नम्र हो उसीके सामने झुके—नम्रता प्रकट करे। उसीका साथ करे, संगति करे, जो साथ देना चाहे, संगति करना चाहे। उसीका काम करे, जो अपने काम भी आता हो। जो अनर्थ चाहता हो, उसका अर्थ न करे—काम न करे। जो साथ करना नहीं चाहता, संगति नहीं चाहता, उसका साथ न करे। जो छोड़ देनेवाला हो, उसका त्याग कर दे—ऐसे से स्नेह न रखे। जिसका हृदय विमुख हो चुका है, उसका साथ न करे। फलरहित वृक्ष को छोड़कर पंछी जिस तरह फलवाले वृक्ष की तलाश करते हैं, उसी तरह दूसरे को ढूँढ़े—यह संसार बड़ा है।

—पुटभत्त जातक

कण्हाहिदिट्ठस्स करोन्ति हेके
अमनुस्सवद्धस्स करोन्ति पण्डिता।
न कामनीतस्स करोति कोचि
ओक्कन्तसुक्कस्स ही का तिकिच्छा॥

काले साँप के डँसे की कोई चिकित्सा करते हैं, भूत-प्रेतादि पकड़ लेने पर उसकी झाड़-फूँक भी 'गुणी' करते हैं, लेकिन काम-वासनाओं के जो वशीभूत हो चुका है, उसकी चिकित्सा करनेवाला कोई नहीं मिलता। जो शुक्ल-धर्म (आर्यधर्म) की मर्यादा को लाँघ चुका है, उसकी क्या चिकित्सा हो सकती है, उसका क्या इलाज है !

—कामनीत जातक

तथापि कीता पुरिसस्सुपाहना
सुखस्स अत्थाय दुखं उदब्बहे।
घम्माभितत्ता तलसा पपीलिता
तस्सेव पादे पुरिसस्स खादरे॥
एवमेव यो दुक्कुलीनो अनरियो
तम्हाकविज्जञ्च सुतञ्च मादिय।
तमेव सो तत्थ सुतेन खादति
अनरियो वुच्चति पानदूपमो॥

वे जूते, जिन्हें (पैरों को) आराम देने के लिए खरीदते हैं, गर्मी से गरम होकर, तल से तप्त होकर पैरों को काट खाते हैं। इसी तरह जो नीच कुल का (अनार्य) होता है, वह अपने ज्ञान से उसे ही (काट) खाता है, जिससे वह ज्ञान प्राप्त करता है। यही कारण है कि हीनकुलोत्पन्न (अनार्य) को जूते के समान समझा जाता है (समझना उचित है)।

—उपाहन जातक

घरा नानीहमानस्स घरा नाभणतो मुसा।
घरा नादिन्नदण्डस्स परेसं अनिकुब्बतो॥
एवं छिद्दं दुरभिभवं को घरं पटिपज्जति॥

जो प्रतिदिन परिश्रम नहीं करता, उसकी गृहस्थी नहीं चलती। जो झूठ नहीं बोलता, उसकी गृहस्थी भी चल नहीं पाती। जो किसीको ठगता नहीं, उसकी गृहस्थी भी नहीं चलती और दण्डत्यागी (जो कड़े मिजाज का न हो, कठोरतापूर्वक शासन न करता हो) की गृहस्थी भी नहीं चलती। इस प्रकार के छिद्रों (बुराइयों)-वाली गृहस्थी, जो कठिनाई से ही चलती है, कौन करता है (तात्पर्य यह है कि कोई भी खुशी-खुशी नहीं करता, यदि वह ज्ञानी हो, समझदार हो)।

—वच्छनख जातक

पनुज्ज दुक्खेन सुखं जनिन्द
सुखेन वा दुक्खम सय्ह साहि ।
उभयत्थ सन्तो अभिनिब्बुतत्ता
सुखे च दुक्खे च भवन्ति तुल्या ॥

जो शान्त पुरुष हैं, वे सुख से दुःख को दूर करते (हैं) या दुःख से सुख को। वे दोनों (सुख और दुःख) के प्रति उपेक्षा के भाव रखते हैं और दोनों को बराबर ही समझते हैं।

भावार्थ यह है कि सुख और दुःख दोनों मिथ्या हैं। वे आते-जाते रहते हैं। धीर पुरुष न तो सुख प्राप्त करके मदमत्त ही हो जाता है और न कष्ट पड़ने पर हाय-हाय ही करने लगता है। जबतक जीवन है, दिन-रात की तरह कभी सुख और कभी दुःख का सामना तो करना ही पड़ता है।

पुब्बेव सन्निवासेन पच्चुपन्नहितेन वा ।
एवं तं जायते पेमं उप्पलंव यथोदके ॥

पूर्वजन्म के सम्बन्ध से या इस जन्म के उपकार से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है, जल में कमल की तरह।

—साकेत जातक

सका रट्ठा पब्बाजितो अञ्ञं जनपदं गतो ।
महन्तं कोठं कयिराथ दुरुत्तानं निधेतवे ॥

अपने देश से चला जाय या दूसरे देश में पहुँचे, तो कटु शब्दों को रखने के लिए अपने पास बहुत बड़ा कोठा रखे।

दक्खेय्येकपदं तात अनेकत्थपदनिस्सितं ।
तञ्च सीलेन संयुत्तं खन्तिया उपपादितं ।
अलं मित्ते सुखापेतुं अमित्तानं दुखाय च ॥

दक्षता (कार्यकुशलता) ऐसा पद (गुण) है, जो अनेक अर्थपदों से (गुणों से) युक्त है। यदि वह शील और क्षमासहित हो—दक्षता में शील और क्षमा भी हो, तो वह मित्रों को सुख और शत्रुओं को कष्ट प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

—एकपद जातक

यत्थ पोसं न जानन्ति जातिया विनयेन वा ।
न तत्थ मानं कयिराथ वसमञ्ञातके वने ॥

जहाँ अपनी जाति तथा शील से परिचित न हो, अपरिचित जनों के बीच में रहना पड़े, (वहाँ) मान न करे।

विदेसवासं वसतो जातवेद समेनपि ।
खमितब्ब सपञ्ञेन अपि दासस्स तज्जितं ॥

बुद्धिमान् आदमी को चाहिए कि वह विदेश में रहते समय यदि वह अग्नि के समान तेजस्वी हो, फिर भी दास तक की घुड़की सह ले (क्षमा कर दे)।

विलुम्पतेव पुरिसो यावस्स उपकप्पति।
यदा चञ्ञे विलुम्पन्ति सो विलुत्तो विलुम्पति॥

ताकत रहते मनुष्य (दूसरे) मनुष्य को लूटता (रहता) है। दूसरे भी जब लूटना शुरू करते हैं, तो वह लूटनेवाला भी लुट जाता है।

—हरितमान जातक

नत्थि लोके रहो नाम पापकम्मं पकुब्बतो।
पस्सन्ति वनभूतानि तं बालो मञ्ञती रहो॥

ऐसी जगह कहीं भी नहीं है, जहाँ कोई न हो—पापी (पाप कर्म करनेवाला) मूर्ख उस स्थान (वन) को निर्जन-स्थान मान लेता है, जहाँ वन के प्राणी होते हैं (जो सब कुछ देखते हैं)।

अहं रहो न पस्सामि सुञ्ञवापि न विज्जति।
यत्थ अञ्ञं न पस्सामि असुञ्ञं होति तंमया॥

कोई स्थान शून्य (निर्जन) नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ। जहाँ कोई भी दिखलाई न पड़े—कोई भी न हो, वहाँ स्वयम् मैं तो हूँ (फिर वह स्थान जनहीन कैसे हुआ?)।

भावार्थ यह है कि जहाँ कोई भी न हो, वहाँ अपने कर्म का साक्षी स्वयम् मैं हूँ। वहाँ मेरी आत्मा गवाह है। बुरे कर्मों का सबसे बड़ा गवाह स्वयम् उसका कर्त्ता है। अपने कर्मों को स्वयम् परखनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्ति माना जाता है। आत्मचिन्तन के द्वारा हम अपनी ही विवेचना करते हैं—यह आत्मोन्नति का श्रेष्ठ मार्ग है।

कालो घसति भूतानि सब्बानेव सहत्तना।
यो च कालघसो भूतो स भूत पचनिं पचि॥

सभी प्राणियों को खानेवाला काल अपने को भी खाता है। जो प्राणी काल को भी खा डालनेवाला है, वह सभी जीवों को जलानेवाले (काल) को जला डालता है।

—मूलपरियाय जातक

अकतञ्ञुमकत्तारं कतस्स अपत्तिकारकं।
यस्मिं कतञ्ञुता नत्थि निरत्था तस्स सेवना॥
यस्स सम्मुख चिण्णेन मित्तधम्मो न लब्भति।
अनुसुय्यमनक्कोसं सणिकं तह्मा अपक्कमे॥

उसकी सेवा करना व्यर्थ है जो कुछ कर नहीं सकता, जो उपकार के बदले प्रत्युपकार नहीं कर सकता, जो कृतज्ञ स्वभाव का नहीं है।

ऐसे व्यक्ति का चुपचाप, विना कुछ कहे-सुने, त्याग कर दे, जो साक्षात् उपकार करने पर भी मित्रधर्म का पालन न करता हो (उपकार से कृतज्ञ होकर मित्रधर्म का निर्वाह न करता हो)।

हन्त्वा झत्वा वधित्वा च देति दानं असञ्ञतो।
एदिसं भत्तं भुञ्जमानो स पापेन उपलिप्पति॥

असंयमी मारकर, कष्ट देकर या वधकर ही दान देता है। जो इस प्रकार का अन्न खाता है, वह पाप का हिस्सेदार होता है।

—तेलोवाद जातक

शङ्केय्य सङ्कितब्बानि रक्खेय्यानागतं भयं।
अनागतभया धीरो उभो लोके अवेक्खति॥

जो बातें शंका के योग्य हों, उनकी शंका करे। आनेवाले भय से (ज्ञान और अनुभव से उसे जानकर) अपनी रक्षा करे। धीर व्यक्ति आनेवाले भय से बचता हुआ दोनों लोकों को देखता है।

अरियो अनरियं कुब्बानं यो दण्डेन निसेधति।
सासनत्थं न तं वेरं इति नं पण्डिता विदु॥

अनार्य कर्म (नीच कर्म) करनेवाले को, अनुशासन करने के लिए जो आर्य (श्रेष्ठ जन) दण्ड देता है, पंडित उस आर्य के उस कार्य को वैर नहीं कहते।

—तिलमुट्ठि जातक

अपि कस्सप, मन्दिया युवा सपति हन्ति वा।
सब्बतं समते धीरो पंडितो तं तितिक्खति॥
सचेपि सन्तो विवदन्ति खिप्पं सन्धीयरे पुन।
बाला पत्ताव भिज्जन्ति न ते समथमज्झगु॥

जो मन्दबुद्धि युवक होते हैं, वे मार बैठते हैं और गाली भी दे देते हैं। स्थिर-बुद्धि का पुरुष क्षमा कर देता है, पंडित सह लेता है। सज्जन आपस में यदि विवाद भी कर बैठते हैं, तो वे फिर मिल जाते हैं। (भूल जाते हैं और क्षमा कर देते हैं)। मिट्टी के बरतन की तरह (आपस में विवाद करके) मूर्ख व्यक्ति टूट जाते हैं (फिर कभी नहीं मिलते) और कभी शान्त नहीं होते—उन्हें शान्ति लाभ नहीं होता।

एते भीय्यो समायन्ति सन्धि तेसं न जीरति।
यो चाधिपन्नं जानाति यो च जानाति देसनं॥
एसोहि उत्तरितरो भारवाहो धुरंधरो।
यो परे साधिपन्नानं सयं सन्धातुमरहति॥

ये दो जन (सत्पुरुष) तो आपस में मिल जाते हैं—इनका एका नष्ट नहीं होता—(सत्पुरुष वह है जो—) जो अपना दोष स्वीकार कर लेता है और दोष स्वीकार कर लेनेवाले को (हृदय से) क्षमा कर सकता है। जो दूसरे के दोषों को अपने ऊपर ले सकता है, वह दोनों से श्रेष्ठ है, वही भारवाहक (उत्तरदायित्व को ढोनेवाला) और धुरन्धर है।

न तं याचे यस्य पियं जिगिंसे,
देस्सो होति अतियाचनाय।

किसीसे भी ऐसी वस्तु कभी न माँगे, जो उसकी प्रिय हो। अतियाचना से (बहुत अधिक माँगने से) माँगनेवाले के प्रति द्वेष पैदा हो जाता है।

यतयतमेव रोदथ नहि तं रोदथ यो मरिस्सति।
सब्बेव सरीरधारिनो अनुपुब्बेन जहन्ति जीवितं॥
देवमनुस्सा चतुप्पदा पक्खिगणा उरगा च भोगिनो।
सम्हि सरीरे अनिस्सरा रममानाव जहन्ति जीवितं॥

जो मर गया, उसीके लिए रोते हो—जो मरेगा, उसके लिए नहीं? जितने भी शरीरधारी हैं, वे सभी क्रमशः (कभी-न-कभी, समय आने पर) शरीर त्याग (अवश्य) करेंगे। देवता हों या मनुष्य, चौपाये, पंछी और विशाल फनवाले नाग—इन में से कोई भी अपने शरीर पर अधिकार नहीं रखता। भोगों में लिपटे हुए सभी मरेंगे।

नहि वण्णेन सम्पन्ना, मञ्जुका, पियदस्सना।
खरवाचा पिया होन्ति अस्मिं लोके परम्हि च॥

ऐसा व्यक्ति जो तीखा वचन बोलता है, वह सुन्दर वर्णवाला, कोमल और प्रिय (दर्शन) होने पर भी न तो इस लोक में प्रिय होता है और न दूसरे लोक में।

धुत्ता सोण्डा अकता बाला सूरा अयोगिनो।
धीरं मञ्ञन्ति बालोति ये धम्मस्स अकोविदा॥

धूर्त्त, शराबी, जिन्होंने शास्त्राभ्यास नहीं किया, मूर्ख, (व्यर्थ काम करने में) बहादुर, अ-योगी (या अयोग्य) और लोक-धर्मों से अपरिचित व्यक्ति ही धीर पुरुष को (भी) मूर्ख समझते हैं।

येन मित्तेन संसग्गा योगक्खेमो विहिंसति।
पुब्बेवज्झा भवन्तस्स रक्खे अक्खीव पण्डितो॥

जिस मित्र के संसर्ग से—जिस मित्र के कारण कल्याण नष्ट हो जाता हो, उसके द्वारा अभिभूत अपने यश आदि की रक्षा करो, जैसे (सदा सावधान रहकर) अपनी आँखों की रक्षा करते हो।

पटिच्चकम्मं न फुसति मनो चे नप्पदुस्सति।
अप्पोसुक्कस्स भद्रस्स न पापमुपलिप्पति॥

किया हुआ बुरा कर्म उसका स्पर्श नहीं करता, जिसका मन दूषित न हो। पाप ऐसे भद्रजन का स्पर्श नहीं कर सकता, जो पाप करने को कभी उत्सुक न हो।

सब्बथ कतपुञ्ञस्स अतिच्चञ्ञेव पाणिनो।
उप्पज्जन्ति बहू भोगा अप्पनायतनेसुपि॥

जहाँ से भोग प्राप्त होते हों, वहाँ से भी और जहाँ से (भोग) प्राप्त नहीं होते, वहाँ से भी पुण्यवान् प्राणी को ही भोग प्राप्त होते हैं। दूसरे (प्रकार के) प्राणियों को नहीं।

यं हि कयिरा तंहि वदे यं न कयिरा न तं वदे।
अकरोन्तं भासमानं परिजानन्ति पण्डिता॥

जो कहे, उसको करके दिखला दे। जो न कर सके या नहीं करे, उसका बखान न करे। विज्ञजन ऐसों को पहचान लेते हैं, जो केवल कहते हैं, करते कुछ भी नहीं।

तं तञ्चे अनुसोचेय्य यं यं तस्स न विज्जति।
अत्तानमनुसोचेय्य सदा मच्चुवसं पत्तं॥

जो मनुष्य के पास न हो, उसीका शोक करे (यदि किसी मरे हुए प्रियजन के लिए शोक करना हो तो), अपने लिए शोक करे क्योंकि (मानव) सदैव मृत्यु के वश में पड़े हैं।

अभूतवादी निरयं उपेति
यो वापि कत्वा न करोमीति चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥

झूठा तो नरक में जाता ही है, वह भी नरक में जाता है जो करके (कोई बुरा काम या अपराध) मुकर जाता है। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करनेवाले मरकर बराबर हो जाते हैं (समान गति प्राप्त करते हैं)।

नहेव ठितं नासीनं न सयानं पद्धगुं।
याव पाति निम्मिस्सति तत्रापि सरती वयो॥

आयु तो हर हालत में क्षीण होती ही रहती है—खड़े रहने से, बैठने से, लेटने और चलने से (इतना ही नहीं) आँख खोलने और बन्द करने से भी (समय के साथ-साथ) आयु बीतती ही जाती है।

लाभो अलाभो अयसो यसो च
निन्दा पसंसा च सुखञ्च दुक्खं।
एते अनिच्चा मनुजेसु धम्मा
मा सोची किं सोचसि पोट्ठपाद!

(हे पोट्ठपाद !) क्या चिन्ता करता है; (क्योंकि) लाभ, हानि, यश, अपयश, निन्दा, प्रशंसा, सुख तथा दुःख ये सभी मनुष्य-लोक के अनित्य-धर्म हैं (अनित्य = नाशवान्, जो नष्ट हो जाय)।

नानुमत्तो नापिसुणो नानटो नाकुतूहलो।
मूळ्हेतु लभते लाभं एसा ते अनुसासनी॥

मूर्खों में वह फायदा नहीं उठा सकता, जो उन्मत्त (की तरह) नहीं है, चुगलखोर नहीं है, नटबाज नहीं हैं (छतीसा नहीं है) तथा असंयत (—बुद्धिवाला, चंचल, प्रपंची, छिछोरा) नहीं है, यही तेरे लिए शिक्षा है।

चरं चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एक चरियं दळ्हं कयिरा नित्थ बाले सहायता॥

मूर्ख की संगति बुरी होती है। (समझदार व्यक्ति को चाहिए कि—) यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने-जैसा भी साथी नहीं मिले, तो अकेला ही रहे।

अनवट्ठितचित्तस्स लहुचित्तस्स दुब्भिनो।
निच्चं अद्धुवसीलस्स सुचिभावो न विज्जति॥

वह कभी सुखी नहीं रह सकता, जिसका चित्त हल्का है, (ओछे विचार का है) मित्रद्रोही तथा जिसका शील स्थिर (शीलवान्) नहीं है।

धिरत्थु तं यशलाभं धनलाभञ्च ब्राह्मण!
या वुत्ति विनिपातेन अधम्मचरियाय वा॥
अपि चे पत्तमादाय अनागारो परिब्बजे।
एसाव जीविका सेय्या या चाधम्मेन एसना॥

(हे ब्राह्मण !) जो जीविका अपने को पतित बनाकर या पाप से प्राप्त होती है—उस यश-लाभ और धन-लाभ को धिक्कार है। पाप से जीविका खोजने की अपेक्षा अनागारिक होकर, संन्यास ग्रहण कर, भिक्षा पात्र लेकर भीख माँगना कहीं अच्छा है, (पाप की कमाई से कहीं उत्तम है भीख माँगकर पेट चलाना)।

ये च सीलेन सम्पन्ना पञ्ञायुपसमे रता।
आरता विरता धीरा न होन्ति परपत्तिया॥

ऐसे धीर व्यक्ति जो सदाचारी हैं, जो ज्ञान के द्वारा अपने मन को शान्त करने में लगे हैं, जो पाप-कर्मों से अलग रहते हैं, जो विरत हैं, वे दूसरों का अनुकरण अन्धों की तरह नहीं करते।

पदुट्ठचित्तस्स न फाति होति
न चापि नं देवता पूजयन्ति।

यो भातरं पत्तिकं सापतेय्यं
अवञ्चयि दुक्कतकम्मकारि ॥

उस दुष्ट चित्तवाले की न तो उन्नति होती है और न उस दुष्कर्मी की देवता ही पूजा करते हैं (पूजा ग्रहण करते हैं) जो अपने भाई की पैतृक सम्पत्ति को ठग लेता है (भाई को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वंचित कर देता है) ।

याचनं रोदनं आहु पांचालानं रथेसत्र ।
यो याचनं पच्चक्खाति तमहु पटिरोदनं ॥

(हे पाञ्चालेश्वर !) माँगना रुदन कहलाता है, वह प्रतिरुदन है, जो माँगने पर नहीं देता ।

सोहं सीलं समादिस्सं लोके अनुमतं सिवं ।
अरियवुत्तिसमाचारो येन वुच्चति सीलवा ॥
ञातीनञ्च पियो होति मित्तेसु च विरोचति ।
कायस्स भेदा सुगतिं उपपज्जति सीलवा ॥

जो लोक में कल्याणकारक है, जिसे युक्त पुरुष को बुद्धि-मार्ग पर चलानेवाला कहा गया है, जिससे मनुष्य आत्मीय जनों में प्रिय और मित्रों में प्रकाशमान होता है, मैंने उसी सील के पालन का निश्चय किया है ।

अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥

जो कर्त्तव्य है, जो उचित है, उसे पहले स्वयम् करे (स्वयम् उत्तम कार्य करके उदाहरण बने), बाद में यदि दूसरे को उपदेश दे, तो पण्डितजन (विज्ञों) को क्लेश न हो।

तात्पर्य यह है कि कोरा उपदेश का असर नहीं होता और यह उचित भी नहीं है। उपदेशक को पहले दूसरों के लिए अपने को उदाहरण बनाना चाहिए, तब उपदेश देने का कष्ट उठावे। जिस उपदेश के पीछे उपदेशक का निज का आचरण नहीं होता, वह उपदेश कोरा बकवास होता है, उसका कोई भी प्रभाव श्रोता पर नहीं पड़ता ।

अदेय्येसु ददं दानं देय्येसु नप्पवेच्छति ।
आपासु व्यसनं पत्तो सहायं नाधिगच्छति ॥
नादेय्येसु ददं दानं देय्येसु यो पवेच्छति ।
आपासु व्यसनं पत्तो सहायमधिगच्छति ॥

ऐसे लोगों को संकट पड़ने पर कोई सहायक नहीं मिलता और कष्ट भोगना पड़ता है, जो अपात्रों को तो देते हैं और सत्पात्रों को नहीं देते। उन्हें कष्ट पड़ने पर

तुरन्त सहायक मिल जाते हैं और तकलीफ नहीं भोगनी पड़ती, जो अपात्रों को नहीं देते और सत्पात्रों को देते हैं।

सञ्जोग सम्भोग विसेसदस्सनं।
अनरिय धम्मेसु सेठ्ठ नस्सति॥
ततञ्च अरियेसु च उपञ्जसेक्षु च।
महप्फलो होति अणुम्पि तादिसु॥

जो अनार्य हैं, स्वभाव से शठ हैं, ऐसों के साथ किया हुआ संयोग और उपकार नष्ट हो जाता है।

जो आर्य हैं, श्रेष्ठ मार्गानुयायी (श्रेष्ठ आचार-विचार के) हैं या जो स्थिर-मति के हैं, उनके प्रति यदि थोड़ा-सा भी उपकार किया जाय, तो वह उपकार श्रेष्ठ फल देनेवाला होता है।

यो पुब्बे कतकल्याणो अका लोके सुदुक्करं।
पच्छा कयिरा न वा कयिरा अच्चन्तं पूजनारहो॥

सचमुच उसने इस संसार में एक दुष्कर कार्य किया, जिसने पहले उपकार किया। वह (सज्जन) फिर उपकार करे या न करे, उसे अत्यन्त पूजनीय मानना चाहिए।

आलसी गिही कामभोगी न साधु
असञ्ञतो पब्बजितो न साधु।
राजा न साधु अनिसम्मकारी
यो पण्डितो कोधनो तं न साधु॥

आलसी गृहस्थ, असंयमी और कामभोगी साधु, बिना विचारे काम करनेवाला (राजा) शासक, क्रोधी पंडित—इनमें से कोई भी अच्छा (प्रशंसनीय) नहीं है।

यथा बीजं अग्गिस्मिं डहति न विरूहति।
एवं कतं असप्पुरिसे डहति न विरूहति॥
कतञ्ञुम्हि च पोसह्मि सीलवन्ते अरियवुत्तिने।
सुखेत्ते विय बीजानि कतं तम्हिं न नस्सति॥

जो असत्पुरुष है (नीच स्वभाव का है, अनार्य है), उसका यदि उपकार किया जाय, तो वह उपकार फल नहीं देता, जैसे आग में डाले हुए अन्न के दाने उगते नहीं।

नहि सत्थं सुनिसितं विसं हलाहलम्मिव।
एवं निकट्ठे पातेति वाचा दुब्भासिता यथा ॥
तस्मा काले अकाले च वाचं रक्खेय्य पंडितो।
नातिवेलं पभासेय्य अपि अत्तसमम्हि वा ॥

तेज किया हुआ अस्त्र भी उतनी शीघ्रता से (मारकर) नहीं गिरता, जितनी शीघ्रता से विष-जैसी (दुर्भाषित) वाणी (तुरंत बेजान कर देती है)।

पंडित को इसीलिए चाहिए कि वह अपने ही समान (पंडित) व्यक्ति से भी समय-असमय अधिक बातचीत न करे। वह निरन्तर अपनी वाणी की रक्षा करे।

शब्दानुक्रमणी

आ

इ

ई

उ

ध

न

प

भ

म

य

श